अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

[आगरा विश्वविद्यालय के बी० ए० और बी० कॉम० के विद्यार्थियों के लिए]

विनिमय, वितरण, राजस्व, द्रव्य (मुद्रा) और करेंसी, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय तथा परिशिष्ट

भाग २

लेखक

वीरेन्द्र टण्डन

एम० ए०, एम० काम०
अर्थशास्त्र विभाग, धर्म-समाज कालेज, अलीगढ़

तथा

एम० डी० टण्डन, एम० ए०

भूतपूर्व वाइस-प्रिन्सिपल व अध्यक्ष अर्थशास्त्र विभाग, धर्मसमाज कालेज, अलीगढ़
(रचयिता—ईकोनोमिक्स फार इण्डियन स्टूडेंट्स, ईकोनोमिक्स फार बी० ए० क्लासेज, करेंसी, बैंकिंग ऐण्ड पब्लिक फाइनैन्स और अर्थशास्त्र भाग १ व भाग २)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

१९५८

मूल्य ७ रु० ५० नये पैसे

प्रकाशक
बी० एन० माथुर
इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद

मुद्रक
पी० एल० यादव,
इंडियन प्रेस, प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद

प्रस्तावना

आगरा विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम में कुछ हेर-फेर हो जाने के कारण, विद्यार्थियो की सुविधा को ध्यान में रखते हुए, इस सस्करण मे पुस्तक को दो खण्डो में बाँट दिया गया है। पहिले खण्ड मे बी० ए० पार्ट फर्स्ट के पहिले प्रश्न-पत्र के पाठ्य-क्रम का पूर्ण समावेश है, इसी प्रकार दूसरे खण्ड मे बी० ए० के दूसरे प्रश्न-पत्रो के पाठ्य-क्रमो का समावेश है। भारतीय अर्थ-शास्त्र का जो भाग अन्तिम प्रश्न पत्र के पाठ्य क्रम मे सम्मिलित कर दिया गया है, उसे जानने के लिए विद्यार्थियो को इधर-उधर न भटकना पडे, इस उद्देश्य से इन क्षेत्रो मे भारतीय अर्थ-व्यवस्था में जो नवीन विकास हुए है उन सब का भी पूर्णरूप से विश्लेषण किया गया है और नये से नये आँकडो और तथ्यो का प्रयोग किया गया है तथा कई नई बातें भी जोडी गई है और जिस तरह भी हम विषय को सरल व सुगम बना सकें अथवा विचारो को स्पष्ट कर सके है उसमे हमने अपनी शक्ति भर कोई कसर बाकी नही रखी है। आशा है कि इस नवीन रूप में यह पुस्तक पहिले से भी कही अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

पिछले सस्करणो का जो हार्दिक स्वागत हुआ उससे हमें बडा प्रोत्साहन मिला है और इसके लिए हम पाठको के बहुत आभारी हैं। उत्तरप्रदेश सरकार से जो पुरस्कार प्राप्त हुआ उसके लिए हम सरकार के भी आभारी हैं। इसके अतिरिक्त, इस पुस्तक के प्रणयन में हमें जो सहायता श्री लक्ष्मीनाथ टडन, एम० ए०, डाइरेक्टोरेट आव ईकोनोमिक्स ऐड स्टैटिसटिक्स, मिनिस्ट्री आव फूड एड ऐग्रीकल्चर, गवर्नमेंट आव इण्डिया, न्यू देहली, से प्राप्त हुई और जो सहायता अर्थ शास्त्रियो के विचारो का भाषान्तर करने में तथा प्रूफ सशोधन में हमे श्रीमती शोभा टण्डन व सरला टण्डन, एम० ए०, से प्राप्त हुई वह अकथनीय है। और श्रद्धेय धूनी बाबू साहब (श्रीयुत एच० घोष), मैनेजिंग डाइरेक्टर इण्डियन प्रेस, ने जिस उत्साह से इस किताब को छापा है उसके लिए भी हम कृतज्ञता प्रकट करने में असमर्थ हैं। हम उनको विशेष रूप से धन्यवाद देते हैं।

वीरेन्द्र टण्डन
एम० डी० टण्डन

१५ जुलाई १९५८

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

यह पुस्तक विशेष रूप से आगरा विश्व विद्यालय के विद्यार्थियो के लिए लिखी गई है

पिछले बीस-तीस वर्षो म अर्थ शास्त्र का जितना विकास हुआ है, राष्ट्रो की अर्थ-व्यवस्था मे जो उथल पुथल हुई है, उसे प्रसिद्ध अर्थ शास्त्रियो ने अपने अपने दृष्टि-कोण से देखा है। रौबिन्स,कीन्स, जोअन रौबिन्सन हिक्स नाईट, बॉल्डिंग, चैम्बरलेन, हायक, विक्सेल, हेवरलर आदि जैसे प्रमुख अर्थ वेत्ताओ ने अपने विचारो द्वारा अर्थ शास्त्र की उन्नति मे महान् योग दिया है। इस पुस्तक मे इन सभी आधुनिक विचारो को सरल से सरल रूप मे इस प्रकार रखने की कोशिश की गई है कि अर्थ शास्त्र के सभी सिद्धान्त विद्यार्थियो के सम्मुख स्पष्ट हो जायें इन्हे कोई उलझन न रहे। इसके लिए पुस्तक की भाषा यथा सभव सरल रखी गई है। बहुत ही सरल प्रचलित हिन्दी शब्दो का प्रयोग किया गया है और सबके समझने योग्य वाक्यावली अपनाई गई है। अँगरेजी के पारिभाषिक शब्दो को भी कोष्ठक मे देकर इस बात की चेष्टा की गई है कि विद्यार्थियो को मूल लेखको का तुलनात्मक अध्ययन करने की सुविधा भी प्राप्त हो। कोशिश इस बात की की गई है कि विद्यार्थियो के जानने योग्य कोई बात तो छूटने न पावे और उससे आगे विवादास्पद, अनिर्णीत अथवा क्लिष्ट विचारधाराओ म व्यर्थ की माथापच्ची भी न करनी पडे। यह आशा की जाती है कि यह पुस्तक विद्यार्थियो के विषय को समझने मे ही सहायता न देगी, बल्कि उनकी रचनात्मक शक्ति का विकास भी करेगी, हमे इसका ध्रुव विश्वास है। इसी मे हम अपना परिश्रम भी पुरस्कृत समझगे।

बी० टण्डन

एम० डी० टण्डन

विषय-सूची

विनिमय

(Exchange)

वितरण

(Distribution)

राजस्व

(Public Finance)

अध्याय	विषय	पृष्ठ

द्रव्य (मुद्रा) और करेंसी
(Money and Currency)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade)

विदेशी विनिमय
(Foreign Exchange)

विनिमय

(EXCHANGE)

२४

बाजार

(Markets)

विनिमय का अर्थ (What is Exchange)—प्राचीन काल में प्रत्येक कुटुम्ब स्वावलम्बी हुआ करता था और परिवार के लोगों की सहायता से अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं को पैदा कर लेता था। इस प्रकार लोग अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरे लोगों पर निर्भर नहीं रहते थे। परन्तु वर्तमान समय में आवश्यकताएँ उतनी साधारण नहीं रही हैं। और उनकी संख्या भी बहुत अधिक बढ़ गई है (Multiplication of wants)। परिणामतः मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं को अपने आप पैदा नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, यदि अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी प्रकार की भोजन सामग्रियाँ, कपड़े, मकान, जूते आदि इस प्रकार की सैकड़ों वस्तुओं को स्वयं ही बिना किसी की सहायता के नहीं बना सकता।

साथ ही वर्तमान समय में आर्थिक जीवन के विकास तथा औद्योगिक क्रान्ति के कारण उत्पत्ति के क्षेत्र में भी वह सरलता नहीं रही है। इस जटिल श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण (Division of Labour and Specialisation) के युग में प्रत्येक मनुष्य किसी एक वस्तु को बहुत बड़े पैमाने पर पैदा करके उसके उत्पादन में विशेषता प्राप्त करना चाहता है, फलस्वरूप, वह अपनी पैदा की हुई सभी वस्तुओं का उपभोग अपने आप नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य कपड़े के उत्पादन में विशेषज्ञ बनकर कपड़ा बहुत बड़े पैमाने पर बनाए तो वह अपने बनाये हुए सभी कपड़े का उपभोग स्वयं ही नहीं कर सकता।

इस प्रकार उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनों ही विनिमय-प्रणाली पर निर्भर रहते हैं—और उसी के द्वारा एक दूसरे के निकट आते हैं। विनिमय के द्वारा ही जो कुछ पैदा किया जाता है वह उपभोक्ता तक पहुँचता है और उपभोक्ता की जो आवश्यक वस्तुएँ होती हैं उनका उत्पादन किया जाता है। वास्तव में विनिमय उत्पादन तथा उपभोग के संयोग के लिए एक लड़ी का काम करता है (Exchange is the connecting-link between consumption and production) और आजकल हमारी समस्त उत्पादन व्यवस्था विनिमय के लिए ही की जाती है और उपभोग भी विनिमय के द्वारा ही संभव है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का जीवन विनिमय पर ही आश्रित है। यही कारण है कि 'विनिमय', जिसमें वस्तुओं तथा सेवाओं के आदान-प्रदान का अध्ययन किया जाता है, अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विभाग बन गया है।

विनिमय के रूप

(*Forms of Exchange*)

विनिमय के निम्नलिखित दो तरीके हैं —

(अ) अदल बदल

(ब) क्रय विक्रय

(अ) अदल बदल (Barter)– इस तरीके में एक वस्तु दूसरी वस्तु से बिना द्रव्य की सहायता के बदली जाती है अर्थात् वस्तुओं या सेवाओं का आपस में सीधा विनिमय होता है। जैसे कपड़े के बदले में अनाज, दूध के बदले में शाक, मजदूरी के बदले अनाज, आदि, आदि। (इस प्रकार के विनिमय में द्रव्य का प्रयोग नहीं किया जाता।)

परन्तु इस तरीके में कई असुविधाओं का सामना करना पड़ता है, जैसे, दुहरे संयोग की कमी, वस्तुओं के विभाजन की समस्या, तथा सर्व मान्य मूल्य के माप की कमी। (इस विषय की विशेष जानकारी के लिए द्वितीय खण्ड के अध्याय "अदल बदल से क्रय विक्रय की ओर" को पढ़िए।)

[अदल बदल की प्रथानुसार विनिमय तभी सम्भव हो सकता है जब (१) आवश्यकताएँ बहुत सीमित हों (२) विनिमय का क्षेत्र संकुचित हो और (३) आर्थिक दृष्टि से समाज बहुत पिछड़ा हुआ हो।]

(ब) क्रय विक्रय (Purchase and Sale)—अदल बदल की प्रणाली की कठिनाइयों को दूर करने के लिए द्रव्य को प्रयोग में लाया गया। इस दूसरी प्रणाली के अनुसार वस्तुओं का विनिमय सीधे न होकर द्रव्य की सहायता से होता है—सभी वस्तुएँ द्रव्य के बदले में बेची जाती हैं और प्राप्त द्रव्य से आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदी जाती हैं। जैसे किसान अपनी आवश्यकता से अधिक अनाज को रुपए के बदले में बेचता है और इस रुपए से फिर कपड़ा, नमक, मिट्टी का तेल चीनी तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को खरीदता है। (द्रव्य के प्रयोग से विनिमय में जो सुविधाएँ प्राप्त होती हैं उनकी विशेष जानकारी के लिए भी द्वितीय खण्ड के अध्याय "अदल बदल से क्रय विक्रय की ओर" को पढ़िए।)

विनिमय से दोनों पक्षों को लाभ होता है

(*Gain in Exchange to Both Parties*)

विनिमय चाहे अदल बदल से, चाहे क्रय विक्रय द्वारा, किसी भी तरीके से किया जाय, इससे विनिमय करनेवाले दोनों ही पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है (Both parties gain in utility by exchange)।

इस बात की पुष्टि निम्न उदाहरण से भली प्रकार होती है :—

(अ) मान लिया, मोहन के पास पाँच सेब हैं और सोहन के पास पाँच केले हैं, और उनकी उपयोगिता उन दोनों व्यक्तियों को निम्न प्रकार है :

सेब तथा केले की इकाइयाँ	मोहन के लिए सेब की उपयोगिता	मोहन के लिए केले की उपयोगिता	सोहन के लिए सेब की उपयोगिता	मोहन के लिए केले की उपयोगिता
१	६०	७०	१००	९०
२	५०	६०	९०	७०
३	४०	४५	७०	४०
४	३०	३०	५०	३५
५	२०	२५	४०	३०
कुल उपयोगिता	२००			२६५

यदि मोहन अपने सभी सेबों को अपने पास ही रखता तो उसे कुल उपयोगिता २०० इकाइयों के बराबर मिलती और सोहन को अपने पाँच केलों से २६५ इकाइयों के बराबर उपयोगिता मिलती। पर मान लिया, मोहन अन्तिम सेब के बदले एक केला ले लेता है तो उसे इस विनिमय में २० इकाई उपयोगिता के बदले ७० इकाई उपयोगिता मिल जाती है [क्योंकि मोहन के लिए अन्तिम सेब (जो उसने दिया) की उपयोगिता केवल २० इकाई थी जब कि पहला केला पाने में उसको उपयोगिता ७० इकाई प्राप्त हुई]। इसी प्रकार यदि वह दो और सेबों को केलों से बदल लेता है तो उसे क्रमशः ३०, ४० इकाई उपयोगिता के बदले ६०, ४५ इकाई उपयोगिता मिल जायगी। ठीक इसी तरह इस विनिमय से सोहन को तीन केले देकर तीन सेब लेने में क्रमशः ३०, ३५ तथा ४० इकाई उपयोगिता के बदले १००, ९० तथा ७० इकाई उपयोगिता मिल जायगी। विनिमय के बाद मोहन की कुल उपयोगिता २८५ इकाइयों ६० + ५० = ११० सेब से, ७० + ६० + ४५ = १७५ केले से) के बराबर होगी, और चूँकि विनिमय से पूर्व उसकी कुल उपयोगिता २०० इकाइयों के बराबर थी अब विनिमय कार्य से उसकी उपयोगिता ८५ इकाइयों (२८५ २००) के बराबर बढ़ जायगी। सोहन की कुल उपयोगिता ४२० इकाइयों १०० + ९० + ७० = २६० सेब से, ९० + ७० = १६० केले से) के बराबर होगी और चूँकि विनिमय से पूर्व उसकी कुल उपयोगिता २६५ इकाइयों के बराबर थी इसलिए विनिमय कार्य से सोहन की कुल उपयोगिता में भी १५५ इकाइयों (४२० – २६५) के बराबर उपयोगिता की वृद्धि हो जायगी। इस तरह यह स्पष्ट है कि ऐच्छिक विनिमय कार्यों से दोनों पक्षों के लोगों को उपयोगिता का लाभ होता है। वस्तुएँ वही रहती हैं परन्तु उनकी कुल उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है।

(ब) इसी प्रकार यह सिद्ध किया जा सकता है कि द्रव्य की सहायता से जो विनिमय कार्य किए जाते हैं उनसे भी दोनों पक्षों की उपयोगिता में वृद्धि होती है। जो मनुष्य किसी वस्तु को बेचता है उसके लिए उस वस्तु की उपयोगिता द्रव्य की उपयोगिता की अपेक्षा कम होती है, इसलिए विनिमय के द्वारा

द्रव्य प्राप्त करने पर उसकी उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत जो मनुष्य द्रव्य के बदले में वस्तु खरीदता है उसके लिए द्रव्य की उपयोगिता वस्तु की उपयोगिता की अपेक्षा कम होती है, अतः द्रव्य से वस्तु खरीदने पर उसे उपयोगिता का लाभ होता है। उदाहरणार्थ जब एक विद्यार्थी १०) में एक लेखनी खरीदता है तो उसके लिए लेखनी की उपयोगिता १०) की उपयोगिता की अपेक्षा अधिक है, इसलिए लेखनी खरीदने से उसकी उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार लेखनी के विक्रेता के लिए १०) की उपयोगिता लेखनी की उपयोगिता की अपेक्षा अधिक है, अतः लेखनी बेचने से उसकी उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विनिमय कार्य से खरीदनेवाले और बेचनेवाले दोनों पक्षों को लाभ होता है। वस्तु वही रहती है परन्तु उससे प्राप्त उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है। ज्यों ही किसी एक पक्ष को लाभ होना समाप्त हो जाता है वह विनिमय बन्द कर देता है। इसी प्रकार जब दो देश भी विनिमय कार्य करते हैं तो आपस के विनिमय कार्यों से दोनों ही देशों को उपयोगिता का लाभ होता है।

इसके अतिरिक्त विनिमय के कुछ और दूसरे लाभ भी हैं जैसे आवश्यक वस्तुओं का मिल जाना, श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण का सम्भव होना, बाजार का विस्तृत होना, प्राकृतिक स्रोतों का अधिकाधिक उपयोग होना, इत्यादि,इत्यादि।

विनिमय के लिए निम्न शर्तें आवश्यक हैं।

(Conditions necessary for Exchange)

विनिमय के विस्तार रूप से सफल होने के लिए नीचे लिखी शर्तें आवश्यक हैं —

(१) जिस वस्तु का विनिमय किया जाय उसकी उत्पत्ति अधिक (surplus) होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो विनिमय के लिए उस वस्तु की पर्याप्त मात्रा प्राप्त नहीं हो सकेगी। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति एक मन गेहूँ पैदा करता है और उसको स्वयं एक मन गेहूँ उपभोग के लिए चाहिए तो विनिमय के लिए उसके पास क्या बचेगा?

(२) दोनों पक्षों के लोग अपने अपने अतिरिक्त उत्पादन का विनिमय करने के लिए इच्छुक होने चाहिए (willingness to exchange)। विनिमय करने की यह इच्छा तभी तक बनी रहेगी जब तक दोनों पक्षों के लोगों को विनिमय से उपयोगिता का लाभ (gain in utility to both parties) होता रहेगा। ज्यों ही किसी भी पक्ष को यह लाभ होना समाप्त होगा, विनिमय भी बन्द हो जायेगा।

(३) व्यापारी लोगों की उपस्थिति (presence of middle-men) विनिमय के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में उन्हीं के द्वारा उत्पादक तथा उपभोक्ता एक दूसरे के निकट आते हैं। इन व्यापारियों के अन्तर्गत थोक और फुटकर विक्रेता दोनों ही सम्मिलित हैं।

(४) विनिमय कार्यों के लिए बाजारों (markets) का होना बहुत आवश्यक है। व्यापारियों की तरह बाजार भी उत्पादकों और उपभोक्ताओं को एक दूसरे के समीप लाने का प्रयत्न करते हैं, और इस प्रकार विनिमय कार्यों को अधिक उन्नत बनाते हैं।

(५) व्यापारियों तथा बाजारों का उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है जब आने-जाने के साधन (means of transport and communication) काफी उन्नत हों। सड़कें, रेलें, टेलीफून, तार, रेडियो तथा यातायात करने योग्य नदियाँ, विनिमय कार्यों में बहुत अधिक सहायक सिद्ध होती हैं। इन्हीं के द्वारा एक स्थान का सामान दूसरे स्थान पर, या एक स्थान का समाचार दूसरे स्थान पर भेजा जाता है।

(६) द्रव्य (money, credit, and currency) भी विनिमय का माध्यम है। द्रव्य के प्रयोग से विनिमय कार्यों में अधिक वृद्धि हुई है और द्रव्य की सहायता से ही बाजारों का विस्तार हुआ है।

बाजार

(Markets)

अभी हमने देखा कि विनिमय कार्य के लिए बाजारों का होना बहुत आवश्यक है। वे उत्पादकों और उपभोक्ताओं को एक दूसरे के समीप लाते हैं और विनिमय कार्यों को उन्नत बनाते हैं। और इस औद्योगिक उन्नति के युग में तो उत्पादक, श्रम-विभाजन के द्वारा, किसी एक वस्तु के उत्पादन में विशेषता प्राप्त कर उसे बहुत बड़े पैमाने पर उत्पन्न करता है और तब ही उसका बाजार में विनिमय करता है। इस प्रकार आर्थिक जीवन के विकास के साथ बाजारों का होना बहुत आवश्यक है और दिन-प्रतिदिन उनका महत्त्व बढ़ता जा रहा है। हम नीचे देखेंगे कि बाजार से अर्थशास्त्र में क्या अर्थ है।

"बाजार" का अर्थ

(*What is a Market?*)

साधारण बोलचाल की भाषा में बाजार उस स्थान-विशेष को कहते हैं जहाँ लोग एक या एक से अधिक वस्तुओं का क्रय विक्रय करते हैं, जैसे 'बजाजा', 'सर्राफा' या 'सब्जी मण्डी', कपड़े या सोने चाँदी या सब्जी के बाजार हैं। परन्तु अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ बहुत व्यापक है। यहाँ बाजार शब्द की कल्पना किसी स्थान विशेष के आधार पर नहीं की गई है। वह कुल क्षेत्र जिसमें क्रेता और विक्रेता एक दूसरे के सम्पर्क में हों बाजार माना जाता है। और किसी वस्तु के बाजार की विशेषता यह है कि उसका भाव सभी जगह एक होना चाहिए और एक भाव होने के लिए खरीदारों तथा बेचनेवालों में आपस में पूर्ण प्रतिस्पर्धा (competition) होनी चाहिए। इस तरह यदि बिना किसी स्थान विशेष पर एकत्रित हुए ही एक विशेष क्षेत्र के खरीदारों तथा बेचनेवाले लोगों के मध्य इस प्रकार प्रतिस्पर्धा हो कि उस वस्तु-विशेष का मूल्य सब जगह एक ही हो तो उस कुल क्षेत्र को उस वस्तु का बाजार कहेंगे। यही कारण है कि अर्थशास्त्र में बाजार शब्द से

अर्थशास्त्री का मतलब किसी स्थान विशेष से नहीं होता जहाँ वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती हों बल्कि उस सारे क्षेत्र से होता है जिसमें खरीदने और बेचनेवाले आपस में प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं और परिणामस्वरूप उस क्षेत्र भर के लिए एक वस्तु का एक ही भाव तय करते हैं। निम्न परिभाषाओं से बाजार शब्द का अर्थ और अधिक स्पष्ट हो जायगा —

अर्थ-शास्त्र में बाजार का अर्थ किसी विशेष स्थान से नहीं होता जहां वस्तुओं का क्रय विक्रय होता हो, वरन् बाजार शब्द से उस समस्त क्षेत्र का बोध होता है जिसमें बेचनेवालों और खरीदनेवालों में इस प्रकार का प्रतियोगितापूर्ण व स्वतंत्र सम्बन्ध हो कि उस सारे क्षेत्र में किसी वस्तु के मूल्य की प्रवृत्ति, सुगमता तथा शीघ्रता से एक होने की हो ("Economists understand by the term Market, not any particular market-place in which things are bought and sold, but the whole of any region in which buyers and sellers are in such free intercourse with one another that the prices of the same goods tend to equality, easily and quickly."—*Cournot.*)

के० ई० बोल्डिंग का भी कहना है कि "The competitive market may be defined as a large number of buyers and sellers, all engaged in the purchase and sale of identically similar commodity, who are in close contact, one with another, and who buy and sell freely among themselves"

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थशास्त्र में बाजार शब्द से मतलब कोई विशेष स्थान या क्षेत्र नहीं बल्कि कोई वस्तु या बहुत सी वस्तुएँ हैं जिनके खरीदारों तथा बेचनेवालों के मध्य पूर्ण प्रतियोगिता रहती है और परिणामत. उस वस्तु के दाम उस क्षेत्र में एक ही होते हैं जिस क्षेत्र में वे लोग फैले होते हैं। उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र में सोने के बाजार का अर्थ कोई विशेष स्थान नहीं बल्कि वह कुल क्षेत्र है जिसमें खरीदारों और बेचनेवाले लोगों में आपस में इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा है कि सोने का भाव उस क्षेत्र में सभी जगह एक है। इसी लिए सोने का बाजार संसार व्यापी बाजार कहलाता है।

"बाजार" के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं
(*Essentials of a Market*)

(१) कोई वस्तु (commodity) होनी चाहिए।

(२) खरीदार तथा बेचनेवाले लोगों (buyers and sellers) का समूह होना चाहिए।

(३) खरीदार तथा बेचनेवाले लोगों के बीच इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा (competition) होनी चाहिए जिससे उस वस्तु विशेष के दाम सारे क्षेत्र में, एक समय

में, एक ही हों। वास्तव में एक दाम (one price) ही आधिक बाजार की विशेषता तथा उसकी कसौटी है। A single competitive price is both the characteristic and the test of a market [परन्तु एकाधिकार में एक ही विक्रेता होने के कारण विक्रेताओं में प्रतियोगिता नहीं होती यद्यपि वस्तु बेची और खरीदी जाती है। इस दशा म एक ही मूल्य का होना भी आवश्यक नहीं है, परन्तु ऐसा बाजार अपूर्ण बाजार ही है।]

(४) सट्टेबाजों की उपस्थिति (presence of speculators) माँग तथा पूर्ति की प्रवृत्तियों को जानने के लिए तथा उनमें सामजस्य लाने के लिए आवश्यक है।

(५) बाजार के लिए एक अच्छी द्रव्य प्रणाली (sound monetary system) का होना भी आवश्यक है जिससे विनिमय कार्य सफलता से किये जा सकें।

प्रो० मार्शल का कथन है कि बाजार जितना ही अधिक पूर्ण होता है उसमें उतनी ही अधिक एक समय में एक कीमत होने की प्रवृत्ति होती है। (यद्यपि मूल्य में यातायात के खर्च का अन्तर अवश्य रहेगा।)

क्षेत्र की दृष्टि से बाजार के रूप

(*Division of market according to area or place*)

क्षेत्र की दृष्टि से बाजार को तीन भागों में बाँटा जा सकता है —

(अ) स्थानीय बाजार (Local Markets)—वास्तव में बाजार का क्षेत्र प्रतियोगिता की सीमा पर आश्रित होता है। यदि किसी वस्तु के खरीदारों तथा बेचनेवाले लोगों की आपस की प्रतियोगिता किसी स्थान विशेष तक सीमित हो यानी उसके क्रेता और विक्रेता आस पास के हों तो इस वस्तु के बाजार को अर्थशास्त्र में स्थानीय बाजार कहेंगे। साधारणतया उन वस्तुओं का स्थानीय बाजार होता है जो शीघ्र खराब हो जाती हैं जैसे सब्जी, फल दूध, जलेबी आदि, अथवा जिनका वजन मूल्य की तुलना में बहुत अधिक है और जिनको इधर से उधर लाने ले जाने में बहुत खर्च होता है जैसे ईंट, रेत, मिट्टी, लकड़ी, पत्थर आदि।

(ब) राष्ट्रीय बाजार (National Markets)—यदि किसी वस्तु के खरीदारों तथा बेचनेवाले लोगों की आपस की प्रतियोगिता देशव्यापी हो तो उस वस्तु का बाजार राष्ट्रीय बाजार कहलाएगा। राष्ट्रीय बाजार की वस्तुओं की माँग देश तक ही सीमित रहती है। उदाहरणार्थ, धोती, साड़ी, गांधी टोपी, लाल इमली के ऊनी कपड़े, मुरादाबादी बर्तन तथा फीरोजाबादी चूड़ियों के बाजार राष्ट्रीय हैं। व्यापारी इन वस्तुओं का क्रय विक्रय प्रतियोगिता पूर्वक केवल देश में ही करते हैं। [जब माँग कुल देश की जगह केवल एक प्रान्त में ही सीमित रहती है तो बाजार केवल प्रान्तीय बाजार (Provincial Market) कहलाता है, जैसे जहाँगीराबाद के लिहाफ, या बरेली के फर्नीचर

का बाजार जिनका क्षेत्र केवल उत्तर-प्रदेश तक सीमित है या मारवाड़ी पगड़ियों और लाख की चूड़ियों का बाजार जिनकी माँग राजपूताना व मेवाड़ के लोगों में ही होती है।

(स) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार या संसार व्यापी बाजार (World Market) यदि किसी वस्तु के व्यापारियों की आपस की प्रतियोगिता संसारव्यापी हो तो उस वस्तु के बाजार को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार कहते हैं। साधारणतः उन वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होता है जो शीघ्र नष्ट नहीं होती हैं, जिनकी माँग सारे संसार में है और जिनमें वहनीयता होती है। जैसे सोना, चाँदी, गेहूं आदि वस्तुओं के बाजार।

विज्ञान तथा यातायात के साधनों की उन्नति से आजकल प्रत्येक वस्तु के बाजार के क्षेत्र का विस्तार बढ़ रहा है। कोल्ड स्टोरेज के द्वारा नाशवान वस्तु भी अधिक समय तक रखी जा सकती है। जहाज, मोटर, रेल आदि के द्वारा एक स्थान का सामान दूसरे स्थान पर आसानी से तथा बहुत कम समय में भेजा जा सकता है। साथ ही रेडियो, टेलीफून तार आदि के द्वारा एक स्थान का समाचार दूसरे स्थान पर शीघ्र भेजा जा सकता है। इन चीजों की उन्नति से किसी भी वस्तु के दो स्थानों के मूल्य का अन्तर घटता जा रहा है और इस प्रकार बाजार का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है।

पूर्ण तथा अपूर्ण बाजार

(Perfect and Imperfect Market)

प्रतियोगिता की दृष्टि से बाजारों को पूर्ण तथा अपूर्ण दो भागों में बाँटा जा सकता है। यदि किसी वस्तु के व्यापारी किसी वस्तु के क्रय-विक्रय के अलग-अलग भावों को शीघ्रातिशीघ्र जान लेते हैं और बेचनेवालों तथा खरीदनेवालों की संख्या बहुत अधिक है और प्रत्येक खरीदार कम से कम दामों पर बेचनेवाले विक्रेता से खरीद कर सकता है, तो ऐसे बाजार में एक ही मूल्य होने का झुकाव रहता है। इस प्रकार के बाजार को पूर्ण बाजार (Perfect Market) कहते हैं। ऐसे बाजार के लिए यातायात और पत्र-व्यवहार इत्यादि के सब साधनों की उन्नति का होना अत्यन्त आवश्यक है। इससे ग्राहक तथा विक्रेताओं को बाजार की स्थिति का पता शीघ्र चलता रहता है। इसके अतिरिक्त पूर्ण बाजार के लिए माँग या पूर्ति पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए जिससे कि मूल्य पूर्ण प्रतियोगिता से तय हो सके। जब इस प्रकार का बाजार होगा तो कीमतें समता को प्राप्त होने लगेंगी (यद्यपि कीमतों के आने-जाने के खर्च का अन्तर बना रहेगा।)

परन्तु यदि व्यापारियों को किसी वस्तु के बाजार के सभी मोल-भाव भली प्रकार मालूम नहीं हैं और अज्ञान या आलस्य या आने-जाने के खर्च के कारण लोग सबसे सस्ते दामों पर उस वस्तु को न खरीद सकें और पूर्ण प्रतियोगिता संभव न हो तो उस बाजार को अपूर्ण बाजार (Imperfect Market) कहते हैं। (इस विषय की विशेष जानकारी के लिए आगामी दो तीन अध्याय पढ़िए।)

साधारणतया थोक बाजार फुटकर बाजार की अपेक्षा अधिक पूर्ण होते हैं। इसी प्रकार उत्पादक वस्तुओं के बाजार उपभोग की वस्तुओं के बाजार की अपेक्षा अधिक पूर्ण होते हैं, और शीघ्र नष्ट होनेवाली वस्तुओं के बाजार जैसे तरकारी, फल, दूध के बाजार की अपेक्षा टिकाऊ वस्तुओं जैसे गेहूँ, चना, चाँदी के बाजार अधिक पूर्ण होते हैं, इत्यादि, इत्यादि।

बाजार का विस्तार
(*Extension of Market*)

वर्त्तमान समय में लोगों की प्रवृत्ति प्रत्येक वस्तु के बाजार को विस्तृत करने की है। वास्तव में इस औद्योगिक क्रान्ति के युग में वस्तुएँ बड़े पैमाने पर विस्तृत बाजारों के लिए ही पैदा की जाती हैं।

बाजार का विस्तार निम्न बातों पर निर्भर रहता है—

(अ) बाह्य कारण (*External Cause*):—

(१) उन्नत यातायात तथा सम्वाद वाहन के साधन (developed means of transport and communication)—आने जाने के साधनों का तथा सवाद-वाहन के साधनों का बहुत बड़ा प्रभाव बाजार पर पड़ता है। इनके द्वारा खरीदार तथा विक्रेता को बाजार के मोल-भाव का पता जल्दी जल्दी लगता रहता है। डाक, तार, टेलीफून, बिना तार का तार, रेडियो, समाचार पत्र, जहाज, रेल, मोटर तथा हवाई जहाज आदि की उन्नति से बाजारों का विस्तार होता है। वर्त्तमान समय में विज्ञापन (advertsiments) तथा प्रदर्शनियों (exhibitions) की सहायता से भी बाजार का विस्तार होता है। इनके द्वारा दूर देशों के लोग भी किसी वस्तु के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते हैं और फिर उन्हें खरीदने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार उन वस्तुओं का बाजार किसी एक स्थान तक ही सीमित नहीं रहता—उनका क्षेत्र बढ़ जाता है।

(२) वैज्ञानिक उन्नति (*help of modern scientific methods*)—विज्ञान की उन्नति के साथ पैकिंग तथा स्टोरेज के नये वैज्ञानिक तरीकों का आविष्कार हुआ है। air-tight packing और cold storage तथा refrigeration के द्वारा नाशवान् वस्तुओं को भी काफी समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है। ताजे फल तथा अण्डे कोल्ड स्टोरेज की सहायता से बहुत दूर भेजे जा सकते हैं। अब काश्मीर के फल, अलीगढ़ का मक्खन आदि भारतवर्ष के विभिन्न भागों में सुविधापूर्वक मिल सकते हैं। इसी प्रकार हालैण्ड से बहुत बड़ी मात्रा में दूध, मक्खन तथा अण्डे आदि दूसरे देशों को भेजे जाते हैं।

(३) द्रव्य की स्थिरता—स्थिर मुद्रा नीति (sound monetary policy) तथा सुव्यवस्थित बैंकिंग प्रणाली (sound banking system) बाजार के विस्तार को बढ़ाने में बहुत अधिक सहायक होते हैं। यदि द्रव्य का मूल्य अनिश्चित हो और उसमें समय समय पर परिवर्तन होता हो तो व्यापारियों का विश्वास इस प्रकार की अस्थिर मुद्रा-

प्रणाली पर नहीं रहता। अन्य देशों के लोग भी ऐसे देश से अपना व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना नहीं चाहते। इस लिये यह जरूरी है कि मुद्रा-नीति ठीक हो और बैंकिंग प्रणाली सुव्यवस्थित हो। इसके अतिरिक्त उन्नत साख-पत्र, जैसे हुण्डी, बिल, चैक, नोट आदि भी बाजार के विस्तार को बढ़ाने में अधिक सहायक सिद्ध होते हैं। इनके द्वारा द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुविधापूर्वक भेजा जा सकता है आदि, आदि।

(४) देश में सुख-शान्ति, सुव्यवस्थित शासन-प्रबन्ध तथा सरकार की हितकारी नीति (peace and settled government and right policy of the state) भी बाजार के विस्तार के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि देश में अशान्ति का वातावरण हो और देश का प्रबन्ध ठीक रूप से न किया जाय तो व्यापारियों को अपने क्रय विक्रय के कार्यों से पूर्ण लाभ उठाने का विश्वास नहीं होगा, फलस्वरूप वे अपने व्यापार को फैलाने का अधिक प्रबन्ध नहीं करेंगे जिससे बाजार का विस्तार सीमित हो जायगा। इसी प्रकार यदि सरकार की नीति लाभदायक न हो और आयात या निर्यात कर लगाये जाये तो भी बाजार का विस्तार रुक जायगा। अतः बाजार के विस्तार के लिए सरकार की तरफ से हर प्रकार का प्रोत्साहन मिलना आवश्यक है।

(ब) आंतरिक कारण (*Internal Causes*) :--

प्रत्येक वस्तु के बाजार का विस्तार उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त उस वस्तु के नीचे लिखे गुणों (character or attributes of the commodity) पर भी निर्भर रहता है :—

(१) वस्तु की माँग नियमित रूप से संसार के बहुत बड़े क्षेत्र से (wide and extensive demand) होनी चाहिए। जिस वस्तु की माँग जितनी ही अधिक होती है उसका बाजार भी उतना ही अधिक विस्तृत होता है। जैसे सोना, चाँदी, गेहूँ, कपास, चमड़ा आदि वस्तुओं की माँग प्रत्येक देश में है, इसलिए इनके बाजार का विस्तार भी बहुत अधिक है। इसके विपरीत जिन वस्तुओं की माँग केवल किसी देश तक ही सीमित है उनका बाजार भी उसी देश तक सीमित रहता है। जैसे धोती तथा साड़ियों की माँग राष्ट्र तक सीमित होने के कारण इनका बाजार भी राष्ट्र तक सीमित है।

(२) किसी वस्तु के विस्तृत बाजार के लिए उसकी केवल माँग ही अधिक नहीं होनी चाहिए बल्कि उसकी पूर्ति भी अधिक (extensive supply) होनी चाहिए। जिन वस्तुओं की पूर्ति सीमित होती है, जैसे कि अपर्याप्त चित्रों की, उनका बाजार भी अधिक बड़ा हुआ नहीं होता।

(३) विस्तृत बाजार के लिए वस्तु टिकाऊ (durability) होनी चाहिए जिससे कि उसे आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सके। जो वस्तुएँ शीघ्र नष्ट हो जाती हैं, उनका बाजार सीमित होता है, क्योंकि दूर भेजने में ये वस्तुएँ खराब हो जाती हैं जैसे फल, दूध, मांस, अण्डे आदि वस्तुएँ अधिक समय तक अच्छी दशा में नहीं रक्खी जा सकतीं इसलिए इनका बाजार अधिकतर स्थानीय होता है। परन्तु वैज्ञानिक पैकिंग के तरीकों से तथा कोल्ड स्टोरेज, रिफ्रेजिरेटिंग गाड़ियां इत्यादि की सहायता से और उन्नत

यातायात के साधनों की सहायता से आजकल नाशवान् वस्तुओं के बाजारों का भी विस्तार हो रहा है।

(४) किसी भी वस्तु के विस्तृत बाजार के होने के लिए उस वस्तु का वजन अधिक नहीं होना चाहिए, वरन् कम वजन में अधिक कीमत का समावेश (large value in small bulk) होना चाहिए ताकि यातायात का व्यय उसके मूल्य का केवल एक छोटा अंश हो। यानो उस वस्तु को स्थान-परिवर्तन-साध्य होना चाहिए या उसमें वहनीयता (portability) होनी चाहिए, जैसे सोना, चाँदी आदि वस्तुओं का लाने ले जाने का खर्च उनके मूल्य की तुलना में बहुत कम होता है और उनको आसानी से लाया ले जाया जा सकता है। इसके विपरीत ईंट, पत्थर आदि का बाजार स्थानीय है क्योंकि इनके लाने ले जाने का खर्च उनके मूल्य को देखते हुए अधिक होता है।

(५) जो वस्तु शीघ्र पहचानी जा सकती है (cognoscibility) जिसे श्रेणीबद्ध कर सकते हैं और जिसके सही नमूने बनाए जा सकते हैं या जो नम्बर या मार्का द्वारा प्रकट की जा सकती है, उसके बाजार का विस्तार बहुत अधिक होता है, और जितनी ही जल्दी कोई वस्तु दूर से बताई या जानी जा सकती है उतना ही अधिक विस्तृत उसका बाजार होता है। यदि किसी वस्तु के नमूने बनाकर व्यापारियों के पास भेजे जा सकते हैं तो नमूनों के आधार पर लाखों रुपये का व्यापार (marketing by samples) किया जा सकता है, जैसे दूकानदार केवल नमूने को देखकर, बिना सब सामान देखे ही, लाखों रुपए के कपड़ों का आर्डर भेज देते हैं। इसी तरह यदि किसी वस्तु के गुणों के आधार पर उसे अलग-अलग ग्रेडों में बाँटा जा सकता है, जैसे कोयले को उसकी किस्मों के अनुसार soft coke, hard coke और steam coal आदि वर्गों में बाँटा जा सकता है या गेहूँ या चीनी की किस्मों को नम्बर द्वारा प्रकट किया जा सकता है जैसे गेहूँ पूसा नं० ५०१, चीनी D_{15}, D_{17}, तो खरीदार और विक्रेता बिना नमूने को देखे भी सैकड़ों हजारों मील पर बैठे हुए केवल ग्रेड (marketing by grades) के आधार पर सौदा कर सकते हैं, जैसे देहली का व्यापारी केवल ग्रेड का नाम लिखकर ही अमेरिका के गेहूँ या रुई को खरीद लेता है। इसी प्रकार जो वस्तुएँ नम्बरों द्वारा या मार्का द्वारा (suitability for marking and numbering) या नाम द्वारा पूरी तौर पर दूर से बताई जा सकती हैं उनका बाजार भी विस्तृत होता है जैसे कि हाथी मार्का मिट्टी का तेल, हरक्युलीज साइकिल, आस्टिन कार, कैंची की सिग्रेट, ओ० एक्स० की फुलालेन इत्यादि। (जिन वस्तुओं का वर्णन दूर से नहीं किया जा सकता है और जिन्हें स्वयं देखकर खरीदने की आवश्यकता होती है उनके बाजार विस्तृत नहीं होते।)

चोर बाजार या काला बाजार

(*Black Market*)

यदि विक्रेता वस्तुओं को लुक छिपकर सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर बेचता है, तब वस्तु का इस प्रकार का बाजार "चोर-बाजार" कहलाता है।

इस प्रकार का बाजार अधिकतर युद्ध काल में चालू हो जाता है। यदि वस्तुओं का उत्पादन तथा वितरण देश की आवश्यकतानुसार हो जाय तो चोर बाजार का प्रश्न नहीं उठता। पर माँग की अपेक्षा पूर्ति कम होने से सरकार को तरह तरह के नियन्त्रण करने पड़ते हैं और कुछ वस्तुओं के दाम भी निर्धारित करने पड़ते हैं जिससे आवश्यक वस्तुएँ सब ही श्रेणी के लोगों को मिल सकें। परन्तु आवश्यकता पड़ने पर ग्राहक वस्तुओं को ऊँचा मूल्य देकर भी खरीदने के लिए तैयार होते हैं और व्यापारी अत्यधिक लाभ की लालच में वस्तुओं को चोर-बाजार में कानून के खिलाफ बेचने को तैयार हो जाते हैं। परिणामतः चोर-बाजार उत्पन्न हो जाते हैं और देश का नैतिक पतन होने लगता है। ये चोर-बाजार न किसी आर्थिक नियम पर चलते हैं और न कानून इनको आज्ञा देता है, परन्तु फिर भी आजकल ये प्रत्येक देश में बहुतायत से पाये जाते हैं और इनका वर्णन भी यहाँ कर दिया गया है, यद्यपि इनका अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं, सिवाय इसके कि ये माँग की अपेक्षा पूर्ति कम होने से होते हैं।

QUESTIONS

1. Prove with the help of an example that both parties to an exchange gain in utility, and the transaction stops when one of the parties begins to lose. (Rajputana, 1957)

2. What is meant by market in Ecomomics ? Distinguish between a perfect and an imperfect market (Alld. 1950)

3. Carefully define the term 'market', and point out the factors which infiuence the extent of a market in modern times (Agra, 1952s., 51s, 51)

4. Discuss the conditions for a wide market, giving two illustrations each of commodities enjoying (a) a local market, (b) provincial market, (c) national market and (d) world market (Agra 1955s, 1954s.)

२५

मूल्य का अर्थ

(What is meant by Value ?)

साधारणतया मूल्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है —

(अ) Value in Use (उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य)—किसी वस्तु की आवश्यकता को पूरा करने की शक्ति को उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य कहते हैं। [परन्तु आजकल उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य के लिए केवल "उपयोगिता" शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे रोटी और पानी में भूख और प्यास को दूर करने की शक्ति है, इसलिए हम कहेंगे कि ये दोनों उपयोगिता रखती हैं।]

वास्तव में संसार की हर एक वस्तु जिसे कोई मनुष्य चाहता है उसके लिए उपयोगिता रखती है, चाहे वह मुफ्त मिलती हो जैसे पानी, हवा या मिट्टी या दाम देने पर जैसे खाना, कपड़ा मकान, सोना, चाँदी इत्यादि, और चाहे वह अच्छी हो या बुरी, गुणदायक हो या हानिकारक। यदि एक व्यक्ति शराब चाहता है तो उसके लिए शराब की उपयोगिता है, चाहे वह बुरी ही चीज क्यों न हो इसी तरह यदि एक व्यक्ति जहर खाने के लिए अफ़ीम चाहता है तो उसके लिए उसकी उपयोगिता है, और एक धार्मिक पुरुष रामायण या गीता को चाहता है तो उसके लिए रामायण या गीता की उपयोगिता है।

(ब) Value in Exchange (विनिमय सम्बन्धी मूल्य)— किसी वस्तु की दूसरे वस्तुओं को खरीदने की शक्ति को अर्थशास्त्र में विनिमय सम्बन्धी मूल्य कहते हैं। जो वस्तु दूसरी वस्तुओं की जितनी ही अधिक मात्रा खरीद सकती है उसकी उतनी ही अधिक विनिमय शक्ति होती है और उसका उतना ही अधिक मूल्य होता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तुओं के रूप में प्रकट किया जाता है, जैसे यदि एक पाउण्ड चाय के बदले में चार पाउण्ड चीनी मिलती है तो हम कहेंगे कि एक पाउण्ड चाय का मूल्य चार पाउण्ड चीनी है, या दूसरे शब्दों में, एक पाउण्ड चीनी का मूल्य $\frac{1}{4}$ पाउण्ड चाय है। इसी प्रकार एक घोड़े का मूल्य गाय, बकरी, गेहूँ, चावल, पुस्तक, रोटी, मक्खन आदि किसी वस्तु के रूप में प्रकट किया जा सकता है, जैसे १ घोड़ा = ४

इनमें से प्रत्येक स्थिति म मूल्य निर्धारण करने के सिद्धान्त का अध्ययन विस्तारपूर्वक आगामी तीन अध्याया म किया जायेगा।

(*Some economic terms explained*)

मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त को भली प्रकार समझने के लिए अर्थशास्त्र के कुछ शब्दों का मतलब जानना आवश्यक है। नीचे उन्हा आवश्यक शब्दों का वर्णन किया गया है।

औसत लागत और सीमान्त लागत

(*Average Cost and Marginal Cost*)

कुल लागत म जब कुल उत्पादन से भाग दिया जाता है तो औसत लागत या व्यय (Average Cost) आती है, जैसे मान लिया ५० कलमों के उत्पादन की कुल लागत ३०० रुपया है तो कलम की औसत लागत ३०० ५० ६ रुपये हुई।

सीमान्त लागत (Marginal Cost)* वह लागत है जो किसी वस्तु की अन्तिम इकाई के उत्पादन म खर्च करना पड़ती है। सीमान्त लागत को मालूम करने के लिए कुल उत्पादन म से एक इकाई कम या ज्यादा कर देते हैं। और इस प्रकार उत्पादन की मात्रा को एक इकाई घटाने या बढ़ाने से कुल लागत म जो कमी या वृद्धि होती है उसी को सीमान्त लागत कहते हैं। मान लिया कि ५० कलमों की लागत ३००) है और ५१ कलमों की ३०५) तो ५१ कलमों का सीमान्त लागत ५) हुई।

कुल लागत या व्यय (Total Cost) से हमारा मतलब उस समस्त द्रव्य से होता है जो कुल उत्पत्ति म व्यय होता है। द्रव्य व्यय म किये हुए सब प्रकार के खर्चे इसमें शामिल कर लिये जाते हैं। दूसरे शब्दा म उत्पत्ति का सारी इकाइयों के सब खर्चों का जोड़ कुल व्यय के बराबर होता है। जैसे जैसे उत्पादन बढता जाता है कुल उत्पादन व्यय भी बढता जाता है।

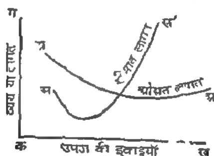
नीचे लिखी तालिका से कुल लागत, औसत लागत और सीमान्त लागत का भली प्रकार ज्ञान हो सकता है :—

कुल उत्पादन (Units Produced)	कुल लागत (Total Cost)	सीमान्त लागत (Marginal Cost)	औसत लागत (Average Cost)
१	१० रु०	१० रु०	१० रु०
२	१८ ,,	८ ,,	९ ,,
३	२४ ,,	६ ,,	८ ,,
४	२८ ,,	४ ,,	७ ,,
५	३५ ,,	७ ,,	[illegible] ,,
६	४८ ,,	१३ ,,	८ ,,
७	६३ ,,	१५ ,,	९ ,,
८	८८ ,,	२५ ,,	११ ,,

*Marginal cost means 'the additional cost of producing an additional unit of the commodity' Joan Robinson

जब उत्पादन १ इकाई के बराबर था तो कुल लागत १० रुपये थी और औसत लागत १० रुपये प्रति इकाई थी। जब उत्पादन २ इकाई हुई तो कुल लागत १८ रुपये हो गई इस तरह २ इकाइयों की औसत लागत ९ रुपये हुई और सीमान्त लागत ८ रुपया (यानी १८-१०) हुई। इस तालिका में हम देखते हैं कि जब कि उत्पादन की वृद्धि के साथ कुल लागत बढ़ती जाती है उत्पादन की ४ इकाई तक औसत और सीमान्त लागतें दोनों कम होती जाती हैं। और सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक घटती है। जब पाँचवीं इकाई का उत्पादन होता है तब सीमान्त लागत और औसत लागत बराबर होती है और उसके पश्चात् औसत तथा सीमान्त लागतें दोनों बढ़ने लगती हैं और सीमान्त लागत, औसत लागत की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ती है।

निम्न चित्र में अ अ औसत लागत रेखा है और स स सीमान्त लागत रेखा है।



औसत आय तथा सीमान्त आय

(*Average Revenue and Marginal Revenue**)

कुल आय में बिकी की कुल मात्रा की इकाइयों से भाग देने पर औसत आय मालूम होती है। जैसे यदि ५० पुस्तकों को बेचने से कुल आय २०० रुपये हो तो औसत आय ४ रुपये के बराबर हुई। और किसी वस्तु की अन्तिम इकाई को बेचने से जो आय होती है उसे सीमान्त आय कहते हैं, जैसे यदि ५० पुस्तकों के बेचने से कुल आय २००) हो और ५१ किताबों के बेचने से कुल आय २०३) हो तो सीमान्त आय ३) हुई। नीचे लिखी तालिका में कुल आय औसत आय, तथा सीमान्त आय को दिखाया गया है —

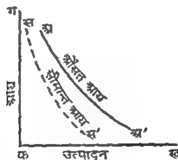
---

* Marginal Revenue is the addition to the total revenue produced by selling an additional unit of output —Joan Robinson

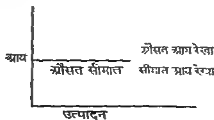
पुस्तकों की बिक्री (Books Sold)	कुल आय (Total Revenue)	औसत आय (Average Revenue)	सीमान्त आय (Marginal Revenue)
१	१०) रु०	१०) रु०	१०) रु०
२	१६) ,,	६॥) ,,	६) ,,
३	२७) ,,	६) ,,	८) ,,
४	३४) ,,	८॥) ,,	७) ,,
५	४०) ,,	८) ,,	६) ,,
६	४५) ,,	७॥) ,,	५) ,,
७	४६) ,,	७) ,,	४) ,,
८	५२) ,,	६॥) ,,	३) ,,

जब १ पुस्तक बेची जाती है तो कुल आय १०) रुपये है और औसत और सीमान्त आय दोनों १० रुपये हैं। जब २ पुस्तकें बेची जाती हैं तो कुल आय १६) रुपये और औसत आय ६) रुपये हैं तथा सीमान्त आय ६ रुपये हैं। इसी प्रकार जैसे जैसे पुस्तकें अधिक संख्या में बेची जाती हैं वैसे वैसे औसत आय और सीमान्त आय दोनों ही कम होती जाती हैं परन्तु सीमान्त आय औसत आय की अपेक्षा अधिक तेजी से कम होती है।

निम्न चित्र में अ अ' औसत आय रेखा और स स' सीमान्त आय रेखा दिखाये गये



हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में दोनों रेखाएँ एक ही होती हैं और इसका रूप एक सीधी लाइन (horizontal straight line) का होता है, जैसे—



ऐसा होने का कारण यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता में उत्पादक को न हानि हो सकती है न लाभ हो। वस्तु का मूल्य उत्पादन की औसत लागत के बराबर होगा और उस मूल्य पर उत्पादक उस वस्तु की जितनी चाहे उतनी इकाइयों का विक्रय कर सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रत्येक इकाई के विक्रय करने पर उसे वही मूल्य मिलेगा। और जब उसे वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए वही मूल्य मिलता है तो औसत आय और सीमांत आय में कोई अन्तर नहीं होगा और एक ही वक्र इन दोनों आयों को निरूपण करेगा। और चूँकि उसे प्रत्येक इकाई के लिए समान मूल्य मिलता है, इसलिए यह एक सीधी सरल लाइन होगी।

माँग का नियम

(*Law of Demand*)

माँग के नियम के अनुसार अन्य बातों के समान रहने पर मूल्य के कम होने पर वस्तु की माँग बढ़ जाती है और मूल्य बढ़ने पर माँग घट जाती है। प्रो० मार्शल के शब्दों में—

The greater the amount to be sold the smaller must be the price at which it is offered in order that it may find purchasers," or, in other words the amount demanded increases with a fall in price and diminishes with a rise in price other things remaining the same."

(इस विषय की विशेष जानकारी के लिए उपभोग में "माँग का नियम" के अध्याय को पढ़िए।)

पूर्ति का नियम

(*Law of Supply*)

इस नियम के अनुसार अन्य बातों के यथावत रहने पर किसी वस्तु के मूल्य के बढ़ने पर उस वस्तु की पूर्ति बढ़ती है और मूल्य के कम होने से पूर्ति भी कम होती है। दूसरे शब्दों में, बेचनेवाला वस्तु का अधिक मूल्य मिलने पर उसकी अधिक मात्रा देने को तैयार होगा, और वस्तु का कम मूल्य होने पर पूर्ति की मात्रा कम होती जायगी।

"As the price rises other things remaining the same the quantity offered for sale (supply) will tend to increase and as price falls the quantity offered for sale (supply) will tend to decrease or in other words 'supply increases as price rises and diminish as price falls—other things remaining the same."

इस प्रकार किसी वस्तु के भिन्न भिन्न मूल्यों पर उसकी भिन्न भिन्न मात्रा की पूर्ति होती है, जिसे पूर्ति तालिका द्वारा दिखाया जाता है जो इस प्रकार का होता है :—

की, उत्पत्ति बढ़ाने में पहिले की अपेक्षा उत्पादन व्यय बहुत अधिक बढ़ जाता है तो उस वस्तु की पूर्ति बेलोच होगी—क्योंकि यहाँ उत्पत्ति ह्रास नियम काम करता है। इसके विपरीत उन वस्तुओं की पूर्ति, जिनमें उत्पादन उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत होता है, बहुत अधिक लोचदार होगी। (३) कारखानों की अधिकतम उत्पादन शक्ति पर—अल्पकाल में मशीनों द्वारा बनी हुई वस्तुओं की पूर्ति कारखानों की अधिकतम उत्पादन शक्ति तक लोचदार होती है, इसके बाद वह बेलोच होती है। (४) पूर्ति में परिवर्तन होने के लिए समय पर—यदि इसके लिए समय है तो पूर्ति लोचदार होगी, अन्यथा बेलोच (५) वस्तु के एक से दूसरी जगह ले जा सकने की सुविधाओं पर। (६) विक्रेताओं के स्टाक जमा रखने की शक्ति पर (७) वस्तु की उत्पादन प्रणाली पर, अर्थात् इस बात पर कि वस्तु के उत्पादन के बढ़ाने में कम अचल पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी या अधिक, इत्यादि, इत्यादि।

QUESTIONS

1. What is meant by value? Explain precisely what you understand by.

   (a) value under conditions of perfect competition
   (b) " " " " " monopoly
   (c) " " " " " imperfect cometition

   (Agra 1951)

2. "Bread (or water) is more useful than gold, yet gold has a greater market value than bread (or water)"
   How do you explain this paradox? (Agra 1955)

3. Write short notes on —
   (a) average cost and marginal cost (Rajputana 1955, Saugar 1957)
   (b) average revenue and marginal revenue.

———

२६

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य

(Value under Perfect Competition)

सामान्य तौर से बाजार में किसी एक वस्तु के बहुत से विक्रेता तथा बहुत से ग्राहक होते हैं और उन सब में प्रतियोगिता होने के कारण वस्तु का "मूल्य" लगभग एक ही होता है। अर्थशास्त्री ऐसे मूल्य (या कीमत) को Competitive Price अथवा Price under *Competition कहते आये हैं। और हम यहाँ यह अध्ययन करेंगे कि ऐसा मूल्य (या ऐसी कीमत)* किन सिद्धान्तों पर आधारित होता है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि बहुत से आधुनिक अर्थशास्त्रियों (*मिसेज जोअन रोबिन्सन, एडवर्ड चेम्बरलेन, आदि*) के मतानुसार ऐसे मूल्य के निर्धारण के सिद्धान्तों की खोज व्यर्थ है, क्योंकि वास्तविक संसार में मूल्य पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition)* के अन्तर्गत नहीं निर्धारित हुआ करता। आजकल का संसार अपूर्ण प्रतियोगिता का संसार है और अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियों में ही मूल्य निर्धारित होता है। पूर्ण प्रतियोगिता तो केवल एक कल्पनात्मक विचार है, अतः इसके अन्तर्गत मूल्य की खोज भी व्यर्थ है। उनका कहना है कि पूर्ण प्रतियोगिता के होने के लिए निम्नलिखित तीन बातें आवश्यक हैं :—पहली बात यह है कि वस्तु के ग्राहक तथा विक्रेताओं की संख्या इतनी अधिक और इस तरह की होनी चाहिए कि कोई एक ग्राहक अपनी माँग या पूर्ति को घटा बढ़ाकर बाजार के भाव पर किसी प्रकार का प्रभाव न डाल सके। मिसाल के लिए हर साल करोड़ों मन गेहूँ पैदा होता है, और एक किसान है जो १० या २० मन या

---

*Some writers make a distinction between perfect competition and pure competition also According to them, pure competition, i. e , the absence of all monopolistic tendencies, exists when the number of buyers and sellers is very large so that no one of them may influence market price by his actions, and when the sellers sell a completely homogeneous product Perfect competition will, however, exist when, in addition to the above two conditions (i.e , a large number of buyers and sellers and a homogeneous product), *entry into the industry is unrestricted* and all producers are able to buy factors of production on the same terms.

१००० या २००० मन गेहूँ पैदा करता है, तो इस किसान के अपनी पैदावार को दुगनी या आधी कर देने का मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ सकता है (२) दूसरी बात यह है कि ग्राहकों और विक्रेताओं के बीच किसी प्रकार का लगाव भी नहीं होना चाहिए। उन्हें केवल भाव से प्रेम होना चाहिए। क्योंकि केवल ऐसी हालत में ही ग्राहकों की प्रवृत्ति सबसे कम दामों पर बेचनेवाले विक्रेता से खरीदने की और विक्रेताओं की प्रवृत्ति सबसे अधिक दामों पर खरीदनेवाले ग्राहक को बेचने की रह सकती है (३) तीसरी बात और है वह यह कि ग्राहकों को बाजार के सभी भाव मालूम होने चाहिए, क्योंकि उसी दशा में वे कम से कम दामों पर बेचनेवाले विक्रेता से खरीदने का प्रयत्न कर सकेंगे, और सभी विक्रेताओं की वस्तु एक ही प्रकार की होनी चाहिए, क्योंकि वस्तुओं में अन्तर होने से उनके मूल्य में अन्तर होना स्वाभाविक है। दूसरे शब्दों में पूर्ण प्रतियोगिता उस दशा को सूचित करती है जिसमें प्रत्येक खरीदनेवाले को सब बेचनेवालों के दाम ज्ञात होते हैं, प्रत्येक विक्रेता एक सी ही वस्तु को बेचते हैं, और ग्राहक तथा विक्रेताओं की संख्या इतनी होती है कि कोई एक ग्राहक या विक्रेता अपनी माँग या पूर्ति को घटा-बढ़ा कर किसी प्रकार का मूल्य पर प्रभाव न डाल सके। इसके उपरान्त पूर्ण प्रतियोगिता में पूर्ण गतिशीलता होनी भी आवश्यक है जिससे उत्पत्ति के साधन एक फर्म से दूसरे फर्म में या एक व्यवसाय से दूसरे में जहाँ का लाभ अधिक हो आसानी से जा सकें, सरकार की ओर से या किसी भी प्रकार की कोई रुकावट न हो, इत्यादि, इत्यादि। परन्तु चूँकि ऐसी दशा वास्तविक संसार में नहीं पाई जाती, इसलिए इन अर्थ-शास्त्रियों का कहना है कि पूर्ण प्रतियोगिता का होना असंभव है, यह तो केवल एक काल्पनिक विचार है, और उसके अन्तर्गत मूल्य के निर्धारण की खोज भी व्यर्थ है।

परन्तु फिर भी अर्थशास्त्र के प्रारम्भ से लेकर अब तक हम मूल्य की समस्या को पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत पढ़ते आये हैं और इन सिद्धान्तों का बड़ा महत्त्व है (जैसा कि हम आगे देखेंगे), और इसलिए इस विषय का अध्ययन कि "पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मूल्य कैसे निर्धारित होता है ?" भी बहुत महत्त्वपूर्ण अथवा आवश्यक है।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य
(*How value is determined under perfect competition*)

पूर्ण प्रतियोगिता में किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है, इसके लिए अलग-अलग अर्थशास्त्रियों ने अलग अलग सिद्धान्त बनाये हैं। अर्थशास्त्र के विद्वान् रिकार्डो के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के उत्पादन की लागत से निश्चित किया जाता है। जैसे यदि एक मशीन की लागत १०,००० रुपये है तो उसका कीमत भी १०,००० रुपये होगी। अर्थशास्त्र के दूसरे विद्वान् जेवन्स के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता से निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए कलम उपयोगी है, अतः कलम की कीमत इसकी उपयोगिता के बराबर होगी। जैसे यदि एक कलम की उपयोगिता रु० १०) के बराबर है तो उसका मूल्य रु० १०) होगा। जो वस्तु जितनी ही अधिक उपयोगी होगी

उतना ही अधिक उसका मूल्य होगा। परन्तु यह दोनों ही सिद्धान्त एक तरफा हैं। किसी वस्तु का मूल्य न तो केवल लागत से तय किया जाता है न केवल उपयोगिता से ही। उदाहरण के लिए जो मशीन केवल हल्ला करती है, किसी प्रकार उपयोगी नहीं है, उसका कुछ भी मूल्य नहीं होगा चाहे उसकी लागत कितनी भी हो। और कितनी ही मेहनत से एक किताब लिखी जाय परन्तु यदि वह उपयोगी नहीं है तो उसका भी कुछ मूल्य नहीं होगा। इसी प्रकार हवा तथा पानी की बहुत अधिक उपयोगिता होते हुए भी उनका कोई मूल्य नहीं है क्योंकि इनके उत्पादन में कुछ भी लागत नहीं लगती है। वास्तव में प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी माँग तथा पूर्ति दोनों से निर्धारित होता है। माँग उस वस्तु की उपयोगिता पर निर्भर रहती है और पूर्ति उसके उत्पादन की लागत पर निर्भर रहती है।

अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् मार्शल ने मूल्य निर्धारित करने का वास्तविक सिद्धान्त बताया। उसके अनुसार मूल्य उपयोगिता व लागत दोनों से निश्चित होता है। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु का मूल्य एक ओर उसकी माँग, जो उपयोगिता पर आधारित होती है, और दूसरी ओर उसकी पूर्ति, जो लागत पर आधारित होती है, से निर्धारित होता है। जैसे कैंची की दोनों धारें किसी चीज के काटने के लिए समान रूप से आवश्यक हैं वैसे ही किसी वस्तु की माँग तथा पूर्ति दोनों ही उसके मूल्य निर्धारण के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। साम्य बिन्दु पर माँग और पूर्ति दोनों बराबर होते हैं और उसी स्थान पर मूल्य तय होता है जिसे साम्य कीमत (*equilibrium price*) कहते हैं। प्रो० मार्शल के शब्दों में Just as we cannot say that the upper blade or the lower blade alone of a pair of scissors cuts a piece of cloth when the two blades operate together so we cannot say whether demand (depending on utility) alone or supply (depending on cost of production) alone determines value, and just as there can be no cutting until the two blades meet, so there can be no value until supply meets demand—the point at which they meet in order to cut, i e the equilibrium point, is the point at which market value is fixed '

इसी बात को एक दूसरे अर्थशास्त्री सिल्वरमैन ने इस प्रकार व्यक्त किया है:—
' *From the side of demand the price of an article tends to equal* the marginal utility or the estimate of the marginal purchase, while from the side of supply it tends to equal the marginal cost of production or the cost incurred by the marginal firm The point of coincidence between the marginal cost and marginal utility both, *as measured in terms of money, indicates the price* '

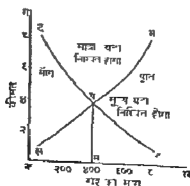
यदि बाजार की कीमत किसी समय इस साम्य कीमत से अधिक होगी तो पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक बढ़ेगी और वस्तु की सम्पूर्ण मात्रा नहीं बेची जा सकेगी। इसलिए सम्पूर्ण मात्रा को बेचने के लिए कीमत को घटाना आवश्यक हो जायेगा। इसके विपरीत

यदि बाजार की कीमत साम्य कीमत से कम होगी तो पूरी माँग की तृप्ति नहीं की जा सकेगी। अतः कीमत बढ़ानी पड़ेगी। इस प्रकार अन्त में कीमत साम्य कीमत के बराबर फिर हो जायेगी और उस स्थान पर माँग और पूर्ति दोनों बराबर होंगे। नीचे लिखे उदाहरण से इस विचार की ओर भी अधिक पुष्टि हो जाती है :—

गेहूँ की कीमत प्रतिमन रुपये	माँग मन	पूर्ति मन
१०)	१००	१०००
८)	१५०	८५०
६)	२५०	६५०
५)	४००	४००
४)	६००	२००
२)	७००	१५०

जब गेहूँ का भाव १० रुपया प्रतिमन है तो माँग १०० मन और पूर्ति १००० मन है। ज्यों ज्यों दाम घटते हैं माँग बढ़ती है और पूर्ति घटती है। अन्त में ५ रुपया प्रति मन के भाव पर माँग और पूर्ति दोनों ४०० मन के बराबर हो जाता है, इस तरह ५ रुपया प्रतिमन साम्य कीमत हुई। और हम कह सकते हैं कि किसी वस्तु के बाजार में किसी समय ग्राहकों और विक्रेताओं की आपस की प्रतियोगिता से कीमत का इस प्रकार समायोग होता है कि माँग और पूर्ति दोनों की मात्राएँ बराबर होती हैं। यदि कीमत साम्य कीमत से कम या अधिक हो तो उसका झुकाव साम्य बिन्दु की ओर होता है। मान लीजिए कि कीमत ६ रुपया हो जाती है तो माँग २५० मन रह जायगी और पूर्ति ६५० मन हो जायगी और बेचनेवाले आपस में प्रतियोगिता करेंगे जिसके कारण कीमत घटकर ५ रुपया की तरफ चलेगी। अब मान लीजिए कि कीमत ४ रुपया हो जाती है तो माँग ६०० मन हो जाएगी और पूर्ति केवल २०० मन रह जायगी, खरीदनेवाले आपस में प्रतियोगिता करेंगे और परिणाम स्वरूप कीमत बढ़कर ५ रुपया की तरफ चलेगी।

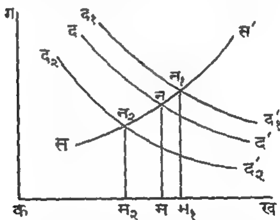
आगे दिये हुए रेखाचित्र में माँग और पूर्ति, तथा साम्य कीमत, दिखाये गये हैं :—



द द' माँग रेखा है। स स' पूर्ति रेखा है। प साम्य बिन्दु है और प म साम्य कीमत है। [इस उदाहरण का निरूपण सीमांत आय वक्र और सीमान्त लागत वक्र द्वारा भी किया जा सकता है। आज कल प्रायः ऐसा ही किया जाता है। इसके लिए आगे चलकर 'मूल्य सिद्धान्त का आधुनिक रूप' शीर्षक में दिये हुए चित्र को देखिए।]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे जैसे बाजार में कभी माँग पक्ष की, कभी पूर्ति पक्ष की, स्थिति सुदृढ होती है वैसे वैसे बाजार की कीमत अधिक या कम होती रहती है और अन्त में ५) रु० प्रति मन पर ठहर जाती है, जिस भाव पर कि माँग, कीमत, और पूर्ति बराबर हैं, और जिसे साम्य कीमत कहते हैं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि साम्य कीमत सदा एक ही रहती है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। माँग और पूर्ति में परिवर्तन होने पर साम्य कीमत भी बदल जाती है, क्योंकि जब माँग और पूर्ति की मात्राएँ बदल जाती हैं तो उनकी वक्र रेखाओं के स्थान व रूप भी बदल जाते हैं, और उनका साम्य बिन्दु भी बदल जाता है, कारण कि वे एक दूसरे को पुराने स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर काटती हैं। नीचे के चित्रों पर ध्यान दीजिए:—

जब माँग में वृद्धि* होती है तो उस स्थिति में माँग रेखा दाहिनी तरफ को जायगी। इसी तरह माँग में कमी होने पर माँग रेखा बाँयी तरफ को जायगी। और माँग के इन परिवर्तनों का प्रभाव साम्य मूल्य पर निम्न प्रकार पड़ेगा :—

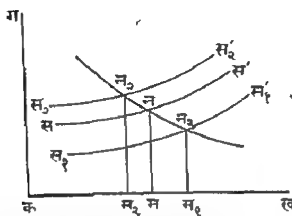


द द' माँग रेखा शुरू की माँग को दिखाती है। $द_1$ $द_1$' माँग रेखा बढ़ी हुई माँग को दिखाती है। $द_2$ $द_2$' घटी हुई माँग को दिखाती है। पहली स्थिति में साम्य मूल्य न म से $न_1$ $म_1$ हो जायगा और दूसरी स्थिति में मूल्य न म से $न_2$ $म_2$ हो जायगा।

---

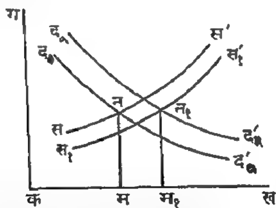
*यहाँ माँग के 'बढ़ने' 'घटने' से मतलब 'Increase in Demand and 'Decrease in Demand' से है, न कि 'Expansion of Demand' या 'Contraction of Demand' से। (इस सम्बन्ध में 'माँग का नियम' अध्याय पढ़िये)

इसी प्रकार यदि पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन होता है और पूर्ति रेखा बदल जाती है तो इसका प्रभाव भी साम्य मूल्य पर पड़ेगा।



स स′ शुरू की पूर्ति रेखा है। स₁ स₁′ पूर्ति रेखा बढ़ी हुई पूर्ति को दिखाती है। स₂ स₂′ पूर्ति रेखा घटी हुई पूर्ति को दिखाती है। पहली स्थिति में साम्य मूल्य न म से न₁ म₁ हो जायगा और दूसरी स्थिति में न म से न₂ म₂ हो जायगा।

और यदि माँग रेखा और पूर्ति रेखा दोनों ही बदलती हैं तो उनका प्रभाव निम्न प्रकार पड़ेगा :—



स स′ शुरू की पूर्ति रेखा और द द′ शुरू की माँग रेखा है। माँग के बढ़ने से माँग की रेखा द₁ द₁′ हो जायगी और पूर्ति के बढ़ने से पूर्ति रेखा स₁ स₁′ हो जायगी। और इस प्रकार साम्य मूल्य न₁ म₁ होगा।

साराश यह है कि माँग, पूर्ति और कीमत एक दूसरे से सम्बन्धित हैं तथा परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। जब माँग बढ़ जाती है तो कीमत बढ़ जाती है। कीमत बढ़ जाती है तो पूर्ति बढ़ जाती है और माँग घट जाती है। जब पूर्ति बढ़ जाती है तो कीमत घट जाती है। कीमत घट जाती है तो माँग बढ़ जाती है। इत्यादि, इत्यादि।

यह कहना तो कठिन है कि माँग का प्रभाव पूर्ति पर पड़ता है या पूर्ति का माँग पर, कीमत का प्रभाव पूर्ति (या माँग) पर पड़ता है, या पूर्ति (या माँग) का कीमत पर—माँग, पूर्ति और मूल्य परस्पर संबंधित हैं। परन्तु बाजार में यह क्रिया प्रतिक्रिया सदा होती रहती हैं जब तक कि पूर्ति और माँग का साम्य बिन्दु न आ जाये।

इसीलिए मार्शल का कहना है कि "The cost of production, eagerness of demand,* margin of production and price mutually govern one another."

मूल्य निर्धारण में समय का प्रभाव

(*Influence of Time on the determination of Value*)

हमने ऊपर देखा कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी माँग तथा पूर्ति से तै होता है। इसलिए मूल्य निर्धारण के लिए माँग और पूर्ति दोनों आवश्यक हैं। परन्तु *माँग और पूर्ति सभी दशाओं में समान रूप से महत्त्वपूर्ण नहीं है। कभी माँग मूल्य* निर्धारण में अधिक महत्त्व रखता है और कभी पूर्ति अधिक महत्त्व रखती है। इस प्रकार समय के अनुसार माँग और पूर्ति दोनों के प्रभावों का अनुपात बदलता रहता है। इसलिए समय की दृष्टि से किसी वस्तु के बाजार को दो भागों में बाँट सकते हैं। (१) अल्पकालीन बाजार (short-period market) (२) दीर्घकालीन बाजार (long-period market)

अल्पकालीन बाजार

(*Short Period Market*)

अल्पकाल में पूर्ति साधारण रूप से निश्चित रहती है यानी पूर्ति को अल्पकाल में माँग के अनुसार घटा या बढ़ा नहीं सकते हैं, क्योंकि उत्पादक को अल्पकाल में इतना

---

* इस संबंध में हमको एक बात और समझ लेनी चाहिए। वह यह कि "Margins" मूल्य को निर्धारित नहीं करते वे केवल इस बात का पता देते हैं कि जिस बिन्दु पर मूल्य निश्चित होता है वहाँ सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत (सीमान्त आय और सीमान्त लागत भी) बराबर होते हैं। जिस प्रकार एक तोलने की मशीन वजन को निर्धारित नहीं करती बल्कि केवल उसको प्रकट करती है, उसी तरह Margins केवल मूल्य का पता देते हैं इसे निर्धारित नहीं करते। मान लीजिए कि एक बैलगाड़ी ६ मुसाफिरों को ले जा सकती है, और जब १०वाँ मुसाफिर उसमें कूद पड़ता है उसके बोझ से वह टूट जाती है, तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि केवल १०वें आदमी के बोझ से गाड़ी टूटी। वह तो पहले ६ मुसाफिरों के बोझ से और १०वें मुसाफिर के बोझ से मिलकर टूटी। इसी प्रकार वस्तु की केवल सीमांत इकाई की माँग या पूर्ति से मूल्य निर्धारण नहीं होता वरन् कुल इकाइयों की माँग और पूर्ति का प्रभाव मूल्य पर आ पड़ता है और सीमान्त बिन्दु के निर्धारण पर भी। इसीलिए मार्शल का कहना है कि "Margin is a point *at* which and *not by* which value is determined."

समय नहीं मिलता कि वह माँग के घटने-बढ़ने पर वर्तमान उत्पत्ति के साधनों में परिवर्तन करके पूर्ति को घटा बढ़ा सके। इसलिए अल्पकाल में मूल्य अधिकतर माँग के प्रभाव से निर्धारित होता है और अल्पकालीन मूल्य निर्धारण में पूर्ति का केवल अक्रियात्मक कार्य रहता है। जब माँग बढ़ती है तो मूल्य बढ़ जाता है और जब माँग घट जाती है तो मूल्य घट जाता है। जैसे मान लिया किसी शहर में प्रतिदिन ५० मन दूध २ सेर प्रति रुपये के हिसाब से बिकता है। यदि किसी एक दिन बहुत सी बारातों के आने से दूध की माँग ५० मन से ८० मन हो जाय तो दाम बढ़ जायँगे क्योंकि इतने थोड़े समय में दूध की पूर्ति बढ़ाई नहीं जा सकती है। अब दूध १½ सेर प्रति रुपये के हिसाब से बेचा जायेगा। इसके विपरीत यदि किसी दिन एकाएक किसी छूत की बीमारी के फैलने पर शहर के हेल्थ आफिसर का यह आर्डर हो जाय कि लोग बाजार की चीजों का प्रयोग न करें तो दूध की माँग के एकाएक कम होने से दूध का भाव बहुत गिर जायगा। अब दूध ४ सेर प्रति रुपया बिकने लगेगा। इस प्रकार अल्पकाल में लगभग सम्पूर्ण प्रभाव माँग का ही रहता है। पूर्ति का प्रभाव केवल नाममात्र को रहता है। विशेष रूप से नाशवान् वस्तुओं के अल्पकाल के मूल्य में माँग का और भी अधिक प्रभाव रहता है।

[किसी वस्तु के अल्पकालीन मूल्य को "बाजार मूल्य" (Market Price—the value of a commodity at a given time) कहते हैं और यह माँग और पूर्ति के अस्थायी साम्य (temporary equilibrium) के फलस्वरूप नियत होता है जिसमें पूर्ति स्थिर रहती है। इस प्रकार यह मूल्य किसी एक निश्चित समय का होता है, और यदि किसी दिन माँग और पूर्ति का साम्य चार बार स्थापित हो जाता है तो बाजार में मूल्य चार बार बदल जायगा। इस मूल्य की विशेषता यही है कि इसमें पूर्ति को माँग के अनुसार घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता।]

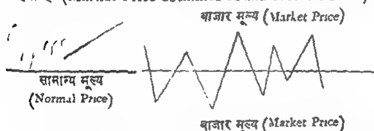
दीर्घकालीन बाजार
(*Long Period Market*)

दीर्घकाल में इतने लम्बे समय की कल्पना की जाती है कि जिसमें पूर्ति को आवश्यकतानुसार कम या अधिक किया जा सकता है। यदि माँग में स्थायी वृद्धि हो जाय तो उत्पादन के यंत्रों की पूर्ति भी बढ़ाई जा सकती है, और उस वस्तु की पूर्ति को बढ़ाकर माँग के बराबर किया जा सकता है। जैसे यदि चीनी की माँग बढ़ जाय तो दीर्घकाल में चीनी बनाने की मशीनों के उत्पादन को तथा गन्ने की पैदावार को बढ़ाकर चीनी की पूर्ति माँग के बराबर बढ़ाई जा सकती है (और माँग व पूर्ति दोनों के बराबर होने पर मूल्य भी लागत के बराबर होगा)। इसके विपरीत यदि माँग के कम होने से मूल्य लागत से कम हो तो उत्पादन के कुछ साधनों को दूसरे उद्योगों में लगाकर पूर्ति माँग के बराबर की जा सकती है। जैसे यदि ऊपर के दिये हुए उदाहरण में चीनी की माँग किसी कारणवश कम हो जाय तो दीर्घकाल में चीनी के उत्पादन की मशीनों की संख्या तथा गन्ने की पैदावार कम की जा सकती है ताकि चीनी का उत्पादन कम होकर माँग के बराबर हो जाय (और इस अवस्था में भी माँग और पूर्ति के बराबर होने से मूल्य लागत के बराबर

हो जायेगा)। प्रोफेसर मार्शल का कहना है कि "in the long period the flow of appliances for production is adjusted to the demand for the product of those appliances" सारांश यह है कि दीर्घ काल में भी खरीदनेवालों तथा बेचनेवालों की माँग और पूर्ति का साम्य स्थापित होता है परन्तु यह साम्य अल्पकालीन साम्य से भिन्न होता है। अल्पकालीन साम्य में पूर्ति का प्रभाव कम पड़ता है, दीर्घकालीन साम्य में पूर्ति को माँग के अनुसार घटा बढ़ा सकने के लिए समय होने के कारण मूल्य मुख्यतः पूर्ति की स्थिति पर निर्भर रहता है और इस प्रकार दीर्घकालीन मूल्य उत्पादन व्यय के बराबर होता है।

[प्रत्येक वस्तु के दीर्घकालीन मूल्य को "सामान्य मूल्य" (Normal price—a more stable value lasting over a longer period of time) कहते हैं। ऐसे मूल्य की कल्पना इतने लम्बे समय पर की जाती है कि जिसमें पूर्ति को आवश्यकतानुसार घटाने या बढ़ाने के लिए उत्पादन के साधनों को भली प्रकार घटा या बढ़ा सकते हैं। अतः यह मूल्य माँग और पूर्ति के स्थायी सतुलन (stable equilibrium) से निर्धारित होता है जिसमें माँग और पूर्ति का बराबर प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप यह लागत के बराबर होता है।]

आकस्मिक घटनाओं के प्रभाव से बाजार मूल्य (Market Price) सामान्य मूल्य (Normal Price) से कम या ज्यादा होता रहता है परन्तु उसका झुकाव हमेशा सामान्य मूल्य की ओर होता है। अतः बाजार मूल्य सामान्य मूल्य की धुरी के चारों तरफ घूमता रहता है (Market Price oscillates round Normal Price)।



यदि बाजार मूल्य सामान्य मूल्य से किसी कारण अधिक हो जाय, तो उत्पादन बढ़ जायगा और उत्पादन के बढ़ने से माँग और पूर्ति में पुनः संतुलन स्थापित हो जायगा फलस्वरूप बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के बराबर हो जायगा। इसके विपरीत यदि बाजार मूल्य किसी कारण सामान्य मूल्य से कम हो जाय तो कुछ उत्पादकों को हानि उठानी पड़ेगी और वे उत्पादन को कम कर देंगे जिससे पूर्ति कम हो जायगी और माँग तथा पूर्ति का पुनः सतुलन स्थापित हो जायेगा जिससे बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के बराबर हो जायेगा।

दीर्घकाल तथा अल्पकाल अलग अलग उद्योगों के लिए अलग-अलग होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो समय एक उद्योग के लिए दीर्घकाल है, वह दूसरे उद्योग के लिए भी दीर्घकाल हो। जैसे नींबू के उत्पादन को आम के उत्पादन की अपेक्षा

कम समय में माँग के अनुसार घटा या बढ़ाकर, माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। इसलिए नीबू के लिए दीर्घ काल, आम की अपेक्षा कम समय है। (नीबू का पेड़ एक साल में फल देने लगता है, आम का पेड़ ६ या ७ वर्ष में)। दीर्घ काल के सम्बन्ध में केवल यह बात आवश्यक है कि दीर्घ काल में उत्पत्ति के साधनों में परिवर्तन करके उत्पादन को घटाकर या बढ़ाकर पूर्ति को माँग के बराबर किया जा सकता है।

बाजार मूल्य और सामान्य मूल्य में अन्तर
(*Distinction between Market Price and Normal Price*)

बाजार मूल्य	सामान्य मूल्य
(१) यह कीमत किसी दिन की, या किसी अल्पकाल की, माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होती है।	(१) यह कीमत दीर्घकाल की होती है, और दीर्घकालीन माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है।
(२) यह वास्तविक कीमत होती है और वस्तुओं की खरीद तथा बिक्री इसी कीमत पर होती है।	(२) यह कीमत सैद्धान्तिक या आदर्श कीमत होती है, जिसके इर्द गिर्द बाजार कीमत घूमती रहती है।
(३) यह कीमत अस्थायी होती है और हर समय बदलती रहती है।	(३) यह कीमत स्थायी होती है और इसमें अपेक्षाकृत बहुत कम परिवर्तन होते हैं।
(४) इस कीमत के निर्धारण में माँग का प्रभाव प्रधान रहता है। पूर्ति का केवल अक्रियात्मक कार्य रहता है।	( ) इस कीमत के निर्धारण में पूर्ति का प्रभाव प्रमुख तथा माँग का प्रभाव गौण रहता है।
(५) यह कीमत लागत व्यय से कम तथा अधिक हो सकती है।	(५) यह कीमत लागत व्यय के बराबर होती है।

मार्शल और स्टिगलर की दृष्टि से बाजार की किस्में
(*Division of Markets according to Marshall and Stigler*)

प्रो० मार्शल ने समय को निम्न चार भागों में बाँटा है और उन्हीं के अनुसार चार तरह के मूल्यों का वर्णन किया है :

(१) अति अल्प काल (daily or very short period) —ऐसे बाजार में पूर्ति के बढ़ने घटने के लिए बिलकुल समय नहीं मिलता और मूल्य केवल माँग की तीव्रता से निर्धारित होता है। जैसे कि किसी दिन मछली पकड़ने वाले मछली पकड़ कर बाजार में ले आये हैं और अब पकड़ी हुई मछलियों की मात्रा को बढ़ाने घटाने का सवाल नहीं रहा तो मछली का मूल्य केवल इस बात पर रहेगा कि कितने मछली के खरीदार बाजार में हैं। यदि उस दिन उस गाँव में कोई बारात या कोई फौज आई हुई है तो दाम ऊँचे होंगे और यदि उस दिन किसी कारण लोगों की मछली खाने की इच्छा में कमी हो गई है और गाँव के लोग भी मछली खरीदने को तैयार नहीं हैं तो दाम कम होंगे। [यह

बात विशेष रूप से उन वस्तुओं के लिए ठीक होती है जो शीघ्र नष्ट होने वाली होती हैं, जैसे मछली, दूध, सब्जी आदि। परन्तु जो वस्तुएँ देर मे नष्ट होती हैं जैसे अनाज, कपड़ा आदि उनके मूल्य निर्धारण पर भी माँग का ही अधिक प्रभाव पड़ता है, यद्यपि इस प्रकार की वस्तुओं पर पहली वस्तुओं की अपेक्षा माँग का प्रभाव कुछ कम होता है। माँग का प्रभाव कुछ कम इसलिए पड़ता है कि विक्रेता इन वस्तुओं को कुछ समय तक रख सकता है, अतः कीमत के बहुत कम होने पर इनका बिक्री बन्द कर देता है और आगे आने वाले समय में ऊँची कीमत पर बेच सकने की आशा रखता है]

ऐसे मूल्य को प्रो० मार्शल ने Market Price कहकर पुकारा है।

(२) अल्प काल (short period): ऐसे बाजार में माँग के घटने-बढ़ने से पूर्ति के घटने बढ़ने के लिए थोड़ा समय मिल जाता है परन्तु यह समय काफी नहीं होता कि पूर्ति पूर्ण रूप से घट बढ़ सके। ऐसी दशा मे माँग के बढने से मछली पकड़नेवाले कुछ घंटे ज्यादा मेहनत करके अधिक मछली पकड़ेंगे और माँग के घटने से वे कुछ घंटे कम मेहनत करना चाहेंगे और मछलियाँ बाजार में कम आयेंगी। इस बात का मूल्य पर कुछ प्रभाव पड़ेगा और इस तरह यद्यपि मूल्य माँग से अब भी निर्धारित होगा, कुछ प्रभाव लागत का भी पड़ेगा।

ऐसे मूल्य को प्रो० मार्शल ने Short Period or Sub normal Price कह कर पुकारा है।

(३) दीर्घ काल (long period):—ऐसे बाजार में माँग बढने-घटने से पूर्ति को बढ़ने घटने को काफी समय मिल जाता है। न केवल मछली पकड़नेवाले ज्यादा घंटे काम करेंगे बल्कि जो लोग और काम किया करते थे मछली पकड़ने का काम करने लगेंगे, नये नये फिशिंग राड, नई-नई नावें और नये नये फिशिंग नेट बनकर आ जायेंगे और मूल्य इस नई उत्पादन लागत के बराबर होगा। और हम कह सकते हैं कि ऐसी स्थिति में मूल्य निर्धारण म माँग की अपेक्षा पूर्ति का ही अधिक प्रभाव पड़ता है।

ऐसे मूल्य को प्रो० मार्शल ने Normal Price कहकर पुकारा है।

(४) अति दीर्घ काल (very long period or secular period)—ऐसे बाजार म माँग और पूर्ति दोनों को बदलने का पूरा समय रहता है। आबादी के बढ़ने-घटने से और फैशन इत्यादि के बदलने से, माँग बढती घटती है, और विज्ञान की उन्नति से आविष्कारों की वृद्धि से, नई-नई मशीनों और यातायात के साधनों के द्वारा, उत्पादन के तरीकों अथवा लागत के खर्चों म परिवर्तन होने से उत्पादन भी बढता-घटता है और माँग और पूर्ति मे पूरा पूरा सामञ्जस्य हो जाता है। फलतः मूल्य लागत के साथ चलता है और उसकी घट बढ के साथ घटता बढ़ता है।

ऐसे मूल्य को प्रो० मार्शल ने Secular Price के नाम से पुकारा है।

इन सभी कालों मे मूल्य माँग और पूर्ति के सतुलन द्वारा ही निश्चित होता है, परन्तु इन कालों में माँग और पूर्ति का मूल्य पर समान प्रभाव नहीं पड़ता, किसी काल मे माँग का प्रभाव अधिक होता है, तो किसी में पूर्ति का।

मार्शल का कहना है कि साधारणतया जितने अल्प समय का हम विचार कर रहे हैं, उतना ही अधिक हमारा ध्यान मूल्य पर माँग के प्रभाव की ओर दिया जाना चाहिए और जितना ही अधिक समय होगा उतना ही अधिक उत्पादन व्यय का प्रभाव मूल्य पर होगा। 'as a general rule, the shorter the period which we are considering the greater must be the share of our attention which is given to the influence of demand on value, and the longer the period the more important will be the influence of cost of production on value.

इसी तरह स्टिगलर ने मूल्य को समय की दृष्टि से इस प्रकार बाँटा है :—

(I) Market Price—यानी उस काल का मूल्य जिसमें कि पूर्ति करीब करीब निश्चित हो और घट बढ़ न सके।

(II) Short run Normal Price—यानी उस काल का मूल्य जिसमें पूर्ति माँग के अनुसार बढ़ाई घटाई जा सके परन्तु उतनी ही जितना कि वर्तमान मशीनरी और साधनों से बढ़ाई घटाई जा सकती है। यहाँ मशीनरी के घटने बढ़ने का या बदलने का समय नहीं रहता।

(III) Long run Normal Price—यानी उस काल का मूल्य जिसमें मशीनरी इत्यादि भी बढ़ाई घटाई जा सके अथवा बदली जा सके और पूर्ति के बढ़ने घटने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो।

उत्पादन व्यय का मूल्य पर प्रभाव

(*Influence of Cost of Production on Value*)

हम ऊपर देख चुके हैं कि दीर्घ काल में माँग तथा पूर्ति का सन्तुलन इस प्रकार होता है कि दीर्घ काल में मूल्य वस्तु की उत्पादन लागत के बराबर होता है (value tends towards cost of production in the long run) [वास्तव में उत्पादन उस सीमा तक ले जाया जाता है कि जहाँ पर औसत लागत मूल्य के बराबर होती है। यदि मूल्य औसत लागत से अधिक हो तो अन्य उत्पादक उत्पादन को बढ़ाकर पूर्ति को बढ़ा देंगे और इस प्रकार विक्रेताओं की आपस की प्रतियोगिता बढ़ेगी और मूल्य गिरकर औसत लागत के बराबर हो जायेगा। इसके विपरीत यदि मूल्य औसत लागत से कम हो तो उत्पादन कम हो जायेगा और मूल्य बढ़कर फिर औसत लागत के बराबर हो जायगा।]

आइए अब देखें कि प्रो॰ मार्शल का लागत के सम्बन्ध में क्या कहना है। उन्होंने कुल लागत को दो भागों में बाँटा है। (१) प्रमुख लागत (Prime Cost) (२) पूरक लागत (Supplementary Cost)- fixed Variable

किसी वस्तु की प्रमुख लागत (Prime Costs) वे खर्चे हैं जो उत्पादन की मात्रा के साथ साथ घटते बढ़ते रहते हैं और यदि उत्पादन किसी कारणवश थोड़े समय के लिए

रोक दिया जाय तो बिलकुल समाप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए प्रमुख लागत के मद कच्चा माल, कोयला, विद्युत् शक्ति आदि हैं। (प्रमुख लागत को अन्य अर्थशास्त्री अस्थिर लागत Variable Cost कहते हैं।)

पूरक लागत (Supplementary Costs) वे खर्चे हैं जो स्थिर स्थापन (fixed establishment में व्यय किये जाते हैं। जैसे फैक्टरी की जमीन का किराया, मशीन का मूल्य ह्रास, पूँजी पर ब्याज, आफिसरों का वेतन आदि। ये खर्चे किसी कारणवश उत्पादन के थोड़े दिनों के लिए रुकने पर भी जारी रहते हैं। (पूरक लागत को अन्य अर्थशास्त्री Fixed Cost कहते हैं।)

उदाहरण के लिए एक मिल में कपड़ा बनता है तो कपड़े की लागत में कई खर्चे सम्मिलित होते हैं—(अ) रुई की कीमत, मजदूरी, मशीन के प्रयोग करने के कारण विशेष घिसावट इत्यादि और (ब) पदाधिकारियों के वेतन, मशीनरी में लगे हुए रुपये पर ब्याज, बिल्डिंग का किराया इत्यादि। यदि किसी कारण कपड़े के दाम बहुत घट जाते हैं परन्तु यह आशा बनी रहती है कि थोड़े दिनों बाद फिर दाम बढ़ेंगे तो उत्पादक कपड़े का बनाना तब तक जारी रक्खेगा जब तक उसके पहली प्रकार के खर्च (अ) ही निकल आते हैं; क्योंकि यह सोचेगा कि मिल थोड़े दिन के लिए बन्द कर देने पर भी तो दूसरे प्रकार (ब) के खर्चे जारी रहेंगे। [पहली (अ) प्रकार के खर्चे Prime Costs और दूसरी ब) प्रकार के खर्चे Supplementary Costs कहलाते हैं।

यद्यपि प्रमुख तथा पूरक दो प्रकार की लागतों को पूर्ण रूप से अलग अलग नहीं किया जा सकता है फिर भी मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त में दोनों के व्यावहारिक महत्व को भूला नहीं जा सकता दीर्घ काल में प्रमुख तथा पूरक दोनों प्रकार की लागतें यानी कुल लागत (Total Costs) बिक्री के मूल्य से वसूल होनी चाहिए। यदि बिक्री के मूल्य से उत्पादन का सम्पूर्ण खर्चा पूरा नहीं हुआ तो उत्पादन रुक जायेगा। परन्तु अल्पकाल में यह आवश्यक नहीं है कि बिक्री के मूल्य से आय कुल लागत के बराबर ही हो। अल्पकाल में कीमत कुल लागत से कम या अधिक हो सकती है, परन्तु अल्पकाल के मूल्य के सम्बन्ध में भी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह भी कम से कम प्रमुख लागत के बराबर होना चाहिए। प्रमुख लागत न्यूनतम सीमा है जिससे कम अल्पकालिक मूल्य किसी दशा में नहीं हो सकता है। यदि मूल्य प्रमुख लागत से कम हो जाय तो उत्पादन एकदम रुक जायेगा। जैसे मंदी के समय में उत्पादक किसी वस्तु के उत्पादन को तब तक कायम रखते हैं जब तक मूल्य प्रमुख लागत के बराबर होता है क्योंकि उन्हें इस बात की पूर्ण आशा रहती है कि भविष्य में अच्छा समय आने पर मूल्य बढ़ेगा, परन्तु प्रमुख लागत से कम लेकर वह भी उत्पादन नहीं करते। [सम्पूर्ण लागत से कम मूल्य पर—अथवा केवल प्रमुख लागत या उसके अतिरिक्त सिर्फ थोड़ा-सा भाग पूरक लागत का लेकर—उत्पादक केवल निम्नलिखित स्थितियों में वस्तु को बेचने के लिए तैयार हो सकता है :—

(अ) जब कि उत्पादक भविष्य में अधिक मूल्य हो जाने की आशा से काम जारी रखता है। (ब) जब कि काम में अचल पूँजी बहुत लगी हुई है और मजदूरी

काम चालू रखना पड़ता है। (घ) जब कि उत्पादक बाहरी प्रतियोगिता को खत्म कर देना चाहता है। (द) जब कि उत्पादक बाहर के देशों में राशिपातन (Dumping) करना चाहता है। परन्तु यह सब शर्तें स्थायी नहीं हुआ करती हैं।]

यहाँ पर हम मुद्रा-व्यय (money cost of production) और असली (या वास्तविक) उत्पादन व्यय (real cost of production)* म क्या अन्तर है यह भी जान लेना आवश्यक है। उत्पादन व्यय से हमारा तात्पर्य या तो उस मुद्रा व्यय से होता है जो साहसी किसी वस्तु को उत्पन्न करने म करता है या असली उत्पादन व्यय से। साधारण रूप से आजकल लागत व्यय से हमारा मतलब पहले ही अर्थों में होता है और इसी से मूल्य निर्धारित होता है। इस व्यय म निम्न प्रकार के खर्चे सम्मिलित होते हैं (१) कच्चे माल के खरीदने पर खर्च किया हुआ रुपया (२) श्रम की मजदूरी (३) पूँजी पर दिया हुआ ब्याज (४) व्यवस्थापक का पारितोषण (५) जोखिम उठाने का बदला (६) मशीनों और दूसरी उत्पादन कलाओं के घिसने और मरम्मत सम्बन्धी तथा मूल्य ह्रास खर्चे (७) बीमे का खर्च और (८) सरकारी कर। दूसरे शब्दों में यह उत्पादन पर व्यय किये हुए कुल खर्चों की द्रव्य म माप है। जहाँ तक असली उत्पादन व्यय का सम्बन्ध है, यह उस कुल त्याग, अनुपयोगिता तथा कष्ट की माप है जो सामान को उत्पादन करने के अन्तर्गत सहन करने पड़ते हैं। इस व्यय म निम्न प्रकार के की चीज सम्मिलित रहती हैं (१) विभिन्न प्रकार के उन श्रम जातियों के परिश्रम (exertions) जो कि प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप म उत्पादन क्रिया में भाग लेते हैं और (२) पूँजी का संचय करने से उत्पन्न होनेवाला कष्ट (sacrifices) अथवा प्रतीक्षा (waiting)। यह सब परिश्रम तथा कष्ट मिलकर वस्तु का वास्तविक या असली

---

* आधुनिक विश्लेषण म वास्तविक उत्पादन व्यय अवसर व्यय (opportunity cost) के रूप म रक्खा जाता है जिसकी परिभाषा प्रो॰ मेयर्स ने निम्न प्रकार की है :— ' The cost of production of any unit of a commodity is the value of factors of production used in producing that unit The value of these factors of production is measured by the best alternative use to which they might have been put had this particular unit of the commodity not been produced (i e, by its opportunity cost) In money economy, however, it means the amount of money necesary to induce the factors of production to be devoted to this particular task rather than to seek employment elsewhere" मान लीजिए एक व्यक्ति दिन भर काम करके एक कुर्सी बनाता है और उतने ही परिश्रम से वह पाँच रुपये भी कमा सकता है तो कुर्सी का अवसर व्यय ५) रु० होगा। इसी प्रकार यदि एक कालेज का प्रोफेसर दो घण्टे टेनिस खेलने म बिता सकता है अथवा इन दो घण्टों म एक ट्यूशन कर सकता है जिसका मूल्य ५) रु० रोज के बराबर है, तो यदि वह प्रोफेसर टेनिस खेलने में इस समय का उपयोग करता है तो टेनिस खेलने का अवसर व्यय ५) रु० हुआ।

उत्पादन व्यय कहलाते हैं। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि वास्तविक लागत से अर्थ समाज के सदस्यों द्वारा किये गये उस श्रम और त्याग से है जो उस वस्तु के उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। यह समाज की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुछ लोग इसे Social Costs of Production कहते भी हैं।

मूल्य के ऊपर स्थायी माँग की वृद्धि का प्रभाव

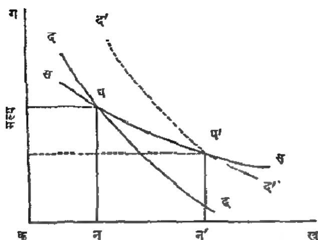
(*Influence of permanent increase in demand on price*)

हम ऊपर देख चुके हैं कि दीर्घ काल में किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन की लागत के बराबर होता है। अब हमें यह मालूम करना है कि माँग में स्थायी वृद्धि होने से मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है।

माँग में स्थायी वृद्धि होने पर अल्पकाल में पूर्ति माँग के अनुसार बढ़ाई नहीं जा सकती। इसलिए अल्पकाल में माँग की वृद्धि से मूल्य अवश्य बढ़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि इस अल्पकाल में पूर्ति कुछ सीमा तक बढ़ाई जा सकती है तो मूल्य अधिक नहीं बढ़ेगा, तो भी अल्पकाल में पूर्ति को माँग के बराबर पूरी सीमा तक बढ़ाया नहीं जा सकता है, इसलिए अल्पकाल में माँग की वृद्धि से मूल्य का बढ़ना निश्चित सा है।

पर दीर्घकाल में माँग की स्थायी वृद्धि का मूल्य के ऊपर प्रभाव भिन्न प्रकार से पड़ेगा। मूल्य पर क्या प्रभाव होगा यह इस बात पर निर्भर है कि उस वस्तु की उत्पत्ति कौन से उत्पत्ति के नियम के आधार पर हो रही है। भिन्न-भिन्न नियमों की स्थिति में भिन्न भिन्न प्रभाव होगा। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि बाजार में ईंट की माँग बढ़ जाय तो अल्पकाल में उसके दाम बढ़ जायेंगे परन्तु दीर्घकाल में ईंट बनाने का खर्चा कम होगा क्योंकि उत्पादन के तरीकों में नये नये आविष्कार होंगे और ईंट बड़े पैमाने पर उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) के अन्तर्गत बनेंगे, फलतः उसके दाम भी कम हो जायेंगे। इसके विपरीत यदि गेहूँ की माँग बढ़ जाय तो दाम अल्पकाल में भी बढ़ेंगे और दीर्घकाल में भी—चूँकि दाम बढ़ने पर गेहूँ का उत्पादन बढ़ेगा और यह उत्पादन उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) के अनुसार होगा इसलिए गेहूँ के दाम दीर्घकाल में और भी अधिक बढ़ जायेंगे। इसलिए हम इस विषय (दीर्घकाल में माँग की स्थायी वृद्धि का मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?) का अध्ययन अलग अलग तीन स्थितियों में (क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत, क्रमागत-उत्पत्ति समता नियम के अन्तर्गत, और क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत) करेंगे।

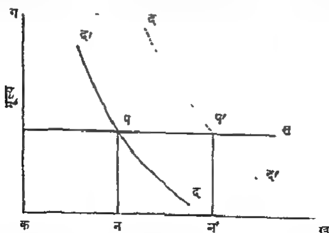
(१) मूल्य तथा क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम (value and the law of increasing returns)—यदि किसी वस्तु का उत्पादन क्रमागत वृद्धि नियम के आधार पर हो रहा है तो उत्पादन के बढ़ने पर लागत कम हो जायगी, इसलिए माँग की स्थायी वृद्धि से उस वस्तु का सामान्य मूल्य कम हो जायगा जिसका उत्पादन क्रमागत वृद्धि-नियम से चल रहा हो। (Increase in demand results in a fall in prices)



माँग तथा पूर्ति

द द माँग रेखा है, द' द' बढ़ी हुई माँग रेखा है। स स पूर्ति रेखा है। माँग के बढ़ने से मूल्य प न से घटकर प' न' के बराबर हो जायगा।

(२) मूल्य तथा क्रमागत समता नियम (value and the law of constant returns) यदि किसी वस्तु का उत्पादन समता नियम के आधार पर हो रहा हो तो उत्पादन के बढ़ाने पर लागत में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा। इसलिए ऐसी दशा में दीर्घ काल में जब पूर्ति माँग के अनुसार बढ़ेगी तो मूल्य में कोई अन्तर नहीं होगा। बढ़ी हुई पूर्ति भी पहले के दामों पर प्राप्त होगा।

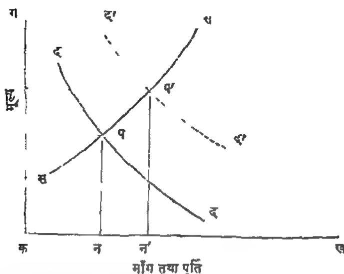


माँग तथा पूर्ति

द द माँग रेखा है, द' द' बढ़ी हुई माँग रेखा है। स स पूर्ति रेखा है, माँग के बढ़ने पर भी मूल्य प' न' होगा जो प न के बराबर है।

(३) मूल्य तथा क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास नियम (value and the law of diminishing returns)—यदि किसी वस्तु का उत्पादन-क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम के अनुसार

हो रहा हो तो उत्पादन के बढाने से लागत में वृद्धि हो जायगी इसलिए माँग की वृद्धि के साथ जब पूर्ति को बढाया जायगा तो लागत के बढने से मूल्य भी दीर्घकाल मे बढ जायगा। (Increase in demand results in higher prices).



द द माँग रेखा है, द' द' बढी हुई माँग रेखा है। स स पूर्ति रेखा है। माँग के बढने पर मूल्य प न से बढकर प' न' हो जायेगा।

नोट—इस सम्बन्ध में हमको एक बात नहीं भूलनी चाहिए कि यद्यपि हमने इस शीर्षक में इस बात के जनाने की चेष्टा की है कि किसी वस्तु की कीमत पर अलग अलग स्थितियों में क्या प्रभाव पड़ता है यानी जब कि उस पर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो रहा हो या उसमे उत्पत्ति वृद्धि नियम काम कर रहा हो, और यद्यपि ऐसा ही अर्थशास्त्र की बहुत सी किताबों में प्राय किया गया है, तो भी आधुनिक अर्थशास्त्रियों की धारणा इसके विपरीत है। वे किसी उद्योग के फर्म को अलग अलग श्रेणियों में इस विचार से नहीं बाँटते कि उसमे कौन सा उत्पत्ति नियम काम करता है। उनके विचार में तो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साम्य बिन्दु पर सभी फर्म उत्पत्ति-समता नियम के अन्तर्गत काम करते हैं, क्योंकि हर एक फर्म का अनुकूलतम साइज (optimum firm) का होना आवश्यक है, और उत्पादक उस समय तक उत्पादन जारी रखेगा जब तक कि सीमान्त लागत और औसत लागत बराबर न हो जायें और जब ऐसा होगा तो इसका मतलब यह हुआ कि उत्पत्ति समता नियम काम कर रहा है इसलिए उत्पत्ति के नियमों का कीमत पर क्या प्रभाव पड़ता है इसकी विवेचना व्यर्थ है। इसका वर्णन केवल इसलिए कर दिया गया है कि अब तक के अर्थशास्त्री ऐसा करते आये हैं।

प्रतिनिधि फर्म, साम्य फर्म और अनुकूलतम फर्म
(*Representative firm, Equilibrium firm, and Optimum firm*)

हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी लागत से निर्धारित होता है। परन्तु प्रत्येक वस्तु के कई उत्पादक होते हैं, परिवर्तनशील साम्य की अवस्था में कुछ उत्पादकों

की फर्म बड़ी होती रहती है और कुछ उत्पादकों की फर्म छोटी होती रहती है। कुछ उत्पादकों को लाभ होता है और कुछ हानि उठाते हैं। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न आता है कि किस उत्पादक की फर्म के लागत से मूल्य निर्धारित होता है। यदि मूल्य सीमान्त फर्म (marginal firm or highest cost firm) की लागत से तय होता है तो अन्य फर्मों को बहुत अधिक मुनाफा होगा जो दीर्घ काल में सम्भव नहीं है। इसके विपरीत यदि मूल्य सबसे कुशल फर्म (optimum firm or lowest cost firm) की लागत से निर्धारित होता है तो अन्य सभी फर्मों को हानि उठानी पड़ेगी और वे उत्पादन को रोक देंगे। इसलिए मूल्य न तो सबसे कुशल फर्म की लागत से निर्धारित होता है और न सबसे कम कुशल फर्म की लागत से। प्रोफेसर मार्शल के अनुसार मूल्य प्रतिनिधि फर्म (Representative Firm) की लागत से निर्धारित होता है। ("Representative firm is that which has had a fairly long life and fair success which is managed with normal ability and has normal access to economies, external and internal, which belong to that aggregate volume of production") इस तरह प्रतिनिधि फर्म की कल्पना मार्शल ने एक ऐसे फर्म से की है जो एक औसत फर्म है, जो न बहुत बड़ा है न बहुत छोटा, जो न बिलकुल नया है, न अति पुराना, जिसका प्रबन्ध न तो बहुत ही योग्यता से होता है और न बहुत ही अयोग्यता से, जिसे न लाभ होता है, न हानि, जिसका न विकास हो रहा है न संकुचन।

[प्रो॰ मार्शल ने उद्योग की तुलना एक जंगल से की है। जंगल में कुछ पेड़ बहुत पुराने होते हैं जिनका बढ़ना बन्द हो जाता है। कुछ पेड़ ऐसे होते हैं जिनका बढ़ना अभी शुरू हुआ है, यानी जो बढ़ रहे हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पेड़ ठीक युवा अवस्था में होते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक व्यवसाय में तीन प्रकार के फर्म होते हैं। पहली वे जिनका बढ़ना बन्द हो गया है, जो वास्तव में घट रही हैं और हानि उठा रही हैं। दूसरी वे हैं जिन्होंने अब बढ़ना शुरू किया है जिनका लाभ बढ़ रहा है। तीसरी वे जो न बढ़ रही हैं न घट ही रही हैं। उन्हें न लाभ हो रहा है और न हानि। ऐसी एक नहीं कई फर्में हो सकती हैं। इन्हें ही प्रतिनिधि फर्म कहते हैं और इनकी औसत लागत से मूल्य निर्धारित होता है।]

इसी प्रकार मार्शल के शिष्य प्रोफेसर पीगू ने एक और प्रकार के फर्म, साम्य फर्म, का विचार प्रस्तुत किया है उनका कहना है कि सम्पूर्ण उद्योग के साम्य की अवस्था में होने पर भी सभी फर्म समीकरण की अवस्था में नहीं हो सकती हैं किसी का विस्तार बढ़ रहा होगा और किसी का विस्तार घट रहा होगा। ऐसी दशा में एक ऐसे फर्म की कल्पना की जा सकती है जो न बढ़ रही है और न घट रही है। इसे उन्होंने साम्य फर्म (Equilibrium Firm) कहकर पुकारा है, और उनका कहना है कि इसी फर्म की लागत से मूल्य तय किया जाता है।

निम्न तालिका पर ध्यान दीजिए

फर्म	पहले साल की कुल उत्पत्ति	दूसरे साल की कुल उत्पत्ति
क	५० इकाइयाँ	४० इकाइयाँ
ख	२० ,,	३० ,,
ग	१० ,,	२० ,,
घ	२५ ,,	२५ ,,
च	१५ ,,	१० ,,
छ	६० ,,	५० ,,
ज	२० ,,	२५ ,,
कुल उद्योग	२०० ,,	२०० ,,

देखने से पता चलता है कि पूरा उद्योग साम्य की दशा में है क्योंकि कुल उत्पत्ति स्थिर है यानी दोनों साल २०० इकाई ही है। किन्तु सब फर्म साम्य की दशा मे नहीं हैं—ख, ग तथा ज फर्मों का विकास हो रहा है जब कि क, च, और छ का सकुचन और केवल घ फर्म इस दशा में है, इसलिए यही साम्य फर्म हुआ।

इस प्रकार मार्शल तथा पीगू दोनो के अनुसार कुछ कम कुशल फर्मे ऐसी होगी जो हानि सहकर उत्पादन कर रही होंगी। परन्तु इस बात की लोगों ने बड़ी आलोचना की है। क्योंकि जब उद्योग साम्य की स्थिति म है तब सभी फर्मों में दीर्घकालीन पूर्ति की कीमत म सामान्य लाभ भी शामिल होना चाहिए, नहीं तो व उत्पादन बन्द कर देंगे। इसके अतिरिक्त यदि कोई फर्म क्रमागत वृद्धि नियम के अनुसार उत्पादन कर रहा हो तो उसका झुकाव एकाधिकार की ओर होगा। ऐसी दशा म मूल्य निर्धारण एकाधिकार या अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियों के अनुसार होगा, और मूल्य के निर्धारण के लिए प्रतिनिधि फर्म का कोई स्थान नहीं होगा। इसलिए लायोनेल रोबिन्स और अन्य वर्तमान अर्थशास्त्रियों का कहना है कि प्रतिनिधि फर्म का विचार व्यर्थ और अनावश्यक है। ऐसे फर्म का हमारे लिए कोई उपयोग नहीं है। इसके विपरीत अनुकूलतम फर्म (Optimum Firm * यानी वह फर्म जिसने उत्पत्ति के साधनों को इस अच्छे ढग से मिलाया है कि उसकी प्रति इकाई लागत सबसे कम है, एक निश्चित सम्भावना है। और अनेक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि इसकी लागत से ही मूल्य निर्धारित होता है। यह एक ऐसा साइज है जिसे प्रत्येक उत्पादक प्रतिस्पर्द्धा के कारण प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने पर विवश होता है। (परन्तु इसका

*"The optimum firm on the other hand, is a concrete possibility It is the unit of size which conscious direction and the forces of competition compel all firms to attempt to approach who wish to survive in the struggle for existence' Briggs and Jordan

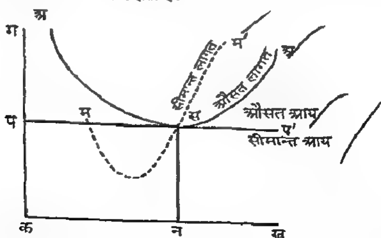
यह मतलब कदापि नहीं कि प्रत्येक फर्म इसमें सफल ही हो जाता है—कोई फर्म इस उद्देश्य को पूरा कर सकेगा या नहीं, यह उसकी कुशलता और व्यवसाय की प्रकृति पर निर्भर करता है), और इसी फर्म की लागतसे पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य निश्चित होता है। यह वह फर्म होता है कि जिसमें औसत उत्पादन-व्यय (average cost) सीमान्त-उत्पादन-व्यय (marginal cost) के बराबर होता है—The size of a firm is optimum when its average cost has stopped falling and has not yet started to rise

[हाल में प्रो० मेहता ने फिर यह दिखाने की कोशिश की है कि सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोण से प्रतिनिधि फर्म का ही महत्त्व है। इसलिए यह विषय अब भी विवादास्पद कहा जा सकता है।]

मूल्य के सिद्धान्त का नया रूप
(*Modern Form of the Theory of Value*)

आजकल मूल्य के सिद्धान्त को एक दूसरे दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया जाता है। माँग के स्थान पर आय की वक्र रेखा (revenue curve) का प्रयोग करते हैं और पूर्ति के स्थान पर उत्पादन व्यय की वक्र रेखा (cost curve) का प्रयोग करते हैं, और कहा जाता है कि मूल्य या कीमत के निर्धारण में ये आय और व्यय की दोनों शैलियाँ विपरीत दशाओं में प्रभाव डालती हैं—सीमान्त आय की प्रवृत्ति घटने की ओर और सीमान्त व्यय की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर होती है—और जहाँ पर ये दोनों शैलियाँ एक दूसरे के बल को नष्ट कर देता हैं, वहीं पर कीमत का निर्धारण होता है।

साम्य की अवस्था में समतल बिन्दु पर सीमान्त लागत, औसत लागत, सीमान्त आय, और औसत आय चारों आपस में बराबर होते हैं और किसी एक विक्रेता या उत्पादक की स्थिति नीचे दिये रेखाचित्र से ज्ञात होती है :—



अ अ' औसत लागत रेखा, म म सीमान्त लागत रेखा प प' सीमान्त आय या औसत आय या माँग रेखा हैं। स साम्य बिन्दु है जहाँ पर औसत लागत, सीमान्त लागत, औसत आय, सीमान्त आय सब बराबर हैं। स न साम्य कीमत है।

हर एक उत्पादक की कोशिश रहती है कि दाम ऐसे रक्खे जायँ कि जिससे उसका लाभ अधिक से अधिक हो। यह तब ही हो सकता है कि जब सीमान्त आय (marginal revenue) सीमान्त लागत (marginal cost) के बराबर हो। यदि सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक होगी तो वह और उत्पादन करेगा क्योंकि ऐसा करने से जितना उसका खर्च होगा उससे अधिक उसको मिलेगा। और यदि सीमान्त आय सीमान्त लागत से कम होगी तो वह उत्पादन को घटायेगा क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसकी लागत अधिक और आमदनी कम होगी। मान लीजिए की एक वस्तु की कीमत ४) है। इसका मतलब यह हुआ कि सीमान्त आय ४) है। अब मान लीजिए की सीमान्त लागत ३) है, तो एक और वस्तु की उत्पत्ति करने से, कुल लागत म ३) और कुल आय म ४) की वृद्धि होने से, १) का लाभ अधिक होगा और उत्पादन बढ़ेगा। इसी तरह मान लीजिए कि वस्तु की कीमत यानी सीमान्त आय ४) है जब कि सीमान्त लागत ५) है तो इसका मतलब यह हुआ कि एक और वस्तु की उत्पत्ति करने से १) का नुकसान हुआ है, फलत उत्पादन घटेगा। ध्यान रहे कि सीमन्त आय की प्रवृत्ति बराबर घटते रहने की होती है क्योंकि अधिक इकाइयाँ नीचे दामों पर ही बेची जा सकता हैं इसके विपरीत सीमान्त लागत की प्रवृत्ति बढ़ने की ओर होती है क्योकि दीर्घ काल म उत्पत्ति पर ह्रास नियम लागू होता है। इसलिए हर अगली इकाइ से प्राप्त होनेवाली आय तथा उस पर किये गये लागत व्यय का अन्तर कम होता जाता है और अ त म शून्य के बराबर हो सकता है। सारांश यह है कि उत्पादक को अधिक से अधिक लाभ तब ही होगा जब सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर हो, और इसलिए वह उत्पादन को उसी सीमा तक ले जायगा कि जहाँ पर सीमान्त लागत और सीमान्त आय बराबर हैं। ($mr = mc$)

इस सम्बन्ध म यह भी याद रखने की बात है कि पूर्ण प्रतियोगिता के होते हुए किसी वस्तु का कीमत किसी एक उत्पादक या विक्रेता पर निर्भर नहीं रहती और चूँकि बाजार म प्रत्येक वस्तु की एक ही कीमत होती है इसलिए सीमान्त आय (marginal revenue) और बाजार की कीमत (market price) का भी बराबर होना आवश्यक है ($p = mr$)। अब चूंकि सीमान्त लागत (marginal cost) और सीमान्त आय (marginal revenue) का बराबर होना भी आवश्यक है इसलिए सीमान्त लागत (marginal cost) और सीमान्त आय (marginal revenue), और बाजार की कीमत (market price) तीनों ही बराबर हुई। ($p = mr = mc$)

इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत उत्पादक के लिए वस्तु का मूल्य निश्चित होता है यानी बाजार में जो कीमत होती है उसी पर वस्तु को बेचना होता है। उसको घटाना या बढ़ाना उसके हाथ में नहीं होता है। यानी चाहे वह उस वस्तु को अधिक मात्रा म बेचे या कम, मूल्य एक ही रहेगा। इसलिए उसके लिए सीमान्त आय (marginal revenue) और औसत आय (average revenue) एक ही होगी। इसका कारण यह है कि दीर्घ काल में प्रत्येक उत्पादक की सीमान्त आय तथा औसत आय का समान होना आवश्यक है क्योंकि यदि अन्तिम इकाई से प्राप्त आय औसत आय से कम है तो यह लाभ को दिखाता है और

यदि उसके विपरीत है तो हानि को, परन्तु दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में लाभ या हानि दोनों में से किसी का रहना असम्भव है। हम ऊपर देख चुके हैं कि सीमान्त आय सीमान्त लागत तथा मूल्य बराबर होते हैं, इसलिए हम अब कह सकते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में साम्य की स्थिति में सीमान्त आय (marginal revenue), औसत आय (average revenue), सीमान्त लागत (marginal cost) तथा मूल्य (Price) सब आपस में बराबर होते हैं। ar = mr = mc = p.

एक बात और है। दीर्घकाल में मूल्य प्रत्येक फर्म की औसत लागत (average cost) के बराबर होना भी स्वाभाविक है। यदि मूल्य से औसत लागत अधिक हो तो फर्म को हानि उठानी पड़ेगी और दीर्घकाल में कोई भी फर्म हानि उठाना नहीं चाहता, अतः वह उत्पादन घटाकर औसत लागत को मूल्य के बराबर करने का प्रयत्न करेगा। इसके विपरीत यदि औसत लागत मूल्य से कम हो तो उत्पादक उत्पादन को बढ़ाएगा। उत्पादन के बढ़ाने से औसत लागत बढ़ जाएगी और अन्त में मूल्य के बराबर हो जाएगी। इस प्रकार दीर्घकाल में औसत लागत मूल्य के बराबर होगी (ac = p)। इसी प्रकार औसत आय और औसत लागत का भी बराबर होना आवश्यक है, क्योंकि यदि औसत आय औसत लागत से अधिक है तो उत्पादक को लाभ होगा (ऐसी दशा में उत्पत्ति की प्रत्येक इकाई उससे अधिक दामों पर बिकेगी जितना कि उस पर औसत खर्च पड़ा हो) और यदि औसत आय औसत लागत से कम है, तो उत्पादक को हानि होगी। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में लम्बे काल में न लाभ होता है और न हानि। इसलिए औसत आय औसत लागत से कम या अधिक नहीं हो सकती। इसका अर्थ हुआ कि ar = ac

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साम्य की स्थिति (equilibrium) में
औसत लागत (average cost)
सीमान्त लागत (marginal cost)
औसत आय (average revenue)
सीमान्त आय (marginal revenue)
और कीमत (market price)
सब बराबर होते हैं, और मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है जहाँ पर ar, mr, mc, ac चारों की वक्ररेखा एक दूसरे को काटती है।

मूल्य-निर्धारण के कुछ अन्य सिद्धान्त

(Some Other Theories of Value)

मूल्य-निर्धारण के माँग और पूर्ति के सिद्धान्त के अतिरिक्त कुछ और पुराने सिद्धान्त भी हैं। उनमें बहुत सी त्रुटियाँ हैं। इन पुराने सिद्धान्तों में से कुछ प्रसिद्ध सिद्धान्त संक्षेप में नीचे दिये जाते हैं :—

(अ) श्रम मूल्य सिद्धान्त (Labour Theory of Value)—इस सिद्धान्त के जन्मदाता ऐडम स्मिथ थे, रिकार्डो ने इसे उन्नत किया तथा कार्ल मार्क्स ने इसे आगे बढ़ाया। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन म खर्च किये गये श्रम का मात्रा से तय होता है। परन्तु इन अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के निर्धारण में उपयोगिता के महत्व को नहीं समझा, इसलिए यह सिद्धान्त दोषों से युक्त है। किसी वस्तु के मूल्य के लिए उसमें उपयोगिता का होना भी आवश्यक है। यदि एक मशीन के उत्पादन म बहुत अधिक श्रम व्यय किया गया है परन्तु वह मशीन किसी लाभदायक कार्य के योग्य नहीं है, तो उसकी कोई कीमत नहीं होती। इसके अतिरिक्त यदि श्रम ही मूल्य का माप है तो उत्पादन के पश्चात् प्रत्येक वस्तु की कीमत स्थिर रहनी चाहिए क्योंकि उसके उत्पादन म जितना श्रम व्यय किया गया है उसी के अनुसार मूल्य होना चाहिए वह किसी प्रकार घटना या बढ़ना नहीं चाहिए। परन्तु वास्तव म यह कभी स्थिर नहीं रहता। इसके अतिरिक्त यदि श्रम मूल्य का माप है तो उसके माप की इकाई क्या होगी? दूसरे, किसी वस्तु का उत्पादन केवल श्रम से ही नहीं हो जाता। उत्पादन के लिए उत्पत्ति के अन्य साधनों की आवश्यकता होती है जो मुफ्त प्राप्त नहीं होते।

(ब) उत्पादन व्यय मूल्य सिद्धान्त (Cost of Production Theory of Value)—इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन व्यय से तय होता है। (उत्पादन व्यय म भूमि का लगान, मजदूर की मजदूरी, ब्याज, सामान्य लाभ आदि सभी व्यय सम्मिलित हैं। दीर्घ काल म यदि मूल्य व्यय से अधिक हुआ तो उत्पादक उत्पादन को बढ़ा देंगे। जिससे मूल्य कम होकर व्यय के बराबर ही हो जायेगा। इसके विपरीत यदि मूल्य व्यय से कम हो तो उत्पादक उत्पादन को कम कर देंगे। और इस प्रकार मूल्य बढ़कर उत्पादन व्यय के बराबर हो जायेगा। यह सिद्धान्त भी दोषों से मुक्त नहीं है। यह सिद्धान्त एकतरफा है क्योंकि इसने माँग को एक दम छोड़ दिया है। वास्तव में मूल्य माँग तथा पूर्ति दोनों से तय होता है, किसी एक से नहीं। कुछ वस्तुओं जैसे मणि आदि का उत्पादन व्यय लगभग कुछ न होते हुए भी उनका मूल्य बहुत अधिक क्यों होता है? भिन्न भिन्न उत्पादकों के अलग अलग उत्पादन व्यय के होते हुए भी किसी वस्तु का एक ही बाजार मूल्य क्यों होता है? और उत्पादन व्यय के निश्चित होने पर भी मूल्य म बहुत अधिक अस्थिरता के क्या कारण हैं?

(स) उपयोगिता का मूल्य सिद्धान्त (Utility Theory of Value)—मूल्य निर्धारण के इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता से तय होता है। जिस वस्तु की अधिक उपयोगिता होती

है उसका मूल्य भी अधिक होता है और जिसकी उपयोगिता कम होती है उसका मूल्य भी कम होता है। इसी सिद्धान्त से मिलता जुलता सीमान्त उपयोगिता का मूल्य सिद्धान्त है। अर्थशास्त्र में विद्वान् जेवन्स के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) से निर्धारित होता है। यदि मूल्य सीमान्त उपयोगिता से अधिक हो तो माँग घट जायेगी और मूल्य घटकर सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जायेगा। इसी प्रकार यदि मूल्य सीमान्त उपयोगिता से कम हो तो माँग बढ़ेगी जिससे दाम बढ़ेंगे सीमान्त उपयोगिता घटेगी और अन्त में दोनों बराबर होंगे। इस सिद्धान्त में भी कई त्रुटियाँ हैं। यदि मूल्य केवल उपयोगिता से ही तय होता है तो हवा, पानी आदि का मूल्य सोने, चाँदी की अपेक्षा अधिक होना चाहिए क्योंकि इनकी उपयोगिता सोने चाँदी से अधिक है। परन्तु वास्तव में इनका मूल्य कुछ नहीं है क्योंकि इन वस्तुओं की पूर्ति, माँग की अपेक्षा, अधिक है। इसलिए मूल्य *केवल उपयोगिता से ही तय नहीं होता बल्कि पूर्ति से भी तय होता है।* और पूर्ति में उत्पादन व्यय का ध्यान रखना होता है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही वस्तु की उपयोगिता अलग अलग मनुष्यों के लिए अलग अलग होती है इसलिए मूल्य भी अलग अलग होना चाहिए, परन्तु वास्तव में मूल्य एक ही होता है।

QUESTIONS

1 We might as reasonably dispute whether it is the upper or the lower blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper as whether value is governed by utility or cost of production? Discuss the statement fully (Agra 1955s 54 52, Rajputana 1954)

2 How is the value of a commodity determined under conditions of competition

(a) in a short period market

(b) in a long period market? (Agra 1951)

or

Discuss carefully the importance of the element of Time in the determination of prices Explain with the help of diagrams What is your idea about a short period and a long period? (Agra 1955 53 52)

or

Distinguish between market and normal price Explain how normal price is determined in the long period in a competitive market (Agra 1955 1954 1952s 1951 Alld 1949)

3 Comment on the following statement—' Thus we may say that, as a general rule the shorter the period which we are considering the greater would be the share of our attention which is given to the importance of demand on value and the longer the period the more important will be the influence of cost of production on value " (Agra 1949)

4 (a) Explain fully the meaning of the terms 'marginal utility' and 'marginal cost (Agra 1951s) Show how they go to determine the market value of a commodity in the long run (Agra 1951, Alld 1955)

(b) "Marginal uses do not govern value but are governed together with value by the conditions of demand and supply" Elucidate (Rajputana 1957)

5 'Value is determined by demand and supply ' "Value is determined by cost of production. Can these propositions be reconciled ? How ? (Alld 1951, 1948)

6 Distinguish between p ime costs and supplementary costs, and bring out the significance of this distinction in the theory of value (Alld 1954, Agra 1956 Saugar 1955)

7 ' The cost of production eagerness of demand margin of production and the price of the produce mutually govern one another" Explain (Alld 1953)

8 Analyse costs of production so as to bring out the meaning and significance of opportunity costs (Agra 1956)

9 How does a permanent increase in the demand for a commodity affect its price when the period is long ? Illustrate by means of a diagram (Alld 1952 Agra 1947)

or

"Increase in demand results in higher prices

"Increase in demand results in a fall in prices '

Explain the two situations (Agra 1958)

10 Show how under conditions of perfect competition the price of a commodity is equal both to its marginal and average costs of production Use diagrams to illustrate your answer (Alld. 1955)

11 Write short notes on —

(a) Real costs of production and money costs of pro duction (Agra 1953 Rajputana 1955 Saugar 1957)

(b) Social costs of production (Agra 1958)

(c) *Opportunity cost* and *Transfer Earnings* (Agra 1956 Rajputana 1955)

(d) Representative Firm (Alld 1950 Agra 1956 1953 Saugar 1957) and Optimum Firm

२७

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य

(Value under Monopoly)

इस शीर्षक के अन्तर्गत हम यह विचार करेंगे कि जब किसी वस्तु का एकमात्र उत्पादक होता है और दूसरे किसी उत्पादक का हस्तक्षेप नहीं होता, और वह वस्तु भी ऐसी होती है कि जिसके बदले में किसी अन्य वस्तु का प्रयोग नहीं किया जा सकता, तो ऐसी दशा में उस वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है।

ऐसी अवस्था में, जिसको एकाधिकार की अवस्था कहते हैं, केवल एक उत्पादक होता है और उसका पूर्ति पर पूर्ण अधिकार होता है। अन्य किसी उत्पादक का उस उद्योग में प्रवेश करना किसी कारणवश सम्भव नहीं होता जिससे एकाधिकार का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता है, और वह अपनी वस्तु की कीमत जो चाहता है रखता है। जैसे प्रत्येक शहर में बिजली के उत्पादन के लिए अधिकतर एक ही कम्पनी होती है, कोई दूसरी कम्पनी नहीं खोली जा सकती। इसी तरह पानी की पूर्ति के लिए भी एक शहर में एक ही कम्पनी होती है। (इसके विपरीत पूर्ण प्रतियोगिता में एक वस्तु के बहुत से उत्पादक होते हैं जिनमें से हर एक इस बात का प्रयत्न करता है कि वह अपने माल को बेचे और ऐसा करने में वह ऐसा मूल्य निश्चित करता है जो दूसरे उत्पादकों के मूल्य से कम हो।)

एकाधिकार की अवस्थाएँ पूर्ण प्रतियोगिता से भिन्न होती हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में माँग और पूर्ति की शक्तियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक काम करती हैं, पूर्ति माँग के अनुसार घटती बढ़ती रहती है और माँग तथा पूर्ति की क्रिया प्रतिक्रिया से साम्य बिन्दु पर मूल्य निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में उत्पादक का मूल्य पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। उसके लिए मूल्य पहले से ही निश्चित होता है। किन्तु एकाधिकार की अवस्था में पूर्ति एकाधिकारी के हाथ में रहती है और वह पूर्ति को घटा बढ़ाकर बाजार मूल्य को प्रभावित कर सकता है, फलतः मूल्य निर्धारण बहुत सीमा तक एकाधिकारी के हाथ में रहता है और वह सदा ऐसी कीमत रखने की चेष्टा करता रहता है कि जिससे उसको अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो।

दूसरी बात यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मूल्य उत्पादन व्यय के बराबर होता है। यदि वह इससे अधिक होता है तो नये नये उत्पादक लाभ कमाने के लिए उस उद्योग में आ जाते हैं और पूर्ति बढ़ने से मूल्य गिरकर उत्पादन व्यय के बराबर हो जाता है। और यदि वह इससे कम होता है तो कुछ उत्पादकों को काम छोड़ना पड़ता है, पूर्ति घटती है और मूल्य फिर उत्पादन व्यय के बराबर हो जाता है। परन्तु एकाधिकार में मूल्य का

उत्पादन व्यय के बराबर होना जरूरी नहीं है। यह मूल्य उत्पादन व्यय के बराबर या उससे अधिक हो सकता है। एकाधिकारी का पूर्ति पर एकाधिकार होता है। इसलिए वह अपनी इच्छानुसार ऐसा मूल्य निश्चित करता है जिससे कि उसको अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके (इस सम्बन्ध में आगामी शीर्षक पढ़िए।)

एक और बात यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता के बाजार म हर एक खरीदार के लिए वस्तु की केवल एक ही कीमत होती है। अलग अलग खरीदारों के लिए कोई अलग अलग मूल्य नहीं होता। परन्तु एकाधिकार म एकाधिकारी विवेचनात्मक मूल्य वसूल करके भी अपने लाभ को बढ़ाने की चेष्टा करता है। वह माल को उन लोगों को अधिक मूल्य पर बेचता है जिनकी माँग अधिक तीव्र होती है और उन लोगों को कम मूल्य पर जिनकी माँग कम तीव्र होती है, इत्यादि, इत्यादि, क्योंकि ऐसा करने से एकाधिकार का लाभ बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए एक बिजली की कम्पनी रोशनी और पंखे इत्यादि के लिए सबसे अधिक, कारखाने को चलाने के लिए उससे कम, और खेती सम्बन्धी कार्यों के लिए सबसे कम, मूल्य लेती है। परन्तु प्रतियोगिता की स्थिति म इस प्रकार मूल्य वसूल करना सम्भव नहीं होता।

एकाधिकार में मूल्य-निर्धारण के सिद्धान्त

How is value (under monopoly) determined ?

हमने ऊपर देखा कि एकाधिकार की अवस्था म मूल्य निर्धारण बहुत सीमा तक एकाधिकारी के हाथ म रहता है। ऐसी दशा म यह स्वाभाविक है कि एकाधिकारी अपने उत्पादन में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करे। प्रो॰ मार्शल के अनुसार एकाधिकारी अपने उत्पादन से अधिक से अधिक "एकाधिकारी लाभ" (Monopoly Gain) प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मिसेज ओअन रोबिन्सन के अनुसार वह अपने "खालिस एकाधिकार आय" (Net Monopoly Revenue) को अधिकतम करने की चेष्टा करता है। (विक्रय मूल्य से जो आमदनी होती है उसमें से लागत, जिसम साधारण लाभ भी सम्मिलित रहता है, घटाने पर जो शेष बचता है उसे ही "एकाधिकारी लाभ" या "खालिस एकाधिकार आय" कहते हैं।)

"अधिकाधिक एकाधिकारी लाभ" प्राप्त करने के लिए तथा "खालिस एकाधिकार आय" को अधिकतम करने के लिए एकाधिकारी किस प्रकार मूल्य को निश्चित करता है, इस सम्बन्ध म प्रो॰ मार्शल तथा मिसेज ओअन रोबिन्सन ने अलग-अलग सिद्धान्त बताये हैं।

प्रो॰ मार्शल ने जाँच और भूल का सिद्धान्त (Trial and Error method) बताया है। उनका कहना है कि एकाधिकारी मूल्य को निर्धारित करते समय दो बातों का विशेष ध्यान रक्खेगा

(अ) माँग की लोच (elasticity of demand) का

माँग की लोच के सम्बन्ध म तीन स्थितियाँ हो सकती हैं —

(i) यदि वस्तु की माँग लोचदार (elastic) हो तो उस वस्तु से प्राप्त कुल आय मूल्य के उल्टे अनुपात से घटती बढ़ती है, यानी जब मूल्य बढ़ता है तो कुल आय घटती है

और जब मूल्य घटता है तो कुल आय बढ़ती है। अत ऐसी अवस्था में कम मूल्य निश्चित करना लाभदायक होगा।

(ii) यदि उस वस्तु की माँग बेलोच (inelastic) हो तो उस वस्तु से प्राप्त आय मूल्य के अनुपात से बदलती रहती है, यानी मूल्य की वृद्धि के साथ बढ़ती है और मूल्य की कमी के साथ घटती है। ऐसी अवस्था म अधिक मूल्य निश्चित करना लाभदायक होगा।

(iii) यदि माँग की लोच इकाई (unity) के बराबर हो तो उस वस्तु से प्राप्त आय में मूल्य के परिवर्तन से कोई परिवर्तन नहीं होता है यानी कुल आय समान रहती है चाहे मूल्य कुछ भी हो।

(ब) उत्पत्ति के नियमों (laws of returns) का

इसम भी तीन स्थितियाँ होती हैं यदि उत्पादन क्रमागत वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) के अनुसार हो रहा हो तो उस वस्तु की अधिक मात्रा का उत्पादन करके नीचे दामों पर बेचना लाभप्रद होता है, इसके विपरीत यदि उत्पादन क्रमागत ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) के आधार पर चल रहा हो तो उस वस्तु की कम मात्रा का उत्पादन करके ऊँचे दामों पर बेचना लाभदायक होता है। और यदि उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति समता नियम (Law of Constant Returns) के अनुसार हो रहा हो तो उस दशा म कम या अधिक उत्पत्ति केवल माँग की लोच पर निर्भर करती है।

मान लीजिए कि एक एकाधिकारी वस्तु के क्रमागत उत्पत्ति समता नियम (Law of Constant Returns) के अन्तर्गत उत्पन्न कर रहा है। वह वस्तु की १००० इकाइयाँ १ रु० प्रति इकाई की दर से उत्पन्न कर सकता है और ५००० इकाइयाँ भी उसी दर से उत्पन्न कर सकता है। यह भी मान लीजिए की उस वस्तु की माँग लोचदार है और जब कि १००० इकाइयाँ २ रु० प्रति वस्तु के दाम पर बिक सकता है, तब उसकी १५०० इकाइयाँ १ रु० १५ आने प्रति वस्तु के भाव पर बिक सकती हैं और उसकी २००० इकाइयाँ १ रु० १४ आने प्रति वस्तु के दाम पर बिक सकती हैं तो उसका लाभ पहली दशा में १०००) और दूसरी दशा में ४०६।) और तीसरी दशा म १७५०) होगा और इसलिए वह १॥=) ही मूल्य रक्खेगा और २००० वस्तुओं का उत्पादन करेगा

बिक्री मूल्य प्रति इकाई	इकाइयों की माँग	लागत प्रति इकाई	लाभ प्रति इकाई	कुल एकाधिकार आय
२)	१०००	१)	१)	१०००) रु०
१॥≈)	१५००	१)	॥≈)	१४०६।) „
१॥=)	२०००	१)	॥=)	१७५०) „

इसके विपरीत यदि वस्तु की माँग बेलोच है तो वह ऊँचे दाम रखकर कम बेचना पसंद करेगा, जैसे यदि प्रतिवस्तु लागत १) है और वह १००० वस्तु २) के भाव पर बेच सकता है और १००० ही १॥≈) पर और १००० ही १॥=) के भाव पर तो उसको पहली

स्थिति में १०००) का लाभ होगा और दूसरी में ६३७॥) का और तीसरी में केवल ८७५) का, इसलिए वह दाम २) ही रखेगा और केवल १००० वस्तु बेचना पसंद करेगा—

बिक्री मूल्य प्रति इकाई	इकाइयों की मांग	लागत प्रति इकाई	लाभ प्रति इकाई	कुल एकाधिकार आय
२)	१०००	१)	१)	१०००)
१॥।≡)	१०००	१)	॥।≡)	६३७॥)
१॥।=)	१०००	१)	॥।=)	८७५)

इसी प्रकार मान लीजिए कि एकाधिकारी वस्तु को क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम (Law of Diminishng Returns) के अन्तर्गत उत्पादन कर रहा है और स्थिति निम्न प्रकार है: —

बिक्री मूल्य प्रति इकाई	इकाइयों की मांग	लागत प्रति इकाई	लाभ प्रति इकाई	कुल एकाधिकार लाभ
८ आना	१०,०००	४ आना	४ आना	२५०० रु०
६½ आना	५०,०००	४½ आना	२ आना	६२५० रु०
६ आना	८०,०००	५ आना	१ आना	५,००० रु०

तो हम देखते हैं कि जब वस्तु का उत्पादन १०,० ० इकाइयों के बराबर है तो मूल्य ८ आना प्रति इकाई है और लागत ४ आना प्रति इकाई, और इस तरह खालिस एकाधिकार लाभ २,५०० रुपये के बराबर है। जब उत्पादन बढ़ाकर ५०,००० इकाई कर दिया जाता है तो मूल्य ६ आना प्रति इकाई हो जाता है लागत ✓- आना प्रति इकाई हो जाती है और खालिस एकाधिकार लाभ ६,२५० रुपये हो जाता है। जब उत्पादन ८०,००० इकाइयों के बराबर हो जाता है तो विक्रय मूल्य ६ आना प्रति इकाई हो जाता है, लागत ५ आना प्रति इकाई हो जाती है और खालिस एकाधिकार लाभ ५,००० रु० के बराबर हो जाता है। इस प्रकार एकाधिकारी उत्पादन को घटा या बढ़ाकर इस निर्णय पर पहुँचेगा कि दूसरी स्थिति म, जब उत्पादन ५०,००० इकाइयों के बराबर है, एकाधिकार लाभ अधिकतम होगा। इसलिए ५०,००० इकाई 'एकाधिकार उत्पादन' और ६½ आना प्रति इकाई 'एकाधिकार मूल्य' होगा।

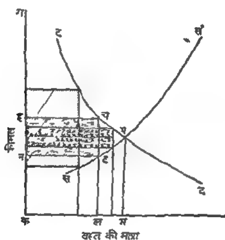
अब मान लीजिए कि उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) के अन्तर्गत हो रहा है और अधिक उत्पादन के साथ लागत घटती है। मान लीजिए आगरा से दिल्ली जाने का किराया रेलवे कम्पनी को तय करना है और निम्नलिखित किरायों पर निम्नलिखित मुसाफिर सफर करने को तैयार हैं और हर मुसाफिर पर निम्नलिखित व्यय कम्पनी को करना पड़ता है—

किराये की दर	मुसाफिरों की सख्या	लागत फी मुसाफिर	लाभ फी मुसाफिर	कुल लाभ
४ रु०	१,५००	३ रु०	१ रु०	१,५००
३ रु०	३,५००	२ रु० ४ आ०	१२ आने	२,६२५
२ रु०	६ ०००	१ रु० ८ आ०	८ आ०	३,०००
१ रु०	१०,०००	१२ आने	४ आ०	२,५००

तो रेलवे कम्पनी टिकट के दाम २) रक्खेगी और ६००० टिकट बेचना पसद करेगी क्योंकि इसी दाम पर उसको अधिकाधिक एकाधिकार लाभ (यानी ३,००० रु०) होता है।

सारांश यह है कि प्रो० मार्शल के अनुसार एकाधिकारी पहले उत्पादन की मात्रा बढाकर अपना खालिस लाभ ज्ञात करेगा और फिर उत्पादन की मात्रा घटाकर अपना खालिस लाभ देखेगा। इस प्रकार कई बार जाँच करने के पश्चात् वह उस बिन्दु पर पहुँचेगा जहाँ एकाधिकार आय अधिकतम होगी और वहीं मूल्य तय होगा।

इसी बात को एक रेखाचित्र में भी दिखाया जा सकता है—

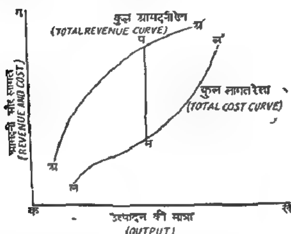


वस्तु की मात्रा

मान लीजिए कि द द' किसी वस्तु की माँग रेखा, और स स' उसकी पूर्ति रेखा है और मान लीजिए कि ये दोनों आपस म एक दूसरे से प बिन्दु पर मिलती हैं। तो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत प म होगी। परन्तु एकाधिकारी अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए इससे ऊँची कीमत रक्खेगा। मान लिया कि वह च ल कामत निश्चित करता है जो कि प म से ऊँची है। इस कीमत पर उसको विशेष लाभ च ट मिलेगा और वह क ल वस्तु की मात्रा बेच सकेगा। क्योंकि च ल कीमत पर ग्राहक इतना ही लेने को तैयार होंगे और चूँकि क ल मात्रा की लागत ल ट है इसलिए हम कह सकते हैं कि क ल उत्पादन के लिए कुल खर्चा क ल × [illegible] ट = क ल ट न होगा। साथ ही हम जानते हैं कि च ल कीमत पर क ल मात्रा बिकेगी यानी कुल आय क ल × च ल = क ल च ह होगी। इसलिए हम

कह सकते हैं कि इन दोनों आयतों (rectangles) का अन्तर यानी न ट च ह (shaded portion in the above diagram) एकाधिकारी लाभ होगा। इसी तरह हर एक प म से ऊँची कीमत पर, अलग अलग आयत बनेंगे। इनमें से एक सबसे बड़ा होगा (दूसरे शब्दों में उस स्थिति में एकाधिकारी लाभ अधिकतम होगा) और एकाधिकारी वही कीमत रक्खेगा जिस पर कि वह आयत सबसे बड़ा होगा।

एक दूसरे रेखाचित्र पर भी नीचे ध्यान दीजिए :—



अ अ' "कुल आमदनी" रेखा है। ल ल' "कुल लागत" रेखा है। एकाधिकारी ऐसी मात्रा का उत्पादन करेगा कि जिससे "कुल आमदनी" और "कुल लागत" का अन्तर अधिकतम हो। इस तरह इस चित्र में प म इन दोनों में अधिकतम अन्तर दिखाता है और इसी बिन्दु पर एकाधिकार लाभ अधिकतम होगा।

[यहाँ पर यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि मार्शल ने पूर्ण एकाधिकार की अवस्था पर विचार किया परन्तु पूर्ण एकाधिकार की अवस्था वास्तविक जीवन में नहीं पाई जाती। इसलिए हमको यह नहीं समझ लेना चाहिए कि एकाधिकारी हमेशा जितना चाहे उतना अधिक मूल्य बढ़ा सकता है या यह कि एकाधिकार मूल्य (monopoly price) हमेशा ही प्रतियोगिता मूल्य (competitive price) से अधिक होता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रायः एकाधिकार मूल्य प्रतियोगिता मूल्य की अपेक्षा अधिक होता है। परन्तु यह भी सम्भव है कि एकाधिकारी को बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लाभ उपलब्ध हों जिससे उसकी लागत बहुत कम हो और परिणामतः वह प्रतियोगिता मूल्य की अपेक्षा बहुत कम मूल्य पर भी अधिकाधिक एकाधिकारी लाभ प्राप्त कर सके। ऐसी स्थिति में एकाधिकार मूल्य प्रतियोगिता मूल्य से अधिक होने के बदले कम होगा। इसके अतिरिक्त, एकाधिकारी मूल्य बहुत अधिक बढ़ाने में कई बातों में सतर्क रहना पड़ता है, जैसे कहीं कोई नया शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी उत्पादन के क्षेत्र में आकर मूल्य घटा न दे, कहीं मूल्य अधिक होने के कारण लोग उस वस्तु के बदले दूसरी वस्तु का प्रयोग न करने लगें, कहीं कोई विदेशी प्रति-

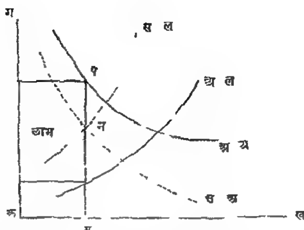
द्वन्द्वी आकर एकाधिकार का व्यवसाय छीन न ले, और कहीं बहुत अधिक मूल्य होने के कारण सरकार एकाधिकारी के व्यवसाय म नियंत्रण न लगा दे। इन बातों के भय से एकाधिकारी मूल्य को एक सीमा से अधिक नहीं बढ़ा सकता।]

तो भी मार्शल के इस तरीके से हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि किस बिन्दु पर एकाधिकार आय अधिकतम होगी और क्या एकाधिकार मूल्य होगा, क्योंकि उत्पादक इस प्रकार जाँच और भूल (Trial and Error Method) कब तक करता रहेगा। इसलिए मिसेज जोअन रोबिन्सन ने एकाधिकार मूल्य निर्धारण का एक सिद्धान्त बताया है जो अधिक निश्चित है, उसी सिद्धान्त को माना जाता है।

मिसेज जोअन रौबिन्सन ने एकाधिकार मूल्य को निर्धारण करने का एक निश्चित सिद्धान्त बताया है। उनका कहना है कि एकाधिकारी खालिस अधिकतम आय को प्राप्त करने के लिए सीमान्त आय और सामान्त लागत को बराबर करने का प्रयत्न करता रहता है और जिस स्थान पर ये दोनों बराबर होते हैं वहीं तक वह उत्पादन करता है। नीचे दिये हुए काल्पनिक उदाहरण से, जो प्रो० बैन्हम की किताब से दिया गया है, यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस बिन्दु पर सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर होती है वहीं ही लाभ अधिकतम होता है :—

प्रति सप्ताह उत्पादन	प्रति इकाई मूल्य	सम्पूर्ण आय	सीमांत आय	सम्पूर्ण लागत	सीमांत लागत	लाभ
	शि०	शि०	शि०	शि०	शि०	शि०
१०,०००	५०	५००,०००	—	४६०,०००	—	४०,०००
११,०००	४८	५२८,०००	२८,०००	४७६,०००	१६,०००	५२,०००
१२,०००	४७	५६४,०००	३६,०००	४९२,०००	१६,०००	७२,०००
१३,०००	४५	५८५,०००	२१,०००	५०८,०००	१६,०००	७७,०००
१४,०००	४३	६०२,०००	१७,०००	५२४,०००	१६,०००	७८,०००
१५,०००	४१	६१५,०००	१३,०००	५४०,०००	१६,०००	७५,०००
१६,०००	३९	६२४,०००	९,०००	५५६,०००	१६,०००	६८,०००
१७,०००	३७	६२९,०००	५,०००	५७२ ०००	१६,०००	५७,०००
१८,०००	३५	६३०,०००	१,०००	५८८,०००	१६,०००	४२,०००
१९,०००	३३	६२७,०००	३,०००	६०४,०००	१६,०००	२३,०००

यहाँ हम देखते हैं कि एकाधिकारी का लाभ १४,००० इकाई (प्रति सप्ताह) के उत्पादन पर अधिकतम (यानी ७८,०००) होता है क्योंकि इतने उत्पादन पर उसकी सीमान्त लागत और सीमान्त प्राप्ति करीब करीब बराबर है। इसलिए वह इतना ही उत्पादन करेगा और दाम ४३ शि० ही रखेगा।



स ल सीमान्त लागत, श्र ल श्रौसत लागत, स श्र सीमान्त श्राय श्रौर श्र श्र श्रौसत श्राय रेखाएँ हैं। न बिन्दु पर सीमान्त श्राय श्रौर सीमान्त लागत दोनों बराबर हैं। क म मात्रा उत्पन्न की जाती है श्रौर बेची जाती है। प म एकाधिकार मूल्य होगा। एकाधिकारी उत्पादन न बिन्दु तक जारी रक्खेगा इससे श्रागे नहीं। क्योंकि न बिन्दु तक सीमान्त लागत सीमान्त श्राय से कम है इसलिए इस बिन्दु तक उत्पादन को बढ़ाना लाभप्रद है परन्तु इसके पश्चात् सीमान्त लागत सीमान्त श्राय से अधिक हो जाती है श्रत इस बिन्दु के बाद उत्पादन को बढ़ाना हानिकारक होगा। (सीमान्त लागत श्रौर सीमान्त श्राय के समान होने पर ही एकाधिकारी का लाभ अधिकतम होगा।)

[यहाँ पर एक प्रश्न उठता है। हमने पिछले श्रध्याय में यह कहा था कि पूर्ण प्रतियोगिता के श्रन्तर्गत भी उत्पादन को उस सीमा तक ले जाते हैं, जहाँ पर कीमत; सीमान्त श्राय श्रौर सीमान्त लागत; सब बराबर होते हैं। तो एकाधिकार के श्रन्तर्गत मूल्य श्रौर पूर्ण प्रतियोगिता के श्रन्तर्गत मूल्य म श्रन्तर क्या रहा? श्रन्तर यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता की श्रवस्था में कीमत निश्चित (fixed) होती है श्रौर सीमान्त लागत श्रौर सीमान्त श्राय दोनों उसके बराबर होते हैं, जब कि एकाधिकार की श्रवस्था में, चूँकि मे कोई प्रतियोगिता न होने के कारण एकाधिकारी श्रपनी वस्तु की कीमत किसी सीमा तक स्वय तय करता है श्रौर उसके सीमान्त लागत के स्तर पर श्राने से पहले ही किसी स्थान पर उत्पादन श्रौर बिक्री बंद कर देता है, फलतः वस्तु की कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत की श्रपेक्षा अधिक होती है (price is higher than marginal cost)। दूसरी श्रोर एकाधिकार में सीमान्त श्राय वस्तु की कीमत से कम होती है (marginal revenue is less than price)। इसका कारण यह है कि श्रपनी बिक्री बढ़ाने के लिए एकाधिकारी को कीमत घटानी पड़ती है श्रौर जब वह ऐसा करता है तब मूल्य अधिक उत्पत्ति का ही कम नहीं होता श्रपितु सारी वस्तुश्रों का कम होता है। मान लीजिए कि एक उत्पादक १० इकाइयाँ २) प्रति इकाई के भाव पर बेच सकता है। यदि वह चाहे कि ११ इकाइयाँ बिकें तो उसे कीमत घटानी पड़ेगी। मान लीजिए कि वह कीमत १॥।≈) कर देता है। तो उसे सब की सब इकाइयाँ इस दाम पर बेचनी पड़ेंगी।

अगर उसे ऐसा न करना पड़ता तब तो उसकी सीमान्त आय १॥।≡) होती (यानी कीमत के बराबर) परन्तु सब इकाइयों के दाम कम करने की वजह से उसकी सीमान्त आय केवल १।-) होती है :—

११ इकाइयाँ १॥।≡) प्रति इकाई, कुल आय २१।-)
१० इकाइयाँ २) " " " " २०)
१।-)

जो कीमत (१॥।≡)) से कम है और हम कह सकते हैं कि एकाधिकार में सीमान्त आय वस्तु के मूल्य से कम होता है। अब मान लीजिए कि वह १२ इकाइयाँ बेचना चाहता है और कीमत १॥।=) कर देता है तो

१२ इकाइयाँ १॥।=) प्रति इकाई से कुल आय २२॥) होगी
११ " १॥।≡) " " " " " २१।-) "
१≡)

सीमान्त आय १≡) हुई जब कि कीमत १॥।=) है। स्पष्ट है कि यहाँ भी सीमान्त आय कीमत से कम है (marginal revenue is less than price) [आगामी अध्याय में जो दो चित्र दिए गए हैं वह इसी बात को दिखाते हैं। उन पर ध्यान दीजिये।]

इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता के मूल्य और एकाधिकारी मूल्य में अन्तर यह रहा कि पूर्णप्रतियोगिता में सीमान्त आय वस्तु के मूल्य के बराबर होती है—इन दोनों के बराबर होने पर ही लाभ अधिकतम होता है, इस कारण जब तक ये दोनों बराबर नहीं हो जाते तब तक उत्पत्ति में वृद्धि होती जाती है—परन्तु एकाधिकार में, जैसा कि हमने अभी देखा, सीमान्त आय मूल्य से कम होती है और सीमान्त लागत मूल्य के बराबर होने से पहले ही सीमान्त आय के समान हो जाती है, इसलिए उत्पादक उसी सीमा तक उत्पत्ति करता है। यही पूर्ण प्रतियोगिता और एकाधिकार के मूल्य-निर्धारण में अन्तर है। स्पष्ट है कि एकाधिकार में उत्पादक पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा उत्पत्ति कम करता है तथा उसका मूल्य अधिक रखता है।]

भेद-पूर्ण एकाधिकार

(*Discriminating Monopoly*)

एकाधिकारी कभी कभी अपने एकाधिकार आय को अधिकतम करने के लिए अलग-अलग ग्राहकों से अलग अलग दाम लेता है और इस प्रकार जब एकाधिकारी एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न ग्राहकों के हाथ या भिन्न भिन्न बाजारों में भिन्न-भिन्न दामों पर बेचता है तो इसे विवेचनात्मक एकाधिकार या भेदपूर्ण एकाधिकार (discriminating monopoly) कहते हैं।

मूल्य का भेदभाव तीन प्रकार का होता है :—

(अ) व्यक्तिगत भेद (personal discrimination)—जब एकाधिकारी अलग-अलग व्यक्तियों से अलग-अलग दाम लेता है तो उसे व्यक्तिगत भेदपूर्ण एकाधिकार कहते हैं जैसे डाक्टर कभी-कभी गरीब से दो रुपये तथा अमीर

से ५) रुपये फीस लेता है, साधारण मनुष्य से आँख के इम्तहान (sight-testing) की फीस १०) रुपये और विद्यार्थी से ५) लेता है, एक सिनेमा कम्पनी अलग अलग क्लास के लोगों से अलग अलग दाम लेती है, या एक रेलवे कम्पनी आलू को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने का भाड़ा ५) प्रति मन और सेब पहुँचाने का भाड़ा १०) प्रति मन लेती है।

यहाँ एकाधिकारी की कोशिश यही रहती है कि हर एक तरह के लोगों से उनकी माँग की तीव्रता के अनुसार दाम ले। अतः वह उनसे अधिक दाम लेता है, जो अधिक दाम दे सकते हैं, और उनसे कम दाम लेता है जो कम दाम ही दे सकते हैं, और जो दाम ऊँचे होने की दशा में वस्तु को नहीं खरीदेंगे। एकाधिकारी ऐसा किसी पर उपकार करने के लिए नहीं करता, वह ऐसा इसलिए करता है कि इससे उसकी 'खालिस एकाधिकार आय' और भी अधिक हो जाती है।

(ब) स्थानीय भेद (place discrimination)—जब एकाधिकारी अलग-अलग स्थानों के बाजारों से अलग अलग दाम लेता है तो उसे स्थानीय भेदपूर्ण एकाधिकार कहते हैं।

यहाँ एकाधिकारी ऐसी बातें देखता है कि कहाँ पर प्रतियोगिता है और कहाँ नहीं और कहाँ पर वस्तु के स्थानापन्न प्राप्त हैं और कहाँ पर नहीं। जहाँ पर यह बातें होती हैं वहाँ वह दाम कम लेता है और जहाँ पर यह बातें नहीं होती हैं वहाँ पर अधिक। इसी तरह कभी-कभी एकाधिकारी मूल्य पातन या राशि-पातन (dumping) के उद्देश्य से भी ऐसा करता है यानी कभी-कभी वह विदेशों में लागत-मूल्य से भी कम दाम पर अपनी वस्तुओं को बेच देता है, और उसको जो हानि विदेशों में कम मूल्य पर बेचने से होती है वह उसे स्वदेश में ऊँचे मूल्य पर बेचने से पूरी कर लेता है। इस तरह विदेशी बाजारों के पाटने को ही मूल्य-पातन या राशि-पातन कहते हैं। ऐसा किस प्रकार होता है, यह बात निम्न उदाहरण से समझी जा सकती है, जो प्रो० डिवेट की किताब से ली गई है—

घरेलू बाजार

विक्रय मूल्य	उत्पादक मूल्य	इकाइयों की संख्या	वास्तविक आय
१०)	५)	१००	५००)
६॥)	४॥।)	१५०	७५०)
६।)	४॥)	२००	६५०)
८॥)	४।)	२५०	१०६२॥)
७॥।)	४)	३००	११२५)
७)	३॥।)	३५०	११३७॥)
५॥।)	३)	४००	११००)
४॥)	२॥।)	४५०	७८७॥)

मान लीजिए कि एकाधिकारी उत्पादक केवल घरेलू बाजार के लिए ही उत्पादन करता तो वह ३५० इकाइयों की उत्पत्ति करता, क्योंकि इस स्थिति में उसे ७) प्रति इकाई

दाम मिलते, ३।।।) प्रति इकाई की लागत बैठती और उसे ११३७।।) वास्तविक आय होती, जो अधिक से अधिक है।

अब मान लीजिए कि वह ३५० इकाइयों की जगह ४५० इकाइयों का उत्पादन करता है तो उसकी कुल लागत रु० ४५०×२।।।) १२३७।।) होगी जब कि केवल ३५० इकाइयों की कुल लागत रु० ३५०×३।।।) - १३१२।।) होती। इसका मतलब यह हुआ कि १०० इकाइयों का उत्पादन अधिक करके वह अपनी कुल लागत में ७५) (१३१२।।)-१२३७।।)), की कमी कर सकता है। इसलिए यदि उसे अपनी इन १०० इकाइयों को नष्ट भी करना पड़े तो भी इन १०० इकाइयों का उत्पादन उसके लिए लाभदायक होगा और यदि वह उसे किसी भी मूल्य पर विदेशों में बेंच सके तो उसे उतना ही और भी अधिक लाभ होगा। इस प्रकार वह ४५० इकाई बनाएगा, ३५० घरेलू बाजार में ७) के भाव पर बेचेगा और बाकी १०० किसी बाहरी देश म किसी भी भाव पर बेच देगा।

(स) व्यावसायिक भेद (trade discrimination)—जब एकाधिकारी उसी वस्तु के अलग अलग व्यवसायों के कार्यों के लिए या अलग अलग व्यापारियों से अलग अलग दाम लेता है तो उसे व्यावसायिक भेदपूर्ण एकाधिकार कहते हैं, जैसे साधारण उपभोक्ताओं को रोशनी और पखे के लिए बिजली के दाम अधिक देने पड़ते हैं, और कारखानों इत्यादि के चलाने के लिए दाम कम देने पड़ते हैं। इसी तरह इम्पीरियल टोबैको कम्पनी उन दूकानदारों को अधिक कमीशन देती है जो केवल उनकी कम्पनी का माल बेचते हैं और उनको कम कमीशन देती है जो दूसरी कम्पनियों का माल भी बेचते हैं।

साराश यह है कि एकाधिकारी अपने खालिस एकाधिकार आय को बढाने के लिए ही अलग अलग लोगों से अलग अलग प्रयोगों में और अलग अलग जगहों में अलग अलग दाम लेता है। वह हर एक से वही दाम उगाहता है जिसके देने के योग्य उसको समझता है और उसका आधार 'charging what the traffic will bear' का सिद्धान्त ही होता है।

QUESTIONS

1 Distinguish between monopoly price and competitive price, and point out how monopoly price is determined (Agra *1955, 1951, Alld 1955, Rajputana 1954*)

or

In what essential respects does the determination of price differ when *conditions of production* are *monopolistic* and not competitive ? Give diagrams to illustrate your answer (Agra 1953)

2 Compare monopoly price with price under competition and point out the considerations which weigh with a monopolist in fixing a particular price for his commodity Is *monopoly price*

necessarily higher than price under competition? (Alld 1955, 1953, Rajputana 1952)

3. "The prima facie interest of the owner of a monopoly is clearly to adjust the supply to the demand, not in such a way that the price at which he can sell his commodity shall just cover its expenses of production but in such a way as to afford him the greatest total net revenue —Marshall

Explain fully the above statement either with the help of a diagram or a monopoly revenue schedule (Alld 1954, 1951, 1950, Agra 1949)

4 Explain the law of monopoly revenue and show how the amount of the output will vary according to (a) elasticity of demand and (b) the particular law of production which may be operating (Agra 1954s, 1953, 1950)

5 The following table gives the cost per unit and the quantity of electricity demanded per month by people living in a certain town of U P :—

Price per unit	Quantity demanded per month	Cost per unit
4 annas	20 000 units	3 annas
3 ,	30 000 ,	2as 3 pies
2	50,000 ,,	1a 6 pies
1 ,	80,000 ,	9 pies

What price would an Electric Supply Co. fix, if it is given monopoly? In the interest of the consumers, what maximum price should be fixed by the Government? (Alld 1945)

6 Suppose a monopolised article is produced under conditions of constant cost How will the price be determined when the demand for the article is (a) highly elastic, (b) moderately elastic? Illustrate by diagram. How, if at all, will the monopolist's policy differ if he produces under conditions of diminishing cost Illustrate by a diagram (Alld 1951)

7 What is a discriminating monopoly? How is price determined under discriminating monopoly? (Alld 1954, Agra 1956, 1951, Rajputana 1955)

State the conditions under which price discrimination by a monopolist is possible and profitable (Alld 1950)

२८

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य

(*Value under Imperfect Competition*)

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने मूल्य निर्धारण का अध्ययन केवल दो परिस्थितियों मे किया—पहिली, प्रतियोगिता के अन्तर्गत; दूसरी, एकाधिकार के अन्तर्गत; और इन्हीं दो परिस्थितियों का वर्णन पिछले दो अध्यायों में किया गया है। पहिली दशा मे बाजार में विक्रेता (तथा क्रेता) बहुत अधिक मात्रा में होते हैं और उनमें से कोई एक बाजार के मूल्य पर प्रभाव नहीं डाल सकता, क्रेताओं और विक्रेताओं दोनों को बाजार की स्थिति का पूर्ण ज्ञान होता है जिससे कि क्रेता वस्तु को कम से कम मूल्य पर खरीदने की चेष्टा करते हैं; और जो वस्तु बाजार में विभिन्न विक्रेताओं द्वारा वेची जाती हैं वे एक सी होती हैं अर्थात् क्रेता भिन्न-भिन्न विक्रेताओं द्वारा प्राप्त वस्तुओं मे कोई अन्तर नहीं समझते हैं। दूसरी दशा मे केवल एक ही विक्रेता होता है जिसका पूर्ति पर पूर्ण अधिकार होता है और जो वस्तु के दाम को अपनी इच्छानुसार बढ़ा घटा सकता है।

परन्तु वर्तमान समय के अर्थशास्त्र के विद्वानों का मत है कि वास्तविक जीवन मे न तो पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है और न एकाधिकार ही पाया जाता है। वास्तविक जीवन में तो पूर्ण प्रतियोगिता तथा पूर्ण एकाधिकार के मध्य की एक स्थिति पाई जाती है, जिसे "अपूर्ण प्रतियोगिता" (Imperfect Competition) कहते हैं। मिसेज जोअन रौबिन्सन ने इसकी ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है और एडवर्ड चेम्बरलेन ने करीब करीब ऐसी ही स्थिति को "एकाधिकारी प्रतियोगिता" (Monopolistic Competition) कहकर उसका वर्णन किया है।

इस स्थिति में न तो विक्रेताओं की संख्या* इतनी अधिक होती है कि प्रत्येक विक्रेता के पास सामान की मात्रा कुल वस्तु की मात्रा का एक नगण्य हिस्सा हो, न सम्पूर्ण पूर्ति पर किसी व्यक्ति विशेष का एकाधिकार ही होता है। विक्रेताओं की संख्या इतनी ही

---

*जब किसी वस्तु के विक्रेताओं की संख्या केवल दो होती है तो उस स्थिति को द्वियाधिकार (duopoly) कहते हैं। वास्तविक संसार में इसको मिसाल मिलना तो मुश्किल है, परन्तु यों समझ लीजिए कि दो व्यक्ति हैं, उन दोनों के पास एक-एक पेट्रोल की टंकी बिल्कुल पास पास है, और वे दोनों आपस में प्रतियोगिता करते हैं और अपना पेट्रोल वेचते हैं, तो यह द्वियाधिकार की ही स्थिति हुई। (यहाँ यह मान लिया गया है कि कोई तीसरी टंकी बाजार में नहीं है।

होती है कि प्रत्येक विक्रेता एक सीमा तक मूल्य पर प्रभाव डाल सकता है और उसको घटा-बढ़ा सकता है। मान लीजिये कि बाजार में विक्रेताओं की कुल संख्या ४ है और इनमें से हरेक विक्रेता वस्तु की १००० इकाई बनाता है। अब इन में से एक विक्रेता अपनी पूर्ति का १० प्रति शत बढ़ाता है यानी ११०० इकाई का उत्पादन करता है। तो इस का मतलब यह हुआ कि बाजार में कुल पूर्ति ४१०० इकाई हो जायगी। स्पष्ट है कि इसका मूल्य पर प्रभाव पड़ेगा और मूल्य को घटाना पड़ेगा। क्योंकि बिक्री तब ही बढ़ाई जा सकती है जब कि मूल्य घटे। (यदि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति होती तो बाजार में हजारों विक्रेता होते, और वस्तु की लाखों इकाई का उत्पादन होता, और किसी एक उत्पादक के हजार दो हजार इकाई अधिक या कम उत्पादन करने से बाजार भाव पर कोई प्रभाव न पड़ता।)

दूसरी बात इस स्थिति में यह होती है कि प्रत्येक विक्रेता की वस्तुओं में वास्तविक या काल्पनिक गुण-भेद पाया जाता है और जब कोई एक विक्रेता विज्ञापन या गुडविल के द्वारा ग्राहकों को यह विश्वास दिला देता है कि उसका माल अन्य विक्रेताओं के माल की अपेक्षा श्रेष्ठ है (जैसे कुछ लोग लिवर्टी शर्टस या रेमसन ड्रेसेज को ही लेना पसन्द करते हैं, कुछ लोग लिप्टन की चाय पसन्द करते हैं और कुछ ब्रुकबांड की, या कुछ लोग उसके अधिक विज्ञापन के परिणाम स्वरूप डालडा के सिवा कोई दूसरा वनस्पति नहीं खरीदते, और औस्टिन कार फोर्ड कार की अपेक्षा बहुत अच्छी समझी जाती है। तो वह विक्रेता अपने माल का दाम कुछ सीमा तक बढ़ा सकता है। अपूर्ण प्रतियोगिता की यह परिस्थिति वस्तुओं के गुण भेद के अतिरिक्त विक्रेता के शिष्टाचार, ऋण की सुविधा तथा लाभप्रद स्थिति के कारण भी उत्पन्न हो सकती है। जो विक्रेता ग्राहक से नम्रता का व्यौहार करता है, अधिकतर लोग उसी से माल खरीदना पसन्द करते हैं चाहे वह मूल्य को कुछ बढ़ा ही क्यों न दे। इसी प्रकार जो विक्रेता आवश्यकता पड़ने पर ऋण की सुविधाएँ देता है, ग्राहक अन्य विक्रेताओं की अपेक्षा अधिक मूल्य होने पर भी उसी से माल खरीदना चाहते हैं। जब कोई विक्रेता अन्य विक्रेताओं की अपेक्षा निकट रहता है तो खरीदार वस्तु को उसी से खरीदना चाहते हैं चाहे वह अन्य विक्रेताओं की अपेक्षा कुछ अधिक मूल्य

जब किसी वस्तु के विक्रेताओं की संख्या दो से अधिक, पर बहुत सी नहीं, होती है—यानी चार छः या दस बीस होती है, और उन में से हरेक विक्रेता एक सी ही वस्तु उत्पादित करता है और बेचता है और हरेक बाजार की कुल उत्पत्ति का इतना बड़ा भाग उत्पादित करता है कि उसके कीमत बढ़ाने या घटाने का काफी प्रभाव कुल उत्पत्ति पर पड़ता है तो उस स्थिति को ओलीगोपोली (oligopoly) कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—oligopoly with standardised products and oligopoly with differentiated products पिछले प्रकार की ओलीगोपोली में प्रत्येक विक्रेता का माल दूसरे विक्रेता या विक्रेताओं से कुछ भिन्न होता है (एक सा तो होता है परन्तु बिल्कुल एक सा नहीं)

पर ही वस्तु बेचे। [ऐसी स्थितियों को *Product Differentiation के नाम से पुकारा जाता है और इन्हीं को ध्यान में रखते हुए चेम्बरलेन ने एकाधिकारी प्रतियोगिता अर्थात् monopolistic competition के शब्दों का प्रयोग किया है।]

एक बात और है कि कभी-कभी बाजार में विक्रेताओं की संख्या बहुत होने पर भी, यातायात की कठिनाई तथा ग्राहक की भाव सम्बन्धी अनभिज्ञता के कारण भी अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब आने जाने के साधन उन्नत नहीं होते हैं या आने जाने का खर्चा बहुत अधिक होता है तो ग्राहक वस्तु को निकट के स्थान से अधिक दाम पर ही खरीद लेता है। इसके अतिरिक्त यदि ग्राहक को यह मालूम न हो कि अलग अलग विक्रेता किस भाव पर वस्तु को बेच रहे हैं तो भी वह इस अनभिज्ञता के कारण कभी कभी किसी वस्तु को ऊँचे दामों पर खरीद लेता है।

स्पष्ट है कि अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा पूर्ण प्रतियोगिता और एकाधिकार दोनों से भिन्न है। तो अब प्रश्न यह उठता है कि अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है।

अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य निर्धारण

(*How value is determined under Imperfect Competition*)

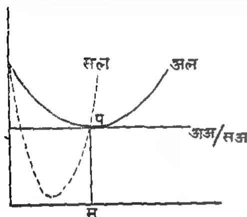
हमने अभी देखा कि अपूर्ण प्रतियोगिता कई स्थितियों में पाई जाती है—जब बाजार में केवल दो विक्रेता हों, जब दो से अधिक विक्रेता हों पर बहुत अधिक नहीं, और जब विक्रेता तो बहुत से हों परन्तु यातायात की कठिनाई तथा ग्राहकों की भाव सम्बन्धी अनभिज्ञता आदि के कारण पूर्ण प्रतियोगिता सम्भव न हो। पहिली स्थिति में दोनों विक्रेता अपनी-अपनी आय को अधिकतम करने की चेष्टा करेंगे परन्तु ऐसा हो सकता है कि उनमें से एक दूसरे को बाजार से हटा देने का प्रयत्न करे, और यदि ऐसा होता है तो हरेक अपनी कीमत को कम करेगा और एक प्रकार की प्रतियोगिता स्थापित हो जायगी। ऐसी दशा में वह दोनों यह भी निश्चय कर सकते हैं कि वे आपस में समझौता कर लें या दोनों मिल जायँ और एकाधिकार की सी स्थिति पैदा कर लें। और यदि दोनों विक्रेताओं के माल में अन्तर है तब तो वे दोनों विक्रेता बिल्कुल ही दो एकाधिकारी फर्मों की तरह होंगे।

इसी प्रकार जब वस्तु के कई विक्रेता (दो से अधिक, पर बहुत से नहीं) होते हैं तो उस स्थिति में ऐसा हो सकता है कि विक्रेता आपस में शुरू में गला काट-प्रतियोगिता

---

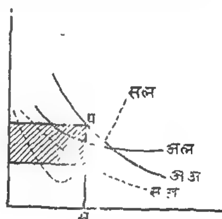
*"Product Differentiation may be defined as any situation which induces a buyer to be willing to pay more for a good bought from one seller rather than from another or as any consideration which causes one dealer to be prefered to another as a seller of a good even though the price is the same with both sellers" Meyers

लागत बराबर हों, और जिस प्रकार एकाधिकार में मूल्य सीमान्त लागत से अधिक होता है, क्योंकि उत्पादक अपनी वस्तु की कीमत सीमान्त आय के स्तर पर आने के पहिले ही किसी स्थान पर उत्पादन और बिक्री रोक देता है, उसी प्रकार अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य सीमान्त लागत से अधिक होता है (price is higher than marginal cost)। दूसरी बात यह है कि अपूर्ण प्रतियोगिता में, एकाधिकार की स्थिति की तरह, सीमान्त आय कीमत से कम होती है (marginal revenue is less than prie) [उदाहरण के लिये पृष्ठ ३१५ पर दिये हुए दृष्टान्त को पुनः ध्यान से पढ़िये] और नीचे दिये हुए दोनों चित्रों पर ध्यान दीजिये। एक में यह दिखाया गया है कि पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य सीमान्त आय के बराबर होता है और दूसरे में यह दिखाया गया है कि अपूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य सीमान्त आय से ऊँचा होता है, अर्थात् सीमान्त लागत मूल्य से कम होती है।



पूर्ण प्रतियोगिता

[मूल्य सीमान्त आय और सीमांत लागत सब बराबर हैं]



अपूर्ण प्रतियोगिता

[सीमांत आय और सीमांत लागत मूल्य से कम हैं]

दूसरी ओर, हम यह भी देखते हैं कि जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है तो प्रत्येक उत्पादक को कुछ सीमा तक अपनी वस्तु की कीमत निर्धारित करने की स्वतन्त्रता रहती है जो पूर्ण प्रतियोगिता में सम्भव नहीं है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में उसे उस कीमत को स्वीकार करना पड़ता है, जो कि बाजार में प्रचलित हो, और जो कुल बाजार की माँग और पूर्ति की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप निर्धारित होती है—यदि कोई उत्पादक बाजार की कीमत से अपनी वस्तु की कुछ कम कीमत ले तो वह सब ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है और यदि वह बाजार की कीमत से कुछ अधिक कीमत ले तो उसके सब ग्राहक उसको छोड़ सकते हैं। किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा अधिक कीमत ले सकता है, क्योंकि थोड़ी अधिक कीमत लिए जाने पर भी उसके ग्राहक उसको नहीं छोड़ेंगे, (और थोड़ी कम कीमत लेने पर भी उसकी बिक्री बहुत अधिक

नहीं बढ़ेगी), केवल यह होगा कि उसके पुराने ग्राहक वस्तु की थोड़ी मात्रा में खरीदेंगे कारण कि Product Differentiation अपना प्रभाव डालेगा। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में वस्तु की माँग बाजार भाव पर पूर्ण रूप से लोचदार (perfectly elastic) होती है (क्योंकि यहाँ कोई उत्पादक कुल उत्पत्ति का एक छोटा सा भाग ही बनाता है और बेचता है इसलिए वह वस्तु के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाता), जब कि अपूर्ण प्रतियोगिता में वस्तुओं के प्रकार में कुछ भिन्नता होने के कारण सब वस्तुएँ एक दूसरे की पूर्ण रूप से प्रतिद्वन्द्वी नहीं होतीं और माँग कुछ कम लोचदार (less than perfectly elastic) होती है।

[एक और बात इस सम्बन्ध में यह है कि अपूर्ण प्रतियोगिता वाले बाजार में एकाधिकार पद्धति में पाये जानेवाले सब दोष पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त और बहुत सी हानियाँ भी पाई जाती हैं जिन्हें 'Wastes of Imperfect or Monopolistic Competition कहते हैं। उनकी मिसालें हैं : विज्ञापन पर व्यर्थ व्यय, विशिष्टीकरण का अभाव, वस्तुओं के प्रमाणीकरण में बाधाएँ, विपरीत दिशाओं में ढुलाई व्यय, अकुशल फर्मों का बाजार से बाहर न निकाला जा सकना, इत्यादि, इत्यादि।]

यह सब लिखने के बाद भी यह कहना पड़ता है कि अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मूल्य निर्धारण किस प्रकार होता है एक कठिन व्यावहारिक प्रश्न है और प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए तो इसका समझना और भी कठिन है। इसी कारण इसका वर्णन अधिक विस्तार में यहाँ नहीं किया जाता। विद्यार्थियों को मिसेज जोअन रौबिन्सन की Economics of *Imperfect Competition* नामक पुस्तक और एडवर्ड चेम्बरलेन की *The Theory* of Monopolistic Competition" नामक पुस्तक का अध्ययन करना चाहिये।

[ऊपर के वर्णन में हमने केवल उस स्थिति पर ध्यान दिया है जब खरीदार अनेक हों परन्तु बेचनेवाले दो या दो से अधिक (पर बहुत से नहीं) हों, और इन स्थितियों के लिये Duopoly और Oligopoly के शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु यदि हम उस स्थिति को सोचें जब खरीदार केवल एक, दो या दो से अधिक (पर बहुत से नहीं) हों, तो हम दूसरे शब्दों का प्रयोग करेंगे। जब खरीदार केवल एक ही हो तो उस स्थिति को Monopsony कहेंगे, जब खरीदार दो हों तो उसे Duopsony की स्थिति कहेंगे और जब कई एक ऐसे खरीदार हों जो मूल्य को प्रभावित कर सकने के योग्य हों तो हम उस स्थिति को Oligopsony कहेंगे।

जब एक monopolist और एक monopsonist के बीच मूल्य निर्धारण हो तो कीमत इन दोनों की सापेक्षिक सौदा करने की शक्ति पर निर्भर करेगी। जब मूल्य निर्धारण एक monopsonist और बहुत से छोटे छोटे विक्रेताओं के बीच हो तो monopsonist कीमत उस बिन्दु पर रखेगा जहाँ उसको अधिकतम उपभोक्ता की बचत का लाभ प्राप्त हो। हाँ, वह कीमत इतना कम नहीं करेगा कि जिससे बेचनेवाले वस्तु का उत्पादन करना ही बन्द कर दें। और जब मूल्य निर्धारण Duopsony और Oligopsony की स्थितियों में हो तब यह कहना कि मूल्य किस बात पर निर्भर करेगा इतना ही कठिन है जितना कि *Duopoly* और *Oligopoly* की स्थितियों में।]

QUESTIONS

1 What is meant by value under imperfect competition ? How does it differ from value under perfect competition and value under monopoly ?

2 How is value determined under imperfect competition ? (Agra 1958 57 Alld 1954, 52)

3 How would you determine the market price of a differentiated product ? What are the peculiarities of such a price ? (Agra 1956)

२६

परस्पर-निर्भर मूल्य

(Inter Related Values)

संयुक्त माँग और मूल्य

(Value in the case of Joint Demand)

जब किसी एक आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिए दो या दो से अधिक वस्तुओं की माँग एक साथ होती है तो उस माँग को संयुक्त माँग (Joint Demand) कहते हैं, जैसे सिगरेट और दियासलाई, मोटर और पेट्रोल, चाय, दूध और चीनी की माँग या मकान को बनाने के लिए ईंट, सीमेंट, लोहा, लकड़ा और बढ़ई तथा राज आदि की सेवाओं की माँग। [मकान की माँग को प्रत्यक्ष माँग (Direct Demand) कहते हैं और मकान बनाने के लिए जिन चीजों की आवश्यकता होती है उनकी माँग को परोक्ष माँग (Indirect or Derived Demand) कहते हैं क्योंकि इन वस्तुओं का माँग मकान की माँग पर निर्भर करती है।

अब प्रश्न यह है कि संयुक्त माँग की दशा में मूल्य कैसे तय किया जाता है। मान लिया मकान की माँग एकाएक बढ़ जाय तो मकान बनाने के लिए जो वस्तुएँ आवश्यक हैं उनके मूल्य पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? यह निश्चित है कि मकान की माँग की वृद्धि के साथ-साथ इन वस्तुओं की माँग भी बढ़ेगी इसलिए इनका मूल्य भी बढ़ेगा परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन सबका मूल्य एक ही अनुपात में बढ़ेगा, क्योंकि पूर्ति की परिस्थितियाँ अलग-अलग होती हैं—कुछ वस्तुओं की पूर्ति शीघ्र बढ़ाई जा सकती है और कुछ की नहीं। साथ ही इनमें से कुछ वस्तुओं का माँग का अनुभव अन्य वस्तुओं की माँग की अपेक्षा अधिक तीव्रता से किया जा सकता है। इस प्रकार इन वस्तुओं के मूल्य की विधि कई बातों पर निर्भर करती है और इस सम्बन्ध में तीन बातें विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य हैं :—

(अ) यदि ये सभी वस्तुएँ केवल मकान बनाने में ही काम में लाई जाती हैं और सभी वस्तुओं की पूर्ति समान रूप से सीमित है (या सभी वस्तुएँ समान रूप में बहुतायत से प्राप्त हैं) तो सभी के मूल्य में समान रूप से वृद्धि होगी [परन्तु ऐसा प्रायः हुआ नहीं करता है अतः सबका मूल्य असमान रूप से बढ़ता है।]

(ब) यदि ये सभी वस्तुएँ केवल मकान बनाने के काम में आती हैं परन्तु इनमें से कुछ वस्तुओं की पूर्ति अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सीमित है तो इनका मूल्य अधिक बढ़ेगा। क्योंकि माँग की वृद्धि के साथ साथ इनकी पूर्ति, इनके सीमित होने के कारण, बढ़ाई नहीं जा सकेगी, जब कि दूसरी वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाई जा सकेगी।

(स) यदि इनमें से कुछ वस्तुएँ केवल मकान बनाने के काम में लाई जाती हैं और अन्य वस्तुएँ दूसरे कामों म भी लाई जाती हैं तो जिन वस्तुओं का प्रयोग अन्य कार्यों म भी किया जाता है उनका पूर्ति माँग के बढ़ने पर आसानी से बढ़ाई जा सकेगा और उनकी कीमत माँग क बढ़ने मे अधिक नहा बढ़ेगी (यदि इनकी पूर्ति असीमित होगी तो इनकी कीमत माँग क बढ़ने पर कुछ भी नहीं बढ़ेगी) और इसका परिणाम यह होगा कि जो वस्तुएँ केवल मकान बनाने के काम म लाई जाती हैं लाभ उठा सकेंगा और उनके दाम अधिक बढ जायेगे। इसके विपरीत यदि उन वस्तुओं की पूर्ति सीमित है तो उनकी कीमत बहुत बढ़ेगी और ऐसी दशा में उन वस्तुओं के दाम नहीं (या कम) बढ़ सकेंगे जो केवल मकान बनाने क काम म लाई जा रही हैं। इत्यादि, इत्यादि।

इस सम्बन्ध में प्रो० मार्शल ने हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि सयुक्त माँग की स्थिति म कोई एक साधन अपनी उपयोगिता के लिए बहुत अधिक मूल्य किन परिस्थितियों म प्राप्त कर सकेगा। मान लिया कि किसी एक प्रकार के मजदूर, ट्रेड यूनियन द्वारा, हड़ताल कर देते हैं, वे अधिक मजदूरी माँगते हैं, तो उन्हें किन परिस्थितियों म अधिक मजदूरी मिल सकेगी? प्रो० मार्शल ने इस बात के लिए चार शर्ते (conditions under which a check to the supply of a single factor may cause a great rise in its price) का होना जरूरी बताया है —

(१) पहली शर्त यह है कि उस साधन का कार्य इतना आवश्यक हो कि उसके बिना काम न चल सके और उसके बदले म कोई दूसरा स्थानापन्न प्राप्त न हो सके। जब वस्तु इस साधन के बिना बन नहीं सकती और इसका मूल्य बढ़ने पर इसको छोड़ा नहीं जा सकता न इसके बदले कोई दूसरी वस्तु काम म लाई जा सकती है तो यह साधन जिस मूल्य पर भी मिलेगा लेना पड़ेगा।

(२) दूसरी शर्त यह है कि उस वस्तु की माँग भी लोचहीन हो जिसके लिए यह साधन काम म लाया जाता है। जैसे यदि मकानों की माँग लोचहीन है तो उनकी पूर्ति म कमी होने पर उनकी कीमत बहुत बढ़ जायगी और मकान बनवानेवाले अधिक मजदूरी दे सकेंगे। इसके विपरीत यदि माँग लोचदार है और साधन के दाम बढ़ने से मकान के दाम बढ़ने के कारण लोग मकान म रहना छोड़ देते हैं और लोग टेन्टस और छोलदारियों में रहने की सोचने लगते हैं तो ऐसी दशा में साधन का मूल्य नहीं बढ़ सकेगा।

(३) तीसरी शर्त यह है कि उस साधन की कीमत उत्पादन की कुल कीमत का बहुत छोटा भाग हो जिससे कि उसके दाम बढ़ने से उत्पादन का कुल खर्च अधिक न बढ़े। जैसे यदि तिकोना बनाया जा रहा हो तो उसम नमक इतना कम लगता है कि नमक के दाम बढ़ जाने से तिकोने के दाम नहीं बढ़ेंगे। इसी तरह यदि एक चेस्टर

बनाया जा रहा हो और बटन के दाम बहुत बढ़ जायँ तो इसका चेस्टर के बनने पर प्रभाव नहीं पड़ेगा। ऐसी दशा में नमक के या बटन के दाम आसानी से बहुत बढ़ सकेंगे। यह बात मैदा या आलू या घी या कपड़े के साथ नहीं होगी।

(४) चौथी शर्त यह है कि जो दूसरे सहयोगी साधन हैं वह ऐसे हों जो दबाये जा सकें (squeezable) यानी ऐसे जिनकी थोड़ी सी माँग घटने से उनके पारिश्रमिक प्रतिफल में काफी कमी हो जाय। ऐसी अवस्था में पहले साधन को अधिक कीमत देने के लिए काफी गुंजाइश होगी अर्थात् उसकी सम्भावना बढ़ जायगी। उदाहरण के लिए, चुनाई करनेवाले हड़ताल कर देते हैं तो मकान बनना बन्द हो जायगा, और यदि लोहार तथा बढ़ई तथा मजदूर इत्यादि और काम न मिलने के कारण कम मजदूरी स्वीकार कर लेंगे तो ऐसी दशा में उस बचत में से चुनाई करनेवालों को अधिक मजदूरी दी जा सकेगी, अन्यथा नहीं।

चुनाई करनेवालों के उदाहरण को पुनः लीजिए। यदि चुनाई करनेवालों का वेतन बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है, तो सफलता तब ही हो सकती है जब (१) मकान की माँग बेलोच हो, (२) चुनाई करनेवालों की माँग मकान बनाने के लिए आवश्यक हो तथा बेलोच हो (यानी उनके बिना काम न चल सके), (३) चुनाई करने का खर्च कुल मकान की लागत का एक छोटा सा भाग हो (जैसे ऊपर तिकोने में नमक)। और (४) ईंट, चूने के दाम तथा अन्य मजदूरों का वेतन गिराये जा सकते हों अर्थात् वे दबाये जा सकते हों (ऊपर पढ़िए), जिससे इधर जो बचत हो चुनाई वह करनेवालों को दी जा सके।

यह सब उल्लेख करने के बाद भी यह प्रश्न रह जाता है कि संयुक्त माँग में कीमत कैसे तय होती है। मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत से तय होती है। इसी प्रकार संयुक्त माँग की वस्तु का मूल्य भी सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत से निर्धारित होता है। यह बात अवश्य है कि ऐसी दशा में सीमान्त उपयोगिता का मालूम करना कुछ कठिन है। कलम और स्याही की उपयोगिता मिलकर तो आसानी से मालूम की जा सकती है पर इनमें से किसी एक की सीमान्त उपयोगिता मालूम करना कठिन है। परन्तु तो भी वस्तुओं के अनुपात में परिवर्तन करके यह मालूम की जा सकती है। रही सीमान्त लागत की बात सो यह तो आसानी से मालूम हो ही सकता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि जिस स्थान पर सीमान्त लागत सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगी वहीं साम्य कीमत होगी।

संयुक्त पूर्ति में मूल्य
(*Value in the case of Joint Supply*)

जब दो या दो से अधिक वस्तुओं का उत्पादन संयुक्त लागत से इस प्रकार होता है कि एक वस्तु के उत्पादन के साथ साथ दूसरी वस्तु या वस्तुओं का उत्पादन अपने आप होता है, तो उन वस्तुओं के उत्पादन को संयुक्त उत्पादन कहते हैं और उनकी पूर्ति को संयुक्त पूर्ति (Joint Supply) कहते हैं। संयुक्त-पूर्ति के उदाहरण हैं कपास

है कपास और बिनौला, गैस और कोयला, गेहूँ और भूसा, ऊन और गोश्त, तेल और खल आदि। इन वस्तुओं का उत्पादन एक दूसरे के ऊपर निर्भर रहता है। जैसे जब कपास का उत्पादन होता है तो बिनौले का उत्पादन अपने आप हो जाता है। इसी प्रकार गेहूँ के उत्पादन के साथ साथ भूसे का उत्पादन अपने आप हो जाता है और तेल के उत्पादन के साथ खल का उत्पादन। [संयुक्त उत्पादन में जिन वस्तुओं का महत्त्व कम होता है उन्हें उपोत्पाद (by products) कहते हैं जैसे बिनौला कपास का उपोत्पाद कहलायेगा, भूसा, गेहूँ का, और खल तेल का।]

तो हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि संयुक्त उत्पादन की वस्तुओं का मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है। यदि उन दो या अधिक वस्तुओं की, जिनका साथ ही साथ उत्पादन होता है, अलग अलग लागत मालूम हो सकती तो कोई कठिनाई न पड़ती। हर एक वस्तु की कीमत उसकी लागत के अनुसार होती परन्तु यह यहाँ सम्भव नहीं है। मान लीजिए कि हम गेहूँ और भूसे की कुल लागत मालूम है परन्तु गेहूँ की अलग और भूसे की अलग लागत तो नहीं मालूम, या कपास और बिनौले की कुल लागत मालूम है परन्तु कपास की अलग और बिनौले की अलग नहीं मालूम, तो प्रश्न यह उठता है कि ऐसी दशा में किस प्रकार मूल्य निर्धारित होगा?

ऐसी दशा में साधारण सिद्धान्त यह है कि संयुक्त उत्पादन की वस्तुओं के उत्पादन का कुल खर्चा उन सबके बिक्री के मूल्य से पूरा होना चाहिए अथवा उन सबकी बिक्री के मूल्य से प्राप्त आय कुल लागत के बराबर होनी चाहिए। और फिर इनमें से हर एक वस्तु की कीमत उसकी माँग की तीव्रता के अनुसार होनी चाहिए।

'The price of the joint products must together be enough to cover their joint or combined expenses of production, but the apportionment of the total price between the two joint products will depend upon the relative demand for them and not so much upon their cost of production which cannot be found'

इस प्रकार उपरोक्त उदाहरण में कपास की कीमत माँग के अनुसार कम या अधिक जो कुछ हो और इसी प्रकार बिनौले की कीमत अधिक या कम जो कुछ हो परन्तु दोनों के बिक्री के मूल्य से आय दोनों के कुल लागत के बराबर होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि १० मन कपास ४०) प्रति मन, यानी कुल ४००) में, खरीदी जाय और धुनाई के बाद इसमें से ८ मन रुई और २ मन बिनौला निकले तो रुई और बिनौले की कीमत बाजार में इस प्रकार होगी कि ८ मन रुई और २ मन बिनौले के दाम मिलकर ४००) के बराबर हों। अब प्रश्न यह रहा कि रुई के दाम और बिनौले के दाम अलग अलग क्या होंगे और किस अनुपात में होंगे। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि रुई का माँग की तीव्रता अधिक है या बिनौले का। जिसकी तीव्रता अधिक होगी उसके दाम अधिक होंगे। और इसी प्रकार जिसकी तीव्रता कम होगी उसके दाम कम।

कपास की कुल कीमत		रुई की कीमत		बिनौले की कीमत
४००)	=	३६०)	+	४०)
		(४५) प्रतिमन)		(२०) प्रतिमन)

इसका मतलब यह भी हुआ कि जब रुई के दाम किसी कारणवश कम हो जाएँ तो बिनौले की कीमत उसी हिसाब से बढ़ जानी चाहिए ताकि दोनों के मूल्य से कुल लागत पूरी हो जाय, और इसी तरह यदि रुई का मूल्य बढ़ जाय तो बिनौलों का मूल्य घटना चाहिए ताकि दोनों की बिक्री की आय और कुल लागत दोनों बराबर रहें। मान लीजिए कि गेहूँ की माँग बढ़ जाती है तो गेहूँ का मूल्य बढ़ जायेगा। गेहूँ के मूल्य बढ़ने से गेहूँ का उत्पादन भी बढ़ जायगा और गेहूँ के उत्पादन के साथ भूसे का उत्पादन भी अपने आप बढ़ जायगा, परन्तु भूसे की माँग के स्थिर रहने के कारण भूसे का मूल्य कम हो जायगा। हाँ इन दोनों के मूल्य की आय कुल लागत के बराबर अवश्य होगी।

कुल कीमत	गेहूँ की कीमत	भूसे की कीमत
१०)	८)	२)
१०)	७)	३)
१०)	६)	४)

[रेलवे यातायात को भी कुछ सीमा तक संयुक्त लागत का उदाहरण कह सकते हैं क्योंकि यात्रियों के ले जाने तथा माल ढोने के लिए एक ही खर्चा करना पड़ता है परन्तु यात्रियों का किराया भिन्न होता है और सामान ढोने का भिन्न। अलग अलग वस्तुओं के ढोने के दर भी अलग अलग होते हैं जैसे सोने के यातायात का खर्चा कोयले की अपेक्षा अधिक लिया जाता है, यद्यपि दोनों के भेजने में खर्चा एक सा होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये दरें लागत के आधार पर निश्चित नहीं की जाती हैं, बल्कि दूसरे सिद्धान्तों के आधार पर। किसी सेवा या वस्तु के लिए उपभोक्ता कितना सह सकता है अथवा कितना देने को तैयार हो सकता है उसी के अनुसार किराया या भाड़ा उससे लिया जाता है (principle of "charging what the traffic will bear" कुछ वस्तुएँ अधिक किराया सह सकती हैं, कुछ बहुत कम। कोयला, लकड़ी इत्यादि कम कीमत की वस्तुएँ हैं, इसलिए इनका किराया कम होता है। परन्तु कपड़े, धातु इत्यादि अधिक कीमती वस्तुएँ होती हैं, इसलिए इनका किराया भी अधिक होता है।]

संयुक्त उत्पादन की कुछ ऐसी भी वस्तुएँ होती हैं जिनके उत्पादन का पारस्परिक अनुपात बदल सकता है और पारस्परिक अनुपात को बदल कर संयुक्त उत्पादन की प्रत्येक वस्तु की सीमान्त लागत मालूम की जा सकती है। ऐसी दशा में प्रत्येक वस्तु की कीमत दीर्घकाल में उसकी सीमान्त लागत के बराबर होगी, जैसे मान लिया १२ रुपया कीमत वाली प्रत्येक भेड़ से ६ इकाई ऊन और ११ इकाई गोश्त मिल सकता है और १० रुपया कीमत वाली प्रत्येक भेड़े से ८ इकाई ऊन और ६ इकाई गोश्त मिल सकता है तो पहली तरह की ८ भेड़ों का क्रय मूल्य ९६ रुपये होगा और उनसे ७२ इकाई का ऊन

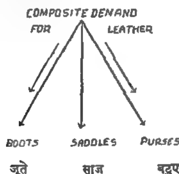
तथा ८८ इकाई गोश्त प्राप्त होगा जब कि दूसरी तरह की ६ मेड़ों का क्रय मूल्य ६० रुपये होगा और उनसे ७२ इकाई ऊन तथा ८१ इकाई गोश्त मिलेगा; और हम हिसाब लगा कर मालूम कर सकेंगे कि पहली दशा में ६ रुपये अधिक खर्च करने पर ७ इकाई अधिक गोश्त मिलता है। इसलिए साम्य की स्थिति में ७ इकाई गोश्त की कीमत ६ रुपये के बराबर होगी। इसी तरह युगपत समीकरण (*simultaneous equations*) द्वारा हम जान सकते हैं कि ७ इकाई ऊन की कीमत २ रुपये के बराबर होगी।

समथित (या सम्मिलित) माँग के अन्तर्गत मूल्य

(*Value under Composite Demand*)

बहुत सी चीजों की माँग कई प्रयोगों के लिए होती है जैसे रबर की माँग, टायर, जूते टेनिस बॉल आदि कई उपयोगों के लिए होती है। इसी प्रकार चमड़ा, रुई, कोयला आदि कई प्रयोगों में लाये जाते हैं। ऐसी वस्तु की कुल माँग को सग्रथित (या सम्मिलित) माँग (composite demand) कहते हैं।

चमड़े की सग्रथित (या सम्मिलित) माँग



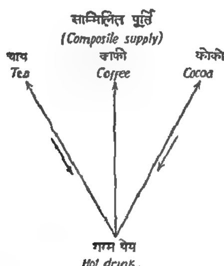
जूते साज बटुए

सग्रथित (या सम्मिलित) माँग की वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में कोई विशेष समस्या खड़ी नहीं होती, क्योंकि प्रतिस्थापना नियम के अनुसार दीर्घकाल में प्रत्येक उपयोग में सीमान्त उपयोगिता बराबर होती है और वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त उपयोगिता से निर्धारित होती है। साधारणतया सभी प्रयोगों में उनकी सीमान्त उपयोगिता एक ही होती है। यदि किसी उपयोग में उसकी सीमान्त उपयोगिता अन्य उपयोगों की सीमान्त उपयोगिता से अधिक हो तो उस उपयोग में अन्य उपयोगों से उस वस्तु की अधिक मात्रा खिच जायगी। क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार उस उपयोग में सीमान्त उपयोगिता घटेगी और अन्य उपयोगों में बढ़ेगी। अन्त में सभी उपयोगों की सीमन्त उपयोगिताएँ बराबर होंगी और दीर्घकाल में ये इस वस्तु की सीमान्त लागत के बराबर होगी। इसलिए हम कह सकते हैं कि सम्मिलित माँग की वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त लागत से निर्धारित होती है, यद्यपि ऐसी दशा में सीमान्त लागत का मालूम करना सरल नहीं है।

संग्रथित (या सम्मिलित) पूर्ति में वस्तु की कीमत

(*Value in the case of Composite Supply*)

कुछ माँग कई वस्तुओं से या कई साधनों द्वारा पूरी की जा सकती है जैसे गरम चीज पीने की इच्छा चाय, काफी या कोको से पूरी की जा सकती है (इन वस्तुओं में से प्रत्येक को एक दूसरे के लिए सभी प्रकार काम में लाया जा सकता है)। इसी तरह नमक खानों से तथा समुद्र या झीलों से निकला जा सकता है, इत्यादि, इत्यादि। ऐसी दशा



में एक माँग को पूरा करनेवाली इन सब प्रतियोगी वस्तुओं की कुल पूर्ति को संग्रथित (या सम्मिलित पूर्ति (composite supply) कहते हैं।

यहाँ भी मूल्य की समस्या सरल है क्योंकि प्रत्येक वस्तु की अलग अलग उपयोगिता मालूम की जा सकती है। और इसी प्रकार उत्पादन व्यय भी अलग अलग मालूम किया जा सकता है। मूल्य वहीं पर नियत होता है जहाँ पर वह सीमांत उत्पादन व्यय के बराबर हो। और हम कह सकते हैं कि साम्य की अवस्था में सम्मिलित पूर्ति की प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त लागत से निर्धारित होता है। परन्तु हमको यह ध्यान रखना होगा कि किसी एक वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने पर दूसरी वस्तुओं के मूल्य में भी परिवर्तन होगा। यदि चाय के दाम बढ़ जायँ तो काफी की माँग बढ़ेगी और काफी का मूल्य भी बढ़ जायेगा।

[प्रो० मार्शल ने संग्रथित (या सम्मिलित) माँग को प्रतिद्वन्द्वी पूर्ति (alternative supply) और संग्रथित (या सम्मिलित) पूर्ति को प्रतिद्वन्द्वी माँग (alternative demand) कहकर पुकारा है।]

QUESTIONS

1. How are prices determined (a) in the case of Joint Supply, (Agra 1955 54, 52, 51, Rajputana 1955, Alld 1946) and (b) in the case of Joint Demand ? (Agra 1955 54, 52, 51)

2 Under what conditions may a check to the supply of a factor of production in demand raise its price much ? (Agra 1948, Rajputana 1956)

3 Write short notes on–

Direct Demand and Derived Demand (Agra 1957, Saugar 1955)

Composite Demand and Composite Supply (Agra 1956 Rajputana 1955)

Alternative Supply and Alternative Demand

३०

सट्टा

(Speculation)

सट्टा उस व्यापारिक साहस को कहते हैं जो भविष्य म होनेवाले मूल्य परिवर्तन से लाभ उठाने की आशा में किया जाता है। सट्टे म वस्तुओं का क्रय विक्रय इसलिए किया जाता है कि भविष्य में जब मूल्य म परिवर्तन होगा तो उससे लाभ उठाया जायगा। जो सट्टे वाला भविष्य में कीमत बढ़ने की आशा से वस्तु को खरीदता है उसे "तेजीवाला" कहते हैं, और अगरेजी भाषा म उसे "Bull" कहते हैं, जैसे इस समय सोने का भाव ८५ रु० प्रति तोला हो और आशा की जाय कि दो महीने के बाद जब ब्याह शादियों का समय आयेगा सोने का भाव ८५ रु० से अधिक हो जावेगा और इस आशा से सटोरिया सोना खरीदकर अपने पास रख ले ताकि दाम बढ़ने पर उससे लाभ उठाए। इसके विपरीत जो सट्टे वाला भविष्य म कीमत गिरने की आशा से वस्तुओं को बेच देता है उसे "मन्दीवाला" कहते हैं, और अँगरेजी भाषा में उसे "Bear" कहते हैं, जैसे कोई इस समय गेहूँ इसलिए बेच दे कि दो महीने पीछे नई फसल आने पर दाम गिरेंगे और तब वह उसे फिर खरीद लेगा।

वास्तव में अधिकतर सट्टा एक और तरह से होता है। सौदा वर्तमान समय में तय कर दिया जाता है परन्तु कीमत का भुगतान (payment) तथा वस्तु का प्रदान (delivery) भविष्य म किसी दिन होता है। जैसे यदि इस समय सोने का भाव ८५) प्रति तोला हो और तेजीवाला सटोरिया यह सोचे कि दो महीने बाद सोने का भाव ९०) प्रति तोला होनेवाला है और वह किसी विक्रेता से तय कर ले कि वह सोना उससे दो महीने बाद लेगा और उसी समय ८५) प्रति तोला के हिसाब से दाम देगा। यदि उसका अनुमान ठीक निकलता है, तो वेचनेवाले को उस वस्तु को बाजार भाव (जो ऊँचा होगा) पर खरीद कर नीचे भाव पर उसके हाथ बेच देना पड़ेगा, फलत उसे लाभ होगा। इसी प्रकार मन्दीवाला सटोरिया भी सौदा अब कर लेता है परन्तु भुगतान भविष्य में किसी निश्चित दिन होता है। उदाहरण के लिए वह यह सोचे कि यद्यपि आज भाव ८५) प्रति तोला है परन्तु दो महीने बाद भाव ८०) प्रति तोला हो जाएगा और वह इसलिए किसी से आज [illegible] कर ले कि वह दो महीने के पश्चात् ८५) प्रति तोला दाम लेकर उसको सोना [illegible]। यदि उसका अनुमान ठीक निकलता है तो वह बाजार (जो नीचा होगा) पर उस [illegible] को मोल लेकर ऊँचे मूल्य पर उसको दे सकेगा, और इस प्रकार लाभ कमा सकेगा। [illegible] यह कि इन दोनों प्रकार के सटोरियों का उद्देश्य वर्तमान तथा भविष्य के मूल्यों के [illegible] से लाभ उठाना ही होता है।

प्राय ऐसा होता है कि वस्तु की delivery होती ही नहीं। तेजी वाले और मन्दी वाले दोनों तरह के सटोरिये सौदा करते हैं और फिर थोड़े नफे नुकसान से उसे काट देते हैं

क्योंकि बाजार में हर समय दोनों प्रकार के लोग होते हैं—तेजीवाले जिनके विचार में बाजार तेजी की ओर जायगा और मन्दीवाले जिनके विचार में बाजार मन्दी की ओर जायगा। इसी तरह दूसरे खरीदार व बेचनेवाले भी अपने सौदे को थोड़े नफे-नुक्सान से काट देते हैं। यह सिलसिला बराबर चलता रहता है, और "परचे" (contracts) इधर से उधर घूमते रहते हैं। दूसरे शब्दों में कोई वस्तु वास्तविक रूप में बेची-खरीदी नहीं जाती वरन् उस वस्तु के वर्त्तमान और भविष्य के भावों के अंतर में व्यापार किया जाता है, अर्थात् *बेची या खरीदी जानेवाली वस्तु को कोई एक दूसरे से लेता-देता नहीं है वरन् जिस पक्ष को* उस सौदे में घाटा होता है वह दूसरे पक्ष को उतना धन दे देता है। इन सौदों को Dealings in Futures कहते हैं।

सटोरिये हमेशा माँग के झुकाव, भविष्य की फसल के अनुमान व आँकड़े, दूसरे देशों की स्थितियों, फैशन परिवर्तन, शान्ति और लड़ाई के आसार, लागत के खर्चों के परिवर्तन, इत्यादि, इत्यादि, बहुत सी ऐसी बातों का विशेष ध्यान रखते हैं जिनका माँग या पूर्ति या मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। वे बाजार की स्थितियों की भली प्रकार जानकारी रखते हैं और बराबर उनका अध्ययन करते रहते हैं।

सट्टे से लाभ

(Advantages of Speculation)

(अ) सट्टे के प्रभाव से माँग और पूर्ति में साम्य स्थापित होने का झुकाव रहता है। जब सटोरिये सोचते हैं कि भविष्य में किसी वस्तु की कमी होनेवाली है और इससे कीमत बढ़ेगी, तो वे उसे खरीदना शुरू कर देते हैं। उनकी खरीद से भाव बढ़ता है, भाव बढ़ने से बिक्री कम होती है और उपभोग घटता है, *फलतः वर्तमान उपभोग कम हो जाता है और कुछ माल बाजार* में आने से रुक जाता है—भविष्य में ऊँचे मूल्य की आशा में व्यापारी अपना कुछ स्टाक रोक लेते हैं। यह रुका हुआ माल भविष्य में पूर्ति की मात्रा को बढ़ाता है इसलिए भविष्य में पूर्ति बहुत कम नहीं होने पाती और कीमत इतनी अधिक नहीं बढ़ती जितनी अन्यथा बढ़ती। इसी प्रकार जब सटोरिये भविष्य में भाव गिरने की सम्भावना देखते हैं तो वे बेचना शुरू कर देते हैं। वर्तमान भाव गिरता है और उपभोग कुछ बढ़ जाता है। इसका फल यह होता है कि भविष्य में पूर्ति की मात्रा घट जाती है, और कीमत इतनी अधिक नहीं गिरती जितनी अन्यथा गिरती। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सट्टा माँग तथा पूर्ति में संतुलन स्थापित कर देता है।

"The *fundamental effect of speculation is to promote the* establishment of the equilibrium of supply and demand. It tends to make daily market price conform to the seasonal market price and to make the seasonal market price such that the whole seasonal supply is disposed of."—Taussig.

सटोरिये उस समय खरीदते हैं जब कि और लोग बेचते हैं और वह उस समय बेचते हैं जब कि और लोग खरीदते हैं। पहली स्थिति में वे दाम को बढ़ा देते हैं और दूसरी स्थिति में वे दाम को गिरा देते हैं, और इस तरह से वे दो समय की क़ीमतों में समानता ला देते हैं। इसी प्रकार वे दो अलग अलग जगहों की कीमतों में भी समानता ला देते हैं। वे जानते हैं कि मूल्य कहाँ पर कम है और कहाँ पर अधिक। जहाँ मूल्य कम होता है वहाँ खरीदते हैं और जहाँ मूल्य अधिक होता है वहाँ बेचते हैं। मान लीजिए कि रुई का भाव अमेरिका में किसी कारण ऊंचा हो जाता है जब कि भारत में भाव नीचा है तो सटोरिया भारत में रुई खरीदेगा और उसके पटे अमेरिका में रुई बेचेगा, और फिर आगे चलकर दोनों जगह सौदों को अलग अलग काट कर लाभ उठाने का प्रयत्न करेगा। ऐसे सौदों का यह परिणाम होना स्वाभाविक है कि दोनों जगह के भावों का अंतर कम हो जाए और वस्तुओं का वितरण भिन्न भिन्न देशों के बीच उचित ढंग से हो जाये।

इसके अतिरिक्त सट्टे के प्रभाव से मूल्य के उतार चढ़ाव बहुत कम हो जाते हैं और मूल्यों में एकाएक परिवर्तन होने की सम्भावना कम हो जाती है। जब यह आशा की जाती है कि भविष्य में किसी वस्तु की पूर्ति माँग की अपेक्षा बहुत कम होनेवाली है और दाम बहुत अधिक बढ़ेंगे तो सटोरिए उस वस्तु को खरीदना प्रारम्भ कर देंगे। उनके खरीदने से मूल्य अभी से धीरे धीरे बढ़ने लगेगा। मूल्य में वृद्धि एकाएक नहीं होगी बल्कि धीरे धीरे होगी। मान लिया अक्टूबर में रुई का मूल्य ७०) प्रति मन है। यदि सटोरिये यह आशा करते हैं कि मार्च में रुई का मूल्य बढ़कर १००) प्रति मन होनेवाला है तो वे इस समय जितना अधिक से अधिक सम्भव है रुई खरीदेंगे (Forward Purchases)। जब वे रुई खरीदना प्रारम्भ करेंगे तो दाम धीरे धीरे इस तरह से बढ़ेंगे कि ७० रु० से ७२ रु०, ७२ रु० से ७५ रु०, ७५ रु० से ७८ रु० और ७८ रु० से ८० रु०, ८० रु० से ८५ रु०, ९० रु० इत्यादि। परिणाम यह होगा कि दाम एकाएक न बढ़कर धीरे धीरे बढ़ेंगे। यदि सट्टा न होता तो फसल के आने से पहले भाव ७० रुपया रहता और फसल के आने के बाद भाव एकदम १०० रुपया हो जाता। परन्तु सट्टा होने के कारण फसल के आने के पहिले ही भाव बढ़ चुका होगा। मान लिया कि ७० रुपये से बढ़ते बढ़ते भाव ९० रुपये तक पहुँच गया है तो इस स्थिति में भाव केवल ९० रु० से बढ़कर १०० रु० होगा। इसी प्रकार यदि भविष्य में फसल अच्छी होने के कारण या किसी और कारण किसी वस्तु की माँग व दाम के बहुत अधिक गिरने की सम्भावना पाई जाती है तो सटोरिये इस समय बेचना शुरू कर देंगे (Forward Sales) जिससे दाम इसी समय से गिरना प्रारम्भ हो जायेंगे, और उनमें एकाएक परिवर्तन होने की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। और हम कह सकते हैं कि सट्टा भाव के एकाएक परिवर्तन को रोक कर उनके उतार चढ़ाव को काफी समतल बना देता है।

(ख) साथ ही साथ सट्टे के द्वारा मूल्य परिवर्तन की जोखिम को बहुत से लोगों पर फैलाया जा सकता है। यदि कोई सटोरिया किसी उत्पादक को कोई सामान बेचता है तो वह अवसर मिलने पर किसी दूसरे सटोरिये

से उतना ही सामान कुछ कम या अधिक मूल्य पर खरीद सकता है और आनेवाले जोखिम से बच सकता है। मान लीजिए कि वह १०० रु० के भाव पर सामान बेचता है और फिर बाजार में भाव ६० रु० हो जाता है तो वह भविष्य म मूल्य परिवर्त्तन से बचने के लिए ऐसा कर सकता है कि दूसरे सटोरिये से ६० रु० पर सामान लेकर अपने सौदे को काट दे और जोखिम को समाप्त कर दे। दूसरी ओर यदि वह देखता है कि भाव उसके विपक्ष म जा रहा है और अभी और भी विपक्ष में जाने की सभावना है तो भी यह अपना सौदा थोड़े से नुकसान से काट सकता है और अपने जोखिम को समाप्त कर सकता है। मान लीजिए कि वह १०० रु० पर सामान बेचता है और फिर बाजार म दाम ११० रु० हो आता है तो वह ११० रु० के भाव पर सामान खरीद कर १० रु० के नुकसान से अपना सौदा काट सकता है। सट्टे के बाजार म ऐसे सौदे सटोरिये आपस में करते ही रहते हैं, और अपनी जोखिम को एक दूसरे पर डालते रहते हैं। इस प्रकार जो नफा नुकसान किसी एक को होता वह बहुत से लोगों में बँट जाता है और फैल जाता है।

(६) सट्टा उत्पादकों के मूल्य परिवर्तन सम्बन्धी भय को दूर कर देता है और इस प्रकार पूँजी क उचित विनियोग को प्रोत्साहन देता है। मान लिया एक आटे की मिल का मालिक भविष्य म आटे को एक निश्चित दाम पर बेचने का सौदा कर लेता है तो वह उसी समय किसी दूसरे आदमी से गेहूँ भी एक निश्चित भाव पर खरीदने का सौदा कर मूल्य के उतार चढ़ाव के भय से पूरे तौर पर मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार एक कपड़े की मिल वाला जिस समय कपड़ा बेचने का सौदा करता है, उसी समय और रुई या कपास खरीदने का सौदा करता है जिससे कि उसकी यह चिन्ता दूर हो जाय कि कहीं कपड़ा बनते बनते रुई या कपास महँगी न हो जाय और कहीं उसको लाभ के स्थान पर हानि न उठानी पड़े। यदि सट्टा या Forward Sales and Purchases न होते तो वह ऐसा न कर सकता। और कच्चे माल के भाव के उतार-चढ़ाव से मुक्त न हो सकता।

इसका मतलब यह हुआ कि भविष्य म मूल्य के उतार-चढ़ाव का जोखिम उत्पादक से हटकर सट्टा करनेवालों पर चला जाता है। और उत्पादक को केवल उत्पादन कार्य पर ही अपनी सारी शक्ति लगाने का अवसर मिल जाता है। परिणाम यह होता है कि उत्पादन को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता है। यह एक स्वाभाविक सी बात है कि व्यापार में मूल्य परिवर्त्तन के कारण किसी न किसी को हानि उठाना ही पड़ता है। इस हानि को सटोरिए स्वयं उठाकर व्यापारी या उत्पादक को हानि मुक्त कर देते हैं और इस प्रकार उत्पादन बढ़ता है।

[कभी-कभी कच्चे माल के दामों का घट-बढ से बचने के लिए उत्पादक एक और तरीका अपनाते हैं जिसको "Hedging" कहते हैं। "Hedge" का मतलब है एक चीज को वर्तमान समय में खरीद कर उसका उसी समय Forward Sale कर देने से। मान लिया कि एक कपड़े के उत्पादक का ध्यान है कि यदि वह रुई आज के भाव पर यानी ६०) रु० मन खरीद सके तो उसे कपड़े के बनाने में सामान्य लाभ मिलता रहेगा। तो वह इस समय रुई ६० रु० मन खरीद लेगा और इसके पेटे "future of cotton" लगभग ६० रु० मन के हिसाब बेच देगा। अब मान लो कि उसे रुई कई दिनों तक रखनी पड़ती है और इस अवधि में रुई की कीमत ६५) रु० मन हो जाती है तो उसको खरीदी हुई रुई पर ४) रु० मन का फायदा हो जायगा और future के व्यापार में ४) रु० मन का नुकसान रहेगा। इसी तरह यदि भाव ५६) रु० हो जाता है तो उसे तैयार रुई पर ४) रु० मन का नुकसान होगा और बेचे हुए future पर लगभग ४) रु० मन का फायदा रहेगा। इस तरह वह रुई के दाम की घट-बढ से बच जायगा और अपना समस्त ध्यान कपड़े की उत्पादन की ओर लगा सकेगा।]

(ई) सट्टे की सहायता से उपभोक्ता भी अपने अलग अलग समयों के खर्चों का अच्छी प्रकार अनुमान लगा सकते हैं क्योंकि वस्तुओं के भावों में एकाएक परिवर्तन नहीं होने पाता। उपभोक्ताओं को वस्तुएँ स्थिर मूल्य पर मिल जाती हैं। माँग और पूर्ति के समतुलन के कारण उपभोग भी अधिकतर स्थिर रहता है। उसमें विशेष परिवर्तन नहीं होता।

(फ) सट्टे के द्वारा उन लोगों को जिनके पास पूँजी होती है पूँजी को व्यापार में लगाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। बड़ी बड़ी कम्पनियों के हिस्सों को साधारण साधनों के व्यक्ति भी इसलिए खरीद लेते हैं कि उनको यह विश्वास रहता है कि आवश्यकता पड़ने पर वह अपने हिस्सों को स्टाक एक्सचेंज (Stock Exchange) में बेच सकेंगे। यदि स्टाक एक्सचेंज में कम्पनियों के हिस्सों में सट्टा न होता होता तो शायद उनमें से बहुत से लोग कम्पनियों के हिस्से खरीदने को तैयार न होते। स्टाक एक्सचेंज की भाँति बुलयन एक्सचेंज (Bullion Exchange) भी होते हैं जहाँ सोना चाँदी का सट्टा होता है। अन्य वस्तुओं जैसे कपास, गेहूँ आदि के सट्टे बाजार को प्रोड्यूस एक्सचेंज (Produce Exchange) अथवा ग्रेन एक्सचेंज (Grain Exchange) इत्यादि कहते हैं।

इसके अतिरिक्त सटोरिये विभिन्न उद्योगों और कम्पनियों की सफलता के सम्बन्ध में प्रचार जानकारी रखते हैं। वे उस उद्योग के शेअर्स खरीदते हैं जिसके अच्छे दिन [illegible] हैं और ऐसी कम्पनियों के शेयरों के अच्छे दाम भी देते हैं। उद्योग धन्धों के [illegible]म रुपया लगानेवाले लोग भी सटोरियों के शेअरों के क्रय विक्रय के कार्यों को देखकर [illegible] उठा सकते हैं। इत्यादि, इत्यादि।

सट्टे से हानि
(*Evils of Speculation*)

सट्टे के उपरोक्त लाभों से यह नहीं समझना चाहिए कि सट्टा बुराइयों से मुक्त है।

(अ) अधिकतर अनुभवशून्य या अकुशल लोग सट्टे के लाभ से आकर्षित होकर सट्टे का काम करने लगते हैं परन्तु उन्हें बाजार की स्थितियों का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। वे भविष्य के मूल्य के सम्बन्ध में भी अनभिज्ञ होते हैं। इसलिए उनके क्रय विक्रय के कार्य वस्तुओं के मूल्य को घटा-बढ़ाकर गलत रास्ते पर पहुँचा देते हैं। वे स्वयं हानि उठाते हैं और समाज को भी हानि होती है, क्योंकि उनकी गलत गणना से माँग और पूर्ति की साम्यता जाती रहती है। साथ ही ऐसे लोग अपने गलत कार्यों से उत्पादन तथा उपभोग को गलत रास्ता दिखा देते हैं।

(ब) जब बाजार में सट्टा बढ़ जाता है तो बहुत से लोग अपने उद्योग धंधों को छोड़ देते हैं और रुपया जल्दी कमाने के लालच से सट्टा करने में लग जाते हैं। यह सट्टा नहीं बल्कि एक प्रकार का जुआ हो जाता है। इससे देश के उत्पादन में कमी होती है जो देश की बहुत बड़ी आर्थिक हानि है।

(स) बहुधा सटोरिये कम पूँजी से काम करते हैं और जब वे अपने काम को सँभाल नहीं सकते या अपने वादे को पूरा नहीं कर सकते तो वे और भी अधिक बुरी स्थिति पैदा कर देते हैं। उनके कार्य बाजार के भाव के चढ़ाव-उतार को और भी अधिक बढ़ा देते हैं। उदाहरणार्थ यदि वे तेजी की आशा में बहुत सी रुई की गाँठें खरीद लें और तेजी के बदले बाजार में मन्दी आ जाय तो कम रुपया पास होने के कारण उनको सौदा काटना पड़ेगा, उनकी रुई बिकेगी, और बाजार-भाव बिना कारण और मन्दा होगा।

(द) बहुधा बड़े बड़े सटोरिये बेइमानी से रुपया कमाना चाहते हैं। वे भाव के सम्बन्ध में झूठी-मूठी खबरें फैलाने का प्रयत्न करते हैं। बड़े-बड़े करोड़पति सटोरिये आपस में मिल जाते हैं और आपस में समझौता कर लेते हैं फिर बाजार बनावटी रूप से बढ़ा घटा देते हैं। दुनिया को दिखाने के लिए कि भविष्य में माँग की कमी होने वाली है वे अपने पास का सामान बेचना शुरू कर देते हैं परन्तु चुपचाप अपने दूसरे कार्यकर्त्ताओं से सामान खरीदवाते रहते हैं। इस प्रकार छिपकर सामान की बहुत अधिक मात्रा अपने हाथ में लेकर एकाधिकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते हैं और बाजार को काबू में कर लेते हैं। (इसे Rigging and Cornering कहते हैं।) इससे उपभोक्ताओं को बहुत हानि होती है क्योंकि जब तेजीवाले खरीदने को अधाधुंध निकल पड़ते हैं (ऐसी स्थिति को Bull Campaign कहते हैं) तो दाम अनुचित रूप से बढ़ जाते हैं। इससे छोटे-छोटे सट्टेबाजों को भी जो धोखे में आ जाते हैं हानि होती है। इसी प्रकार वे कभी कभी यह दिखाते हैं

कि वे खरीद कर रहे हैं परन्तु वास्तव में वे चुपके चुपके खरीद की मात्रा से अधिक बेचते रहते हैं और बाजार भाव को अनुचित रूप से गिरा देते हैं (ऐसी स्थिति को Bear Raid कहते हैं) और जब बाजार का भाव गिर जाता है तो वे स्वयं अपना सौदा लाभ से काट देते हैं। परन्तु छोटे-छोटे सट्टेबाजों को जिन्होंने धोखे में आकर खरीद कर ली थी अब नीचे भाव में बेचना पड़ता है और इस प्रकार उन्हें बड़ी हानि उठानी पड़ती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि संयुक्त पूँजी कम्पनियों के बेईमान डाइरेक्टर इत्यादि झूठी खबरें फैलाकर शेयरों के दाम बनावटी तौर पर गिरा कर खुद शेयरों को कम दामों पर खरीद लेते हैं और बाद में उन्हें ऊँचे दाम पर बेचकर (unloading करके) अनुचित फायदा उठाते हैं। और सबसे बुरी बात यह है कि सट्टेबाजों की ऐसी कार्य-वाहियों से बाजार में कीमतों की घटबढ़ कम होने के बदले अधिक होने लगती है (wild fluctuations)। सट्टे का ध्येय जोखिम को कम कर देने का अथवा उनको अधिक आदमियों में बाँट देने का होना चाहिए। परन्तु जब सट्टा इस प्रकार का हो जाता है और एक सीमा से बढ़ जाता है तो उससे जोखिम बढ़ जाती है, घट बढ़ अधिक हो जाती है, और बहुत से लोग बरबाद हो जाते हैं। बीमारी का इलाज होने के बदले बीमारी और बढ़ जाती है; और सब तरफ हाहाकार मच जाता है, और चूँकि तेजी-मन्दी बिना कारण होने लगती है इसलिए पूर्ति और माँग में सतुलन स्थापित नहीं हो पाता।

साराश यह है कि जुआ खेलनेवाले जहाँ जोखिम नहीं थी वहाँ भी जोखिम पैदा कर लेते हैं, जिससे व्यापार को कोई लाभ नहीं होता बल्कि हानि होती है।

सट्टे की इन बुराइयों को देखकर कुछ प्रगतिशील सरकारों ने इस प्रकार के व्यापार को बन्द करने का प्रयत्न किया है। भारत सरकार ने भी सट्टे के नियंत्रण के लिए Forward Trading Bill पास कर दिया है और दूसरे तरीकों से भी सट्टे को रोकने की बहुत कोशिश कर रही है। परन्तु अर्थशास्त्र के कुछ विद्वानों का मत है कि सट्टे के नियंत्रण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की आवश्यकता है और टौसिग का तो यह कहना है कि "the most effective remedy would be a better moral standard for all industry and an aroused public opinion against all kinds of gambling." सट्टे को रोकने के कानून तो जितने बनेंगे उतने ही जुआरी लोग उनसे बचने के दूसरे उपाय निकाल लेंगे।

QUESTIONS

1. Discuss fully the advantages and disadvantages of speculation in modern markets. (Agra 1957, 56, 55, 54, 51)

2 Explain the effect of speculation on price fluctuations. (Agra 1956)

3 "The fundamental effect of mercantile speculation is to promote the establishment of the equilibrium of supply and demand" (Taussig)

Explain the above statement with special reference to the *function of speculation in modern markets* (Agra 1952)

4 Write short notes on —

Bulls and Bears (Agra 1946, Raj putana 1954)
Speculation (Agra 1957, 53)

वितरण

(DISTRIBUTION)

३१

वितरण का सिद्धान्त

(The Theory of Distribution)

धन की उत्पत्ति प्राय पाँच साधनों—भूमि, श्रम पूँजी व्यवस्था तथा साहस—की सहायता से होती है। जो सम्पत्ति इन पाँच साधनों के सहयोग से उत्पन्न की जाती है वह इन्हीं पाँच साधनों में बँट जाती है और उत्पत्ति के साधनों से उत्पन्न सम्पत्ति को इन साधनों में बँटने की क्रिया को ही वितरण कहते हैं। अर्थशास्त्र के विद्वान् चैपमैन के शब्दों में The economics of distribution accounts for the sharing of the wealth produced by a community among the agents (or factors) or the owners of the agents which have been active in its production "

प्राचीन काल में मनुष्य अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ पैदा कर लेता था अत उस स्वावलम्बन की अवस्था में वितरण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। परन्तु धीरे धीरे उत्पादन के तरीके जटिल होते गये जिससे स्वावलम्बन की अवस्था का अन्त हो गया। अब प्रत्येक परिवार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे लोगों पर निर्भर रहता है। और इस पारिवारिक आर्थिक निर्भरता के युग में वस्तुओं का उत्पादन श्रम विभाजन तथा विभिन्न प्रयत्नों के आधार पर बहुत बड़े पैमाने पर किया जाता है, अत उत्पादक अपनी ही भूमि, श्रम, पूँजी तथा व्यवस्था से उत्पादन नहीं करता वरन् वह इन साधनों को दूसरे लोगों से लेकर और उनको जुटा कर तथा उनके सहयोग से ही किसी वस्तु का उत्पादन करता है (Group Production)। उदाहरणार्थ कपड़े के कारखानों के लिए कई एकड़ जमीन जमींदारों से लगान पर ली जाती है, सैकड़ों दूर-दूर के मजदूर मिलकर काम करते हैं, पूँजीपति हजारों रुपया शेयर के रूप में लगाते हैं, कई व्यवस्थापक निरीक्षण कार्य के रूप में रक्खे जाते हैं तथा साहसी उत्पादन की जोखिम को उठाते हैं। इसलिए इन सभी साधनों को कपड़े के उत्पादन से प्राप्त आय का हिस्सा दिया जाता है। भूमि के हिस्से को लगान (Rent), मजदूर के हिस्से को मजदूरी (Wages), पूँजी के हिस्से को ब्याज (Interest), व्यवस्थापक के हिस्से को वेतन (Salary), और साहसी के हिस्से को लाभ (Profit) कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य को आय किसी साधन के स्वामित्व द्वारा ही प्राप्त होती है। कोई भूमि का स्वामी है उसे भूमि का लगान मिलता है। इसी तरह श्रमी को श्रम की मजदूरी मिलती है, पूँजीपति को ब्याज मिलता है, व्यवस्थापक को वेतन, और साहसी को लाभ। कुछ व्यक्ति कई साधनों के स्वामी होते हैं, उन्हें कई ओर से आय प्राप्त

होती है। अत. व्यक्ति की आय इस बात पर निर्भर रहती है कि वह कितने साधन का स्वामी है और उन साधनों को कितना भाग प्राप्त होता है। प्रत्येक साधन के भाग के अनुसार ही साधन के स्वामित्व के अनुपात में व्यक्ति को आय प्राप्त होती है। इस प्रकार इस विषय का अध्ययन कि कुल उत्पत्ति में से उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का भाग किस तरह निश्चित होता है बहुत महत्वपूर्ण है, और यही अर्थशास्त्र के वितरण विभाग का विषय है। (यहाँ हम को यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि जब हम इस बात की जानकारी करते हैं कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की आय कैसे निश्चित होती है तब इसे व्यक्तिगत वितरण कहते हैं, परन्तु जब हम उन शक्तियों या सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं जिनके द्वारा उत्पत्ति के साधनों का पुरस्कार निश्चित होता है तब इसे कार्यात्मक वितरण (Functional Distribution) कहते हैं; और अर्थशास्त्र के वितरण विभाग का सम्बन्ध दूसरे प्रकार के वितरण से ही है, पहिले प्रकार के वितरण से नहीं। इसमें हम यह नहीं अध्ययन करते कि किसी व्यक्ति की आय क्या है और कैसे है, बल्कि यह कि उत्पत्ति के अलग-अलग साधनों का पुरस्कार कैसे निश्चित होता है। व्यक्ति की आय के स्थान पर हम वर्ग की आय का अध्ययन करते हैं।(दूसरी बात याद रखने की यह है कि वितरण का सम्बन्ध उस आय से होता है जो प्रतिवर्ष उत्पन्न की जाती है, और इसमें हम धन के भण्डार (Stock of Wealth) का अध्ययन नहीं करते बल्कि धन के प्रवाह (Flow of Wealth) का, क्योंकि उत्पादन और वितरण दोनों एक साथ ही होते रहते हैं। उत्पत्ति के विभिन्न साधन मिलकर उत्पत्ति करते रहते हैं और साथ ही अपना हिस्सा भी बराबर पाते रहते हैं। राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) एक ऐसा जलाशय है जिसमें निरन्तर पानी आता रहता है और जिसमें से निरन्तर पानी निकलता भी रहता है।

एक बात और है, वह यह कि कुल उत्पत्ति में प्रत्येक साधन का कितना भाग हो, इसका निर्णय कठिन है और यह एक बड़ी समस्या है। हर एक साधन अपने कार्य को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझता है और उत्पत्ति का अधिक से अधिक भाग लेना चाहता है और इसके परिणामस्वरूप वितरण में संघर्ष (Conflict in Distribution) उत्पन्न हो जाता है; और इस कारण भी वितरण के सिद्धान्तों व नियमों की ठीक-ठीक जानकारी आवश्यक है।

'वितरण' आजकल अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विभाग इसलिए भी माना जाता है कि देश के उत्पादन (Production) तथा उपभोग (Consumption) का वितरण से बड़ा सम्बन्ध है। जो वस्तु उत्पन्न की जावेगी उसी का वितरण हो सकेगा और उसी के हिसाब से लोग उपभोग कर सकेंगे। इस तरह यदि देश का उत्पादन अधिक होगा तो वितरण भी अधिक होगा अर्थात् लोगों की आय बढ़ेगी। दूसरी ओर आय के बढ़ने पर उपभोग अधिक हो सकेगा जिसके कारण लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा और लोग अधिक कार्य-कुशल होंगे तथा देश के उत्पादन की मात्रा बढ़ेगी। उत्पादन बढ़ने से वितरण बढ़ेगा, फिर उपभोग बढ़ेगा, और फिर उत्पादन बढ़ेगा, फिर वितरण बढ़ेगा, और इसी प्रकार क्रम चलता रहेगा।

वितरण की समस्याओं में से तीन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं (१) कितनी सम्पत्ति का वितरण होता है (२) इस सम्पत्ति को किन-किन में वितरण किया जाता है (३) यह वितरण किस सिद्धान्त के अनुसार होता है। इन तीनों समस्याओं का नीचे हम एक एक करके अध्ययन करेंगे :—

राष्ट्रीय आय

(*National Dividend*)

उत्पत्ति के साधनों द्वारा जो वस्तुएँ तथा सेवाएँ उत्पन्न होती हैं उन्हीं से समाज की कुल आवश्यकतायें पूरी होती हैं और उन्हीं का वितरण साधनों के स्वामियों में होता है। परन्तु उत्पादन के साधनों के सहयोग से प्राप्त सम्पूर्ण सम्पत्ति का वितरण नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए यदि खेती की सम्पूर्ण उत्पत्ति १० मन गेहूँ है और इस गेहूँ के उत्पन्न करने में १ मन बीज खर्च हुआ है तो १० मन में से १ मन घटा दिया जावेगा। इसी तरह खाद की कीमत और मशीन का घिसाई और यदि कुछ कर देना पड़ता है तो वह भी घटा देना पड़ेगा। शेष जो बचेगा उसी का वितरण होगा।

देश की एक साल की सम्पूर्ण सम्पत्ति को जिसमें वस्तुएँ तथा सेवाएँ दोनों सम्मिलित हैं कुल सम्पत्ति (Gross Product) कहते हैं। उस कुल सम्पत्ति में से (अ) कच्चे माल का मूल्य (ब) मशीन की घिसाई (स) सरकारी कर आदि आवश्यक खर्चे (Replacement Charges) कम कर दिये जाते हैं। जो सम्पत्ति शेष बच जाती है (Net Product) उसे राष्ट्रीय आय (National Income) या राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) कहते हैं और इसी को ही उत्पत्ति के पाँच साधनों में बाँटा जाता है। राष्ट्रीय आय में दूसरे देशों में लगी हुई पूँजी से प्राप्त आय को भी जोड़ लेते हैं तथा दूसरे देशों को जो ऋण पर ब्याज देना है उसे घटा देते हैं।

परन्तु अर्थशास्त्र के अलग अलग विद्वानों ने राष्ट्रीय आय की अलग-अलग परिभाषाएँ की हैं :—

(अ) प्रो० पीगू के मतानुसार "National dividend is that part of the objective income of the community, including of course income derived from abroad, which can be measured in money."

इस प्रकार प्रो० पीगू के मतानुसार राष्ट्रीय आय में केवल उन वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित किया जाता है जो द्रव्य में बदली जाती हैं, और जिन वस्तुओं और सेवाओं का द्रव्य से विनिमय नहीं होता वे राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत नहीं आती हैं। उदाहरण के लिए वे काम जो मनुष्य अपने लिए या अपने कुटुम्ब के लिए बिना पैसे के करता है, या वे लाभ जो वह सार्वजनिक वस्तुओं से उठाता है राष्ट्रीय आय से बाहर हैं। प्रो० पीगू ने अपनी पुस्तक में राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में एक उदाहरण दिया है। एक व्यक्ति घर का काम करने के लिए एक नौकरानी को वेतन पर नौकर रख लेता है। नौकरानी का यह वेतन राष्ट्रीय आय का भाग होना चाहिए। परन्तु यदि यह व्यक्ति कुछ समय बाद इस नौकरानी से

शादी कर लेता है और उसे वेतन देना बन्द कर देता है तो जो वेतन पहले राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाता वह अब जोड़ा नहीं जा सकेगा। इस प्रकार राष्ट्रीय आय कम हो जावेगी। इसी तरह यदि एक मनुष्य फर्नीचर खरीदता है तो उससे प्राप्त सेवाएँ राष्ट्रीय आय में सम्मिलित की जाएँगी परन्तु यदि यही फर्नीचर उसे उपहार-स्वरूप मिलता है तो इससे प्राप्त होने वाली सेवाएँ सम्मिलित नहीं की जायेंगी; और यदि एक किसान अपनी कुल उपज को बेच देता है (और अपने खाने को बाजार से खरीदता है) तो सारी उपज का मूल्य राष्ट्रीय आय में जुड़ जायेगा परन्तु यदि वह इस उपज का कुछ भाग अपने खाने के लिए रख लेता है तो यह भाग राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जायेगा। इस परिभाषा की सबसे बड़ी कमी यह है कि इससे राष्ट्रीय आय का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है।

(ब) प्रो० मार्शल ने राष्ट्रीय आय की इस प्रकार परिभाषा की है :—"The labour and capital of the country acting on the natural resources produce annually a certain net aggregate of commodities material and immaterial including services of all kinds This is the true annual income or revenue of the country or the National Dividend."

[*Aggregate* शब्द का अर्थ है "कुल का जोड़", इसलिए Aggregate Product का अर्थ हुआ देश में किसी समय पैदा की गई सभी वस्तुओं और सेवाओं के जोड़ से। इसी को हम ऊपर Gross Product (कुल उत्पत्ति) कहकर आये हैं। इस Gross Product *या Aggregate Product में से यदि कच्चे माल की कीमत,* मशीनों की घिसाई, कर आदि घटा दी जाने तो जो शेष बचेगा उसी को Net Aggregate Product (कुल वास्तविक उत्पत्ति) कहा जायेगा और इसी से मार्शल का यहाँ *अभिप्राय है।*]

इस तरह प्रो० मार्शल के अनुसार देश के प्रत्येक व्यवसाय की शेष उत्पत्ति का कुल योग राष्ट्रीय उत्पत्ति होती है और इस कुल उत्पत्ति का वितरण होता है। वर्तमान काल में वितरण द्रव्य द्वारा होता है— साधन के स्वामी को इसकी सेवा के बदले द्रव्य के रूप में आय प्राप्त होती है। और इसलिए राष्ट्रीय आय की माप भी द्रव्य में की जाती है जैसा कि नीचे देखेंगे।

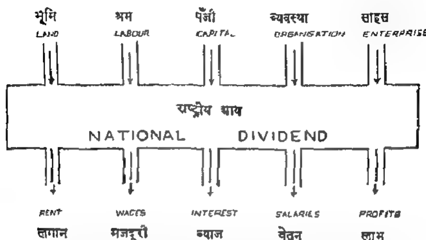
(स) प्रो० फिशर के कथनानुसार "National Dividend or National come consists solely of services as received by ultimate consu-.s. Thus a piano or an overcoat made for me this year is not part of this year's income, but an addition to capital. Only the v[illegible] rendered to me during this year by these things are [illegible]"

इस प्रकार प्रो० फिशर के मतानुसार राष्ट्रीय आय उत्पादन को कुल माना नहीं है वरन् यह एक वर्ष के वास्तविक उत्पादन का वह अंश है जो उस वर्ष में उपभोग किया

जाता है। जैसे यदि किसी देश की वास्तविक आय किसी वर्ष ५०,००० रु० है और उसमें से कुछ उपभोग में काम आता है और कुछ आगे के लिए बचाया जाता है अथवा मशीनरी इत्यादि में लगा दिया जाता है जिससे आय भविष्य में होगी, तो राष्ट्रीय आय ५०,००० रु० नहीं समझी जायगी बल्कि ५०,००० का केवल वह भाग जो उस वर्ष उपभोग किया जाता है। मतलब यह कि प्रो० फिशर बचत (savings) को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करते हैं। मान लीजिए कि किसी वर्ष में एक मशीन का उत्पादन होता है जिसका मूल्य २० हजार रुपये है। तब प्रो० मार्शल के अनुसार उस वर्ष की राष्ट्रीय आय में इस मशीन के मूल्य में से अवमूल्यन के लिए कुछ अंश, मान लो २ हजार रुपये निकालकर शेष, अर्थात् १८ हजार रुपये की वृद्धि हुई। परन्तु प्रो० फिशर के अनुसार यदि यह मशीन १० वर्ष तक काम देती है तो उस वर्ष की राष्ट्रीय आय में २० हजार के बजाय इसके दसवें भाग अर्थात् केवल २ हजार ही जमा करने चाहिये। क्योंकि इस वर्ष केवल इतने रुपये के बराबर ही लोगों ने मशीन की उपयोगिता का उपभोग किया। यह धारणा ठीक भी है क्योंकि आर्थिक हित उन्हीं वस्तुओं द्वारा होता है जिनका हम उपभोग करते हैं और विभिन्न वर्षों में रहन सहन की तुलना भी उपभोग की मात्रा से होती है। किन्तु इस परिभाषा की सबसे बड़ी कमी यह है कि उपभोग की गई वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा का माप करना कुल उत्पन्न वस्तुओं की माप करने की अपेक्षा अधिक कठिन है।

यह कहना तो कठिन है कि इन परिभाषाओं में से कौन सी ठीक है। मार्शल और पीगू के विचार तो लगभग एक से हैं। दोनों ने वार्षिक उत्पत्ति को राष्ट्रीय आधार माना है; अंतर केवल इतना है कि जब कि मार्शल राष्ट्रीय आय में कुल वार्षिक उत्पत्ति को सम्मिलित करते हैं पीगू ऐसी उत्पत्ति के केवल उस भाग को सम्मिलित करते हैं जिसकी द्रव्य में माप हो सकती है। इस प्रकार मार्शल का विचार सैद्धान्तिक है और पीगू का व्यावहारिक। तो भी मार्शल के विचार पीगू के विचार से कुछ भिन्न हैं, यद्यपि दोनों ही अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक हैं। रह गई फिशर की परिभाषा यदि हम राष्ट्रीय आय का अध्ययन इसलिए करते हैं कि हम जान सकें कि किसी एक वर्ष का उत्पादन दूसरे वर्ष के उत्पादन से कम है या अधिक, तो प्रो० मार्शल की परिभाषा ज्यादा अच्छी है और यदि हम राष्ट्रीय आय का अध्ययन इस लिए करते हैं कि हम जान सकें कि एक लम्बे युग में— २५, ५० या १०० वर्षों में—उत्पादन का क्या स्थिति रहती है तो प्रो० फिशर की परिभाषा अधिक उपयोगी होगी क्योंकि एक लम्बे समय में देश के लोगों की बचत जो कि मशीनरी इत्यादि में लगी हुई होगी देश के उत्पादन को बढ़ाकर अपने आप राष्ट्रीय आय की माप में धीरे धीरे सम्मिलित हो जायगी। परन्तु अधिकतर अर्थशास्त्रियों ने प्रो० मार्शल की परिभाषा को ही उपयुक्त माना है। किसी एक देश में किसी एक साल की कुल उत्पन्न सम्पत्ति को द्रव्य में माप लिया जाता है—इस बात की आवश्यकता इस लिए होती है कि राष्ट्रीय आय का सैकड़ों वस्तुओं व सेवाओं के रूप में व्यक्त करना व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी नहीं हो सकता—और इसको उस साल की 'राष्ट्रीय आय' या 'राष्ट्रीय लाभांश' कहते हैं और इसी में से ही उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का हिस्सा दिया जाता है। प्रो० मार्शल का कहना है कि "This national dividend is at once the aggregate net product of, and

the sole source of payment for all the agents of production within the country."



यह राष्ट्रीय आय कोई निश्चित कोष नहीं है परन्तु अविरल रूप से बहनेवाला जलाशय है। जैसे एक जलाशय में जल की मात्रा कम अथवा अधिक होती रहती है उसी प्रकार राष्ट्रीय आय की मात्रा कम अथवा अधिक होती है। राष्ट्रीय आय का बढ़ना घटना उत्पत्ति के साधनों की शक्ति पर निर्भर रहता है और देश की (उपभोग तथा) उत्पादन-शक्ति राष्ट्रीय आय पर निर्भर रहता है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं और किसी समय स्थिर नहीं रहतीं।

राष्ट्रीय आय की माप

(Measurement or Calculation of the National Dividend)

राष्ट्रीय आय की माप करने के दो तरीके हैं :—

(अ) Census of Production method—इस तरीके के अनुसार सब उत्पादनों तथा सेवाओं के कुल उत्पादन (Gross Product) में से कच्चे माल की कीमत, मशीन आदि की घिसावट तथा अन्य आवश्यक खर्च (Replacement Charges) घटा दिये जाते हैं और जो शेष बचता है उसे राष्ट्रीय आय कहते हैं। सारे साल में जितनी वस्तुओं का उत्पादन हुआ

---

* "We take all commodities produced and all services rendered at their market value during the year and from this total subtract the value of that part of the country's goods (both raw materials and capital goods) expended in the production of this total, and the remainder is the national income of the country." —Findlay Shirras.

और जितनी सेवाएँ की गई उन सब के बाजार भाव को हम ले लेते हैं और इस कुल जोड़ में से देश की वस्तुओं (कच्चा माल व उत्पादक वस्तु दोनों) के उस भाग के मूल्य को जो इनकी उत्पादन में लगीं, घटा देते हैं। बाकी जो बचता है वही राष्ट्रीय आय कहलाती है।

कुल उत्पादन
(GROSS PRODUCTS)

कच्चे माल की कीमत COST OF (RAW MATERIAL)	मशीन आदि में घिसावट (DEPRECIATION OR WEAR & TEAR OF MACHINERY)	अन्य आवश्यक खर्च (OTHER REPLACEMENT & RENEWAL CHARGES)	कर (TAXES)	राष्ट्रीय आय (NET PRODUCT)

उदाहरण के लिए डाक्टर वी० के० आर० वी० राव ने भारतवर्ष की सन् १९३१ की राष्ट्रीय आय की गणना निम्न प्रकार की थी :—

	करोड़ रुपये
कृषि	१,२६०
पशु	१९२
जंगल आदि	२२
उद्योग (कपड़े, लोहा, चीनी, जूट, रबर आदि)	२९७
खनिज पदार्थ	२८
व्यापार तथा यातायात	१५६
सेवाएँ	१७३
कुल	२,१०१ Gross Product
इसमें से घटाया—कच्चे माल की कीमत, मशीन की घिसावट, कर आदि खर्चे	२७८
शेष	२०२३ Net Product or National Dividend

नोट—कीमतों के बढ़ जाने से, तथा उद्योगों के बढ़ जाने से भी, नई गणना के हिसाब से आज के दिन भारत की वार्षिक राष्ट्रीय आय लगभग ११,००० करोड़ हो गई है।

(ब) Census of Income method—इस तरीके में आयकर देनेवाले तथा आय कर न देनेवाले सभी लोगों का आय को एक साथ जोड़ लेते हैं और इस प्रकार जो योग प्राप्त होता है वही राष्ट्रीय आय होती है।

$$\text{राष्ट्रीय आय} = \frac{\text{Amount collected as income tax} \times 100}{\text{Percentage of the rate of income tax}}$$

मान लिया आय कर की दर १ रुपया प्रतिशत है और आय-कर से सरकार

की कुल आमदनी ५ करोड़ रुपया होती है तो आय कर देनेवाले लोगों की कुल आय ५०० करोड़ हुई। कुछ लोग आय कर नहीं देते हैं मान लिया उनकी आय २०० करोड़ है। अतः राष्ट्रीय आय ५०० + २०० = ७०० करोड़ हुई।

इस रीति के अनुसार आय की गणना पेशेवार गणना (Census of Occupation Method) करके भी की जा सकती है। और जहाँ आय के पर्याप्त आँकड़े नहीं मिलते यही तरीका काम में लाया जाता है। विभिन्न व्यवसायों म काम करनेवाले सब लोगों की आय जोड़ लेते हैं और इस प्रकार सारे देश की आय मालूम हो जाती है। राष्ट्रीय आय की गणना करते समय हम विभिन्न व्यवसायों की तालिकायें बनाते हैं जैसे हमारे देश में कुल व्यवसायों को (१) कृषि, जिसम कृषि, पशु-पालन, अन्य सहायक कार्य, वन तथा मछली पालन सम्मिलित हैं, (२) खान, कारखाना तथा हस्त शिल्प जिसमें खान, कारखाने तथा छोटे उद्योग सम्मिलित हैं, (३) वाणिज्य, परिवाहन तथा सचार जिसम सचार (डाक व तार) रेलें, सगठित बैंक व बीमा व्यवसाय तथा अन्य वाणिज्य व परिवाहन सम्मिलित हैं। (४) अन्य सेवाएँ जिसम पेशे और कलाएँ, सरकारी नौकरियाँ घरेलू काम तथा घरेलू सम्पत्ति सम्मिलित है आदि में बाँटा है और अलग अलग पेशे की आय निकालकर उसको जोड़ दिया गया है। इस प्रकार जो योग प्राप्त हुआ वह हमारे देश की राष्ट्रीय आय हुई। परन्तु इसमें भेंट, अनुत्पादक राष्ट्रीय ऋण, वृद्धावस्था पेंशन आदि नहीं जोड़ी जातीं।

नेशनल इकम कमिटी ने जो आकड़े १९५०-५१ में भारत की राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में दिये वह इस प्रकार थ —

कृषि	४८६
खदान, उत्पादन और हाथ का कारोबार	१५.१
वाणिज्य यातायात और सचार	१६ ६
पेशे और कला आदि	४ ७
सरकारी सेवाएँ	४ ३
स्वदेशी सेवाएँ	१ ६
घर आदि सम्पत्ति	४ १
साधनों की लागत पर शुद्ध स्वदेशी उत्पादन	९५.५
विदेशों से प्राप्त शुद्ध अर्जित आय	०२
साधनों की लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय आय	९५ ३

१९४८ में भारत की कुल जनसख्या ३४ करोड़ १० लाख आँकी गई। इस आधार पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय २६५.२ रुपया हुई।

[*कभी-कभी ऐसा भी होता है कि ऊपर की किसी एक विधि को काम में न लाकर दोनों विधियों को मिलाकर राष्ट्रीय आय की गणना की जाती है। इसका कारण यह होता है कि सब तरह के पर्याप्त आँकड़े नहीं मिलते। भारत ऐसे पिछड़े देश में जहाँ सूचनाओं का आवश्यक आग्रणन नहीं हुआ है यह और भी जरूरी है।* डाक्टर वी० के० आर० वी० राव ने दोनों विधियों को मिलाकर ही राष्ट्रीय आय की गणना की थी। इसी प्रकार जो नैशनल इंकम कमिटी अगस्त १६४६ में भारत सरकार द्वारा नियुक्त हुई थी, और जिसके प्रधान श्री महालानोबिस थे, उसने भी उत्पत्ति आग्रणन प्रणाली और आय आग्रणन प्रणाली दोनों का प्रयोग किया है। उत्पत्ति आग्रणन प्रणाली का प्रयोग कृषि, बन, पशु पालन, आखेत, मछली मारना, खनिज पदार्थ खोदना और उद्योग के सम्बन्ध में किया गया है और आय आग्रणन प्रणाली का प्रयोग व्यापार, यातायात, राज्य प्रबन्ध, व्यावसायिक कला और घरेलू सेवाओं आदि के सम्बन्ध में किया गया है। निजी अनुमान से भी काम लिया गया है]

राष्ट्रीय आय की गणना के समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि एक आय को दो बार (double counting) न गिना जाय। मान लिया, कि एक डाक्टर की आय २०,०००) रु० है और वह इसमें से २,००० रु० अपने कम्पाउण्डर को वेतन देता है, तो स्पष्ट है कि डाक्टर की आय कम्पाउण्डर की सेवा के कारण है, अतः २०,००० रु० दोनों की सेवा का मूल्य है और राष्ट्रीय आय २०,००० रु० समझनी चाहिए न कि २२,००० रु०। इसी प्रकार, यदि हम कच्चे लोहे की उत्पत्ति के दाम, स्टील के दाम, आटोमोबीलों और उनके पुर्जों के दामों को सब को जोड़ लेते हैं तो इसका यह मतलब हुआ कि हमने आटोमोबीलों में लगे हुए कच्चे लोहे के दामों को कई बार जोड़ लिया, और यह गलत बात हुई। साथ ही राष्ट्रीय आय में हमें उन आमदनियों को नहीं गिनना चाहिए जिनको प्राप्त करने के लिए कोई परिश्रम नहीं किया गया, जैसे वृद्धावस्था-सम्बन्धी पेंशन, युद्ध, ऋण से प्राप्त ब्याज, बेईमानी, या छल-कपट से प्राप्त आय आदि।

किसी देश की राष्ट्रीय आय से ही उसकी आर्थिक स्थिति का बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। जिस देश की जितनी ही अधिक राष्ट्रीय आय होगी, अन्य स्थितियों के समान रहने पर, उस देश की आर्थिक दशा उतनी ही अच्छी होगी क्योंकि इसी राष्ट्रीय आय में से उपभोग के लिए साधन उपलब्ध होंगे। [किसी देश की राष्ट्रीय आय को वहाँ की जनसंख्या से विभाजित करने से उस देश की प्रति व्यक्ति आय (per capita income) निकल आती है। जैसे भारत की राष्ट्रीय आय १६५०-५१ में ६५३० करोड़ (१६४८-४६ की कीमतों पर) थी और जनसंख्या ३५ करोड़ और हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भारत की प्रति व्यक्ति आय १६५०-५१ में २६५ रु० थी। (१६५६ ५७ में राष्ट्रीय आय ११०१० करोड़ हो गई और प्रति व्यक्ति आय भी बढ़कर २८४ हो गई है।) इसी तरह और देशों की प्रति व्यक्ति आय भी निकाली गई है। आस्ट्रेलिया, कनाडा और इंगलैंड की प्रति व्यक्ति आय इससे दस गुनी और अमेरिका की इससे बीस गुनी (यानी लगभग १००० डालर) है। और हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इन देशों की अपेक्षा भारत बहुत गरीब देश है।]

(२) वितरण की दूसरी समस्या यह है कि राष्ट्रीय आय का वितरण किन किन में होता है। जिन लोगों की सहायता से उत्पादन-कार्य किया गया है उन्हीं को उनके परिश्रम के अनुपात में वास्तविक सम्पत्ति में से हिस्सा मिलना है। इस प्रकार उत्पादन के पाँच साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, व्यवस्थापक तथा साहसी को, क्रमशः लगान, मजदूरी, ब्याज, वेतन तथा लाभ दिया जाता है। (एक आदमी एक से अधिक साधन देकर एक से अधिक आय भी प्राप्त कर सकता है, जैसे एक ही आदमी श्रम तथा जमीन की पूर्ति करके लगान और मजदूरी दोनों ले सकता है।)

(३) तीसरी समस्या यह है कि सम्पत्ति का वितरण किस सिद्धान्त के अनुसार होता है। वास्तव में यह समस्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी के ऊपर उत्पत्ति के साधनों का सहयोग निर्भर रहता है।

सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त
(*Marginal Productivity Theory*)

कुछ अर्थशास्त्रियों ने वितरण के लिए सीमान्त उत्पत्ति का सिद्धान्त दिया है। इसके अनुसार उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का हिस्सा उसकी सीमान्त उत्पत्ति से निर्धारित होता है—साम्य की स्थिति में प्रत्येक साधन का हिस्सा उसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होता है।

सीमान्त उत्पत्ति से अर्थ क्या है?—यह तो एक साधारण सी बात है कि जिस साधन की सहायता से जितना उत्पादन होगा उसे उसी के बराबर हिस्सा मिलेगा। यदि उसकी सहायता से उत्पादन अधिक होगा तो अधिक हिस्सा मिलेगा और उत्पादन कम होगा तो कम हिस्सा मिलेगा। इसका मतलब यह हुआ कि प्रत्येक साधन को उसका हिस्सा उसकी उत्पादकता के अनुसार मिलता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस उत्पादकता का अनुमान कैसे लगाया जाय। यह अनुमान अर्थशास्त्री सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) से लगाते हैं। किसी एक साधन का सीमान्त उत्पत्ति को मालूम करने के लिए अन्य साधनों को यथावत् रक्खा जाता है केवल इस विशेष साधन की एक इकाई बढ़ाई जाती है और इस प्रकार एक इकाई के बढ़ाने से जो उत्पादन बढ़ता है उसे सीमान्त उत्पत्ति* कहते हैं।

इस सीमान्त उत्पत्ति के बराबर ही उत्पादक साधन की सेवा का मूल्य साधन की सीमान्त इकाई को देता है और चूँकि प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधन की सब इकाइयों का

*(J. R. Hicks के शब्दों में "The marginal product which measures the actual return which a factor of production must get in a state of equilibrium is the addition which is made to the product of a firm when a small unit is added to the supply of that factor available to that firm and the rest of the organisation of the industry remains unchanged."

मूल्य सीमान्त इकाई के मूल्य के समान होता है हम कह सकते हैं कि किसी साधन का हिस्सा उसकी सीमान्त उत्पत्ति से निश्चित हो जाता है। मान लिया कि पचास मजदूरों के लगाने से कुल आय ३००) की होती है और, दूसरे सब साधनों के यथावत् रहते हुए, केवल एक मजदूर और बढ़ा देने से (यानी ५१ मजदूरों के लगाने से) कुल आय ३०५) होती है तो इस प्रकार अन्तिम मजदूर के लगाने से आय ५) के बराबर बढ़ी। इसी को सीमान्त उत्पत्ति कहेंगे और इसी के बराबर मजदूरी मजदूर को मिलेगी यानी ५) प्रति मजदूर। इसी प्रकार यदि किसी उद्योग में १०००) के बराबर पूँजी लगी है और इस पूँजी से आय ५०) के बराबर होती है और यदि उसमें १०) और लगा दिया जाता है तो कुल आय ५५) हो जाती है तो १०) लगानेसे ५) अधिक आय हुई, इसी को पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति कहेंगे और ब्याज दर इसी के बराबर यानी ५) प्रतिशत होगी, इत्यादि इत्यादि।

इस सिद्धान्त में कई बातें मान ली गई हैं (assumptions of the marginal productivity theory), और इनके पूरा होने पर ही यह सिद्धान्त क्रियाशील होता है, जैसे (१) किसी साधन की प्रत्येक इकाई समान या एक सी होनी चाहिए (२) विभिन्न साधनों का कुछ मात्रा तक एक दूसरे से प्रतिस्थापन किया जा सकना चाहिए, (३) साधनों के उपयोग की मात्रा में परिवर्तन सम्भव होना चाहिए, (४) सब साधन गतिशील होने चाहिएँ, (५) व्यवसाय में उत्पत्ति ह्रास-नियम क्रियाशील होना चाहिए और (६) व्यवसायों तथा साधनों में परस्पर प्रतियोगिता होनी चाहिए। परन्तु व्यावहारिक जीवन में ये सब बातें पूर्ण रूप से नहीं पाई जातीं। कुछ भी सही, यह सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त सन्तोषजनक नहीं समझा जाता है और इसकी कड़ी आलोचनाएँ की गई हैं। उनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण यहाँ दी जाती हैं :—

(अ) टॉसिग, डेवेनपोर्ट, कार्वर, आदि अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति किसी एक उत्पत्ति के साधन द्वारा नहीं होती वरन् सब साधनों की सम्मिलित उत्पत्ति होती है, अतः प्रत्येक साधन की अलग अलग उत्पत्ति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता—यह कहना असम्भव है कि किस उत्पत्ति के साधन का उस उत्पादन में कितना भाग है। उदाहरण के लिए सीमान्त मजदूर उत्पत्ति के अन्य साधनों—भूमि, पूँजी, व्यवस्थापक तथा साहसी सभी की सहायता से उत्पादन करता है, अतः उस अतिरिक्त मजदूर के बढ़ाने से जो उत्पादन की मात्रा बढ़ी है उसका कारण केवल यह मजदूर ही नहीं वरन् सभी साधन हैं। इस तरह उस सीमान्त उत्पत्ति का मालिक वही मजदूर नहीं होना चाहिए।

[परन्तु इन आलोचकों ने कोई अपना नया सिद्धान्त नहीं बताया जिससे कि साधन की सीमान्त उत्पत्ति को नापा जा सके।]

(ब) दूसरी समस्या यह है कि प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर हिस्सा दिया जाय तो क्या इस प्रकार सम्पूर्ण उत्पादन की मात्रा उत्पत्ति के पाँच साधनों के हिस्सों के बराबर होगा या इससे कम या इससे अधिक।

वीजर तथा हाब्सन के मतानुसार साधन की सेवा उसकी सीमान्त उत्पत्ति से अधिक होती है और इस तरह विभिन्न साधनों की अलग-अलग सीमान्त उत्पत्ति का योग कुल उत्पत्ति से अधिक होगा। (the sum-total of marginal products is more than the total produce)। इनका कहना है कि यदि किसी एक साधन की एक इकाई को उत्पत्ति में से निकाल दिया जाता है तो कुल व्यापार इस प्रकार अस्त व्यस्त हो जाता है कि कुल उत्पत्ति में जो हानि होती है वह साधन की सीमान्त उत्पादकता से कहीं अधिक होती है। मान लीजिए किसी कारखाने में १०० रु० के बराबर कुल उत्पत्ति होती है, जिसमें ४ मजदूर काम कर रहे हैं और चौथे मजदूर की उत्पत्ति १० रु० के बराबर है। यदि चौथे मजदूर को कारखाने से निकाल दिया जाय और केवल ३ मजदूर ही इस कारखाने में काम करें, तो इनका कहना है, भूमि, पूँजी, व्यवस्था, तथा साहस साधनों की उत्पादन शक्ति '१०रु० से अधिक' कम हो जायगी, मिसाल के तौर पर यह १०० रु० से घटकर केवल ८० रु० रह जायगी। इसीलिए इन आलोचकों का मत है कि किसी साधन की सीमांत उत्पत्ति से उस साधन की सेवाओं को ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसके विपरीत कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों का कहना है कि यदि प्रत्येक साधन को सीमान्त उत्पत्ति को उस साधन की इकाइयों से गुणा किया जाय और इस प्रकार प्राप्त प्रत्येक साधन से सम्बन्धित गुणनफल का योग लगाया जाय तो यह व्यवसाय की कुल उत्पत्ति से कम होगा (the sum total of marginal net products is less than the total produce)। जैसे मान लीजिये कि भूमि, श्रम, पूँजी, व्यवस्था तथा साहस का सीमान्त उत्पत्ति क्रमशः ३) रु०, २०) रु०, ८०) रु०, ३)रु० ५) रु० के बराबर है जब कि कुल उत्पत्ति केवल १००) रु० के बराबर है। परन्तु ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं और इस आलोचना में कोई तत्व नहीं है। वास्तव में पूर्ण प्रतियोगिता में साम्य की स्थिति में ये दोनों बराबर होंगे, कम या अधिक होने का कोई प्रश्न नहीं आता।

(स) तीसरी आलोचना यह है कि कुछ उद्योग ऐसे होते हैं कि जिनमें विभिन्न साधनों की मात्राओं का अनुपात निश्चित होता है। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, जैसे एक कपड़े सीने की मशीन तथा एक आदमी। इस मशीन पर दो या तीन आदमी काम नहीं कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में अलग अलग साधनों के पारस्परिक अनुपात को बदल कर सीमान्त उत्पत्ति मालूम नहीं की जा सकती है, तो उनका हिस्सा कैसे मालूम किया जा सकता है?

{ साधारणतया प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पत्ति मालूम की जा सकती है क्योंकि उत्पत्ति के साधनों का अनुपात प्रायः बदला जा सकता है। जहाँ कहीं यह अनुपात बिलकुल निश्चित होता है वहाँ भी उत्पत्ति के साधनों का हिस्सा दूसरे तरीके से निर्धारित हो सकता

है। परन्तु यह सिद्धान्त इस श्रेणी के विद्यार्थियों के क्षेत्र से बाहर है इसलिए इसका वर्णन यहाँ नहीं किया जाता है।]

(द) चौथी आलोचना यह है कि सीमान्त उत्पत्ति का सिद्धान्त साहसी के साधन के लिए लागू नहीं हो सकता और उसकी सीमान्त उत्पत्ति नापी नहीं जा सकती, क्योंकि यह सम्भव नहीं कि उसकी एक इकाई घटाई या बढ़ाई जा सके, विशेष रूप से इसलिए कि बहुधा एक ही साहसी हुआ करता है। परन्तु मिसेज जोअन रौबिन्सन ने इसके माप का भी एक अप्रत्यक्ष तरीका बताया है।

(इ) पाँचवीं आलोचना यह है कि वितरण का सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त उत्पत्ति के साधनों की माँग पर ही विचार करता है, अत यह एकतरफा है। इसमें उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति के प्रभाव पर कुछ भी विचार नहीं किया गया है। यह कहना ठीक है कि साम्य अवस्था में प्रत्येक साधन का हिस्सा उसके सीमान्त उत्पादन के बराबर होता है परन्तु यह कहना गलत है कि प्रत्येक साधन का हिस्सा केवल उसकी सीमान्त उत्पत्ति से यानी माँग से निर्धारित होता है। वास्तव में प्रत्येक साधन का हिस्सा उसकी माँग तथा पूर्ति दोनों से तय होता है जैसा कि वितरण के वर्तमान सिद्धान्त में नीचे बताया गया है।

आधुनिक सिद्धान्त

(*Modern Theory of Distribution*)

वितरण सिद्धान्त (Theory of Distribution) मूल्य सिद्धान्त (Theory of Value) से बहुत कुछ मिलता जुलता है। मूल्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति से निर्धारित होता है। इसी प्रकार उत्पादन के प्रत्येक साधन की सेवाओं का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति से तय किया जाता है।

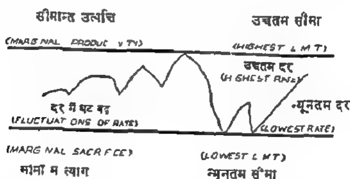
प्रत्येक साधन की माँग उसकी उत्पादन शक्ति के कारण की जाती है। अन्य सब साधनों की पूर्ति स्थिर रखते हुए जब किसी एक साधन की एक अतिरिक्त मात्रा बढ़ाई जाती है तो उस अतिरिक्त मात्रा के बढ़ाने से जो उत्पादन बढ़ता है उसे सीमान्त उत्पत्ति कहते हैं। जब किसी एक साधन की मात्राएँ इस प्रकार बढ़ाते जाते हैं तो सीमान्त उत्पत्ति कम होती जाती है। और जिस प्रकार एक ग्राहक किसी वस्तु का मूल्य अधिक से अधिक उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर देने को तैयार होता है उसी प्रकार साहसी किसी साधन को अधिक से अधिक उसकी सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity)* के बराबर देने को तैयार होता है उससे अधिक नहीं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक साधन के हिस्से की अधिकतम सीमा (maximum limit) उसकी सीमान्त उत्पत्ति से निर्धारित होती है।

दूसरी ओर जिस तरह मूल्य सिद्धान्त के अनुसार विक्रेता किसी वस्तु का मूल्य कम से कम उस वस्तु की सीमान्त लागत के बराबर लेता है इसी प्रकार उत्पत्ति के किसी

---

*The demand curve for any factor of production is the same thing as its marginal productivity curve

साधन का स्वामी कम से कम अपने सीमान्त त्याग (marginal sacrifice) के बराबर अपना हिस्सा लेता है और अन्य स्थितियों के यथावत् रहते हुए जब किसी व्यवसाय में किसी एक साधन की मात्राएँ अधिकाधिक संख्या में काम में लाई जाती हैं तो उससे उस साधन का सीमान्त त्याग बढ़ता जाता है और यह सीमान्त त्याग न्यूनतम सीमा (minimum limit) है, जिससे किसी साधन का हिस्सा कम नहीं हो सकता और जो आजकल के अर्थशास्त्री अवसर-व्यय (opportunity cost) या स्थानान्तर आय (transfer earnings *) की सहायता से नापते हैं। अवसर-व्यय से हमारा मतलब उस व्यय से होता है जो किसी वस्तु के परित्याग के रूप में उठाना पड़ता है। मान लीजिये कि कागज पर एक किताब भी छापी जा सकती है और उसकी कापियाँ भी बनाई जा सकती हैं। यह भी मान लीजिए कि एक किताब में उतना कागज लगता है जितना चार कापियों में। तो यदि उत्पादक यह निश्चय करता है कि वह कागज को एक किताब छापने के प्रयोग में लावे तो चार कापियाँ किताब का अवसर व्यय हुआ। इसी प्रकार यदि एक प्रोफेसर लड़कों के साथ एक पिकनिक पर जाता है और अपने १० घंटे खर्च करता है तो यदि वह इन्हीं १० घंटों को एक लेख लिखने में लगाता और इससे उसे १० रु० प्राप्त होते, तो picnic पर जाने का अवसर व्यय १०) के बराबर हुआ। इत्यादि, इत्यादि। और जिस प्रकार मूल्य सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य अधिकतम तथा न्यूनतम सीमाओं के बीच निर्धारित होता है उसी प्रकार वितरण सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक साधन का हिस्सा उसके अधिकतम तथा न्यूनतम सीमाओं के बीच निर्धारित होता है।



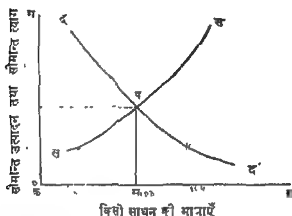
साहसी प्रत्येक उत्पत्ति के साधन की माँग और पूर्ति का सन्तुलन स्थापित करता है। इस प्रकार साम्य की अवस्था में सीमान्त उत्पत्ति, सीमान्त त्याग और साधन का हिस्सा सब आपस में बराबर होते हैं।

---

*The amount of money which any particular unit would earn in its best paid alternative use is sometimes called its transfer earnings —Benham

नीचे दी हुई तालिका में साम्य की अवस्था का विचार और स्पष्ट हो जाता है :—

किसी साधन विशेष की इकाइयाँ	सीमान्त उत्पत्ति	सीमान्त त्याग
१००	५०	१०
१०१	४५	१५
१०२	३५	२५
१०३	३०	३०
१०४	२०	४०



द द' माँग रेखा है जो सीमान्त उत्पत्ति की द्योतक है। स स' पूर्ति रेखा है जो सीमान्त त्याग दिखाती है।

जब किसी साधन का हिस्सा साम्य की स्थिति के हिस्से से कम होगा तो उस साधन की सेवाओं के लिए आपस में प्रतियोगिता होगी। फलस्वरूप उसका हिस्सा बढ़ने लगेगा और अन्त में उसका हिस्सा साम्य की स्थिति के हिस्से के बराबर हो जावेगा। उपरोक्त उदाहरण में यदि किसी साधन का हिस्सा २० इकाई के बराबर हो, तो माँग १०४ इकाई होगी परन्तु पूर्ति १०४ इकाई नहीं होगी इसलिए माँग के बराबर पूर्ति के न होने से लोग २० इकाई से अधिक देना स्वीकार करेंगे। अन्त में उस साधन का हिस्सा ३० इकाई होगा और उस अवस्था में माँग और पूर्ति बराबर होंगे। इसके विपरीत यदि किसी साधन का हिस्सा साम्य की स्थिति के हिस्से से अधिक हो तो उत्पादकों को हानि उठानी पड़ेगी और वे उस साधन के बदले दूसरे साधन को प्रतिस्थापित करने का यत्न करेंगे। अन्त में जब माँग कम हो जायगी तो सीमान्त त्याग की मात्रा भी कम हो जायगी। इस प्रकार साम्य स्थिति स्थापित हो जावेगी और इस स्थिति में सीमान्त उत्पादन व सीमान्त त्याग दोनों साधन के हिस्से के बराबर होंगे।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैसा हमने ऊपर देखा, वितरण सिद्धान्त तथा मूल्य सिद्धान्त दोनों में बहुत समानता पाई जाती है। परन्तु इसके माने यह कदापि नहीं है कि

दोनों में कोई अन्तर बिलकुल नहीं है। वास्तव में दोनों में कुछ भेद भी पाये जाते हैं। मिसाल के लिए विनिमय में वस्तुओं की पूर्ति माँग के अनुसार बहुत कम समय में घटाई-बढ़ाई जा सकती है, परन्तु वितरण में उत्पादन के साधनों – भूमि, श्रम, पूँजी और व्यवस्थापक की पूर्ति आसानी से घटाई या बढ़ाई नहीं जा सकती जैसे कि भूमि की पूर्ति लगभग निश्चित होती है, उसे बढ़ाया नहीं जा सकता और श्रम की पूर्ति को घटाने बढ़ाने में बहुत अधिक समय लगता है। प्रो० मार्शल का कहना है कि "Free human beings are not brought up to their work on the same principles as a machine, a horse or a slave" उदाहरणार्थ यदि लगान बढ़ जाय तो भूमि की पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती और यदि मजदूरी बढ़ जाय तो जनसंख्या तुरन्त नहीं बढ़ाई जा सकती, इसके बढ़ने के लिए बहुत समय चाहिए। इसके विपरीत यदि विनिमय में किसी वस्तु का मूल्य बढ़ जाय तो उसकी पूर्ति तुरन्त बढ़ाई जा सकती है। दूसरी बात यह है कि (विनिमय में) किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) आसानी से मालूम की जा सकती है, परन्तु (वितरण में किसी साधन के सीमान्त उत्पादन (marginal productivity) को आसानी से मालूम नहीं किया जा सकता क्योंकि इस अकेले साधन द्वारा ही उत्पादन नहीं होता। उत्पादन में वह अन्य साधनों की भी सहायता लेता है। इसी प्रकार जब कि (विनिमय में) प्रत्येक वस्तु की सीमान्त लागत आसानी से ज्ञात की जा सकती है (वितरण में) उत्पादन के साधनों के सीमान्त त्याग का अनुमान करना बहुत कठिन है। 'Land, labour, capital and organisation, unlike motor-cars and loaves of bread, have no easily determinable expenses of production and consequently the process of adjusting supply to demand is too complicated a process, indeed" यही कारण है कि अर्थशास्त्र में वितरण के लिए एक अलग सिद्धान्त की आवश्यकता हुई और वितरण का विभाग अलग बना। परन्तु तो भी, बहुत से आधुनिक अर्थशास्त्री भी, जैसे स्टोनियर और हेग, वितरण को अलग भाग नहीं मानते। वे मूल्य सिद्धान्त के अन्तर्गत ही वस्तुओं के मूल्य और उत्पादन के साधनों के मूल्य दोनों का अध्ययन करते हैं।

उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता

(Mobility of the Factors of Production)

प्रत्येक साधन का पुरस्कार किस प्रकार निर्धारित किया जाता है—इस विषय का अध्ययन करते समय यह भी आवश्यक है कि हम जान लें कि इन साधनों की गतिशीलता से क्या अर्थ है, कौन सा साधन किस सीमा तक गतिशील है और इस गतिशीलता का प्रभाव उनके पुरस्कारों पर कैसे पड़ता है।

साधन की गतिशीलता से अभिप्राय उसके एक उपयोग या स्थान से दूसरे उपयोग या स्थान में चले जाने की सुगमता या शीघ्रता से है। यदि कोई साधन सुगमता और शीघ्रता से एक उपयोग या स्थान से दूसरे उपयोग या स्थान में जा सकता है, तो उसे गतिशील कहते हैं, अन्यथा नहीं।

यह गतिशीलता चार प्रकार की होती है :—

(१) भौगोलिक गतिशीलता (Geographical or Place Mobility) यानी किसी साधन का एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना। यदि कोई मजदूर इलाहाबाद से काम छोड़कर बम्बई चला जाय, तो यह एक भौगोलिक गतिशीलता का उदाहरण होगा।

(२) व्यावसायिक गतिशीलता (Occupational Mobility)—यानी किसी साधन का एक व्यवसाय से किसी अन्य व्यवसाय में चला जाना। यदि एक दूकानदार अपना व्यवसाय छोड़कर नौकरी कर लेता है या एक रुई के कारखाने में काम करनेवाला श्रमिक जूट के कारखाने में चला जाता है या एक कपड़े की मिल में लगी हुई पूँजी जूट मिल को चली जाती है, तो ये व्यावसायिक गतिशीलता के उदाहरण होंगे। इसी को आड़ी गतिशीलता (Horizontal Mobility) भी कहते हैं।

(३) खड़ी गतिशीलता (Vertical Mobility) यानी एक व्यवसाय या उद्योग के भीतर ही किसी साधन का एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में उन्नति के फलस्वरूप चला जाना, जैसे यदि एक साधारण श्रमिक अपने व्यवसाय अथवा उद्योग में फोरमैन हो जाय, या एक फोरमैन मैनेजर हो जाय तो यह खड़ी गतिशीलता कहलायेगी।

अब हमें यह देखना है कि कौन सा साधन किस सीमा तक गतिशील है। जहाँ तक स्थान-परिवर्तन गतिशीलता का सम्बन्ध है भूमि में गतिशीलता बहुत कम पाई जाती है। मिट्टी एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जा सकती है, धातुएँ खानों से खोदकर दूसरे स्थान को ले जाई जा सकती हैं, परन्तु एक पहाड़ अथवा नदी अथवा एक खेत या एक नगर का परिवर्तन नहीं किया जा सकता, नहीं किसी स्थान की जल वायु बदली जा सकती है। तो भी गतिशीलता का अर्थ केवल स्थान परिवर्तन ही नहीं है। एक साधन के कई उपयोग भी हो सकते हैं। और यह हो सकता है कि यदि भूमि का प्रयोग एक काम के लिए हो रहा हो, तो उसको दूसरे काम में प्रयुक्त कर दिया जाय, उदाहरण के लिए यदि किसी भूमि पर गेहूँ उगाया जा रहा हो, तो उस पर मोटा अनाज उगाया जा सकता है, इसी प्रकार यदि किसी भूमि को खेती के लिए प्रयुक्त किया जा रहा हो, तो उसे इमारत बनाने के काम में लाया जा सकता है।

अब श्रम की गतिशीलता को लीजिए, आर्थिक दृष्टिकोण से श्रम की गतिशीलता बहुत बड़ा महत्त्व रखती है। श्रम की गतिशीलता तथा आर्थिक उन्नति बहुत बड़ी सीमा तक सहगामी हैं। यदि किसी देश में श्रम काफी गतिशील है, तो श्रम की माँग और पूर्ति के बीच आर्थिक सन्तुलन सरल तथा सुगम होगा, और आर्थिक प्रणाली धक्कों और झकझोरों से बची रहेगी। परन्तु श्रम की गतिशीलता के मार्ग में बहुत सी बाधाएँ हैं। किसी ने ठीक कहा है : "Of all sorts of packages, the human package is the least portable"। सबसे पहले तो जलवायु, रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, बोल चाल और धर्म के विचार गतिशीलता के मार्ग में बाधक होते हैं। दूसरे, मनुष्य जिस

स्थान पर काफी समय तक रह चुका हो, उस स्थान को छोड़कर वह जाना नहीं चाहता। तीसरे, वह अपने इष्ट-मित्रों से दूर नहीं रहना चाहता। चौथे, वह रोज नये-नये काम नहीं सीख सकता, इसलिए जो काम उसने अच्छी तरह सीख लिया है उसी पर लगा रहना चाहता है। पाँचवें, राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक कानून दूसरे प्रदेशों से आनेवाले लोगों के लिए अनेक कठिनाइयाँ खड़ी करते हैं। छठे, यातायात की कठिनाइयाँ भी बाधा डालती हैं और सातवें, अन्य स्थानों पर प्राप्त हो सकनेवाले अवसरों के ज्ञान का अभाव या अज्ञान भी मार्ग में रुकावट डालता है, इत्यादि, इत्यादि। इन सब बाधाओं के कारण भारतीय मजदूरों में गतिशीलता बहुत कम है—वे अपने घर पर ही रहना पसन्द करते हैं, और अपने पेशे और वर्ग में संतुष्ट रहते हैं, किन्तु इन बाधाओं का महत्त्व अब घट रहा है। सामाजिक रीति-रिवाजों का बन्धन ढीला हो रहा है। जाति-पाँति की प्रणाली अब नष्ट-भ्रष्ट हो रही है। यातायात के साधन बढ़ रहे हैं, उत्पादन के पुराने तरीके बदल रहे हैं, नये तथा लाभप्रद नौकरी प्राप्त करने के क्षेत्र बढ़ रहे हैं, और शिक्षा का प्रसार हो रहा है। इन सब कारणों से श्रम की गतिशीलता में वृद्धि हो रही है।

इसके बाद पूँजी को लीजिए। पूँजी की गतिशीलता से तात्पर्य उसकी एक स्थान या व्यवहार से दूसरे स्थान या व्यवहार में प्रयुक्त होने की योग्यता और तत्परता है। पूँजी उत्पत्ति का सबसे गतिशील साधन है। पूँजी उसके स्वामी से अलग की जा सकती है, इसलिए बहुत सी व्यक्तिगत बातें, जैसे परिवार का प्रेम, किसी विशेष वातावरण में अनुरक्ति इत्यादि जो श्रम की गतिशीलता पर अपना प्रभाव डालती हैं पूँजी को प्रभावित नहीं कर सकतीं। इसके अतिरिक्त पूँजी आसानी से और कम खर्च पर बहुत दूर-दूर भेजी जा सकती है जैसा कि मजदूरों के साथ नहीं हो सकता क्योंकि उनके यातायात के साधन इतने सरल नहीं हैं। आधुनिक युग में पूँजी का हस्तान्तरण एक उद्योग से दूसरे उद्योग में स्टाक एक्सचेंज में शेअर बेचकर और शेअर खरीद कर और एक जगह से दूसरी जगह बैंकों द्वारा बड़ी आसानी से किया जा सकता है। यदि हमारे देश में पूँजी अधिक गतिशील नहीं है तो उसके कई कारण हैं :—(१) हमारे देश की आर्थिक उन्नति अभी आरंभ हुई है (२) हमारी द्रव्य सम्बन्धी संस्थाएँ अधिक उन्नत नहीं हैं (३) साहस की कमी है, (४) व्यापारिक बेईमानी भी बाधक सिद्ध हुई है, इत्यादि, इत्यादि। किन्तु अवस्था धीरे-धीरे अनुकूल होती जा रही है। नये-नये उद्योग स्थापित हो रहे हैं। बैंकों और स्टाक एक्सचेंजों की उन्नति हो रही है। इत्यादि, इत्यादि।

रह गई संगठन और साहस की गतिशीलता। संगठन के लक्षण उच्च वर्गवाले श्रम के समान होते हैं। संगठन कर्ता शिक्षा प्राप्त होते हैं और सामान्यतः प्रगतिशील होते हैं। इसलिए उनकी भौगोलिक गतिशीलता अधिक होती है, किन्तु उनकी व्यावसायिक गतिशीलता कम होती है, क्योंकि प्रत्येक उद्योग की संगठन सम्बन्धी समस्याएँ विशेष प्रकार की होती हैं। इसी तरह हमारे देश में साहस की वृद्धि हो रही है। कुछ समय पूर्व इसकी गतिशीलता बहुत कम थी, किन्तु शिक्षा का प्रसार पाश्चात्य उद्योगवाद से निकट सम्बन्ध तथा देश के आर्थिक विकास के साथ साथ साहस की गतिशीलता बढ़ गई है, इत्यादि, इत्यादि।

अन्त में प्रश्न यह रह जाता है कि किसी साधन में गतिशीलता का होना अच्छा क्यों समझा जाता है, और यह क्यों कहा जाता है कि साधनों की गतिशीलता उनके स्वामियों के लिए, उनके प्रयोगकर्ताओं के लिए, और सारे देश के लिए लाभदायक है। किसी भी साधन के गतिशील होने से कई लाभ होते हैं :—

(१) उचित विभाजन—जब कोई साधन गतिशील होता है, तो यह अपना स्थान या उपयोग आसानी से बदल सकता है— जिस स्थान पर इसका आधिक्य होता है, वहाँ से यह उस स्थान को जा सकता है जहाँ उसकी कमी है। इस प्रकार उसी देश में और उसी समय किसी साधन के एक स्थान पर आधिक्य और दूसरे पर कमी होने का प्रश्न नहीं रह जाता, और राष्ट्रीय आय को अधिकतम बनाने के लिए देश के साधनों का उचित विभाजन हो जाता है।

(२) पुरस्कार में समानता— जब कोई साधन गतिशील होता है, तो उसका स्वामी उसका उपयोग ऐसे स्रोतों में कर सकता है जहाँ उसको अधिकतम पुरस्कार प्राप्त हो सके। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि एक साधन का पुरस्कार सब जगह और सब व्यवसायों में समान हो जाता है।

(३) सीमान्त उत्पादकता की समानता साधनों के गतिशील होने पर साहसी अधिक लागतवाले साधन के स्थान पर कम लागतवाले साधन का प्रयोग करता है। यह कार्य वह उस अवस्था तक करता है जब तक कि प्रत्येक साधन की अन्तिम इकाई की उत्पादकता समान न हो जाय। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution) के अनुसार अन्त में प्रत्येक उपयोग में किसी भी साधन की सीमान्त उत्पादकता बराबर होगी। इसका कारण यह है कि उत्पादक उस साधन के स्थान पर जिसका परितोषण उसके सीमान्त उत्पादन से अधिक है ऐसे साधन के उपयोग करने का प्रयत्न करेगा जिसे इसे कम देना पड़े। इसके विपरीत प्रत्येक साधन में ऐसे उपयोग या व्यवसाय में जाने की प्रवृत्ति होती है जहाँ अधिक परितोषण प्राप्त होता है। इस प्रकार व्यक्तिगत उद्योगों में विभिन्न साधनों की माँग और पूर्ति की स्थिति में परिवर्तन होते होते सभी व्यवसायों में साधन की सीमान्त उत्पादकता समान हो जाती है। इसे ही सीमान्त उपयोगिता की समानता का नियम (Law of Equi marginal Productivity) कहते हैं, और इस नियम का पूर्णतया पालन करना ही कुशल सगठन का द्योतक होता है और अधिकतम लाभ प्राप्त कराता है।

QUESTIONS

1. How does the problem of distribution arise, and how is it related to production and consumption ? (Agra 1950)

2. Give an idea of the term National Dividend (Agra 1955s, 54, 52, 50)

3 Explain carefully how the national income of a country can be estimated. Illustrate with reference to India. (Agra 1956)

4 What is meant by Distribution ? How is it related to 'Group Production' ? (Agra 1955)

5. What is meant by functional distribution ? Distinguish between personal distribution and functional distribution. (Agra 1956)

6. "The national dividend is at once the aggregate net product of and the sole source of payment for all the agents of production." Elucidate (Agra 1954)

7. Discuss the importance of the theory of marginal productivity in problems of distribution (Agra 1955, 52, Alld. 1952)

8 "All problems in Distribution are problems in value" If so, why should there be a separate division in Economics called Distribution ? (Alld 1951)

9 Write a short note on the "mobility of the factors of production." (Agra 1955, 53)

३२

लगान

(Rent)

साधारण भाषा में लगान का आशय उस भुगतान से हुआ करता है जो आसामी भूमि, मकान, दूकान अथवा फर्म के प्रयोग के बदले उनके स्वामी को एक निर्दिष्ट काल के लिए देता है। इस लगान के अन्तर्गत भूमि का किराया ही सम्मिलित नहीं होता, वरन् उस भूमि पर बनाये गये मकान, कुआँ, नाली तथा घेर-बाड में व्यय की गई पूँजी का ब्याज भी सम्मिलित रहता है। जैसे एक किसान जो लगान अपने जमींदार को देता है, उसमें लगान के अतिरिक्त उस भूमि में व्यय की गई पूँजी का ब्याज, व्यवस्थापक तथा प्रबन्धक का वेतन आदि सम्मिलित रहते हैं। और इसी तरह एक कोठी का किराया जो एक कोठी का किरायेदार कोठी के स्वामी को देता है केवल उस भूमि का किराया नहीं होता जिस पर वह कोठी बनी होती है, वरन् उसमें उस रुपये का ब्याज भी सम्मिलित रहता है जो कोठी की इमारत बनाने में लगा है।

परन्तु अर्थशास्त्र में लगान शब्द का अर्थ साधारण बोलचाल की भाषा के अर्थ से भिन्न होता है। अर्थशास्त्र में लगान का आशय उस भुगतान से हुआ करता है जो केवल भूमि (अथवा अन्य प्रकृतिदत्त वस्तुओं) के प्रयोग के बदले में दिया जाता है और जिसमें ब्याज इत्यादि कोई दूसरी वस्तु सम्मिलित नहीं रहती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि ऐसा लगान एक आसामी एक भूमि के स्वामी को दे। यदि भूमि का स्वामी स्वयं ही भूमि को काम में लाता है तो इस लगान को वह स्वयं ही प्राप्त करेगा। अर्थशास्त्र के विद्वान् मार्शल के मतानुसार किसी व्यक्ति को भूमि (या प्रकृति की अन्य देन, जैसे जलप्रपात, खान, मछली के जलाशय आदि) का स्वामी होने के नाते जो आय होती है, उसे आर्थिक लगान कहते हैं (' The income derived from the ownership of land and other gifts of nature is commonly called rent'') वास्तव में आर्थिक लगान एक सापेक्षिक लाभ है जो, जैसा कि हम आगे देखेंगे, भूमि या अन्य प्राकृतिक देन के स्वामी को सीमान्त भूमि या प्रकृतिदत्त वस्तु की अपेक्षा अधिक उपजाऊ अथवा अधिक लाभप्रद स्थिति के कारण मिलता है "The rent of any given piece of land is what it will produce over and above what could be produced on the poorest land in cultivation by the same amount of labour and capital."—*Carver.*)।

(यहाँ पर 'आर्थिक लगान' (Economic Rent) और 'ठेके का लगान' (Contract Rent) में क्या भेद है, समझ लेना आवश्यक है। जो आय किसी व्यक्ति

को भूमि या प्रकृति की अन्य देन के स्वामी होने के नाते, उनके अधिक लाभप्रद होने के कारण होती है उसे आर्थिक लगान कहते हैं। परन्तु यदि वह स्वामी अपनी भूमि को किसी दूसरे को काम में लाने के लिए दे देता है और उसके बदले में उससे कुछ लगान लेना तय कर लेता है, तो जो लगान किसान इस तरह जमींदार को देना तय करता है, उसे ठेके का लगान कहते हैं; क्योंकि जमींदार तथा किसान के बीच लगान के लिए एक ठेका हो जाता है। यद्यपि ठेके के लगान की मात्रा भूमि के स्वामी तथा उसके किराये पर लेनेवाले के बीच आर्थिक लगान के आधार पर ही तय होती है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ठेके का लगान हमेशा ही आर्थिक लगान के बराबर हो। यह कम भी हो सकता है और अधिक भी। नये देशों में, जहाँ भूमि बहुत है और आदमी कम हैं, ठेके का लगान आर्थिक लगान से कम होता है परन्तु घने बसे हुए देशों में, जैसे भारतवर्ष में, जहाँ आदमी बहुत हैं और भूमि कम है, ठेके का लगान आर्थिक लगान से अधिक होता है। यही कारण भारत के किसानों की गरीबी का है हाँ यदि पूर्ण प्रतियोगिता हो तो ठेके का लगान आर्थिक लगान के बराबर होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की यह है कि आर्थिक लगान भूमि के मालिक को स्वयं प्राप्त होता है और ठेके का लगान तब तक नहीं होता जब तक जमींदार और किसान दोनों पक्ष (यानी एक लगान देनेवाला और एक लगान लेनेवाला) नहीं होते हैं, जैसे कि जब एक किसान अपनी जमीन खुद जोतता है तो ठेके के लगान का कोई सवाल नहीं उठता; परन्तु वह आर्थिक लगान स्वयं प्राप्त करेगा, यदि उसकी भूमि सीमान्त भूमि से अच्छी है।)

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त
(*Ricardian Theory of Rent*)

लगान के सम्बन्ध में रिकार्डो का नाम बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि रिकार्डो से पूर्व भी अर्थशास्त्रियों ने लगान के सिद्धान्त के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं, परन्तु लगान के सिद्धान्त का यथाक्रम विकास सबसे पहले रिकार्डो ने ही किया।

(अ) रिकार्डो के मतानुसार, लगान भूमि की उपज का वह अंश है जो भूमि के स्वामी को भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों के लिए दिया जाता है। "Rent is that portion of the produce of the earth which is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil."

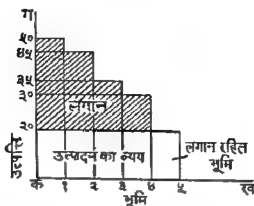
(ब) रिकार्डो का कहना था कि प्रत्येक देश की सभी जमीनें समान रूप से उपजाऊ नहीं होती हैं और जब सर्वप्रथम खेती करना प्रारम्भ किया जाता है तो लोग सबसे पहले सबसे अधिक उपजाऊ भूमि पर खेती करते हैं। जब तक सबसे उपजाऊ भूमि की पैदावार से देश की आवश्यकता की पूर्ति भली प्रकार हो जाती है तब तक कम उपजाऊ भूमि में खेती करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसी दशा में किसानों को लगान के रूप में कुछ भी नहीं देना पड़ता है, परन्तु ज्यों-ज्यों देश की जनसंख्या बढ़ती जाती

है त्यों त्यों भूमि के उत्पादन की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है, अतः किसान अब कम उपजाऊ भूमि पर भी खेती करना शुरू कर देते हैं। दोनों प्रकार की भूमियों में लागत एक ही होती है, परन्तु कम उपजाऊ भूमि की उपज अधिक उपजाऊ भूमि की अपेक्षा कम होती है, इसी तरह जब पहली तथा दूसरी श्रेणी की भूमियों की उपज से भी आवश्यकता की पूर्ति सम्पूर्ण रूप से नहीं होती तो तीसरी श्रेणी की भूमि में खेती की जाती है और जनसंख्या के साथ-साथ आवश्यकता बढ़ने पर कम और फिर उससे कम उपजाऊ भूमि पर खेती की जाने लगती है।

जब तक केवल एक प्रकार की भूमि, यानी सबसे उपजाऊ भूमि पर ही खेती होती है तब तक लगान का कोई प्रश्न नहीं उठता। परन्तु जब उससे कम उपजाऊ भूमि पर भी खेती होने लगती है तब हम देखेंगे कि उसी खर्च से पहली भूमि पर उपज दूसरी भूमि की अपेक्षा अधिक होगी और यह जो अन्तर दोनों भूमियों की उपज में होगा उसे हम लगान कहेंगे। मान लिया कि पहली भूमि से उपज ५० मन होती है और दूसरी से केवल ४५ मन तो ५ मन (यानी ५० मन—४५ मन) लगान कहलायेगा और यह लगान पहली भूमि को प्राप्त होगा, दूसरी भूमि सीमान्त भूमि (marginal land) या लगान रहित भूमि (no-rent land) कहलायेगी। इसी तरह जब तीसरी भूमि पर भी खेती होने लगेगी तो तीसरी भूमि सीमान्त भूमि या लगान रहित भूमि बन जायेगी और पहली दोनों भूमियों को लगान प्राप्त होगा। मान लिया कि पहली भूमि की उपज ५० मन है, दूसरी की ४५ मन और तीसरी की ३५ मन, तो पहली भूमि का लगान १५ मन (५० मन—३५ मन) हो जायेगा और दूसरी भूमि का लगान १० मन (४५ मन—३५ मन) होगा। इसी प्रकार यदि चौथी भूमि सीमान्त भूमि बन जायगी और इसकी उपज ३० मन है तो पहली, दूसरी और तीसरी भूमि का लगान क्रमशः २० मन, १५ मन और ५ मन हो जायगा और यदि पाँचवीं भूमि सीमान्त भूमि बन जायगी और इसकी उपज २० मन है तो पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी भूमि का लगान क्रमशः ३० मन, २५ मन, १५ मन और १० मन हो जायगा—ज्यों-ज्यों सीमान्त भूमि कम और कम उपजाऊ भूमि होती जायगी त्यों त्यों प्रत्येक अन्य भूमि का लगान बढ़ता जायगा।

				सीमान्त भूमि
उत्पत्ति ५० मन	उत्पत्ति ४५ मन	उत्पत्ति ३५ मन	उत्पत्ति ३० मन	उत्पत्ति २० मन
लगान ३० मन	लगान २५ मन	लगान १५ मन	लगान १० मन	लगान कुछ नहीं
(५० मन—२० मन)	(४५ मन—२० मन)	(३५ मन—२० मन)	(३० मन—२० मन)	(२० मन—२० मन)

इसी को एक चित्र के रूप में भी दिखाया जा सकता है :—



[रिकार्डो के लगान की माप द्रव्य के रूप में—साम्य की अवस्था में सबसे कम उपजाऊ भूमि की आय व्यय के बराबर होनी चाहिए (यदि आय व्यय से अधिक होगी, तो उसके एक श्रेणी और आगे की भूमि पर भी खेती करना लाभदायक होगा और यदि आय व्यय से कम होगी तो यह भूमि भी नहीं जोती जायगी और इसके पहले की भूमि सीमान्त भूमि बन जायगी) और इसीलिए इस सीमान्त भूमि को लगान-रहित भूमि कहते हैं। और चूँकि इसी लगान रहित भूमि या सीमान्त भूमि की लागत से ही उपज का मूल्य निर्धारित होता है इसलिए जो भूमि इस सीमान्त भूमि से अधिक उपजाऊ है उसकी उपज सीमान्त भूमि की उपज से अधिक होगी, अतः उनकी आय भी सीमान्त भूमि की आय से (यानी लागत से) अधिक होगी और इसी बचत को लगान कहते हैं।

भूमि की श्रेणियाँ	उत्पत्ति
पहली	५० मन
दूसरी	४५ ,,
तीसरी	३५ ,,
चौथी	३० ,,
पाँचवीं	२० ,,
छठीं	१० ,,

अब यदि उपरोक्त तालिका में गेहूँ का भाव २० रु० प्रति मन हो और प्रत्येक श्रेणी की भूमि में उत्पादन-व्यय ४०० रु० हो तो पाँचवीं भूमि सीमान्त या लगान-रहित भूमि होगी। (क्योंकि इस भूमि का खर्च ४०० रु० है और २० मन से आय भी २० रु० प्रति मन के हिसाब से ४०० रु० तक होती है) और पहली, दूसरी, तीसरी तथा चौथी भूमि की आय क्रमशः १,००० रु०, ६०० रु०, ७०० रु० तथा ६०० रु० होगी तथा व्यय प्रत्येक भूमि में ४०० रु० होगा इसलिए उनका लगान क्रमशः १,००० − ४०० = ६०० रुपये, ६०० − ४०० = ५०० रु०, ७०० − ४०० = ३०० रु०, तथा ६०० − ४०० = २०० रु० होगा।]

(स) लगान न केवल विस्तृत खेती (Extensive Cultivation) के तरीके में ही पाया जाता है वरन् गहरी खेती (Intensive Cultivation) के तरीके से भी उत्पन्न होता है। यदि किसी देश में सभी प्रकार की भूमियों में खेती हो रही हो परन्तु फिर भी देश की आवश्यकता उस उत्पादन से पूरी न हो रही हो तो किसान उसी भूमि पर जिस पर वह खेती कर रहा है, श्रम और पूँजी की मात्राओं को बढ़ाकर उत्पत्ति बढ़ाने का प्रयत्न करेगा। परन्तु ऐसी खेती में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) जल्दी ही लागू हो जाता है। इसलिए श्रम और पूँजी की मात्राओं को बढ़ाने से सीमान्त उत्पत्ति कम होती जायगी। अन्त में एक ऐसी स्थिति आयेगी जब श्रम और पूँजी की अन्तिम मात्रा के बढ़ने से उत्पादन केवल इतना बढ़ेगा कि उससे प्राप्त आय, श्रम व पूँजी की अन्तिम इकाई के व्यय के बराबर होगी। इस अन्तिम इकाई को लगान रहित इकाई कह सकते हैं परन्तु उस भूमि में श्रम और पूँजी की पहली मात्राओं का उत्पादन सीमान्त मात्रा के उत्पादन से अधिक होगा। उस अन्तर को आर्थिक लगान कहेंगे।

	1st dose	2nd dose	3rd dose
उत्पत्ति—	१० मन	८ मन	६ मन
लगान—	१० − ६ = ४ मन	८ ६ = २ मन	६ − ६ = ० मन

(द) लगान भूमि की अपेक्षाकृत लाभप्रद स्थिति के कारण भी उत्पन्न होता है। मान लिया अ, ब, स तथा द सभी भूमि समान रूप से उपजाऊ हैं परन्तु उनकी दूरी शहर से क्रमशः २, १०, ३० तथा ८० मील है। यह भी मान लीजिए कि प्रत्येक भूमि में ४० मन गेहूँ उत्पन्न होता है, गेहूँ का शहर में भाव १५ रु० प्रति मन है, प्रत्येक खेत में उत्पादन व्यय ४०० रु० है, और गेहूँ शहर में लाने का भाड़ा एक आना प्रति मन प्रति मील है। तो उपज को शहर में लाने का भाड़ा क्रमशः ५, २५, ७५ तथा २०० रु० हुआ। इस प्रकार भाड़ा लगाकर कुल लागत ४०५, ४२५, ४७५ और ६०० रु० हुई। द भूमि की कुल आय तथा कुल लागत दोनों ६०० रु० के बराबर है इसलिए द भूमि सीमान्त भूमि या लगान रहित भूमि हुई। अन्य सब भूमियों की आय व्यय से अधिक है, अतः उनको लगान प्राप्त होगा जो क्रमशः ६०० ४०५ १६५ रु०, ६०० − ४२५ = १७५ रु० तथा ६०० − ४७५ = १२५ रु० होगा।

रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना

(*Criticism of Ricardian Theory*)

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की बहुत आलोचना हुई है। उनमें निम्नलिखित आलोचनाएँ प्रमुख हैं :—

(१) लोगों का कहना है कि भूमि में कोई मौलिक और अविनाशी शक्तियाँ (original and indestructible powers of the soil) नहीं हैं। उदाहरणार्थ भूमि को लगातार जोतने से उसकी उपजाऊ शक्ति कम हो जाती है। दूसरे, भूमि में कुछ गुण व शक्तियाँ ऐसी होती हैं जो मौलिक नहीं होतीं वरन् बाद में प्राप्त की हुई होती हैं, और यह मालूम करना अत्यन्त कठिन है कि उत्पत्ति का अमुक भाग भूमि की मौलिक (तथा अविनाशी) शक्ति के कारण हुआ और अमुक भाग भूमि की कृत्रिम शक्तियों के कारण उत्पन्न हुआ।

(२) रिकार्डो ने अपने लगान सिद्धान्त में मान लिया है कि प्रत्येक नये देश में सबसे पहले सबसे उत्तम जमीन पर खेती की जाती है परन्तु केरी तथा रौशर ने इस बात की आलोचना की है। उनके कथनानुसार यह आवश्यक नहीं है कि सबसे पहले सबसे उत्तम भूमि पर ही खेती की जाय। लोग सबसे पहले सबसे निकट की भूमि पर खेती करते हैं चाहे वह अधिक उपजाऊ हो या कम उपजाऊ।

अन्य कुछ लोगों का मत है कि लोग सबसे पहले सबसे कम उपजाऊ भूमि पर खेती करते हैं क्योंकि सबसे कम उपजाऊ जमीन हल्की होती है और आसानी से उस पर खेती की जा सकती है। और उनका कहना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह क्रम सही है। [परन्तु लागत की दृष्टि से यह क्रम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वास्तव में लगान तो अधिक उपजाऊ भूमि तथा सीमान्त भूमि की किसी एक समय की उपजों का अन्तर है, चाहे कोई भी पहले या पीछे जोती गई हो।]

(३) रिकार्डो का लगान सिद्धान्त एक लगान रहित भूमि (no rent land) की कल्पना के आधार पर कार्यान्वित होता है। परन्तु अर्थशास्त्र के कुछ विद्वानों का मत है कि बिना लगान की भूमि सभी देशों में नहीं पाई जाती है। जिन देशों की जनसंख्या बहुत अधिक है, वहाँ प्रत्येक भूमि पर लगान देना पड़ता है। [परन्तु इसके जवाब में यह कहा जा सकता है कि रिकार्डो के अनुसार यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक देश में ही लगान रहित भूमि पाई जाय। लगान रहित भूमि किसी अन्य देश में पाई जा सकती है, जैसे लगान रहित भूमि भारतवर्ष में न होकर आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि किसी देश में हो सकती है जहाँ जनसंख्या कम हो।]

(४) लगान तथा मूल्य में जो सम्बन्ध रिकार्डो ने बताया है उसके अनुसार लगान सदा मूल्य से निर्धारित होता है, लगान का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। परन्तु यह सदैव सत्य सिद्ध नहीं होता है। अक्सर व्यय मूल्य में सम्मिलित रहता है। इस विषय का विवेचन आगे किया गया है। ("लगान और कीमत" शीर्षक पढ़िए।)

(५) रिकार्डो ने लगान के सिद्धान्त की कल्पना पूर्ण प्रतियोगिता के आधार पर की है परन्तु वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पाई जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता केवल काल्पनिक अवस्था है और इस काल्पनिक अवस्था के आधार पर प्रतिपादित सिद्धान्त वास्तविक जीवन में सच्चा सिद्ध नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिए भारत में लगान की मात्रा रीति रिवाज पर और सरकारी कानून पर भी निर्भर है, केवल प्रतियोगिता पर नहीं और इसलिए रिकार्डो का नियम भारत में लागू नहीं है।

(६) रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की अन्तिम आलोचना यह है कि उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के हिस्से को निर्धारित करने का एक ही सिद्धान्त होना चाहिए और भूमि के हिस्से को मालूम करने के लिए अलग सिद्धान्त बनाने की कोई आवश्यकता नहीं।

वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने लगान का सिद्धान्त नये तरह से बताया है जो नीचे दिया गया है :—

लगान का आधुनिक सिद्धान्त
(*Modern Theory of Rent*)

वर्तमान समय के अर्थशास्त्र के विद्वान् लगान का निर्धारण माँग और पूर्ति के आधार पर करते हैं। रिकार्डो का अन्तर सम्बन्धी सिद्धान्त (Differential principle) केवल यह बताता है कि अधिक उपजाऊ भूमि का लगान कम उपजाऊ भूमि से अधिक होता है। परन्तु लगान क्यों दिया जाता है इसका उत्तर यह सिद्धान्त नहीं देता है। भूमि की विभिन्नता, चाहे वह उर्वरता से सम्बन्ध रखता हो चाहे स्थिति से, हमें केवल यह बताती है कि एक भूमि का लगान दूसरी भूमि के लगान से क्यों अधिक है, इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि लगान का क्या कारण है। वास्तव में लगान का कारण पूर्ति का माँग से कम होना (scarcity) है और यद्यपि सभी भूमि समान रूप से उपजाऊ हों परन्तु भूमि की उत्पत्ति माँग से कम हो तो भी भूमि के लिए लगान अवश्य देना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि १००० बीघा भूमि है, सब भूमि समान है, और प्रति बीघा उपज दो मन है। इस तरह कुल उपज २००० मन हुई। अब यदि यह मान लिया जाय कि कीमत १० रु० प्रति मन है, और लागत भी १०) रु० प्रति मन है, तो इसका मतलब यह हुआ कि अनाज का कीमत २०,००० रु० वसूल होगी; और भूमि पर कोई लगान न मिलेगा क्योंकि उपज को बेचकर वही धन प्राप्त होता है जो उसके उगाने में खर्च किया जाता है। परन्तु यदि जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण अनाज की माँग बढ़ जाती है जब कि पूर्ति नहीं बढ़ सकती तो दाम बढ़ जायेंगे। मान लीजिए कि दाम २० रु० प्रति मन हो जाता है तो कुल अनाज ४०,००० रु० में बिकेगा और इस तरह भूमि के मालिकों को २०,००० रु० की बचत होगी यानी २०,००० रु० आर्थिक लगान होगा। यह क्यों? इसलिए नहीं कि भूमि भूमि की उपजाऊ शक्ति में कोई अन्तर है—यहाँ तो सब भूमि समान है, बल्कि इसलिए कि अनाज की माँग पूर्ति से अधिक है। *इससे स्पष्ट है कि लगान का कारण भूमि का कम या अधिक उपजाऊ या लाभप्रद* होना नहीं है बल्कि उसका कारण पूर्ति का माँग से कम होना है। चूँकि भूमि या इसकी उपज की पूर्ति माँग के अनुसार नहीं बढ़ पाता, इस कारण खेती में कृषक को लागत-व्यय के अतिरिक्त कुछ बचत प्राप्त हो जाती है जिससे प्रत्येक भूमि पर लगान उत्पन्न होता है। हाँ यह बात अवश्य है कि किसी भूमि पर लगान का अधिक या कम होना उसके अधिक या कम उपजाऊ होने पर ही निर्भर रहता है।

इस सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि लगान की समस्या केवल भूमि में नहीं उठती, बल्कि सब ही साधनों के साथ है। भूमि और उत्पत्ति के अन्य

साधनों में वे कुछ भी अंतर नहीं मानते। उनका विचार है कि भूमि में कोई भी ऐसा गुण विद्यमान नहीं है जो अन्य साधनों में न मिलता हो। रिकार्डो के विचार में स्वल्प होना भूमि की विशेषता है, इसलिए उन्होंने लगान का एक सिद्धान्त बताया, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मजदूरी, ब्याज और लाभ सभी में भूमि का अंश (land element) पाया जाता है, सभी स्वल्प होते हैं, और उसके कारण जो आय प्राप्त होती है उसे उस साधन का लगान कहते हैं।

मिसेज जोअन रौबिन्सन के शब्दों में "The essence of the conception of rent is the conception of a surplus earned by a particular part of a factor of production (any factor of production—not necessarily land) over and above the minimum earnings necessary to induce it to do its work' इसी को दूसरे शब्दों में स्टोनियर और हेग ने यों कहा है कि "Rent may be defined as the difference between the reward to any factor of production in imperfect elastic supply with respect to changes in its price and its transfer earnings '

[नवीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार सब ही प्रकार की बचत लगान कहलाती है।* 'उपभोक्ता की बचत' को उपभोक्ता का लगान (Consumer's Rent) कहते हैं। इसी प्रकार दो एक से श्रमिकों या व्यवस्थापकों की मजदूरी के अन्तर को प्रो॰ मार्शल ने योग्यता का लगान (Rent of Ability) कहा है। उनका कहना है कि अन्य स्थितियों के यथावत् रहते हुए भी एक आदमी अधिक आय कमाता है और दूसरा कम आय कमाता है तो आय का यह अन्तर योग्यता का लगान है। यह योग्यता का लगान प्राकृतिक योग्यता के कारण उत्पन्न होता है। प्राकृतिक योग्यता ईश्वरदत्त गुण है। इसको प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कुछ त्याग नहीं करना पड़ता। इसी तरह पूँजी के सम्बन्ध में आभास लगान (Quasi-Rent) होता है और साहस के सम्बन्ध म अतिरिक्त लाभ (Surplus Profit)। मार्शल का कहना है कि भूमि का लगान कोई अलग चीज नहीं है, यह एक बड़ी जाति की एक प्रमुख श्रेणी है 'Rent is not a thing seen by itself but as a leading species of a large genus]

इस प्रकार जो बात उत्पत्ति के और साधनों के साथ है वही भूमि के साथ होना भी स्वाभाविक है और किसी एक भूमि के टुकड़े का लगान प्राय उस भूमि की "सीमान्त उत्पत्ति" के बराबर ही होता है। मान लीजिए कि उर्वरा शक्ति और स्थान आदि की भिन्नता नहीं है (सभी भूमि के टुकड़े एक हा बराबर उपजाऊ हैं और बाजार से एक ही बराबर की

---

*"The concept of rent is the concept of this surplus This surplus today is no longer a special feature of land We have today a large series of such revenues which arise in the case of factors of production other than land which are analagous to the rent of land '

दूरी पर स्थिति है) और मान लीजिए कि एक किसान ५० एकड़ भूमि पर श्रम और पूँजी की १०० इकाइयों की पूँजी से खेती कर रहा है, और इस प्रकार कुछ फसल पैदा करता है। अब मान लीजिए कि वह १ एकड़ भूमि और बढ़ा देता है और अन्य उत्पत्ति के साधन वैसे ही रखता है, तो इसका मतलब यह हुआ कि वह अब श्रम और पूँजी की १०० इकाइयों से ५१ एकड़ भूमि की खेती कर रहा है। और प्रत्येक एकड़ भूमि पर अधिक विस्तृत रूप से खेती की जा रही है। ऐसा करने से अब जितनी उपज पहले से अधिक प्राप्त होगी वही ५१ वां एकड़ भूमि का सीमान्त उत्पादकता होगी और इस एक एकड़ भूमि का लगान इस सीमान्त उत्पादन के बराबर ही होगा।

वास्तव में आजकल लगान एक दूसरी तरह से जाना जाता है। इस लगान की नाप हस्तान्तरण आय (transfer earnings or opportunity cost) से की जाती है। मान लीजिये कि एक भूमि के टुकड़े पर एक मकान बनाया जा सकता है, या एक दूकान बनाई जा सकती है, और मान लीजिए कि इस भूमि पर यदि मकान बनाया जाता है तो भूमि के इस प्रयोग से ५०० रु० साल की आय होती है और यदि दूकान बनाई जाती है तो इस प्रयोग में १,५०० रु० साल की आय होती है। तो ऐसी स्थिति में ५०० रु० भूमि की हस्तान्तरण आय (transfer earnings or opportunity cost) कही जायगी और भूमि का लगान (१,५००–५००) यानी १,००० रु० होगा। इसी तरह यदि एक विश्वविद्यालय का प्रोफेसर १,००० रु० माहवार वेतन पाता है, और किसी अन्य स्थान पर अधिक से अधिक ८०० रु० माहवार कमा सकता है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि विश्वविद्यालय के इस प्रोफेसर ने विश्वविद्यालय में काम करने के लिए ८०० रु० प्रति माह का त्याग किया, परन्तु उसे विश्वविद्यालय में १,००० रु० मिलते हैं इसलिए १,०००–८०० = २०० रु० प्रति माह बिना त्याग के प्राप्त हुए। यह एक प्रकार की मुफ्त की देन है जिसे लगान कह सकते हैं। इसी तरह ब्याज और लाभ में लगान का अंश है और इसके उदाहरण दिये जा सकते हैं। Benham के शब्दों में In general the excess of what any unit gets over its transfer earnings is of the nature of rent

रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त और लगान के आधुनिक सिद्धान्त की तुलना

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त	आधुनिक लगान का सिद्धान्त
१ लगान भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों के उपयोग के बदले दिया जाता है (Rent is the return for the original and indestructible powers of the soil)	लगान एक प्रकार का अतिरिक्त लाभ है जो भूमि ही नहीं बल्कि उत्पादन का हर साधन उपार्जित करता है, क्योंकि भूमि में ऐसा कोई गुण नहीं है जो अन्य साधनों में न मिले (Rent is a surplus earned by any factor of production—not necessarily land—over and above the minimum earnings necessary to induce it to do its work)

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त	आधुनिक लगान का सिद्धान्त
२ लगान भूमि की उर्वरता और स्थिति म भिन्नता होने के कारण उत्पन्न होता है (Rent is due to differences in fertility and situation)	लगान के उत्पन्न होने का कारण भूमि का उपज या भूमि की दुर्लभता है अर्थात् उसकी विशिष्टता है (Rent is due to scarcity or specificity)
३ लगान सीमान्त भूमि तथा अधि सीमान्त भूमि की उपज का अन्तर होता है (Rent is a surplus above the marginal or the no rent land)	लगान की माप हस्तातरण आय से की जाती है (The excess of what any unit gets over its transfer earnings is of the nature of rent)
४ लगान मूल्य म सम्मिलित नहीं होता और उसका निर्धारण नहीं करता (Rent does not form part of price because marginal land is no rent land)	न्यूनता लगान मूल्य में सम्मिलित रहता है, भेदात्मक लगान मूल्य में सम्मिलित नहीं होता (Scarcity rent enters in to price differential rent does not In other words, transfer earnings are included in price)

लगान और कीमत

(*Rent and Price*)

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि लगान और कीमत का आपस म क्या सम्बन्ध है। रिकार्डो ने अपने लगान सिद्धान्त में बताया है कि भूमि का लगान उसकी उपजाऊ शक्ति तथा वस्तु के मूल्य पर निर्भर रहता है। अनाज का मूल्य इसलिए अधिक नहीं है कि उस भूमि पर लगान दिया जाता है, वरन् भूमि का लगान इसलिए अधिक है कि अनाज का मूल्य अधिक है <u>Corn is not high because rent is paid but rent is paid because corn is high.</u> कारण यह है कि अनाज का मूल्य सीमान्त भूमि के लागत से निर्धारित होता है और सीमान्त भूमि के लागत में लगान सम्मिलित नहीं होता है (यही कारण है कि उसे लगान रहित भूमि भी कहते हैं)। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक या वास्तविक लगान उत्पादन व्यय का कोई भाग नहीं होता है* और न उस पर कोई प्रभाव ही डाल सकता है वरन् वस्तु का मूल्य ही भूमि के लगान को तय करता है। जब कभी मूल्य में परिवर्तन होता है तो लगान म भी परिवर्तन होता है।

* परन्तु इसका यह मतलब कदापि नहीं कि उत्पादक जो मूल्य अपनी वस्तुओं के लिए लेता है वह उसम उस लगान को सम्मिलित नहीं करता जो वह उत्पादन में लगी हुई भूमि के लिए देता है। यह तो एक व्यक्तिगत दृष्टिकोण है। जब हम कहते हैं कि लगान मूल्य में सम्मिलित नहीं होता तो हमारा मतलब यह होता है कि समाज के लिए लगान एक प्रकार की बचत (या अतिरेक) है, क्योंकि भूमि प्रकृति की देन है और उसके प्राप्त करने के लिए कुछ त्याग नहीं करना पड़ता।

उदाहरणार्थ यदि माँग अधिक होने से मूल्य बढ़ जाय तो किसान उत्पादन को बढ़ाने के लिए कम उपजाऊ भूमि पर भी खेती करना प्रारम्भ कर देंगे, फलस्वरूप सीमान्त भूमि अधि सीमान्त (Super marginal) हो जायगी और अब कम उपजाऊ भूमि सीमान्त (marginal) भूमि हो जायगी, जिससे अधिक उपजाऊ भूमि तथा सीमान्त भूमि की उपज का अन्तर बढ़ जायगा। यही अन्तर लगान कहलाता है। इसलिए इससे यह सिद्ध होता है कि मूल्य के बढ़ने पर लगान बढ़ता है। इसके विपरीत यदि मूल्य कम हो जाय तो सीमान्त भूमि की आय लागत से कम हो जायगी, अतः किसान सीमान्त भूमि पर खेती करना बन्द कर देगा। अब अधिक उपजाऊ भूमि सीमान्त भूमि बन जायगी, जिससे अधिक उपजाऊ भूमि तथा सीमान्त भूमि की उपज का अन्तर घट जायगा। इस प्रकार मूल्य के घटने से लगान भी घट जायगा। इस विचार की पुष्टि के लिए पृ० ३६७ पर दिये हुए उदाहरण को पुनः पढ़े। यदि मूल्य के कम होने से अब चौथी भूमि सीमान्त भूमि हो जाय तो पहली, दूसरी तथा तीसरी भूमियों का लगान क्रमशः ५०-३० = २०; ४५ – ३० = १५ और ३५-३० = ५ मन होगा। पहले इनका लगान क्रमशः ३० मन, २५ मन तथा १५ मन था। इसलिए हम कहते हैं कि लगान को तय करने में मूल्य का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है और मूल्य पर लगान का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। हाँ, इसके निम्न कुछ अपवाद अवश्य हैं जिनमें लगान का मूल्य पर प्रभाव पड़ता है :—

(१) यदि किसी देश में सरकार का भूमि पर एकाधिपत्य हो और लगान आर्थिक लगान से अधिक लिया जाय तो सीमान्त भूमि को भी लगान देना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में किसान वस्तु के मूल्य में लगान सम्मिलित कर लेगा। इसी प्रकार भूमि की कमी के कारण सीमान्त भूमि से भी लगान लिया जा सकता है। इस अवस्था में ही लगान मूल्य को प्रभावित करेगा।

(२) यदि किसी भूमि को एक प्रयोग से हटाकर दूसरे प्रयोग में लाया जाता है और यदि उस भूमि को पिछले प्रयोग में कुछ लगान प्राप्त था तो दूसरे प्रयोग के लिए वह पिछला लगान देना पड़ेगा चाहे दूसरे प्रयोग में वह भूमि सीमान्त भूमि ही हो। मान लिया कि यदि एक भूमि पर रुई की खेती हो तो उस भूमि को इस प्रयोग में ४० रु० की बचत होगी। अब मान लो कि कृषक को इस भूमि पर गेहूँ की खेती करने की आवश्यकता पड़ती है तो इस भूमि को गेहूँ के प्रयोग में लाने के लिए ४० रु० पारितोषिक देना पड़ेगा। और जब गेहूँ की लागत निकाली जायेगी तो उस लागत में यह खर्च सम्मिलित होगा। इस तरह हम कह सकते हैं कि यद्यपि यह भूमि गेहूँ की खेती में सीमान्त भूमि है तो भी इस भूमि की लागत में ४० रु० लगान सम्मिलित है और इस सीमा तक कीमत में लगान सम्मिलित रहता है।

(३) यदि भूमि का लगान अधिक हो तो किसान कम भूमि में अधिक श्रम और पूँजी लगाकर उत्पादन करेगा। इसके विपरीत यदि भूमि का लगान कम है तो वह अधिक भूमि पर कम श्रम तथा पूँजी लगाकर उत्पादन करेगा। इस प्रकार लगान की दर भूमि की मात्रा के प्रयोग को कम या अधिक करके उत्पादन व्यय को प्रभावित करती है और उत्पादन व्यय के प्रभावित होने से मूल्य पर भी प्रभाव पड़ता है।

परन्तु डेवेनपोर्ट का कहना है कि न तो लगान का प्रभाव कीमतों पर पड़ता है और न कीमतों का प्रभाव लगान पर पड़ता है बल्कि लगान व कीमतों पर भूमि के उत्पादन की माँग तथा पूर्ति का प्रभाव पड़ता है। यदि माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो तो मूल्य तथा लगान दोनों अधिक होंगे और यदि माँग पूर्ति की अपेक्षा कम हो तो मूल्य तथा लगान दोनों कम होंगे। Rent neither determines price nor is determined by price Both price and rent are governed by the relative scarcities of the products of lands They both vary with the changes in the relative scarcity *Davenport*

लगान को प्रभावित करनेवाली बातें

(*Factors affecting Rent*)

हम ऊपर देख चुके हैं कि मूल्य का लगान के ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसलिए जो कारण मूल्य को प्रभावित करते हैं वे लगान पर भी प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार के कारण निम्न हैं —

(१) जनसंख्या—जनसंख्या के बढ़ने पर भूमि के उत्पादन की माँग में वृद्धि हो जाती है, अतः लोग विस्तृत खेती तथा गहरी खेती दोनों तरीकों से उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं और इन दोनों ही तरीकों से लगान में वृद्धि होती है। ज्यों ज्यों सीमान्त भूमि नीचे जाती है त्यों त्यों कीमत बढ़ती है और लगान भी बढ़ता है। इसी प्रकार सभ्यता की उन्नति के परिणामवश लगान में वृद्धि होने लगती है, क्योंकि (१) रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जाने से खाने पीने तथा पहिनने के लिए अधिक वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है और इस प्रकार खेती की भूमि की माँग बढ़ जाती है, और (२) खेती के अतिरिक्त अन्य कामों—जैसे पार्क, खेलने के मैदान आदि के लिए भी भूमि की माँग बढ़ जाती है। अतः लगान भी बढ़ जाता है।

(२) आवागमन के साधनों की उन्नति का प्रभाव—आने जाने के साधनों की उन्नति से प्रत्येक देश के लगान में परिवर्तन होता है। यदि आवागमन के साधनों की उन्नति से उत्पादन व्यय कम हो जाय और ढुलाई के खर्च के कम होने से निर्यात में वृद्धि हो जाय, तो भूमि के उत्पादन की माँग बढ़ने से मूल्य बढ़ेगा। फलस्वरूप लगान में भी वृद्धि होगी। उदाहरण के लिए १६ वीं शताब्दी में जब यातायात के साधनों में क्रान्ति हुई, तब अमेरिका के किसान अपना गेहूँ इँगलैंड को भेजने लगे जहाँ कि वह बहुत ऊँचे मूल्य पर बिकने लगा, अतः अमेरिका में भूमि की माँग बढ़ गई, अनु-सीमान्त भूमि सीमान्त होने लगा और लगान बराबर बढ़ने लगा। इसके विपरीत यदि आने जाने के साधनों की उन्नति से आयात बढ़ जाय, विदेशी सामान सस्ता मिलने लगे, तो अपने देश की भूमि के उत्पादन की माँग कम हो जायेगी, जिससे मूल्य भी कम हो जायेगा और मूल्य के कम होने से लगान भी कम हो जायेगा। उदाहरण के लिए जब १६ वीं शताब्दी में इँगलैंड में अमेरिका से सस्ता गेहूँ आने लगा तो इँगलैंड में बहुत सी भूमि का जोता जाना बन्द हो गया। जो भूमि

है। दूसरी तरह के मछली पकड़ने के स्थान को सीमान्त स्थान कहा जा सकता है। इसलिए सीमान्त स्थान तथा अन्य किसी स्थान के मछली के उत्पादन के अन्तर को भी लगान कहा जाता है।

अनायास वृद्धि

(*Unearned Increment*)

देश में जनसंख्या के बढ़ने से, या यातायात के साधनों की उन्नति से, भूमि की माँग बहुत बढ़ जाती है। भूमि की आवश्यकता न केवल खेती करने के लिए होती है वरन् बाग, बगीचा, उद्योग धन्धों, आमोद प्रमोद तथा खेल कूद, आदि कई चीजों के लिए भी होती है। परिणामस्वरूप आबादी के निकट की भूमि की कीमत तथा लगान अपने आप बढ़ जाते हैं, और चूंकि भूमि के मालिक को इस वृद्धि के लिए कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, इसलिए इस वृद्धि को अनायास वृद्धि (*unearned increment*) कहते हैं। जैसे, जिस भूमि की कीमत न्यू देहली में दस वर्ष पहले १,००० रु० थी, आज १०,००० रु० है तो ६,००० रु० (१०,००० १,००० रु०) अनायास वृद्धि कहलायेगी।

कुछ लोगों का मत है कि अनायास वृद्धि के लिए भू-स्वामी को कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ा। यह वृद्धि समाज की उन्नति के कारण होती है। अतः इस वृद्धि को समाज के कार्य में व्यय करना चाहिए और सरकार को इसे कर आदि के रूप में ले लेना चाहिए। परन्तु ऐसा करने में कई कठिनाइयाँ सामने आती हैं —

पहली—अनायास वृद्धि तथा सपरिश्रम मूल्य वृद्धि को अलग अलग नहीं किया जा सकता है क्योंकि सामाजिक उन्नति के साथ साथ व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा भी भूमि का लगान व मूल्य बढ़ते रहते हैं। ऐसी दशा में यह कहना कठिन है कि भूमि के मूल्य में तथा लगान में कितनी वृद्धि सामाजिक उन्नति के द्वारा हुई और कितनी उन्नति जमींदार के प्रयत्न द्वारा हुई।

दूसरी जिस प्रकार सामाजिक उन्नति तथा जनसंख्या के बढ़ने पर भूमि के लगान तथा मूल्य में वृद्धि होती है, उसी प्रकार जनसंख्या के कम होने से भूमि का मूल्य तथा लगान कम हो सकता है। ऐसी अवस्था में उस कमी को कौन पूरा करेगा?

तीसरी—सामाजिक उन्नति के कारण न केवल भूमि के लगान में वृद्धि होती है, वरन् मजदूरी, ब्याज तथा लाभ सबमें वृद्धि होता है। क्या सरकार उत्पत्ति के इन अन्य साधनों के हिस्सों से अनायास वृद्धि को भी समाज के कार्यों के लिए ले लेगी? यदि नहीं, तो केवल भूमि की अनायास वृद्धि को क्यों?

आभास लगान

(*Quasi Rent*)

अर्थशास्त्र के विद्वान् मार्शल ने सर्वप्रथम आभास लगान के विचार को अर्थशास्त्र में स्थान दिया। मार्शल के अनुसार भूमि तथा अन्य प्रकृतिदत्त चीजों की पूर्ति सीमित

होने के कारण उनसे आय व्यय से अधिक होती है और इस प्राप्त हुई बचत को लगान कहा जाता है, ठीक इसी प्रकार मशीन आदि उत्पादन के कुछ ऐसे साधन हैं जो यद्यपि प्रकृति-दत्त नहीं हैं परन्तु उनकी पूर्ति माँग के अनुसार शीघ्र नहीं बढ़ाई जा सकती है, और यदि पूर्ति के अल्प काल में सीमित होने के कारण, उनसे प्राप्त आय व्यय से अधिक है तो इस बचत आय को भी आभास लगान (Quasi-Rent)* कह कर पुकारा जा सकता है। [इसे "लगान" (Rent) इसलिए कहते हैं कि इन साधनों की पूर्ति अल्प काल में सीमित होने के कारण इस आय में लगान के गुण आ जाते हैं। "आभास" या "अर्द्ध" (Quasi) इसलिए कहते हैं कि इन साधनों की पूर्ति स्थायी रूप से सीमित नहीं होती।] दीर्घ काल में इन साधनों की पूर्ति को माँग के अनुसार बढ़ाया जा सकता है और जब पूर्ति में वृद्धि हो जायेगी तो यह बचत-आय समाप्त हो जायगी। उदाहरणार्थ यदि चीनी की माँग एकाएक बढ़ जाय तो चीनी की पूर्ति शीघ्र माँग के अनुसार बढ़ाई नहीं जा सकती है क्योंकि अल्प काल में नई मशीन इत्यादि का बनाना सम्भव नहीं, इसलिए चीनी का मूल्य अवश्य बढ़ेगा। मान लिया, माँग के बढ़ने से मूल्य २५ रु० प्रतिमन से बढ़कर ३० रु० प्रतिमन हो जाता है। फलस्वरूप चीनी के मिल से, जिसका उत्पादन २०० मन है, आमदनी ५,००० रु० से बढ़कर ६,००० रु० हो जायेगी। अतः ६,००० – ५,००० = १,००० रु० की बचत-आय चीनी के उत्पादन की मशीन की पूर्ति के सीमित होने के कारण हुई जिसे आभास लगान कहते हैं। दीर्घ काल में चीनी की नई मशीन बन जाने से चीनी का उत्पादन बढ़ जायेगा और उत्पादन के बढ़ने से मूल्य कम हो जायेगा और इस प्रकार इस बचत आय का लोप हो जायेगा। [आभास लगान का तत्व केवल पूँजी वस्तु में ही नहीं पाया जाता है बल्कि यह मजदूरी और साहस में भी पाया जाता है। जब कभी किसी *विशेष प्रकार के श्रमिकों की माँग बढ़ जाती है, परन्तु इनकी पूर्ति उसी समय में नहीं बढ़ने* पाती और उनकी पूर्ति बढ़ने में कुछ समय लगता है, तो इन मजदूरों को ऐसे समय में असाधारण मजदूरी मिलती है और इस विशेष आय को आभास लगान कहते हैं। इत्यादि, इत्यादि।]

मार्शल ने एक दूसरे प्रकार की बचत आय को भी आभास लगान या अर्द्ध लगान कहा है। अल्प काल में किसी वस्तु का मूल्य प्रमुख लागत (prime cost) से अधिक हो सकता है। इस प्रकार कुल आय के प्रमुख लागत से अधिक होने के कारण कुछ बचत आय होगी जिसे आभास लगान कह सकते हैं। परन्तु दीर्घ काल में इस बचत आय से पूरक लागत (supplementary cost) पूरी की जायगी। अतः दीर्घ काल में यह बचत-आय समाप्त हो जायेगी। इसी लिए अल्प काल की इस बचत आय को आभास लगान कहते हैं।

---

*"The additional payment for those agents of production the supply of which, though alterable in a long period, is fixed in a short period, is technically known as Quasi-Rent."—Silverman.

QUESTIONS

1 What is the theory of rent by Ricardo ? Attempt a criticism of the theory (Agra 1954s, 51)

2 State and explain carefully the law of rent What factors affect the rent of agricultural land ? (Agra 1955)

3 What is the modern theory of rent ? Is it an improvement on the famous Ricardian Theory ? (Agra 1956, 52s., Rajputana 1955, 54)

4 Define Rent, and examine the relation between the price of agricultural produce and the rent of land (Alld 1954, 1952)

or

What is the relation of rent and price ? Explain clearly (Agra 1956, 55 54, 53 Rajputana 1955)

5 Rent is a surplus accruing to a specific factor, the supply of which is fixed. Explain (Alld 1950) Can other factors, besides land, also enjoy rent ? (Alld 1954 Agra 1955)

6 Discuss the effect of the following on the amount of rent of land —

(a) increase of population

(b) improvements in the means of transportation

(c) improvements in the methods of culuvation (Agra 1951s)

7 Tradesmen often say that they have to charge high prices because they have to pay high rent Do you agree, ? (Agra 1956)

8. Write short notes on —

(a) Quasi Rent (Agra 1958 53, 52 Alld 1955, 1953, 1947, 1946)

(b) Rent of Ability (Agra 1957, 56, 52)

(c) Unearned Increment (Agra 1953)

(d) Economic Rent and Contract Rent (Agra 1955, 1951s)

३३

वेतन या मजदूरी

(Wages)

मजदूर को उसके परिश्रम के बदले जो पुरस्कार दिया जाता है, उसे मजदूरी कहते हैं। दूसरे शब्दों म राष्ट्रीय आय का जो भाग श्रम को आता है उसे मजदूरी कहते हैं। "Wages are the reward earned by those who contribute any kind of labour to the production of goods or services."

कुछ अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी की परिभाषा बहुत सकुचित दी है। उदाहरणार्थ बेन्हैम का कहना है कि "A wage may be defined as a sum of money paid under contract by an employee to a worker for services rendered" इस परिभाषा के अनुसार मजदूरी का भुगतान केवल मुद्रा के रूप म ही किया जा सकता है। साथ ही मजदूरी केवल भाड़े के मजदूर को ही दी जा सकती है। ये दोनों बातें ही सही नहीं हैं। मजदूरी मुद्रा तथा वस्तु दोनों के रूप मे दी जा सकती है। भारतवर्ष के देहातों मे अब भी कहीं कहीं मजदूरी वस्तु के रूप म दी जाती है। इसके अतिरिक्त जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मजदूरी केवल भाड़े के मजदूर को ही नहीं दी जाती, वरन् जो मनुष्य स्वय स्वतन्त्रतापूर्वक अपना ही काम करता है उसके परिश्रम के पुरस्कार को भी मजदूरी कहेंगे।

समयानुसार मजदूरी और कार्यानुसार मजदूरी

(Time Wages and Piece Wages)

मजदूरी का भुगतान दो तरीकों से किया जा सकता है। (अ) समय के अनुसार (Time Wages)—इस प्रणाली म मजदूरी समय के आधार पर दी जाती है, जैसे दैनिक, साप्ताहिक, मासिक आदि। इस तरीके मे काम का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता है बल्कि समय के हिसाब से मजदूरी दी जाती है। (ब) कार्य के अनुसार (Piece Wages)—इस प्रणाली में मजदूरी कार्य के अनुसार दी जाती है। जिस मजदूर ने जितना काम किया है, उसी के हिसाब से उसे मजदूरी दी जाती है। यदि एक मजदूर ने दो बीघा खेत जोता है, तो उसे ४ रु० मजदूरी दी जायेगी। यदि उसने तीन बीघा खेत जोता है तो उसे ६ रु० मजदूरी दी जायेगी। काम में कितना समय लगा इस पर ध्यान नहीं दिया जायगा।

समयानुसार मजदूरी के गुण—आजकल अधिकतर मजदूरी समय के अनुसार दी जाती है। इस प्रणाली के निम्नलिखित लाभ हैं :—

(१) इस तरह के म मजदूर की नौकरी अधिक सुरक्षित रहती है। उसे यह भय नहीं रहता कि वह बेरोजगार हो जायेगा। साथ ही यदि काम कुछ कारणवश थोड़े समय के लिए बन्द हो जाय या मजदूर बीमार हो जाय तो भी उसकी मजदूरी बन्द नहीं होती है।

(२) ऐसी मजदूरी म मजदूर हमेशा सुविधापूर्वक परिश्रम करता है, क्योंकि उसे भला प्रकार मालूम रहता है कि चाहे वह अधिक परिश्रम करे या कम, उसे एक निश्चित मजदूरी मिलेगी। इस प्रकार सुविधापूर्वक काम करने से मजदूर का शक्ति अधिक समय तक बनी रहती है।

(३) ऐसी मजदूरी म मजदूर काम की मात्रा का विशेष ध्यान नहीं रखता है, बल्कि वह हमेशा काम की अच्छाई (quality) की ओर ध्यान रखता है। जब काम सावधानी से किया जाता है, तो वह सर्वदा अच्छा होता है।

(४) जहाँ काम की मात्रा को आसानी से नहीं माप सकते हैं वहाँ ऐसी मजदूरी देना ही ठीक होता है, जैसे एक विश्वविद्यालय के अध्यापक के कार्य की माप यथार्थ रूप से नहीं की जा सकती है, अतः ऐसी अवस्था म अध्यापक का पारिश्रमिक समयानुसार दिया जाना ही ठीक है।

(१) समयानुसार मजदूरी के अवगुण— ऐसी मजदूरी म मजदूरों को मजदूरी मिलने का पूरा विश्वास बना रहता है। वे जानते हैं कि चाहे वे अधिक काम करें या कम उन्हें एक निश्चित मजदूरी मिलेगी। अत. वे कम से कम काम करने का प्रयत्न करते हैं। फलस्वरूप उनके काम के निरीक्षण के लिए सुपरवाइजर नियुक्त करने की आवश्यकता होती है जिससे उत्पादन व्यय अनावश्यक ही बढ़ जाता है।

(२) ऐसी मजदूरी म अलग अलग मजदूरों की योग्यता का भली प्रकार पता नहीं लगता। परिणामस्वरूप कुशल तथा अकुशल मजदूरों को एक ही मजदूरी दी जाती है जिससे कुशल मजदूर को अपनी योग्यता के बढ़ाने का प्रोत्साहन नहीं मिलता। ऐसी मजदूरी म काम की मात्रा भी कम होती है।

कार्यानुसार मजदूरी के गुण—(१) ऐसी मजदूरी मजदूर तथा मालिक दोनों के लिए न्यायपूर्ण है। मजदूर जितना काम करता है उसी के हिसाब से उसे मजदूरी मिल जाती है। मालिक भी अपने पैसे के बदले पूरा काम लेता है। वह मजदूरी उतनी ही देता है जितने का मजदूर काम करता है।

(२) मजदूरी देने की इस प्रणाली म श्रमिक को अपने काम को बढ़ाकर पारिश्रमिक बढ़ाने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। जो मजदूर जितना ही अधिक काम करेगा, उसे उतनी ही अधिक मजदूरी मिलेगी। इससे मजदूर को अपनी योग्यता बढ़ाने का प्रोत्साहन भी मिलता रहता है। चूँकि इस प्रणाली म श्रम तथा पूँजी का अधिक से अधिक सदुपयोग होता है, अतः सुपरवाइजर रखकर उत्पादन व्यय को बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

कार्यानुसार मजदूरी के अवगुण—(१) ऐसी मजदूरी में मजदूर हमेशा अधिक से अधिक काम करके अधिक से अधिक मजदूरी प्राप्त करने की चेष्टा करता है। फलस्वरूप जल्दी में काम अच्छा नहीं होता है। दूसरे शब्दों में मजदूर केवल काम की मात्रा (quantity) का ही ध्यान रखता है उसकी अच्छाई और उत्तमता का ध्यान नहीं रहता है।

(२) अधिकतर मजदूर अधिक मजदूरी के लोभ से अपनी शक्ति से अधिक काम कर जाता है। कभी-कभी मजदूर अपने स्वास्थ्य की कुछ चिन्ता न करके मजदूरी करता है, जिससे थोड़े ही समय में उसकी काम करने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

(३) जब कभी मजदूर बीमार हो जाता है या काम थोड़े समय के लिए किसी कारण-वश बन्द हो जाता है तो उस समय मजदूर को कुछ भी मजदूरी नहीं मिलती। कुछ भी आय न होने के कारण उसकी आर्थिक दशा खराब हो जाती है।

(४) मजदूरों में आपस में अधिक मजदूरी के लिए प्रतिस्पर्द्धा की भावना आ जाती है और कभी कभी इसी से आपस में द्वेष बढ़ जाता है।

इस तरह स्पष्ट है कि मजदूरी देने के दोनों तरीकों के लाभ व हानियाँ हैं और यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अमुक प्रणाली अधिक लाभप्रद है, अतः सुविधानुसार दोनों ही प्रणालियों का समय समय पर प्रयोग किया जाता है। जहाँ काम आसानी से नापा जा सकता है तथा काम साधारण मजदूर कर लेता है वहाँ कार्यानुसार मजदूरी दी जाती है, जैसे गड्ढे खोदने, खेत जोतने आदि के कामों में मजदूरी काम के हिसाब से दी जाती है। इसके विपरीत जहाँ अधिक होशियार मजदूर की आवश्यकता होती है वहाँ मजदूरी समया-नुसार दी जाती है। आजकल काम अधिकतर मशीनों द्वारा किया जाता है और मशीन का ठीक-ठीक उपयोग करने के लिए होशियारी और बारीकी की जरूरत पड़ती है। अतः वर्त-मान समय में अधिकतर मजदूरी समयानुसार दी जाती है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि समयानुसार मजदूरी और कार्यानुसार मजदूरी दोनों प्रकार की मजदूरियों को मिलाकर मजदूर को वेतन दिया जाता है। जैसे एक मजदूर को समयानुसार मजदूरी पर रखा जा सकता है और इस मजदूरी के अतिरिक्त यदि उसकी कार्यशक्ति एक सीमा से अधिक है तो उसे इस अधिक कुशलता की भी मजदूरी दी जा सकती है।

वस्तुओं के अथवा द्रव्य के रूप में मजदूरी
(*Commodity Wages and Money Wages*)

जिस तरह से मजदूरी देने की दो प्रणाली होती हैं समयानुसार और कार्यानुसार—उसी तरह मजदूरी दो रूप में भी दी जाती है—रुपये पैसों की शक्ल में (money wages) या वस्तुओं की शक्ल में (commodity wages or wages in kind)। यद्यपि आजकल पहला ही तरीका सब जगह पाया जाता है, कहीं कहीं गाँवों में अब भी दूसरा तरीका प्रचलित है। उदाहरणार्थ खेत पर काम करनेवालों को मजदूरी अनाज इत्यादि में दी जाती है। वर्तमान काल में जब कि एक छत के नीचे हजारों और लाखों आदमी काम करते हैं पहला ही तरीका चल सकता है। परन्तु दूसरे तरीके में भी कुछ अच्छाइयाँ हैं जैसे

कि—(अ) मालिक और मजदूरों में निकट का सम्बन्ध बना रहता है। (ब) वस्तुओं के दाम के घटने बढ़ने की समस्या से मजदूर मुक्त हो जाते हैं चूँकि उन्हें मजदूरी वस्तुओं के रूप में मिलती है इसलिए जब और वस्तुओं के दाम बढ़ते हैं उनके दाम भी बढ़ते हैं और उनकी मजदूरी अपने आप बढ़ जाती है। इसकी कुछ बुराइयाँ भी हैं जैसे कि मजदूर को मालिक की शरण लेनी पड़ती है तथा मजदूर अपनी थोड़ी ही सी माँगों की पूर्ति कर सकता है इत्यादि, इत्यादि।

कार्यानुसार मजदूरी अथवा कार्यक्षमतानुसार मजदूरी

(*Task Wages and Efficiency Wages*)

कार्यानुसार मजदूरी वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत पाई जाती है। इसमें इस बात का प्रयोगों द्वारा पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि एक प्रथम श्रेणी का मजदूर एक निश्चित समय में अपना पूरा मेहनत से कितना माल तैयार कर सकता है यह मात्रा फिर नियमित कार्य (Standard Task) बन जाती है और इसको ध्यान में रखते हुए केवल प्रथम श्रेणी के मजदूर ही रखे जाते हैं। मजदूरी इस प्रकार तै की जाती है कि जो मजदूर नियमित कार्य ठीक तरह से कर लेते हैं, उन्हें उन मजदूरों की अपेक्षा जो अपना नियमित कार्य एक निश्चित समय में नहीं कर पाते, मजदूरी अधिक मिलती है। ठेके के अनुसार मजदूरी को भी Task Wages कहते हैं

कार्यक्षमतानुसार मजदूरी उसे कहते हैं जो मजदूरों को उनकी कार्यक्षमता के अनुसार दी जाती है। प्रो० मार्शल के अनुसार आर्थिक स्वतन्त्रता और साहस के फलस्वरूप एक ही क्षेत्र में कार्यक्षमतानुसार मजदूरी का प्रवृत्ति एक सी होने की रहती है। (कार्य-क्षमतानुसार मजदूरी और कार्यनुसार मजदूरी दोनों एक ही माने रखते हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं है।)

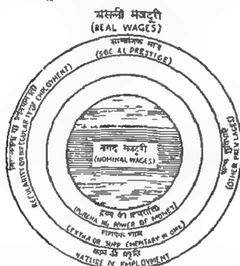
नकद और असल मजदूरी

(*Nominal and Real wages*)

मजदूर को उसके श्रम के बदले में जो पारिश्रमिक मुद्रा में दिया जाता है उसे नकद मजदूरी (Nominal wages) कहते हैं। जैसे दस रुपये, दो पौण्ड, या एक डालर आदि नकद मजदूरी हैं। प्राप्त रुपये से मजदूर अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए जितनी आवश्यक वस्तुएँ (necessaries), आराम की वस्तुएँ (comforts) तथा विलास की वस्तुएँ luxuries खरीद सकता है, उसे असल मजदूरी (Real wages) कहते हैं। इस प्रकार असल मजदूरी में आवश्यकता, आराम और विलासिता की वस्तुएँ आती हैं जो मजदूर को उसके सेवा कार्यों के बदले प्राप्त होती है, जैसे खाना, कपड़ा, मकान तम्बाकू चाय इत्यादि। नकद मजदूरी में हम यही देखते हैं कि मजदूर को मजदूरी रुपये-पैसे के रूप में कितनी मिलती है जब कि असल मजदूरी में हम यह भी देखते हैं कि इनके मिलने से उसे वास्तव में कितना सुख मिला। ("Money wages are actual wages paid in money. Real wages are actual commodities that real wages can

buy," Seligman) दूसरी बात यह है कि असल मजदूरी में मुद्रा से खरीदी जानेवाली इन वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य रियायतों या कन्सेशनों को भी शामिल करतेहैं जो कि मजदूर को प्राप्त हैं (यद्यपि प्रो० सेलिगमैन का विचार इससे भिन्न है)।

स्पष्ट है कि मजदूर की आर्थिक दशा का अनुमान उसकी नक्द मजदूरी से नहीं लग सकता है। मजदूर की आर्थिक दशा असल मजदूरी* पर निर्भर रहती है। उदाहरणार्थ लड़ाई से पूर्व जिस मनुष्य को २०० रु० मिलते थे उसकी आर्थिक दशा उस मनुष्य की वर्तमान आर्थिक दशा से अच्छी थी जिसे इस समय ४०० रु० मिलते हैं। यद्यपि इस समय नक्द मजदूरी में वृद्धि हो गई है परन्तु वस्तुओं के दाम चौगुने होने के कारण इस समय ४०० रु० से आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उतना सामान नहीं मिल सकता है जितना २०० रु० से लड़ाई से पूर्व खरीदा जा सकता था। इसी तरह यदि एक मजदूर बम्बई में २०० रु० पाता है और दूसरा अलीगढ में २०० रु० पाता है, तो पहिले मजदूर की अपेक्षा दूसरे मजदूर की असल मजदूरी अधिक है यद्यपि नक्द मजदूरी दोनों की एक है। यही कारण है कि मजदूर को किसी व्यापार का आकर्षण उसकी नक्द मजदूरी से



नहीं, बल्कि उसकी असल मजदूरी से होता है। यदि असल मजदूरी अधिक हो तो मजदूर अधिक आकर्षित होगा, चाहे नक्द मजदूरी कम ही हो। ('The attractiveness of a trade depends not upon its money earnings but upon its net advantages.")

*ऐडम स्मिथ का कहना है कि "The real wages of labour may be said to consist in the quantity of the necessaries and conveniences that are given for it, its nominal wages in the quantity of money. The labourer is rich or poor, is well or ill rewarded, in proportion to the real not to the nominal price of the labour."

असल मजदूरी निम्नलिखित बातों पर निर्भर रहती है—(१) द्रव्य की क्रय शक्ति (Purchasing power of money)— मजदूर को पारिश्रमिक मुद्रा के रूप में दिया जाता है जिससे वह अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को खरीदता है। इन वस्तुओं की मात्राएँ मुद्रा की क्रय शक्ति पर निर्भर रहती हैं। यदि मुद्रा की क्रय शक्ति अधिक हो तो कम द्रव्य से ही अधिक वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। इसके विपरीत यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो तो अधिक द्रव्य से भी बहुत कम सामान खरीदा जा सकता है। अतः असल मजदूरी बहुत कुछ मुद्रा की क्रय-शक्ति के ऊपर आश्रित है, जो कि स्थान स्थान पर तथा समय समय पर अलग-अलग होती है—बड़े शहर में वस्तुओं के मूल्य के अधिक होने से १०० रु० में कम सामान खरीदा जा सकता है परन्तु उन्हीं १०० रु० में गाँव में अधिक वस्तुएँ खरीद सकते हैं; इसी प्रकार १०० रु० से लड़ाई के पहले बहुत अधिक सामान खरीदा जा सकता था परन्तु लड़ाई के बाद से उसका चौथाई सामान भी नहीं खरीदा जा सकता है।

इसलिए हम मजदूर की असल मजदूरी तभी जान सकते हैं, जब नकद मजदूरी के साथ-साथ हमें द्रव्य की क्रय-शक्ति भी मालूम हो।

(२) सहायक आय (Supplementary Income)—असल मजदूरी जानने के लिए यह भी मालूम होना चाहिए कि नकद मजदूरी के अतिरिक्त मजदूर को किसी बाहरी आय की सुविधा (chances of extra income) भी प्राप्त है या नहीं। यदि किसी व्यवसाय में नकद मजदूरी के अतिरिक्त बाहरी आमदनी की सुविधा उपलब्ध है तो उसकी असल मजदूरी में यह भी सम्मिलित हो जायगी। जैसे बैंक में काम करनेवाला मनुष्य इन्श्योरेन्स के काम के द्वारा अपनी आमदनी बढ़ा सकता है। इसी प्रकार अध्यापक ट्यूशन करके या पुस्तकें लिखकर, डाक्टर प्राइवेट प्रेक्टिस करके, क्लार्क टाइप का काम करके अपनी आय को बढ़ा सकते हैं। इसी प्रकार यदि मजदूर का काम ऐसा है कि उसके परिवार के अन्य सदस्यों को भी काम करके लाभ उठाने का अवसर प्राप्त है, तो यह आय भी असल मजदूरी में सम्मिलित हो जायेगी।

कुछ व्यवसायों में मजदूरों को नकद मजदूरी के अतिरिक्त अन्य सुविधाएँ (concessions incidental to the occupation) प्राप्त होती हैं। जैसे रेलवे विभाग के काम करनेवालों को रहने के लिये मकान मिलता है और रेल द्वारा आने जाने की सुविधा दी जाती है। कोयले की खानों में काम करनेवाले मजदूरों को कोयला मुफ्त या कम दाम पर दिया जाता है। अध्यापकों को प्रोविडेंट फण्ड की सुविधा रहती है। इस प्रकार की सब सुविधाएँ जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दी जाती हैं असल मजदूरी में सम्मिलित होनी चाहियें, क्योंकि तब ही हम असल मजदूरी जान सकते हैं।

(३) सेवा-कार्य की विशेषताएँ (Nature of Employment)—असल मजदूरी एक सीमा तक काम के रूप पर भी निर्भर रहती है। जिन व्यवसायों में गन्दी जगह या खतरनाक जगह काम करना पड़ता है, जैसे खानों आदि में, या जिन व्यवसायों में श्रम की आवश्यकता कुछ महीनों के लिए ही होती है, जैसे चीनी के कारखानों में काम केवल गन्ने की ऋतु में होता है, उनमें मजदूरी अधिक होनी चाहिए क्योंकि पहली दशा में मजदूरों

के स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है और दूसरी दशा में उन्हें वर्ष के कई महीनों तक बेकार रहना पड़ता है (regularity or irregularity of employment)। इसके विपरीत यदि किसी काम को करने में अधिक सत्कार होता है जैसे मजिस्ट्रेटी के काम में या वह काम ऐसा है कि काम कम घंटे करना पड़ता है या छुट्टी ज्यादा मिलती है (hours of work) तो मजदूर कम वेतन पर काम करना पसन्द कर लेगा। इसी तरह भावी उन्नति (future prospects) के अवसर का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिन व्यवसायों में भविष्य की उन्नति की अधिक आशा रहती है, उनमें मनुष्य प्रारम्भ में कुछ कम मजदूरी पर काम करना पसन्द कर लेता है। उदाहरणार्थ एक क्लार्क, प्राइवेट आफिस के ५० रु० माहवार के वेतन को छोड़कर ४० रु० माहवार पर केन्द्रीय सरकार के सेक्रेट्रियट में काम करना पसन्द करेगा क्योंकि वह भली प्रकार जानता है कि सेक्रेटैरियट में वह धीरे धीरे बहुत उन्नति कर सकता है परन्तु प्राइवेट आफिस में तरक्की करना सम्भव नहीं है।

इन बातों के अतिरिक्त यह भी देखना आवश्यक है कि जिस व्यवसाय में मजदूर काम करता है उसकी ट्रेनिंग में कितना समय लगता है और कितना रुपया खर्च होता है (time and cost of training) और उसमें कार्यकुशलता को बनाये रखने के लिए क्या व्यय करना पड़ता है, जैसे कालिज के एक अध्यापक को पुस्तकों में रुपया खर्च करना पड़ता है और एक डाक्टर को अपने औजारों को खरीदने में बहुत रुपया लगाना पड़ता है। असल मजदूरी को मालूम करते समय इस प्रकार के व्यावसायिक खर्चों को अलग करना भी आवश्यक हो जाता है।

सारांश यह है कि असल मजदूरी को जानने के लिए केवल नकद मजदूरी (money wages) का जानना ही काफी नहीं है, हमको उन अनार्थिक लाभों (non-monetary advantages) का भी ध्यान रखना चाहिए जो मजदूर को प्राप्त हैं। ऊपर लिखी हुई सभी बातों को विचार करके ही असल मजदूरी जानी जा सकती है।

मजदूरी (निर्धारण) के सिद्धान्त

(*Hob are wages determined ?*)

मजदूरी निर्धारित करने के कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। उनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्त नीचे दिये जाते हैं :—

(अ) मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धान्त (The Subsistence Theory of Wages)—मजदूरी के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अर्थशास्त्र के पुराने विद्वानों, फिजियाक्रैटस, ने किया। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रिकार्डो ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार दीर्घ काल में मजदूरी जीवन निर्वाह की सीमा पर आकर स्थिर होती है। अर्थात् मजदूरी इतनी ही होती है कि मजदूर अपनी तथा अपने परिवार के लोगों की कम से कम

आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यदि मजदूरी इससे अधिक होगी तो मजदूर जल्दी शादी करेंगे और मजदूरों की संख्या बढ़ जायेगी और इस प्रकार श्रम की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक होने से मजदूरी की दर गिरकर जीवन-निर्वाह के स्तर पर आ जायेगी। इसके विपरीत यदि मजदूरी की दर जीवन-निर्वाह के स्तर से कम होगी तो बहुत से मजदूर भूखे मरने लगेंगे और इसके परिणामस्वरूप श्रम की पूर्ति माँग से कम हो जायेगी जिससे मजदूरी की दर बढ़कर फिर जीवन निर्वाह के स्तर तक पहुँच जायेगी।

मजदूरी के इस सिद्धान्त को जर्मनी के अर्थशास्त्री लासेल ने "मजदूरी का लोह नियम" (Iron Law of Wages) के नाम से पुकारा है।

यह सिद्धान्त दोषों से पूर्ण है :

(१) इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी बढ़ने से जन्म दर का बढ़ना आवश्यक मान लिया गया है परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। देखा जाता है कि मजदूरी बढ़ने से रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठता है और जन्म दर कम होता है। अतः यह कहना कि हमेशा मजदूरी बढ़ने से मजदूर शादी जल्दी करेंगे, जन्म दर बढ़ेगा, इत्यादि, ठीक नहीं है। ऐसा हो सकता है कि मजदूरी बढ़ने पर जन्म दर न बढ़े बल्कि रहन सहन का स्तर ऊँचा किया जाये और परिणाम स्वरूप जन्म दर भी कम हो जाये।

(२) उन्नत औद्योगिक देशों में मजदूरी जीवन निर्वाह के स्तर से बहुत ऊँची है। मजदूर न केवल आवश्यक वस्तुओं का उपभोग करते हैं, बल्कि आराम और विलासिता की वस्तुओं का भी उपभोग करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मजदूरी जीवन निर्वाह के स्तर पर नहीं रहती बल्कि उससे ऊँची भी हो सकती है।

(३) भिन्न-भिन्न देशों में तथा एक ही देश के भिन्न-भिन्न भागों में जीवन निर्वाह का स्तर लगभग एक ही होना चाहिए अतः मजदूरी भी एक ही होनी चाहिए परन्तु वास्तविक दुनिया में अलग-अलग देशों में ही नहीं वरन् प्रत्येक देश के भिन्न-भिन्न भागों में भी मजदूरी की अलग अलग दर पाई जाती है।

(४) इस सिद्धान्त ने मजदूर की उत्पादन-शक्ति के महत्त्व को नहीं समझा। इस सिद्धान्त के अनुसार अधिक उत्पादन-शक्ति तथा कम उत्पादन शक्तिवाले दोनों मजदूरों को एक ही मजदूरी मिलनी चाहिए। परन्तु वास्तव में ऐसा तो नहीं होता।

मजदूरी के जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त से मिलता-जुलता मजदूरी का जीवनस्तर सिद्धान्त (Standard of Living Theory of Wages) है। इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी जीवन-निर्वाह के स्तर पर न होकर रहन सहन के स्तर पर स्थिर होती है। मजदूर के रहन-सहन का जो स्तर होता है उसी के बराबर उसे पारिश्रमिक मिलता है। परन्तु यह सिद्धान्त भी पूर्ववत् दोषपूर्ण तथा एकतरफा है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जीवन-स्तर का प्रभाव मजदूरी पर बहुत पड़ता है। यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन स्तर ही मजदूरी के दर को निर्धारित करती है या यह कि मजदूरी जीवन-स्तर पर ही स्थिर होता है।

(ब) मजदूरी कोष-सिद्धान्त (Wages Fund Theory)—मजदूरी के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे० एस० मिल ने किया। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादक मजदूरी देने के लिए एक निश्चित पूँजी अलग रख देता है उसे "मजदूरी कोष" (wages fund) कहते हैं और जितने मजदूर काम में लगाये जाते हैं, उनमें यह द्रव्य मजदूरी के रूप में बाँटा जाता है। इस प्रकार मजदूरी "मजदूरों की संख्या" (पूर्ति) तथा "मजदूरी कोष" पर निर्भर रहता है। दूसरे शब्दों में मजदूरी कोष को मजदूरों की संख्या से भाग देकर ही मजदूर की औसत मजदूरी निकलती है और मजदूरी की दर केवल मजदूरी कोष की वृद्धि या श्रमिकों की पूर्ति की कमी से बढ़ाई जा सकती है, मजदूरों के अच्छा या अधिक काम करने से नहीं।

मजदूरी के इस सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ की गई हैं :—

(१) मजदूरी-कोष पहले से कभी भी निश्चित नहीं हो सकता वास्तव में मजदूरी कोष लोचदार होता है यानी घटता बढ़ता रहता है। जब उत्पादक को अधिक लाभ की आशा दिखाई देती है तो वह अधिक मजदूरी देना भी स्वीकार कर लेता है। इसके विपरीत यदि भविष्य में लाभ की आशा नहीं की जाती है तो उत्पादक मजदूरी कम देता है।

(२) इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूर की उत्पादन-शक्ति का मजदूरी की दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए और अधिक उत्पादन-शक्ति तथा कम उत्पादन शक्ति के दोनों ही मजदूरों को एक ही मजदूरी मिलनी चाहिए। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता।

(३) मजदूरी के इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूर तथा उत्पादक में हमेशा द्वेष भाव बना रहता है क्योंकि जब मजदूरी बढ़ती है तो उत्पादक का लाभ उतना ही कम हो जाता है (profits rise as wages fall, profits fall as wages rise) परन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है। जब कभी किसी व्यवसाय में वृद्धि होती है तो मजदूरी और लाभ दोनों ही बढ़ते हैं।

(४) यह सिद्धान्त इस बात पर भी प्रकाश नहीं डालता कि भिन्न स्थानों व व्यवसायों में मजदूरी में इतनी भारी भिन्नता क्यों है। मजदूरी कोष तथा श्रम-पूर्ति अल्प काल में लगभग निश्चित रहते हैं। ऐसा होते हुए भी मजदूरी की दर में भिन्नता पाई जाती है। इससे स्पष्ट है कि मजदूरी मजदूरी कोष और मजदूरों की गिनती पर ही निर्भर नहीं है।

(स) मजदूरी का अवशेष अधिकारी सिद्धान्त (Residual Claimant Theory)—यह सिद्धान्त प्रो० वाकर का है। इसके अनुसार लगान, ब्याज और लाभ को एक निश्चित भाग मिलता है और कुल उत्पत्ति में से इनका भाग निकालने के बाद जो कुछ शेष बचता है वही श्रम का भाग होता है और वही मजदूरी है। अन्य भागों की भाँति मजदूरी का कोई निश्चित नियम नहीं है।

इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर के परिश्रम व कार्य-कुशलता द्वारा अधिक उत्पत्ति होने का कुल लाभ उन्हें ही मिलेगा—अन्य भागों के निश्चित होने के कारण उत्पत्ति में जितनी वृद्धि होगी उतनी ही उनकी मजदूरी में वृद्धि होगी। इस तरह यह सिद्धान्त ऊपर

के सिद्धान्तों से भिन्न है। उन दोनों सिद्धान्तों के अनुसार मजदूरी मजदूरों की अधिक मेहनत या कार्य कुशलता से बढ नहीं सकती परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी मजदूर के अपने परिश्रम पर ही निर्भर रहती है।

इस सिद्धान्त में यह बात तो ठीक है कि मजदूर की कार्य कुशलता बढने पर मजदूरी बढ़ती है परन्तु यह वृद्धि उस अनुपात में कदापि नहीं हो सकती जिस अनुपात में कार्य कुशलता बढ़ती है। उत्पादक सदा अपने लाभ को अधिकतम करना चाहता है और उत्पादन अथवा वस्तु का मूल्य बढने पर वह पहले अपना लाभ बढ़ाता है, और फिर मजदूरी। ऐसे ही जब उत्पत्ति या मूल्य घटते हैं तब पहले उत्पादक का लाभ घटता है फिर मजदूरों की मजदूरी। इस सिद्धान्त के अनुसार भी wages rise as profits fall and wages fall as profits rise, परन्तु जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं लाभ और मजदूरी साथ-साथ भी बढते हैं।

(८) मजदूरी का सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory of Wages)—मजदूरी के इस सिद्धान्त को प्रो॰ जेवन्स ने निकाला। इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी मजदूर की सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) से तय होती है। साम्य बिन्दु पर मजदूरी की दर तथा सीमान्त उत्पत्ति बराबर होती है और चूँकि अनुमानतः सभी मजदूरों की कार्य क्षमता बराबर होती है, अतः प्रत्येक व्यवसाय में सभी मजदूरों को सीमान्त उत्पत्ति के बराबर मजदूरी मिलेगी। अब यदि श्रम पूर्ण रूप से गतिशील हो, तो, भिन्न भिन्न स्थानों तथा भिन्न-भिन्न व्यवसायों में सीमान्त उत्पत्ति बराबर होगी अतः मजदूरी की दर भी बराबर होगी। इसके विपरीत श्रम पूर्ण रूप से गतिशील न हो तो अलग-अलग स्थानों या व्यवसायों में अलग अलग सीमान्त उत्पत्ति के होने से मजदूरी की दर भी अलग अलग होगी।

मजदूरी के इस सिद्धान्त की भी कड़ी आलोचनाएँ हुई हैं।

(१) सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त ने केवल श्रम की माँग पर विचार किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी सीमान्त उत्पत्ति यानी माँग से निर्धारित होती है। इस प्रकार यहाँ श्रम की पूर्ति के प्रभाव पर बिलकुल विचार नहीं किया गया है। परन्तु वास्तव में मजदूरी श्रम की माँग तथा पूर्ति दोनों से निर्धारित होती है। यह कहना अक्षरशः सत्य है कि मजदूरी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होती है, परन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि मजदूरी केवल सीमान्त उत्पत्ति से तय होता है।

(२) यदि मजदूरी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होती है तो मजदूर संघ बनाकर मजदूरी को बढाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है क्योंकि मजदूर संघ चाहे प्रयत्न करें या न करें, इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी हमेशा सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होगी। परन्तु मजदूर-संघ के प्रयत्न से मजदूरी कुछ सीमा तक बढ़ाई जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि मजदूरी पर पूर्ति का भी प्रभाव पड़ता है।

(३) मजदूरी का यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। परन्तु वास्तविक जीवन में अपूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है। इसलिए मजदूरी की दर सीमान्त उत्पत्ति से भिन्न होती है।

[इस सम्बन्ध में अध्याय ३१ में "सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त" शीर्षक भी पढ़िए]

प्रो० टौसिग का कहना है कि मजदूरी मजदूर के सीमान्त उत्पादन के बराबर नहीं होती है। बल्कि उससे कुछ कम, यानी discounted marginal product के बराबर होती है। क्योंकि उत्पादक को मजदूरी उत्पादन की आय को प्राप्त करने से पहले देनी पड़ती है, अतः उत्पादक सीमान्त उत्पत्ति से कुछ कम मजदूरी ही देता है। जैसे कपड़े की बिक्री बहुत समय के बाद होती है, परन्तु मजदूरी पहले ही देनी पड़ती है। मान लिया कि मजदूरों की सीमान्त उत्पत्ति १,००० रु० के बराबर है। यदि मजदूरों को मजदूरी उत्पादन की आय मिलने पर ही दी जाती तो मजदूरी १००० रु० के बराबर दी जाती। परन्तु मजदूरी पहले से ही देनी पड़ती है इसलिए उत्पादक मजदूरी १,००० रु० के बराबर नहीं देगा बल्कि १,००० रु० में से कुछ बट्टा (discount) काट कर देगा।

परन्तु यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य सभी साधनों को भी उनका हिस्सा उत्पादन की आय को मिलने से पहले ही मिलता है, इसलिए उनको भी उनका हिस्सा discounted marginal product के बराबर मिलना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है, तो फिर केवल मजदूर को ही क्यों discounted marginal product के बराबर हिस्सा मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त भी सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त की तरह पूर्ति के महत्व पर कुछ भी विचार नहीं करता है। इस तरह यह सिद्धान्त भी सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त के सिद्धान्त की तरह दोषपूर्ण है।

मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त

(*The Modern Theory of Wages*)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति से निर्धारित होता है उसी प्रकार मजदूरी जिसे श्रम का मूल्य कहते हैं श्रम की माँग और पूर्ति से निर्धारित होती है और जिस प्रकार किसी वस्तु के मूल्य को निर्धारित करते समय खरीदार की अधिकतम सीमा उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से तय होती है, उसी प्रकार मजदूरी को निर्धारित करते समय उत्पादन की अधिकतम सीमा श्रम की सीमान्त उत्पत्ति (*marginal productivity*) से तय होती है। मजदूरी, सीमान्त उत्पत्ति से किसी भी दशा में अधिक नहीं हो सकती है और चूँकि एक श्रेणी के सभी मजदूर समान रूप से कुशल होते हैं इसलिए एक श्रेणी के सभी मजदूरों को एक ही मजदूरी मिलेगी, जो अधिक से अधिक सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होगी। दूसरी ओर जिस प्रकार किसी वस्तु का विक्रेता कम से कम मूल्य सीमान्त लागत के बराबर लेता है, उसी प्रकार श्रम का विक्रेता यानी मजदूर कम से कम मजदूरी अपने सीमान्त त्याग के बराबर लेगा।

सीमान्त त्याग (marginal sacrifice) न्यूनतम सीमा है जिससे मजदूरी किसी भी दशा में कम नहीं हो सकती है। और साम्य की स्थिति तब आती है जब साधन की सीमांत उत्पत्ति साधन की सीमांत लागत के बराबर होती है अर्थात् उसके सेवा का मूल्य उसके त्याग के बराबर होता है।*

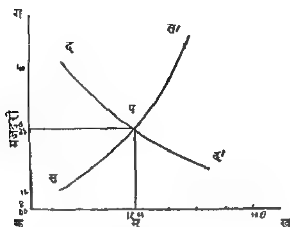
साम्य की अवस्था में सीमान्त उत्पत्ति और सीमान्त त्याग दोनों मजदूरी के बराबर होते हैं। नीचे दी हुई तालिका व चित्र इस विचार की पुष्टि करेंगे —

मजदूरों की संख्या	सीमान्त उत्पत्ति (माँग)	सीमान्त त्याग (पूर्ति)
१००	४०	८
१०१	३५	१२
१०२	३२	१६
१०३	२८	२१
१०४	२५	२५
१०५	२०	३०
१०६	१५	३५
१०७	१२	४२
१०८	१०	५०

ज्यों ज्यों मजदूरों की संख्या बढ़ रही है सीमान्त उत्पत्ति कम होती जा रही है और सीमान्त त्याग बढ़ता जा रहा है। जब मजदूरों की संख्या १०४ है तो सीमान्त उत्पत्ति और सीमान्त त्याग दोनों २५ इकाई के बराबर हैं। अतः मजदूरों की माँग और पूर्ति १०४ होगी और मजदूरी २५ इकाई के बराबर होगी। इस प्रकार माँग और पूर्ति तालिका बना कर हम एक सन्तुलन मजदूरी (equilibrium wage) का पता चला लेते हैं। यह वह मजदूरी होती है जिस पर मजदूरों की माँग और पूर्ति समान होगी। मजदूरी इससे अधिक होने पर अधिक मजदूर आ जाएँगे और पूर्ति बढ़ने के कारण मजदूरी गिरकर अन्त में सन्तुलन मजदूरी के बराबर हो जायगी। मजदूरी के इससे कम होने पर मजदूरों की संख्या कम हो जायगी, और इस कारण उत्पादकों को मजदूरी बढ़ानी पड़ेगी और अन्त में यह सन्तुलन मजदूरी के बराबर हो जायगी। इस प्रकार न मजदूरी सन्तुलन मजदूरी से कम हो सकती है और न अधिक।

---

*Thus the wages of labour in a particular industry depends on demand and supply Demand is shown by the "marginal revenue curve" of labour to the industry Supply is given by a curve showing at each level of wages what the volume of labour offered will be Wages are determined by the intersection of the two curves"—Stonier and Hague



मजदूरों की संख्या

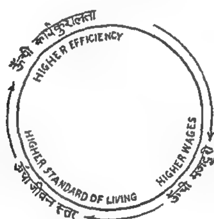
द द' माँग रेखा तथा स स' पूर्ति रेखा है। माँग रेखा सीमान्त उत्पत्ति दिखाती है और पूर्ति रेखा सीमान्त त्याग दिखाती है। प बिन्दु पर सीमान्त उत्पादन और सीमान्त त्याग बराबर है। अतः साम्य की स्थिति में मजदूरी प म के बराबर होगी।

[निस्सन्देह, जैसा कि हमने ऊपर देखा, मजदूरी किसी वस्तु के मूल्य की तरह श्रम की माँग और पूर्ति से निर्धारित होती है। परन्तु हमको यह ध्यान रखना चाहिए कि मजदूर को बिल्कुल वस्तु की तरह नहीं माना जा सकता है क्योंकि मजदूर की कुछ विशेषताएँ (Peculiarities of Labour) होती हैं जिनको भूला नहीं जा सकता है। जैसे मजदूरों की पूर्ति माँग के अनुसार वस्तु की तरह शीघ्र घटाई या बढ़ाई नहीं जा सकती है। मजदूरी बढ़ने से मजदूरों की संख्या बहुत समय पश्चात् बढ़ती है। कभी-कभी मजदूरी द्वारा जीवन स्तर की उन्नति होने पर जनसंख्या बढ़ने के बदले घटती है। दूसरी ओर मजदूरी घटने से मजदूर काम करना बन्द नहीं कर देते क्योंकि श्रम अत्यन्त नाशवान है। इसी तरह और भी विशेषताएँ हैं—श्रम श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता है, श्रमी जीवित तथा भावपूर्ण प्राणी है। उसे काम के स्थान पर सुविधाएँ देनी पड़ती हैं आदि। इन सबका प्रभाव मजदूर पर पड़ता है। फलत श्रम के सम्बन्ध में माँग और पूर्ति की शक्तियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक काम नहीं कर सकतीं (normal forces of supply and demand do not always act freely in the case of labour)। [श्रम की विशेषताएँ विस्तारपूर्वक उत्पत्ति विभाग में "श्रम" शीर्षक अध्याय में पृष्ठ १६०-१६२ पर दी गई हैं, कृपया उन्हें पुनः पढ़िए।]

जीवन-स्तर और मजदूरी
(Standard of Living and Wages)

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार था कि मजदूरी की न्यूनतम सीमा मजदूर के जीवन-स्तर (standard of living) से तय होती है। परन्तु वास्तव में यह न्यूनतम

सीमा सीमान्त त्याग से तय होती है। केवल जीवन स्तर को ऊँचा उठाने से मजदूरी ऊँची नहीं हो सकती। हाँ, जीवन-स्तर का श्रम की कार्य क्षमता और कार्य कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र, उत्तम निवास मजदूर की शारीरिक और मानसिक शक्तियों की वृद्धि करते हैं और कार्य कुशलता के बढ़ने पर मजदूर का पारिश्रमिक भी बढ़ता है। इसके अतिरिक्त जब मजदूरों का जीवन स्तर ऊँचा होता है तो वे शादी देर से करते हैं और जन्म दर में कमी होती है इत्यादि इत्यादि, फलतः श्रम की पूर्ति के कम होने से मजदूरों की मजदूरी बढ़ती है। *इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मजदूर के जीवन स्तर के* बढ़ने से मजदूरी में भी परोक्ष रूप से वृद्धि होती है। दूसरी ओर मजदूरी का प्रभाव भी जीवन स्तर पर पड़ता है। जितनी ही मजदूरी अधिक होगी उतना ही रहन सहन का स्तर भी ऊँचा होगा। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष के मजदूरों के जीवन स्तर के नीचे होने का कारण उनकी आय का कम होना है। मतलब यह है कि जीवन स्तर और पारिश्रमिक में कार्य कारण का सम्बन्ध है, और ये सदा एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं।



मजदूरी की दरों में भिन्नता के कारण

(*Causes of Differences in Wages*)

हम ऊपर पढ़ आये हैं कि मजदूरी मजदूरों की माँग और पूर्ति से निर्धारित होती है अथवा उनकी सीमान्त उत्पत्ति और उनके सीमान्त त्याग से। इसका यह मतलब हुआ कि मजदूर की जैसी कार्यकुशलता (Productivity or Efficiency) होगी, वैसी ही उसको मजदूरी मिलेगी—अधिक कार्यकुशल मजदूरों को अधिक और कम कार्यकुशल मजदूरों को कम। और हम ऊपर यह भी पढ़ आये हैं कि मजदूरों के रहन सहन का स्तर (Standard of Living) कार्यकुशलता को बहुत कुछ प्रभावित करता है और फलतः उनकी मजदूरी को भी प्रभावित करता है। परन्तु इन कारणों के अतिरिक्त कुछ और भी बातें हैं जिनके कारण

अलग-अलग व्यवसायो में अलग-अलग मजदूरी होती है। उनम से कुछ नीचे दी जाती हैं—

(अ) हर एक देश म मजदूरी करनेवाले लोगों के अलग अलग वर्ग होते हैं और हर एक वर्ग के मजदूरों को मजदूरी उनके उस वर्ग के अन्तर्गत की माँग और पूर्ति पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ कुछ अर्थशास्त्री मजदूरों को चार भागों म बाँट देते हैं (अ) साधारण अमानी के मजदूर (ब) अर्धनिपुण मजदूर (स) निपुण अथवा शिक्षित काम करनेवाले और (द) ऊँचे शिक्षित, योग्य, और व्यवसाय तथा प्रबन्ध करने की योग्यता रखनेवाले जैसे एन्जीनियर, डाक्टर, वकील और ऊँची प्रकार के व्यवस्थापक और प्रबन्धक, और ये वर्ग प्रतियोगितारहित समूहों (non competing groups) के नाम से पुकारे जाते हैं क्योंकि सामान्य रूप से इनम से एक वर्ग के मजदूर दूसरे वर्ग के मजदूरों या काम करनेवाले लोगों से, शिक्षा और ट्रेनिंग के व्यय, वातावरण के प्रभाव अथवा ऐसे अन्य कारणों से, प्रतियोगिता नहीं कर सकते और इस तरह हर एक वर्ग की समस्या अलग अलग होती है। "An ordinary day labourer cannot compete with a young man with university degrees to be a professor and similarly, a shoe maker cannot be a traffic inspector", etc etc

इसी प्रकार बोल्डिंग के अनुसार ऐसे समूह प्राय: पाँच प्रकार के होते हैं—(१) सबसे नीचे के श्रेणी मे अनिपुण साधारण मजदूर (२) उससे ऊपर की श्रेणी में वे मजदूर जो अर्धकुशल हैं यद्यपि उन्हें किसी विशेष ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं होती (३) तीसरा श्रेणी म सेल्समैन उच्च वग के क्लार्क, तथा ट्रेन्ड मजदूर, जैसे बढ़ई, इत्यादि (४) चौथी श्रेणी में साधारण व्यावसायिक और साधारण पेशेवाले (५) सबसे ऊँची श्रेणी म कुशल व्यवसायी तथा पेशेवाले एन्जीनियर, साहसी आदि।

भारत मे यह समस्या जाति पाति की प्रथा के कारण और भी जटिल है। एक मोची जुलाहा नहीं बन सकता, एक जुलाहा सुनार नहीं बन सकता, एक सुनार भंगी का काम करने को तैयार नहीं हो सकता और इस प्रकार जाति पाँति और रीति रिवाज के कारण एक मजदूर एक व्यवसाय को छोड़कर दूसरा व्यवसाय ग्रहण नहीं कर सकता। अलग-अलग व्यवसायों की अलग अलग पूर्ति और माँग है और उनके मजदूरों की अलग अलग मजदूरी।

[यदि मजदूर पूर्ण रूप से गतिशील होता और एक जगह से दूसरी जगह अथवा एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में जा सकता तो मजदूरी मे भिन्नता न होती। "If mobility of labour were perfect, wages would tend to be equal in different places and in different occupations", परन्तु वास्तव म भिन्न भिन्न स्थानों की और भिन्न भिन्न व्यवसायो की मजदूरी में बहुत अन्तर होता है और इसका मुख्य कारण मजदूरों की गतिशीलता की कमी ही होती है—"Of all the baggages man is the most difficult to move"।]

(ब) इसके अतिरिक्त जो व्यवसाय अधिक स्थिर रहते हैं यानी जिनमें बेकार होने का अधिक मौका नहीं है उनम अन्य व्यवसायों की अपेक्षा कम मजदूरी होती है। जिन व्यव

सायों में भविष्य में उन्नति करने के अच्छे अवसर होते हैं उनमें मजदूर प्रारम्भ में कम मजदूरी लेना भी स्वीकार कर लेता है। जो काम मजदूर को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय होता है या जिस काम को समाज आदर की दृष्टि से देखता है, उसे वह कम मजदूरी पर भी करने को राजी हो जाता है, जैसे डाक्टर स्वभावत डाक्टरी का काम अन्य कार्यों की अपेक्षा कम वेतन पर करना स्वीकार कर लेता है। नकद मजदूरी के अलावा मजदूर अन्य सुविधाओं का भी ध्यान रखता है। जिस व्यवसाय में नकद मजदूरी के अतिरिक्त अन्य कई सुविधाएँ भी दी जाती हैं, वहाँ मजदूर कम नकद मजदूरी भी स्वीकार कर लेता है। इसके अतिरिक्त मजदूरी की भिन्नता के वे सब कारण हैं जो नकद मजदूरी और असल मजदूरी के सम्बन्ध में ऊपर दिये गये हैं। [नकद और असल मजदूरी शीर्षक को पुनः पढ़िये।]

(ख) साधारणतया औरतों की मजदूरी पुरुषों की मजदूरी से कम होती है। इसका एक कारण यह है कि औरतों को पर्याप्त शिक्षा नहीं मिलती है और वे केवल हलके, आसान और छोटे काम कर सकती हैं फलत उनकी उत्पादन शक्ति कम होती है। दूसरे, औरत मजदूरों का कार्यक्षेत्र सीमित है, परन्तु उनकी संख्या बहुत है, उदाहरणार्थ भारी इण्डस्ट्रीज में (जैसे लोहे के उद्योग में) वे प्राय काम नहीं कर सकती हैं और न ही वे कूटनीति के कार्यों अर्थात् डिप्लोमेटिक सर्विसेज को आसानी से कर पाती हैं। रीति रिवाज, जैसे परदे की प्रथा इत्यादि, भी रास्ते में रुकावट डालते हैं। और औरतों का कोई सगठन भी नहीं है जो उनकी मजदूरी बढ़ाने का प्रयत्न करे। औरत मजदूर, पुरुषों की तरह अपने अधिकारों के लिए लड़ नहीं सकती हैं। साथ ही उन्हें परिवार के पालन-पोषण की जिम्मेदारी पुरुषों की अपेक्षा कम उठाना पड़ती है इसलिए कम तनख्वाह से भी उनका काम चल जाता है। उनकी मजदूरी थोड़े दिनों की होती है, स्थायी नहीं होती। शादी के बाद या बच्चे होने के पहले और बाद वह काम छोड़ देती हैं। इस कारण उन पर जिम्मेदारी का काम छोड़ने में उत्पादक डरते रहते हैं—"man is a more reliable machine than a woman"। इसके अतिरिक्त उनमें प्रबन्ध के काम की योग्यता कम होती है। इन सब बातों का प्रभाव उनकी मजदूरी की दर पर पड़ता है।

श्रम-संघ और मजदूरी

(*Trade Unions and Wages*)

आजकल प्रत्येक देश में श्रम संघ या मजदूर सभाएँ या मजदूर संघ पाये जाते हैं जिनका उद्देश्य मजदूरों की दशा सुधारना है। वे हड़ताल आदि के द्वारा मजदूरी बढ़ाना चाहते हैं, क्योंकि वास्तव में श्रम संघों का प्रमुख उद्देश्य यही होता है। परन्तु मजदूरी के सिद्धान्त के अनुसार अधिक से अधिक मजदूरी मजदूरों की सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) के बराबर हो सकता है, इसलिए प्रायः मजदूर श्रम संघ अधिक से अधिक मजदूरी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर ही बढ़ा सकते हैं, क्योंकि मजदूरी के इससे अधिक बढ़ने पर उत्पादक उत्पादन को बन्द करना पसन्द करेंगे। हाँ, कभी कभी किसी एक उद्योग में बनावटी रूप से मजदूरों की पूर्ति को हड़ताल द्वारा घटाकर वे मजदूरी सीमान्त उत्पत्ति से अधिक बढ़ा सकते हैं परन्तु वह स्थायी नहीं होता है। मजदूरी राष्ट्रीय आय में

से दी जाती है जिसमें मजदूरी के अतिरिक्त लगान, ब्याज तथा लाभ भी सम्मिलित होते हैं और यह हो सकता है कि कुछ समय के लिए लगान, ब्याज तथा लाभ किसी कारण से कम दिया जाय और मजदूरी अधिक दी जाये, परन्तु ऐसा कुछ समय के लिए ही हो सकता है और अन्त में मजदूरी मजदूर की सीमान्त उत्पादकता से अधिक नहीं दी जा सकती।

(इस सम्बन्ध में अध्याय २६ में पृष्ठ ३२७ ३२८ पर मार्शल की चार शर्तें पढ़िए।)

तो भी श्रम-संघों का आजकल बहुत महत्त्व है। प्रत्येक देश में मजदूर संघ पाये जाते हैं जिनका उद्देश्य मजदूरों की सर्वाङ्गीण उन्नति है। जिस देश में यह अधिक सबल हैं, वह लक्ष्य के उतना ही अधिक समीप पहुँच गया है। भारतवर्ष में हम उस लक्ष्य से बहुत दूर हैं। यों तो श्रम-संघों के कार्यों की *तालिका बहुत लम्बी है, किन्तु साधारणतया यह सब* कार्य तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) मजदूरों की सुख सुविधा के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, बेकारी तथा बीमारी में आर्थिक सहायता, रहने की सुविधा, सहकारी उपभोक्ता स्टोर तथा नौकरी दिलाने के लिए ब्यूरो स्थापित करना, इत्यादि।

(२) पूँजीपतियों से अधिक से अधिक वेतन तथा सुख सुविधाएँ प्राप्त करना और उनके साथ निरंतर संघर्ष करना अर्थात् हड़ताल इत्यादि करना।

(३) मजदूरों का शासन यंत्र पर आधिपत्य स्थापित करके समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने की चेष्टा करना, इत्यादि; इत्यादि।

और श्रम संघ या श्रम सभा की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है :

> "A Trade Union is a continuous association of wage-earners for the purpose of maintaining and improving the conditions of their employment" Sydney and Webb

औद्योगिक संघर्ष

(*Industrial Disputes*)

उद्योग धंधों में हड़ताल होने से बहुत भारी आर्थिक क्षति होती है। प्रथम, उत्पादन गिर जाता है। दूसरे, मजदूर को उतने दिन की मजदूरी नहीं मिलती। तीसरे, मालिक की पूँजी, तथा अन्य व्यवस्था सम्बन्धी कर्मचारी, बेकार रहते हैं और उसे अन्य व्यय पूर्ववत् करने पड़ते हैं। इस तरह उसको हानि होती है। परिणामस्वरूप सामाजिक अशान्ति उत्पन्न होती है तथा मालिक और मजदूर के सम्बन्ध खराब हो जाते हैं और राष्ट्रीय आय कम हो जाती है तथा उपभोक्ताओं को अभाव का सामना करना पड़ता है। अस्तु, हड़ताल या तालाबन्दी किसी भी प्रकार राष्ट्रीय हित में नहीं है। अतएव औद्योगिक शान्ति को बनाये रखने के लिए तरह तरह के साधन अपनाये जाते हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

(अ) *लाभ में हिस्सेदारी* (Profit sharing)—कुछ विद्वानों का विचार है कि यदि मजदूरों को भी कारखानों के लाभ में हिस्सेदार बना लिया जावे तो वे

अधिक मन लगा कर कार्य करेंगे। इस योजना म कई तरीके प्रयोग म आते हैं, जिनम से अधिक प्रचलित नकद बोनस देने का है—इसम समय समय पर मजदूरों को कारखाने के लाभ के निश्चित अश को बाँट दिया जाता है। परन्तु इस योजना क बहुत से दोष हैं। पहले तो लाभ बहुत सी बातों से निर्धारित होता है, केवल मजदूरों के मन लगाकर काम करने पर ही निर्भर नहीं होता। उदाहरण के लिए वस्तु की माँग बाजार म कम हो जावे अथवा आर्थिक मदी के कारण उसका दाम गिर जावे अथवा मालिकों की अव्यवस्था और कुप्रबन्ध के कारण हानि हो जावे, तो मजदूरों क मन लगा कर परिश्रम और ईमानदारी के साथ काम करने पर भी लाभ के बदले हानि हो सकती है। दूसरे एक कठिनाई यह भी है कि लाभ और हानि का सारा ब्योरा तो मालिक ही तैयार करता है, अस्तु यदि वह चाहे तो लाभ को कम करके दिखा सकता है। वास्तव में लाभ में साझेदारी का उपयोग बहुधा मालिकों द्वारा मजदूर सभाओं को निर्बल करने के लिए ही किया जाता है। यही कारण है कि मजदूर सभाएँ इसे पसद नहीं करतीं और हिस्सेदारी अधिक प्रचलित नहीं हो सकी है।

(च) खिसक अनुमाप (Sliding Scale)—इस योजना म मजदूरी उत्पादित वस्तु के मूल्य के परिवर्तन या उद्योग द्वारा अर्जित लाभ के आधार पर तय की जाती है। यदि वस्तु का मूल्य बढ़ता है तो एक अनुपात से मजदूरी भी बढ़ाई जाती है, यदि मूल्य गिरते हैं तो मजदूरी की दर भी गिरा दी जाती है, यद्यपि उसे एक निश्चित स्तर से नीचे नहीं गिरने दिया जाता। परन्तु स्लाईडिंग स्केल का भी मजदूर विरोध करते हैं, क्योंकि उनका कहना है कि किसी वस्तु की कीमत बहुत सी बातों पर निर्भर है, अस्तु मजदूर अपने को क्यों ऐसी स्थिति म रख दें कि यदि वस्तु की कीमत गिरे तो उनकी मजदूरी भी गिर जावे। उदाहरण के लिए, उत्पादन के उन्नत साधनों के प्रयोग से, भाड़ा कम होने से, व्यापारिक जोखिम कम होने आदि कई कारणों से मूल्य कम हो सकता है। ऐसी दशाओं म मजदूरी कम करना न्यायसगत न होगा। जीवन व्यय के आधार पर सरकनेवाले माप क लागू करने पर भी कई आक्षेप किये गये हैं। पहले तो व्यय अकों की अपूर्णता इसम बाधक होती है। दूसरे इस प्रणाली म मजदूरी स्थायी हो जाती है, और उससे केवल कम वेतनवाले मजदूरों को ही सुविधा मिलती है।

(छ) साझेदारी (Co partnership)—इस प्रणाली म व्यवसायी मजदूरों को लाभ म हिस्सा देकर उन्हें क्रमश कारखाने का हिस्सेदार बना लेते हैं और उनके प्रतिनिधि डायरेक्टर भी मालिक क साथ साथ कारखाने क प्रबन्ध में भाग लेने लगते हैं। इस प्रकार मजदूरों का भी उस कारखाने पर स्वामित्व स्थापित हो जाता है। परन्तु इस प्रकार की साझेदारी म बहुत कम सफलता देखने म आई है। जिन प्रयत्नों म सफलता मिली है उसका मुख्य कारण

यह रहा है कि उनमें कुछ विशेष उदारमना ऊँचे व्यक्तित्ववाले व्यवसायियों ने अपनी पूँजी लगाकर और परिश्रम करके कारखाने को खड़ा किया और सफलता मिलने पर उसे क्रमशः मजदूरों की चीज बना दी। साधारणतः पूँजीपतियों अथवा व्यवसायियों से इस मनोवृत्ति की आशा करना व्यर्थ है।

(द) न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wages)—औद्योगिक झगड़ों को कम करने का एक और तरीका, पर्याप्त वेतनों की व्यवस्था है। कभी कभी सरकार एक न्यूनतम सीमा निर्धारित कर देती है, जिससे कम मजदूरी, कोई मालिक किसी मजदूर को नहीं दे सकता। वह यह कानून बना देता है कि अमुक कार्यों में अमुक वेतन से कम पर कोई मजदूर नहीं रखा जा सकेगा। (ठीक उसी तरह जैसे कि यूनिवर्सिटी में यह कानून कर रखा है कि किसी कालेज में किसी प्रोफेसर को एक निश्चित तनख्वाह से कम पर नहीं रखा जा सकता।)

ऐसी न्यूनतम मजदूरी के निश्चित हो जाने से कुछ लाभ भी हैं, और कुछ हानियाँ भी।

इसके लाभ—

(अ) मजदूरों का एक जीवन स्तर निश्चित हो जाता है। चूँकि मजदूरी एक निश्चित सीमा से कम नहीं हो सकती इसलिए जीवन स्तर भी एक निश्चित सीमा से नीचा नहीं जा सकता।

(ब) जब जीवन स्तर ऊँचा होता है तब मजदूरों की कार्य-कुशलता का बढ़ना भी स्वाभाविक है।

(स) कम कार्य-कुशल उत्पादक का काम में लगा रहना देश की आर्थिक उन्नति के लिए अच्छा नहीं है; क्योंकि वह केवल मजदूरों को कम मजदूरी देकर अपना काम चला रहा है वह प्रतियोगिता की कीमत पर उत्पादन नहीं कर रहा है, और जब वह इस बात के लिए मजबूर होगा कि मजदूरों को मजदूरी minimum level of wages से कम न दे तो उसको काम बन्द करना पड़ेगा और उसकी जगह कोई दूसरा अधिक कार्य कुशल उत्पादक आयेगा।

(द) मजदूर सन्तुष्ट रहता है और यह व्यवसाय के लिए बड़े महत्त्व की बात है।

इसकी हानियाँ—

(अ) जब न्यूनतम मजदूरी केवल एक या दो व्यवसाय में निर्धारित की जाती है तो पूँजी दूसरे व्यवसायों में जिनमें न्यूनतम मजदूरी नियुक्त नहीं है चली जायेगी (flight of capital) और उस व्यवसाय को हानि होगी। इसलिए न्यूनतम मजदूरी केवल उसी व्यवसाय में नियुक्त होनी चाहिए जिसमें मजदूरी बहुत ही नीची है और जिसमें इस बात का डर नहीं है कि मजदूरी बढ़ने से पूँजी दूसरे व्यवसाइयों में चली जायगी।

(ब) जब न्यूनतम मजदूरी नियुक्त हो जाती है तो जहाँ उत्पादक उससे कम मजदूरी नहीं दे सकता वहाँ वह उससे अधिक मजदूरी भी नहीं देना चाहता

इसका परिणाम यह होता है कि अधिक कार्य-कुशल मजदूरों को कम मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है। (the minimum wage in actual practice very often becomes the maximum with the employers) और इस तरह कार्यकुशलता घटती है।

(ख) न्यूनतम मजदूरी नियुक्त करने में बहुत सी कठिनाइयाँ पड़ती हैं जैसे क्या दर होना चाहिए, इत्यादि। यदि दर ऊँची है तो उत्पादक मजदूरों को रखना बन्द कर सकता है, यदि नीची है तो इससे मजदूरों को लाभ ही क्या?

(द) कानून का पूरी तरह से लागू करना कठिन है। जब मजदूरों को मजदूरी नहीं मिलती तो वह झूठी रसीद देकर कम तनख्वाह पर काम करने लगेंगे। इसलिए न्यूनतम मजदूरी तब ही सरकार को लागू करना चाहिए जब कि अत्यन्त आवश्यक हो।

झगड़ों का निपटारा—इन सब उपायों के होते हुए भी औद्योगिक अशान्ति उठ खड़ी होती है और मालिक मजदूर के बीच संघर्ष हो जाता है। अस्तु, इस प्रकार की संस्थाओं को स्थापित करना आवश्यक हो गया कि जो इन झगड़ों का निपटारा कर सकें और इस प्रकार हड़तालों से होनेवाली हानि से मालिकों, मजदूरों तथा समाज को बचा सकें।

(क) समझौता समाज (Conciliation Board)—झगड़ों को निपटाने का एक मुख्य तरीका यह है कि यदि कोई झगड़ा उठ खड़ा हो तो आपस में उसे तय कर लिया जावे। इसके लिए पहले से एक समझौता बोर्ड Conciliation board चुन लिया जाता है जिसमें मालिकों और मजदूरों के जिम्मेदार व्यक्ति होते हैं। जब कोई झगड़ा उठ खड़ा होता है तो इस बोर्ड के सामने उपस्थित किया जाता है और समझौता बोर्ड दोनों पक्षों की बात सुन कर उनमें समझौता कराने का प्रयत्न करता है। स्पष्ट है कि यह सफल जब ही हो सकते हैं जब दोनों पक्षों में सद्भावना हो, परन्तु बहुधा दोनों पक्षों में सद्भावना का अभाव होता है।

(ख) पंच निर्णय (Arbitration)—इसमें विशेषता यह है कि झगड़े को किसी बाहरी व्यक्ति (पंच) के सुपुर्द कर दिया जाता है। पंच एक व्यक्ति भी हो सकता है और एक से अधिक भी हो सकते हैं। यह पंच दोनों पक्षों की बातों को सुनकर अपना निर्णय दे देते हैं। पंचायत निजी रूप से भी की जा सकती है और राज्य की ओर से भी की जा सकती है। यह स्वेच्छानुसार या अनिवार्य भी हो सकती है। यदि दोनों दल स्वेच्छापूर्वक पंचायत कराते हैं तो इससे अच्छी बात कोई नहीं होती, क्योंकि इससे दोनों पक्षों की प्रतिष्ठा रह जाती है और संघर्ष होने से बच जाता है। राज्य की ओर से पंचायत होने की दशा में राज्य दोनों पक्षों की प्रार्थना पर एक पंचायत बोर्ड (arbitration board) बिठा देता है। या दोनों पक्षों को आज्ञा देता है कि हड़ताल या तालाबन्दी करने के पूर्व वे अपने झगड़े का निर्णय पंचायत बोर्ड से करवा लें। बोर्ड पहले दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करता है। उसमें

असफल हो जाने पर वह झगड़े का पूरा अध्ययन करता है, और उसकी जाँच करता है और अपनी सिफारिशों के सहित एक रिपोर्ट प्रकाशित कर देता है। बोर्ड की सिफारिशों को मानना उभय पक्ष के लिए अनिवार्य नहीं भी हो सकता है। परन्तु उस रिपोर्ट और उनकी सिफारिशों का प्रभाव सर्व-साधारण की उस झगड़े के सम्बन्ध में राय बनाने पर पड़ता है जब कि कोई भी पक्ष जनता को अपने विरुद्ध नहीं करना चाहता।

(ग) *औद्योगिक न्यायालय (Industrial Tribunal)*—औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के लिए सरकार कभी कभी औद्योगिक न्यायालय भी स्थापित करती है। कोई भी पक्ष, अथवा आवश्यकता पड़ने पर स्वयं सरकार, किसी झगड़े को ट्रिब्यूनल के सुपुर्द कर देता है और ट्रिब्यूनल उस झगड़े की जाँच करता है और फिर अपना निर्णय दे देता है जो दोनों पक्षों को मानना पड़ता है।

(घ) सामाजिक बीमा (Social Insurance)—औद्योगिक राष्ट्रों में मजदूरों के झगड़ने का सबसे बड़ा कारण जीविका की अरक्षिता है। बेकारी का भय मजदूरों के सामने सदा रहता है इसको दूर करने के लिए भी तरह-तरह की योजनाएँ बनाई जाती हैं, जैसे (१) श्रम एक्सचेंज अथवा एम्प्लायमैन्ट एक्सचेंज स्थापित करना, (२) व्यापार चक्र से बचने के लिए आयोजित आर्थिक नीति का काम में लाना, (३) बेकारी बीमा की योजनाओं जैसे चिकित्सा पर व्यय, वृद्धा अवस्था पेनशन, आदि, आदि का प्रबन्ध करना, इत्यादि इत्यादि। इन सबका उद्देश्य औद्योगिक अशान्ति को दूर करना ही होता है।

ऊँची मजदूरी की मितव्ययता

"Economy of High Wages"

सब मजदूर एक से कार्य-कुशल नहीं होते, कुछ मजदूर जो दूसरों की अपेक्षा अधिक कार्य कुशल होते हैं वे *उनकी अपेक्षा अधिक मजदूरी भी कमाते हैं*, परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वे महँगे पड़ते हैं। इस बात का पता कि कोई मजदूर महँगा है या सस्ता तब ही लग सकता है जब हम मजदूर की कार्य-कुशलता पर भी ध्यान रक्खें। एक मजदूर एक निश्चित समय में एक दूसरे मजदूर से पाँच गुना काम करता है परन्तु मजदूरी केवल तीन गुनी पाता है तो वह महँगा नहीं बल्कि सस्ता हुआ। इसके विपरीत यदि एक मजदूर को कम मजदूरी देनी पड़ती है परन्तु काम भी बहुत कम करता है तो मजदूर सस्ता नहीं बल्कि महँगा हुआ, जैसा कि हम में पाते हैं—"Indian labour is low-paid but dear". बहुत करके अधिक पानेवाले मजदूर अधिक कार्य कुशल भी होते हैं और इसलिए वास्तव में सस्ते
"Highly paid or dear labour is really cheap labour."

इस सम्बन्ध में एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब मजदूर को मजदूरी काफी मिलती है तो वह मन से काम करता है और अच्छा काम करता है—"मजदूरे खुशदिल, कुनद कारवेश"। वह अधिक ईमानदार सिद्ध होता है। वह जरा से लालच पर अपनी नौकरी को नहीं बदलता। उसके ऊपर निरीक्षण रखने में अधिक व्यय नहीं करना पड़ता इत्यादि। और इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि मजदूर का जीवन-स्तर ऊँचा होता है और उसका कार्य कुशलता म वृद्धि होती है फलत ऊँची मजदूरी दीर्घ काल म सस्ती मजदूरी सिद्ध होती है। इसी को अँगरेजी भाषा में Economy of High Wages (अधिक मजदूरी की मितव्ययता) कहकर पुकारते हैं और यही कारण है कि उन्नत देशों में उत्पादक मजदूर को तनख्वाह अच्छी देना और उनको सन्तुष्ट रखना पसन्द करता है।

QUESTIONS

1 How are wages determined ?

What are the factors determining the rate of wages ? (Agra 1955 51, 50)

2 Explain what is meant by marginal net product of labour Should wages be determined by the marginal productivity of labour or by its cost of production ? (Agra 1955, Alld 1954, 1950)

3. 'The normal forces of supply and demand do not always act freely on wages of labour Explain (Alld 1953, Agra 1951, Rajputna 1957)

4 What are the peculiarities of labour as a factor of production ? Discuss their importance on wages Can labour be treated as a commodity ? (Agra 1951s, 51, 50, Rajputana 1955)

5 Distinguish between real and nominal wages, and point out the factors which determine real wages (Alld 1951, Agra 1955, 52)

or

Explain clearly the difference between nominal and real wages. How can we have an increase in real wages without any increase in nominal wages ? Discuss the effects on labourers in a given factory, if the increase in nominal wages is not sufficient to bring about any increase in real wages (Agra 1952)

6. Discuss the effects of a rise or fall of the standard of living of a group of workers on their wages (Agra 1952s, Rajputana 1950)

7 How are wages determined ? Is it possible to raise wages indefinitely ? What is the objective of trade unions in this connection ? (Agra 1955 54, 51, Alld 1952)

8. What are the factors which determine the wages of a particular class of workers ? How far can trade unions raise wages permanently ? (Alld 1952 Agra 1953, Rajputana 1953)

9 Examine the various theories of wages Can wages be correctly explained with reference to the laws of supply and demand ? (Agra 1958)

10 Account for differences in wages between different occupations as well as within the same occupation. Why is it that the wages of women are usually low ? (Rajputana 1955 Agra 1956, 55)

11 What measures would you suggest for the promotion of peace in industry ? Discuss (Alld 1951)

12 Write short notes on —

(a) Wages Fund Theory (Agra 1956, 51s, 50, Rajputana 1954)

(b) Real and Nominal wages (Agra 1954 Alld 1952)

(c) Time Wages and Piece Wages (Agra 1951s)

(d) Minimum wages (Alld 1954 Agra 1955, Rajputana 1951)

(e) Efficiency Wages (Agra 1947)

(f) Economy of High Wages (Agra 1956)

(g) The Iron Law of Wages (Agra 1956)

३४

ब्याज

(Interest)

अर्थशास्त्र में ब्याज उसको कहते हैं जो पूँजीपति को पूँजी के उपयोग की कीमत के रूप में दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय आय का वह भाग जो पूँजीपति को पूँजी की सेवाओं के बदले दिया जाता है ब्याज कहलाता है।

कुल ब्याज तथा शुद्ध ब्याज

(Gross and Net Interest).

साधारण बोलचाल की भाषा में जिसे ब्याज कहते हैं वह अर्थशास्त्र में "कुल ब्याज" या "सकल ब्याज" (Gross Interest) कहलाता है। इस "कुल ब्याज" या "सकल ब्याज" में जोखिम का पारितोषिक और असुविधाओं का पारितोषिक सभी सम्मिलित रहते हैं। परन्तु इस "कुल ब्याज" का केवल एक भाग—वह भाग जो पूँजीपति को केवल पूँजी के प्रयोग के लिए दिया जाता है (जब कि उसमें न कोई जोखिम हो न कोई खर्चा, न कोई असुविधा), और जिसमें जोखिम, असुविधा अथवा हिसाब इत्यादि रखने का पारितोषिक सम्मिलित नहीं होता है—"वास्तविक ब्याज" या शुद्ध ब्याज (Net Interest) कहलाता है।

'The interest of which we speak when we say that interest is the earnings of capital simply, or the reward of waiting simply is Net Interest, but what commonly passes by the name of interest includes other elements besides this, and may be called Gross Interest "—Marshall

साधारण ब्याज की दर में शुद्ध ब्याज के अतिरिक्त और कई चीजें सम्मिलित रहती हैं जिन्हें आगे चित्र में दिखाया गया है—

कुल ब्याज (Net Interest) में निम्नलिखित चीजें सम्मिलित रहती हैं—

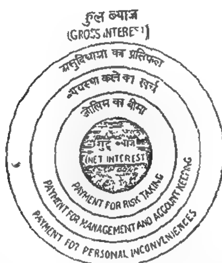
वास्तविक या शुद्ध ब्याज (Net Interest) जो केवल पूँजी के उपयोग के बदले दिया जाता है।

(२) जोखिम का प्रतिफल (Insurance against Risk)—पूँजीपति को पूँजी लगाने में कुछ जोखिम भी रहती है जिसके लिए वह कुछ प्रतिफल चाहता है। यह जोखिम प्रो० मार्शल के अनुसार दो प्रकार की होती है :—

(अ) व्यापारिक जोखिम (Trade Risks)—कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें जोखिम बहुत अधिक होता है, जैसे सट्टा व्यापार आदि। यदि इस प्रकार के व्यापार में

अधिक हानि हो गई तो ऋणकर्ता पूँजी वापिस करने में असमर्थ हो जायगा। इसलिए पूँजी-पति जोखिम सहन करने के लिए भी कुछ धन लिया करता है जो कुल ब्याज में सम्मिलित रहता है।

(ब) व्यक्तिगत जोखिम (Personal Risks)—व्यक्तिगत जोखिम ऋणकर्त्ता की रुपया लौटाने की इच्छा से सम्बन्ध रखती है। यह सम्भव है कि वह अविश्वसनीय व्यक्ति सिद्ध हो और पूँजी वापिस देने की अवस्था में होते हुए भी पूँजी वापिस न करना चाहे। इस प्रकार के जोखिम को सहन करने के लिए भी पूँजीपति कुछ धन लिया करता है जो कुल ब्याज में सम्मिलित रहता है।



(३) व्यवस्था करने का खर्च (Payment for Management and Account-keeping)—पूँजीपति को ऋण के प्रबन्ध करने में व्यय करना पड़ता है, हिसाब रखने के लिए क्लार्क या मुनीम रखना पड़ता है। यदि पूँजी समय पर वापिस नहीं की गई तो बार बार तकाजा करना पड़ता है, और अन्त में अदालती कार्यवाही करनी पड़ती है। इस प्रकार के सब कामों में उसे रुपया व्यय करना पड़ता है। इस व्यय को वह कुल ब्याज की दर में सम्मिलित कर लेता है।

(४) असुविधाओं का प्रतिफल (Payment for Inconvenience)—पूँजी-पति को ऋण देने में कई असुविधाएँ उठानी पड़ती हैं। यदि पूँजी निश्चित समय पर वापिस नहीं दी गई तो पूँजीपति को बड़ी असुविधा होती है। यदि ऋणकर्ता ऐसे समय पर चुकाये, जब अन्य कोई ऋण लेनेवाला नहीं आता, तो पूँजी बहुत समय तक बेकार रहता है। इस प्रकार की असुविधाओं के लिए पूँजीपति कुछ खर्चा लेता है जो कुल सम्मिलित रहता है। पूँजीपति को इस प्रकार की जितनी ही अधिक असुविधाओं का करना पड़ेगा, उतना ही अधिक ब्याज ऋणकर्त्ता को देना होगा।

इस तरह कुल ब्याज = शुद्ध ब्याज + जोखिम का बीमा +
व्यवस्था करने का खर्च +
असुविधाओं का पारितोषिक
या शुद्ध ब्याज = कुल ब्याज – जोखिम का बीमा –
व्यवस्था करने का खर्च –
असुविधाओं का पारितोषिक

ब्याज के सिद्धान्त

(*Theories of Interest*)

ब्याज की दर किस प्रकार निश्चित होती है, इस सम्बन्ध में अलग अलग सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है। उनमें से कुछ सिद्धान्त नीचे दिये जाते हैं :—

(अ) ब्याज का उत्पत्ति सिद्धान्त (Productivity Theory of Interest)–कुछ पुराने अर्थशास्त्रियों का विचार था कि पूँजी में उत्पादन-शक्ति होने के कारण ब्याज दिया जाता है। पूँजी की सहायता से उत्पादन की मात्रा बिना पूँजी की सहायता के उत्पादन की अपेक्षा बहुत अधिक होती है—यदि मजदूरों को बिना मशीन तथा अन्य आवश्यक औज़ारों की सहायता के उत्पादन कार्य करना पड़े तो उत्पादन की मात्रा बहुत कम होगी। पूँजी की इस उत्पादन शक्ति के कारण ही पूँजी का प्रयोग किया जाता है, और पूँजीपति को ब्याज दिया जाता है। परन्तु यह सिद्धान्त पूँजी के पूर्ति-पक्ष के प्रभाव पर कुछ भी विचार नहीं करता है और सिर्फ मांग पक्ष पर ही जोर देता है। साथ ही यदि उत्पत्ति ही ब्याज का एकमात्र कारण है, तो ब्याज की दर पूँजी की अलग अलग उत्पादन शक्ति के अनुसार अलग अलग होनी चाहिए, परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता है – शुद्ध ब्याज (Net Interest) की दर प्रायः सभी स्थानों तथा व्यवसायों में एक ही होती है। इसके अतिरिक्त उपभोग के हेतु ऋण की कोई उत्पादन-शक्ति नहीं होती है, अतः इससे कोई ब्याज नहीं लिया जाना चाहिए; परन्तु इस पर भी ब्याज होता है।

जर्मन अर्थशास्त्री वौन थ्यूनेन का कहना था कि ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति (marginal productivity) से निर्धारित होती है—साम्य की स्थिति में ब्याज, पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति के बराबर दिया जाता है। यदि ब्याज की दर सीमान्त उत्पत्ति से कम हो तो उत्पादक अधिक पूँजी को काम में लायेगा, जिससे पूँजी की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जायेगी और अन्त में ब्याज-दर सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होगी। इसके विपरीत यदि ब्याज की दर सामान्त उत्पत्ति से अधिक हो तो उत्पादक कम पूँजी का प्रयोग करेंगे, इस प्रकार पूँजी की माँग पूर्ति की अपेक्षा कम होगी जिससे ब्याज की दर गिरकर सीमान्त उत्पत्ति के बराबर हो जायेगी। इस सिद्धान्त में भी पूँजी के पूर्ति-पक्ष पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया है। यह कहना अक्षरशः सत्य है कि साम्य बिन्दु पर

ब्याज की दर सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होती है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि ब्याज की दर एकमात्र सीमान्त उत्पत्ति से निर्धारित होती है। वास्तव में पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति अधिकतम सीमा है जिससे अधिक ब्याज की दर किसी दशा में नहीं हो सकती। और न्यूनतम सीमा (जैसा कि हम ब्याज के वर्तमान सिद्धान्त में देखेंगे) पूँजी के सीमान्त त्याग से निर्धारित होती है। इसके अतिरिक्त इस बात का निर्णय करना कठिन है कि ब्याज की दर सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर करती है या स्वयं सीमान्त उत्पादकता ही ब्याज की दर पर। फिर, पूँजी के सभी साधनों और मशीनों इत्यादि का मूल्य ब्याज की दर को मानकर ही निश्चित किया जाता है। मान लीजिए कि हम एक १,००० रु० की मशीन का प्रयोग करते हैं जिसके कारण हमें १०० रुपये की आय होती है, तो हम कहेंगे कि ब्याज की दर १० रु० सैकड़ा हुई, परन्तु मशीन का मूल्य १,००० रुपया भी तो इसी कारण है कि ब्याज की दर १० रुपया सैकड़ा है।

(ब) ब्याज का परित्याग या प्रतीक्षा सिद्धान्त (Abstinence or Waiting Theory of Interest। ब्याज के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रसिद्ध प्राचीन अर्थशास्त्री सीनियर ने किया था। उनका कहना था कि उपभोक्ता अपनी सम्पूर्ण आय को वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं में व्यय करना चाहते हैं। जब वे इस आय का कुछ भाग बचाते हैं तो उन्हें कुछ वर्तमान उपभोग का त्याग करना पड़ता है। इसी त्याग, के लिए पूँजी उधार लेनेवालों को उन्हें ब्याज देना पड़ता है। और जैसा त्याग करना पड़ता है वैसा ही ब्याज की दर होती है।

कुछ विद्वानों ने इस त्याग के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की। उनका कहना था कि धनी लोगों को अपनी आय के कुछ भागों को बचाने के लिए किसी भी प्रकार का त्याग नहीं करना पड़ता। अतः मार्शल ने त्याग के स्थान पर प्रतीक्षा (waiting) शब्द का प्रयोग किया है। प्रो० मार्शल का कहना है कि जब उपभोक्ता अपनी आय का कुछ भाग बचाता है तो वह अपने उपभोग के कुछ भाग को भविष्य के लिए स्थगित कर देता है। इस प्रकार उसे उपभोग के उस हिस्से के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। और इस तरह प्रतीक्षा करने के लिए पूँजीपति को द्रव्य के रूप में जो पारितोषिक दिया जाता है उसे ब्याज कहते हैं जिसकी दर सीमान्त बचत करनेवाले पूँजीपति की प्रतीक्षा की मात्रा से निर्धारित होती है।

परन्तु ब्याज का यह सिद्धान्त भी पूँजी के केवल एक ही पक्ष, यानी पूर्ति पक्ष, पर विचार करता है और माँग पक्ष को एकदम भूल जाता है। जहाँ ब्याज त्याग और प्रतीक्षा का प्रतिफल है, वहाँ यह पूँजी की उत्पादन-शक्ति का भी मूल्य है।

(स) व्यन्तर (Agio) सिद्धान्त—प्रो० बौहेम बावर्क ने ब्याज के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनके मतानुसार मनुष्य वर्तमान उपभोग को भविष्य के उपभोग की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है, और इस कारण

भविष्य की अपेक्षा वर्तमान में वस्तु का अधिक मूल्य होता है। मनुष्य वर्तमान आवश्यकताओं का अनुभव भविष्य की आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक तीव्रता से करता है। फलस्वरूप वर्तमान वस्तुओं को भविष्य की वस्तुओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। (कहा भी जाता है कि a bird in hand is worth two in the bush") इसी लिए वर्तमान तथा भविष्य की इस प्रकार की विषमता को दूर करने के लिए ब्याज दिया जाता है। यह एक प्रकार का पारितोषिक है जो ऋणी को प्रोत्साहन देने के लिए आवश्यक होता है। साथ-साथ उन्होंने यह भी बताया कि ब्याज की दर वहीं निश्चित होती है जहाँ भविष्य की तुलना में वर्तमान के लिए किया हुआ भुगतान पूँजी की सीमान्त इकाई की उत्पादकता के बराबर हो। इस प्रकार उन्होंने ब्याज के उत्पादकता और ग्यन्तर सिद्धान्तों का मेल किया, और यद्यपि इनका सिद्धान्त बौन यूनेन के सिद्धान्त से कुछ अधिक भिन्न नहीं है, तो भी इसमें पूँजी की माँग का विश्लेषण किया गया है।

बौहेम बौवर्क के शिष्य फिशर ने इस सिद्धान्त की आलोचना की और इसके स्थान पर समय की पसन्दगी या समय अभिमान के सिद्धान्त (Time Preference Theory or the Austrian Theory का प्रतिपादन किया। परन्तु ग्यन्तर सिद्धान्त और समय अभिमान सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है। केवल उन्होंने भिन्न भाषा का प्रयोग किया है। मनुष्य वर्तमान समय को अधिक महत्वपूर्ण समझता है क्योंकि भविष्य अनिश्चित होता है, जैसे यदि किसी मनुष्य से यह पूछा जाय कि ५० रुपये वह इस समय लेना पसन्द करता है या एक वर्ष के पश्चात् तो वह ५० रु० इस समय ही लेना चाहेगा। मान लिया वह ५० रु० इस समय या ६० रु० एक साल के बाद लेना पसन्द करता है तो १० रु० ५० का एक साल का ब्याज हुआ। यही दोनों सिद्धान्तों का आशय है। जैसा भी हो, फिशर के अनुसार ब्याज की दर तब निश्चित होती है जब उधार लेने वाले के लिए पूँजी की सीमान्त उपयोगिता (माँग पक्ष)—जो समय अभिमान तथा सीमान्त उत्पादकता से मिलकर बनी है—उधार देनेवाले के समय अभिमान तथा विनिमय के अवसरों के त्याग (पूर्ति पक्ष) के बराबर होती है।

यह सिद्धान्त भी सतोषजनक नहीं है। यह ब्याज की दर का पूँजी की पूर्ति से सम्बन्ध स्थापित करता है, क्योंकि समय अभिमान की तीव्रता के अनुसार ही बचत अर्थात् पूँजी की पूर्ति निश्चित होती है, परन्तु पूँजी की पूर्ति केवल समय अभिमान पर ही तो निर्भर नहीं होती। त्याग, प्रतीक्षा और समय पसन्दगी के अतिरिक्त पूँजी की पूर्ति और भी बहुत सी बातों पर निर्भर होती है। दूसरा दोष यह है कि यह सिद्धान्त अव्यावहारिक सिद्धान्त है। उधार देने और लेने के मनोवैज्ञानिक कारणों को सही सही नहीं जाना जा सकता। मनुष्य भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को कितना अधिक पसन्द करता है इसका अनुमान कैसे लगाया जाय?

(द) नकदी प्रिफरेन्स या द्रवता अधिमान सिद्धान्त (Liquidity Perference Theory)—अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् लार्ड कीन्स ने ब्याज के एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसे नकदी की पसन्दगी का सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory) कहते हैं।

लार्ड कीन्स का मत है कि मनुष्य बहुत से कारणों से अपनी बचत को नकदी (cash or liquid money) के रूप में, या तरल रूप मे, अपने पास या बैंक में रखना चाहता है। और जब वह कोई ऋण देता है तो इसका मतलब यह हुआ कि वह एक liquid asset को non-liquid asset म बदलता है और इस बात के लिए उसे ब्याज के रूप में पारितोषिक मिलना चाहिए।

हर एक की नकदी की पसन्दगी (liquidity preference) अलग अलग होती है—कुछ की नकदी की पसन्दगी बहुत कम होती है क्योंकि उन्हें रुपये की आवश्यकता भविष्य में एक निर्दिष्ट समय पर ही पड़ेगी और वे ऋण कम ब्याज पर देने को तैयार रहते हैं, और कुछ की नकदी पसन्दगी बहुत अधिक होता है क्योंकि उन्हें हर समय रुपये की आवश्यकता रहती है और वे तब ही ऋण देने को तैयार होते हैं जब उनको अधिक ब्याज मिलता है। इस तरह लार्ड कीन्स के मतानुसार ब्याज दर द्रवता या नकदी की पसन्दगी पर निर्भर रहती है (Interest is the reward for parting with liquidity for a specified period It is a reward for not hoarding)

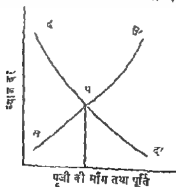
लार्ड कीन्स का कहना है कि जब किसी व्यक्ति के पास कुछ द्रव्य आय होती है तो वह सबसे पहले यह निश्चय करता है कि वह उसमे से कितना द्रव्य उपभोग कार्य में लगाए (propensity to consume) और कितना बचाये (propensity to save)। जब वह अपनी आय का एक अंश बचाता है तो फिर उसके सामने यह प्रश्न उठता है कि उसको नकदी के रूप में अपने पास ही रखे अथवा उसको किसी को उधार दे दे। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति की यह प्रकृति होती है कि वह अपनी बचत को नकदी के रूप में ही रखे। वह उसको किसी को भी देना नहीं चाहता, और यदि देता है तो उसके लिए ब्याज लेता है, जिसकी दर उसकी नकदी पसद करने की प्रवृत्ति के अनुसार निर्धारित होती है। यदि वह नकद द्रव्य अधिक पसद करता है तो उसकी ब्याज की दर ऊँची होगी, अन्यथा नीची होगी। और यदि हम इसमे पूर्ति-पक्ष का भी समावेश कर लें तो यह कहा जा सकता है कि ब्याज की दर उस सन्तुलन से स्थापित होती है जो लोगों की नकदी के रूप म सम्पत्ति को अपने अधीन रखने की इच्छा के कारण द्रव्य की माँग और द्रव्य की कुल उपलब्ध मात्रा में होता है। ("The rate of interest will be such as will equate the demand for money for liquid purposes with the available supply of money.") इसका मतलब यह हुआ कि ब्याज दर के दो निर्धारक तत्व हैं—नकदी प्रिफरेन्स तथा द्रव्य की

ब्याज दर

द्रव्य की कुल उपलब्ध मात्रा (पूर्ति) | लोगों की नकदी प्रिफरेन्स (माग)

उपलब्ध माना। इसलिए यदि नकदी प्रिफरेन्स समान रहे, तो मुद्रा के परिमाण में वृद्धि का सीधा परिणाम ब्याज-दर में कमी का होगा और मुद्रा के परिमाण में कमी का ब्याज दर में वृद्धि का। यद्यपि कीन्स का यह सिद्धान्त ही आजकल माना जाता है और आधुनिक सिद्धान्त कहलाता है, परन्तु यह कीन्स का सिद्धांत भी पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं है। इसके अनुसार ब्याज दर मुख्यतः द्रव्य की माँग से ही प्रभावित होती है। इसलिए यह सिद्धांत भी एकांगी (एक तरफा) है। और यदि यह मान भी लिया जाय कि किसी समय ब्याज की दर बहुत कुछ द्रवता की माँग पर ही निर्भर होता है तो भी इस सिद्धांत में यह कमी रह जाती है कि इसके द्वारा हमको यह पता नहीं चलता कि दीर्घ कालीन ब्याज की दर पर कौन सी शक्तियों का प्रभाव पड़ता है। किसी का कहना है कि ' Keynes' theory is only an explanation of the market rate of interest at any time. It gives us only an instantaneous photographic picture, it dos not give us a cinematographic picture from which we could get an idea of the ultimate forces governing the long-term rate of interest".

(क) ब्याज की माँग और पूर्ति का सिद्धान्त (The Demand and Supply Theory of Interest)—क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज पूँजी की माँग व पूर्ति से निर्धारित होता है। पूँजी की माँग पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति पर निर्भर रहती है—सीमान्त उत्पत्ति अधिकतम सीमा है जिससे अधिक ब्याज किसी दशा में नहीं हो सकता है; और पूँजी की पूर्ति सीमान्त त्याग के आश्रित है—पूँजीपति सीमान्त त्याग से कम पर पूँजी नहीं देगा यानी सीमान्त त्याग ब्याज की न्यूनतम सीमा है इससे ब्याज कम नहीं हो सकता है। साम्य की स्थिति में सीमान्त उत्पत्ति और सीमान्त त्याग बराबर होते हैं, और जिस बिन्दु पर ये दोनों बराबर होते हैं, वहीं ब्याज दर निश्चित होती है। यदि ब्याज की दर इससे कम होगी तो बचत माँग के बराबर न होगी और ब्याज की दर ऊँची हो जायगी। इसके विपरीत ब्याज की दर अधिक होने पर बचत अधिक होगी और ब्याज की दर गिर जायगी। इस प्रकार ब्याज की दर सन्तुलन दर (equilibrium rate) के बराबर होगी। निम्न चित्र पर ध्यान दीजिए—



मान लीजिए कि स्थिति इस प्रकार है —

ब्याज की दर	पूंजी की माँग	पूँजी की पूर्ति
१%	५० लाख	१० लाख
२%	४० लाख	२० लाख
३%	३० लाख	३० लाख
४%	२२ ,,	४० ,,
५%	१० ,,	५० ,,

तो ब्याज दर ३ प्रतिशत होगी, क्योंकि इस दर पर ही साम्य स्थापित होता है।*

पूर्ति पर प्रभाव डालनेवाली शक्तियाँ कई होती हैं जैसे (१) बचत करने की शक्ति, (२) बचत करने की इच्छा और (३) बचत करने की सुविधाएँ इत्यादि (पूँजी अध्याय पढ़िए, और पूँजी की माँग भी बहुत प्रकार के लोगों के द्वारा होती है—जैसे उन लोगों द्वारा जो पूँजी को अपने उपयोग में लाते हैं, सरकार द्वारा, उन लोगों द्वारा जो उत्पादन कार्य में पूँजी लगाते हैं।

[इस सिद्धान्त का लार्ड कीन्स ने विरोध किया है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि लोगों की आय में कोई परिवर्तन नहीं होता, जो एक भूल है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज एक तरफ बचत पर और दूसरी तरफ पूँजी की माँग पर आधारित है, परन्तु बचत स्वयं लोगों की आय पर आधारित है जो बदलती रहती है। दूसरी बात जो इस सिद्धांत में मान ली गई है वह यह है कि ब्याज के बढ़ने पर बचत बढ़ेगी और ब्याज के कम होने पर बचत कम होगी, इस प्रकार कहना भी एक भूल है, क्योंकि जब ब्याज दर बढ़ती है तब विनियोग में कमी आ जाती है और जब विनियोग कम होने लगता है तब आय का घटना स्वाभाविक है, और जब आय घटेगी तो बचत भी घटनी चाहिए। यही कारण है कि लार्ड कीन्स का कहना है कि सन्तुलन ब्याज दर से स्थापित नहीं होता बल्कि आय की सतह से। कुछ भी सही, विनियोग और बचत प्रायः एक दूसरे के बराबर होते हैं और आय की सतह ही इस बराबरी का कारण होती है (इस सम्बन्ध में दूसरे खण्ड के अध्याय १८ को पढ़िये जिसका शीर्षक है "बचत विनियोग और बेकारी") इसलिये इस सिद्धान्त में कोई बड़ी भूल भी नहीं है।]

ब्याज की दर में भिन्नता के कारण

(*Changes in the Rate of Interest*)

हमने ऊपर देखा कि ब्याज की दर पूँजी की पूर्ति और माँग से निर्धारित होती है। पूँजी की पूर्ति लोगों की बचत पर निर्भर रहती है, जो समाज की उन्नति के साथ बढ़ती है।

इसलिए यदि माँग यथावत् रहे तो ब्याज दर को गिरना चाहिए। कुछ लोगों का तो विचार है कि यह गिरकर शून्य भी हो सकता है (zero rate of interest)। [फिशर ने इस सम्बंध में ताजे अजीरों का उदाहरण दिया है। यदि ताजे अजीरों को सुरक्षा से रखने का प्रबंध न हो और एक दिन में उसमें से ५० प्रतिशत खराब हो जायें तो ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दस अजीर इस शर्त पर देने को तैयार हो जायगा कि अगले दिन वह उसे केवल पाँच अजीर ही वापस करे। परन्तु यह उदाहरण भ्रमपूर्ण है क्योंकि इसमें अजीरों के नष्ट होने की सम्भावना का हस्तान्तरण ही हुआ है।] परन्तु जनता की संख्या के साथ साथ माँग भी बढ़ती रहती है। उनका जीवन स्तर ऊँचा होने से और देश की आर्थिक तथा औद्योगिक उन्नति के कारण भी माँग बढ़ती रहती है। इसलिए हम यह सकते हैं कि ब्याज-दर के शून्य हो जाने की कोई सम्भावना नहीं। इसके अतिरिक्त कोई व्यक्ति भविष्य में वर्तमान के बराबर या उससे कम वस्तु तभी स्वीकार कर सकता है जब कि भविष्य में उस वस्तु से वर्तमान की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि हो। ब्याज इन सन्तुष्टियों का अन्तर है जो सदैव धनात्मक होगा। और पूँजी की पूर्ति और माँग के परिवर्तन के साथ साथ ब्याज दर में भी परिवर्तन होता रहेगा।

दूसरी बात यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक समय में एक बाजार में शुद्ध ब्याज की दर एक ही होनी चाहिए (net interest tends to be uniform)। [साथ ही साथ वास्तविक संसार में प्रायः यह भी देखा जाता है कि ब्याज की दर अलग अलग होती है—वह व्यक्ति व्यक्ति के लिए जगह जगह पर समय समय पर अलग अलग होती है। इसका कारण यह है कि जब हम इन परिस्थितियों में ब्याज का जिक्र करते हैं तो हमारे ध्यान में शुद्ध ब्याज नहीं वरन् कुल ब्याज होता है और चूंकि कुल ब्याज की धारणा हम केवल शुद्ध ब्याज के आधार पर न करके ब्याज सम्बन्धी जोखिम, व्यय, असुविधाओं के आधार पर करते हैं और विभिन्न अवस्थाओं में पूँजीपति को कम या अधिक जोखिम तथा व्यय और असुविधाएँ उठानी पड़ती हैं इसलिए यह स्वाभाविक है कि कुल ब्याज अलग अलग परिस्थितियों में अलग-अलग हो (gross interest differs)। जिस देश में व्यापारियों तथा पूँजीपतियों की व्यापारिक नैतिकता बहुत ऊँची है वहाँ ब्याज की दर भी उतनी ही नीची हुआ करती है। एक देश जिसमें औद्योगिक उन्नति प्राप्त हो चुकी है, जीवन निर्वाह के साधनों में किसी प्रकार की कमी नहीं, शासन की व्यवस्था ठीक है, देश सुरक्षित है, और शान्ति है वहाँ अपेक्षाकृत ब्याज की दर बहुत कम होगी। इसके विपरीत एक पिछड़े असभ्य तथा अशिक्षित देश में ब्याज की दर ऊँची होगी। इसी तरह साहूकार, जोखिम अधिक उठाता है इसलिए ब्याज भी अधिक लेता है। बैंक रुपया पूरी सिक्योरिटी रखकर देता है इसलिए कम ब्याज लेता है और लड़ाई के समय में अथवा मुद्रा प्रसार के समय में ब्याज दर बढ़ जाती है और शान्ति के समय में घट जाती है, इत्यादि, इत्यादि। फिर भी जहाँ तक शुद्ध ब्याज का सम्बन्ध है उसकी प्रवृत्ति एक बाजार में एक समय में एक ही होने की होती है। हाँ, विभिन्न स्थानों और देशों के बीच पूँजी की गतिशीलता अपूर्ण होने के कारण भिन्नता अवश्य हो सकती है।] परन्तु हमको यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि

शुद्ध ब्याज में कोई असमानता नहीं होती। अल्पकाल में पूँजी की पूर्ति लगभग निश्चित सी रहती है परन्तु माँग में परिवर्तन हो सकता है, अतः अल्पकाल में ब्याज दर में परिवर्तन पूँजी की माँग के परिवर्तन के साथ साथ होता रहता है—यदि उत्पादकों को अधिक लाभ के आसार दिखाई दें तो वे अधिक पूँजी को लगाकर उत्पादन बढाने के प्रयत्न करेंगे और इस प्रकार पूँजी की माँग के बढ़ने से ब्याज दर में वृद्धि होगी, इसके विपरीत यदि भविष्य में वस्तुओं के मूल्य के गिरने की अथवा मंदी आने की सम्भावना हो, तो उत्पादन की मात्रा कम कर दी जायगी, अतः पूँजी की माँग भी कम होगी जिससे ब्याज दर कम हो जायगी। और दीर्घकाल में तो राजनैतिक स्थिति का भी प्रभाव ब्याज दर पर पड़ता है—यदि देश की राजनैतिक दशा स्थिर न हो तो साहसी उत्पादन बढ़ाने के लिए अधिक उत्साहित नहीं होंगे, फलस्वरूप ब्याज दर गिर जायेगी। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के खराब होने से भी ब्याज दर गिर जाती है। इसके अतिरिक्त, दीर्घकाल में पूँजी की पूर्ति कर की दर के परिवर्तन से भी प्रभावित होती है—यदि कर की दर एकाएक बढ़ा दी जाय तो लोगों की बचत करने की शक्ति कम हो जायगी, जिससे पूँजी की पूर्ति कम होने से ब्याज की दर बढ जायगी इत्यादि, इत्यादि।

दीर्घकालिक ब्याज की दर में परिवर्तन दीर्घकालीन कारणों से भी होते हैं, जैसे जनसंख्या या मनुष्यों की बचत करने की आदतों में परिवर्तन आदि, अन्य स्थितियों के यथावत् रहने पर यदि जनसंख्या बढ़ जाय तो अधिक पूँजी की माँग होगी, जिससे ब्याज की दर में वृद्धि होगी। इसी प्रकार जनसख्या के कम होने से ब्याज की दर गिर जायेगी। यदि लोगों को अधिक रुपया बचाने की आदत हो जाय तो पूँजी की पूर्ति बढ़ जायेगी जिससे भी ब्याज की दर गिर जायेगी। इसके विपरीत यदि रुपया बचाने की आदत में कमी हो जाय तो पूर्ति के घट जाने से ब्याज दर बढ़ जायेगी, इत्यादि, इत्यादि।

साधारणतया दीर्घकालीन ब्याज की दर अल्पकालीन ब्याज दर की अपेक्षा ऊँची होनी चाहिए क्योंकि दीर्घकालीन पूँजी में जोखिम की मात्रा अधिक होती है। परन्तु यदि जनता को भविष्य की दशाओं में अधिक विश्वास हो तो दीर्घकालीन ब्याज दर अल्पकालीन ब्याज दर से कम भी हो सकती है। अल्पकालीन ब्याज दर में अनिश्चितता, दीर्घकालीन ब्याज दर की अपेक्षा, अधिक होती है क्योंकि अधिकतर परिवर्तन सर्वप्रथम अल्पकालीन मुद्रा बाजार में होते हैं और उन परिवर्तनों का प्रभाव दीर्घकाल तक कुछ कम हो जाता है। [इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि यद्यपि अल्पकालीन और दीर्घकालीन ब्याज की दर अलग अलग होती है तो भी दोनों एक ही ओर चलने हैं। जब अल्पकालीन ब्याज दर घटती है तब दीर्घकालीन ब्याज की दर भी घटती है। इसी तरह यदि दीर्घकालीन ब्याज की दर नीची होती है तो अल्पकालीन ब्याज की दर भी नीची हो जाती है इत्यादि, इत्यादि।]

जब ब्याज की दर बहुत कम होती है तो उत्पादक अधिक पूँजी लगाकर उत्पादन की मात्रा बढ़ाते हैं। हाईक का कहना है कि जब ब्याज दर बहुत कम होती है तो [illegible] दन इतना अधिक बढ़ता है कि मंदी का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत जब [illegible] की

दर बहुत अधिक होती है तो लोग कम पूँजी लगाते हैं जिससे उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है और कीमतें बढ़ जाती हैं इत्यादि, इत्यादि।

ब्याज एक समाजवादी अर्थ व्यवस्था में (Interest under Socialism) —

समाजवादी अर्थ व्यवस्था में ब्याज का लेना देना नहीं होता—समाजवादी ब्याज की प्रथा का विरोध करते हैं। परन्तु इसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। हिसाब किताब रखने के लिये समाजवादी सरकार को भी ब्याज का आश्रय लेना पड़ता है। उसके सामने पूँजी को विभिन्न व्यवसायों में लगाने की समस्या रहती है, और उसे निश्चय करना पड़ता है कि किन व्यवसायों में पूंजी लगाई जाय तथा किन में नहीं। वह लाभ की एक प्रमापित दर (standard rate) निश्चित कर लेती है और जिन उद्योगों में उससे कम लाभ की आशा होती है उनमें वह पूंजी नहीं लगाती। यह प्रमापित दर सिवाय ब्याज के और कुछ नहीं है। इसी प्रकार उसको सोचना पड़ता है कि वह पूँजी को उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में या पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में किस में लगावे, और किसी न किसी रूप में उसे ब्याज दर का सहारा लेना पड़ता है।

QUESTIONS

1 Distinguish between net and gross interest (Agra 1955 54 52s 51s 50)

2 What are the factors which determine the rate of interest in a country? Explain fully (Agra 1955 54 1950)

3 What are the causes and effects of changes in the rate of interest? Why is there a difference in the rate of interest (a) at different places such as towns and villages (b) for short and long term loans (c) for ordinary and emergency purposes? (Alld 1953)

or

Why does a money lender charge 24 percent interest whereas a bank charges only 6 percent? (Agra 1956)

4 Examine the Austrian Theory of Interest (Agra 1956)

5 Interest is the price paid for waiting Comment (Alld 1954 Agra 1950)

6 Write a short note on Agio Theory of Interest (Agra 1956)

7 State and examine Keynes's theory of interest (Alld 1955)

8 Write a short note on liquidity preference Indicate the relation of Liquidity Preference Theory of interest to supply and demand of capital (Alld 1948 Agra 1956 55 53 Rajputana 1957)

३५

लाभ

(Profit)

साहसी (Entrepreneur) को उत्पादन के जोखिम के लिए जो पारितोषिक मिलता है, उसे लाभ कहते हैं। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय आय का जो हिस्सा साहसी को दिया जाता है, उसे लाभ कहते हैं।

वर्त्तमान समय में उत्पादन भविष्य म होनेवाली माँग की पूर्ति के लिए टेढ़े मेढ़े तरीकों से किया जाता है। इस प्रकार के उत्पादन में उत्पादनकर्त्ता, या साहसी, को बहुत अधिक जोखिम उठाना पड़ता है। वस्तु की माँग से पहले ही उसको उत्पादन करना पड़ता है। उसकी उत्पत्ति और उपभोग में बहुत समय का अन्तर होता है। इस अवधि में कच्चे माल के दाम बढ़ सकते हैं, तथा माँग, पूर्ति, फैशन आदि में बहुत परिवर्तन हो सकता है। नये नये आविष्कार, सरकारी कर, श्रमियों का स्ट्राइक, देश में राजनैतिक आन्दोलन या अन्य कोई दुर्घटना आदि से वस्तु के मूल्य में बहुत घट बढ़ हो सकती है। इन सब जोखिमों को उठाने के लिए कोई न कोई तैयार होना चाहिए और साहसी तभी तैयार हो सकता है जब उसको कोई पारितोषिक मिले, और इस प्रकार जो पारितोषिक साहसी को मिलता है उसे लाभ कहते हैं। यह लाभ उत्पादन व्यय में अन्य खर्चों की तरह सम्मिलित रहता है और जिस तरह मजदूर बिना मजदूरी काम नहीं करेगा या पूँजीपति बिना ब्याज रुपया नहीं लगायेगा, इसी तरह साहसी बिना लाभ जोखिम उठाने को तैयार न होगा। [इस सम्बन्ध म एक बात याद रखने की है कि कुछ अर्थशास्त्री उत्पादन के साधन चार मानते हैं—भूमि, श्रम, पूँजी, साहस; और कुछ अर्थशास्त्री पाँच—भूमि, श्रम, पूँजी, व्यवस्था, साहस। जो अर्थशास्त्री पाँच साधन मानते हैं वे व्यवस्थापक के पारितोषिक को वेतन (salary or earnings of management) कहकर पुकारते हैं और साहसी के पारितोषिक को लाभ (profit) कह कर; परन्तु जो अर्थशास्त्री केवल चार साधन मानते हैं वे व्यवस्थापक और साहसी दोनों के मिले हुए काम के कुल पारितोषिक को लाभ कहते हैं, किन्तु ऐसी दशा में इस कुल पारितोषिक को लाभ न कहकर उसके एक हिस्से को ही, जो साहसी को जोखिम उठाने के बदले दिया जाता है, लाभ कहना उचित होगा। शेष एक प्रकार की मजदूरी है जो साहसी को उसकी व्यवस्था की विशेष सेवा के बदले प्राप्त होती है।

साहसकर्ता का हिस्सा
Entrepreneur's share

फैसला देने का पारितोषिक
(Reward for decision making)
(Organisation or management proper)

जोखिम उठाने का पारितोषिक
(Reward for risk taking)
(Enterprise)

इस तरह दोनों हालतों में लाभ (*Profit*) से मतलब केवल जोखिम उठाने के पारितोषिक से हुआ।]

कुल या मिश्रित लाभ और वास्तविक या शुद्ध लाभ
(*Gross Profit and Net Profit*)

साहसी को किसी वस्तु के उत्पादन में लागत से अधिक जो आय होती है (यानी लगान, मजदूरी और ब्याज देने के बाद जो कुछ बचता है) उसे कुल को साधारण भाषा में लाभ कहते हैं (profit is the excess of sale-proceeds over cost price)। परन्तु अर्थशास्त्र में उसे 'कुल लाभ' या 'मिश्रित लाभ' (Gross Profit) कहते हैं, जब कि उस लाभ के केवल एक हिस्से को, यानी उतने ही पारिश्रमिक को जो साहसी को केवल जोखिम उठाने के लिए मिलता है, वास्तविक या शुद्ध लाभ (Net Profit) कहते हैं।

'कुल लाभ' में निम्नलिखित चीजें सम्मिलित रहती हैं —

कुल लाभ
(GROSS PROFIT)

आकस्मिक लाभ

शुद्ध लाभ

(१) साहसी के निजी उत्पत्ति के साधनों का प्रतिफल (entrepreneur's share of rent wages, interest and salaries)—यदि साहसी उत्पादन में अपनी भूमि, श्रम, पूँजी आदि लगावे तो कुल लाभ में उसकी भूमि का लगान, श्रम की मजदूरी, पूँजी का ब्याज तथा व्यवस्था करने का पारिश्रमिक सम्मिलित रहता है। यदि साहसी इन साधनों को दूसरे उत्पादकों को देता तो उसे इनका पारिश्रमिक अवश्य मिलता, अतः जिस दर से यह पारिश्रमिक दूसरों से मिलता, उसी हिसाब से कुल लाभ में से साहसी के निजी सम्पत्ति के साधनों का प्रतिफल मिलना चाहिए और वह कुल लाभ में सम्मिलित रहता है।

(२) मशीन आदि का घिसावट व्यय (maintenance charges)—मशीन आदि अचल पूँजी की एक निश्चित आयु होती है। वे कुछ समय बाद इस योग्य नहीं रह जातीं कि उनसे काम लिया जा सके। इस बीच में, एक घिसाई-कोष बनाकर, इनकी कीमत उत्पादन से अलग कर देनी पड़ती है ताकि इनकी अवस्था के समाप्त होने पर उसी रुपये से नई अचल पूँजी खरीदी जा सके। यह 'घिसावट व्यय' भी कुल लाभ में सम्मिलित रहता है।

(३) आकस्मिक लाभ (surplus profit or chance gain)—कभी-कभी अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों के हो जाने के कारण साहसी को अतिरिक्त लाभ हो जाता है जैसे पिछले महायुद्धों में उत्पादकों को मूल्य के आशा से अधिक बढ़ने के कारण बहुत अधिक अतिरिक्त लाभ (surplus profit) प्राप्त हुआ। यह भी कुल लाभ में सम्मिलित रहता है।

(४) साहसी का एकाधिकार लाभ (monopoly gains)—कभी कभी उत्पादक को उत्पादन में एकाधिकार प्राप्त होता है अर्थात् एक वस्तु केवल वह ही बना या बेच सकता है दूसरा नहीं। ऐसी अवस्था में वह प्रतियोगिता के मूल्य से अधिक मूल्य पर वस्तु को बेचने की चेष्टा करता है और इस प्रकार जो अधिक आय होती है, वह भी 'कुल लाभ' में सम्मिलित रहती है।

(५) वास्तविक या शुद्ध लाभ (Net Profit)—साहसी को जो पारिश्रमिक जोखिम उठाने से मिलता है उसे वास्तविक लाभ (Net profit) या सामान्य लाभ (Normal profit) कहते हैं (Pure profit is a payment made exclusively for bearing risk.) और यह तो 'कुल लाभ' में सम्मिलित रहता ही है।

इस तरह हम देखते हैं कि जिसे हम 'कुल लाभ' कहते हैं उसमें पाँच चीजें सम्मिलित रहती हैं—साहसी के निजी उत्पत्ति के साधनों का प्रतिफल, मशीन आदि का घिसावट व्यय, आकस्मिक लाभ, साहसी का एकाधिकारी लाभ और वास्तविक अथवा शुद्ध लाभ और हम यदि केवल "शुद्ध या वास्तविक लाभ" जानना चाहते हैं तो 'कुल लाभ' में से पहली चार चीजें घटा देनी चाहिए। जो शेष बचेगा (यानी पाँचवीं चीज जो ऊपर वर्णन की गई है) वह शुद्ध या वास्तविक लाभ कहलायेगा।

कुल लाभ = साहसी के निजी उत्पादन के साधनों का प्रतिफल + मशीन आदि की घिसाई + साहसी का एकाधिकारी लाभ + आकस्मिक लाभ + शुद्ध लाभ।

अतः शुद्ध लाभ = कुल लाभ − साहसी के निजी उत्पादन के साधनों का प्रतिफल − मशीन आदि की घिसाई − साहसी का एकाधिकारी लाभ − आकस्मिक लाभ।

लाभ के सिद्धान्त

(*Theories of Profit*)

अर्थशास्त्र के भिन्न भिन्न विद्वानों ने लाभ के अलग अलग सिद्धान्त बताये हैं। साहसी को लाभ किस सेवा के बदले में मिलता है, इस पर बहुत मत भेद है, और लाभ का विषय बहुत विवादग्रस्त है। इसके निम्नलिखित मुख्य सिद्धान्त हैं —

(१) लाभ का जोखिम सिद्धान्त (*Risk Theory of Profit*)— अमेरिकन अर्थशास्त्री प्रो० हाॅली का मत है कि लाभ जोखिम का पारितोषिक है और लागत में सम्मिलित रहता है। एक साहसी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह व्यवसाय में जोखिम उठाए अथवा लाभ हानि का दायित्व अपने ऊपर ले और ऐसा करने के बदले साहसी को जो पारितोषिक मिलता है उसी को लाभ कहते हैं। लाभ के लालच से ही साहसी काम करते हैं।

निस्सन्देह लाभ जोखिम का पारितोषिक है परन्तु सभी व्यापार को जोखिम लेने के लिए नहीं करते किन्तु एक स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने को भी करते हैं। दूसरे, ऊँचे लाभ केवल इस कारण ही नहीं होते कि उन उद्योगों को आरम्भ करने में साहसी ने अधिक जोखिम सहा है। जितना लाभ साहसी पाता है वह सब केवल जोखिम से ही नहीं प्राप्त होता। प्रो० कार्वर का तो कहना है कि लाभ इसलिए नहीं होता कि साहसी जोखिम को सहन करता है बल्कि इसलिए कि वह अपनी चतुराई से जोखिम को दूर कर देता है। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि साहसी को व्यापार की अन्तिम जिम्मेदारी का जोखिम अपने ऊपर लेने के कारण ही लाभ रूप में उसकी सफलता का पुरस्कार मिलता है।

(इस सम्बन्ध में प्रो० नाइट का सिद्धान्त भी नीचे पढ़िए)।

(२) लाभ अनिश्चितता सहने का पारितोषिक है। (*Profits a Reward for Uncertainty bearing*)

प्रो० नाइट के मतानुसार लाभ जोखिम उठाने का पारिश्रमिक न होकर उत्पादन की अनिश्चित अवस्था का सामना करने (uncertainty bearing) का पारिश्रमिक है। उनका कहना है कि जोखिम दो तरह के होते हैं कुछ ऐसे जोखिम होते हैं जिनका पहले से अनुमान लगाया जा सकता है, जैसे मृत्यु का होना, जहाज का डूबना, आग का लगना, चोरी का होना आदि आदि इनका अनुमान अंकशास्त्र के द्वारा लगाया जा सकता है और इस प्रकार के जोखिम बीमा कम्पनियों द्वारा उठाये जा सकते हैं और ऐसे जोखिम से साहसी बिलकुल स्वतन्त्र हो सकता है। परन्तु कुछ ऐसे भी जोखिम होते हैं जिनका अनुमान पहले से नहीं लगाया जा सकता और इन्हें प्रो० नाइट ने अनिश्चितता कहकर पुकारा है। उनकी राय में ऐसी अनिश्चितता के सामना करने का ही पारितोषिक लाभ कहलाता है — "उत्पत्ति के अन्य साधनों की तरह इस अनिश्चितता को सहन करनेवाला साहसी भी उत्पत्ति का एक साधन है और इस अनिश्चितता को सहन करने के लिए जो पारिश्रमिक साहसी को प्राप्त होता है, उसे ही लाभ कहते हैं।"

[परन्तु प्रो० नाईट का यह भी कहना है कि इस लाभ म साहसी द्वारा किये गये व्यवस्था कार्य का पारिश्रमिक भी सम्मिलित है। उनकी राय म लाभ म दो तत्त्व सम्मिलित रहते हैं, पहला व्यवस्था कार्य करने का पारिश्रमिक, दूसरा, उत्पादन कार्य करने का जोखिम का पारिश्रमिक और इन दोनों को अलग-अलग करना बहुत कठिन है। इस तरह आजकल की विचारधारा म और प्रो० नाईट के विचारों म अन्तर है। आजकल के अर्थशास्त्री लाभ को केवल जोखिम का पारितोषिक मानते हैं, और उसम व्यवस्था का पारितोषिक सम्मिलित नहीं करते। प्रो० नाइट के विचार म और दूसरे अर्थशास्त्रियों के विचार म एक और भी अन्तर है। प्रो० नाईट ने लाभ को एक प्रकार की अवशेष आय (residual income) माना है। उनका कहना है कि और खर्चों के देने के बाद जो कुछ बच रहता है, वह शेष ही लाभ कहलाता है। परन्तु आधुनिक विचारानुसार लाभ का भी एक निश्चित सिद्धान्त है यह कोई बचा खुचा अवशेष आय नहीं है, इत्यादि, इत्यादि।]

(३) *लाभ का लगान सिद्धान्त* (*Rent Theory of Profit*)—प्रसिद्ध अर्थशास्त्री वाकर के मतानुसार, लाभ साहसी की योग्यता का लगान है (profit is rent of ability)। *जिस प्रकार अलग अलग भूमियों की अलग अलग उपजाऊ शक्ति होती है,* उसी प्रकार अलग अलग साहसियों की योग्यता भी अलग अलग होती है, और बेलगान भूमि की तरह एक सीमान्त साहसी होता है, जिसके उत्पादन की आय लागत के बराबर होती है—उसे कुछ भी लाभ नहीं मिलता है अतः उसे लाभ रहित साहसी (No Profit Firm) कहते हैं—उसकी अपेक्षा जितना अधिक आय अन्य उत्पादकों को होती है उसे ही लाभ कहते हैं। दूसरे शब्दों म प्रत्येक उत्पादक का लाभ की मात्रा उसकी आय और सीमान्त उत्पादक या लाभ रहित उत्पादक की आय के अन्तर के बराबर होता है और इस तरह लगान की तरह लाभ भी उत्पादन लागत का अंश नहीं होता है — Just as there is a no-rent land whose produce just covers the price so there is a no profit firm or entrepreneur whose income just covers the cost of production and just as rent of a piece of land is a surplus above the no rent land and does not enter into price, so profit of a firm is a surplus above the no profit firm and does not enter into price —*Walker*

इस सिद्धान्त की प्रो० मार्शल ने आलोचना की है। उनकी राय म इस सिद्धान्त ने लाभ के मूल तत्त्व को नहीं समझा। *लाभ जोखिम को उठाने के लिए दिया गया* पारितोषिक है, अतः यह प्रत्येक साहसी को जो जोखिम उठाता है मिलना ही चाहिए— दीर्घ काल म सीमान्त साहसी को *भी सामान्य लाभ मिलना आवश्यक है वरना वह उत्पादन* जारी नहीं रक्खेगा, इसलिए स्पष्ट है कि उत्पादन के अन्य सदस्यों के हिस्सों की तरह माँग और पूर्ति से साहसी का हिस्सा भी निर्धारित होना चाहिए और उत्पादन के अन्य सदस्यों के हिस्सों की तरह लाभ (सामान्य लाभ) भी उत्पादन की लागत का अंश होना चाहिए। [यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब लगान भूमि की उत्पादन लागत में सम्मिलित नहीं होता तो यह क्यों आवश्यक है कि सामान्य लाभ उत्पादन लागत म सम्मि

लित हो। इसका कारण यह है कि भूमि में और उत्पत्ति के अन्य साधनों में अन्तर है। भूमि प्रकृति की ओर से मनुष्य को निमूल्य उपहार है। जिस प्रकार श्रम और पूँजी को थकान और प्रतीक्षा के रूप में वास्तविक लागत होती है, भूमि को उसी प्रकार कोई उत्पादन लागत नहीं है। यदि भूमि का लगान न दिया जाय, तो इससे भूमि की कुल पूर्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह उतनी ही रहेगी। परन्तु श्रम अथवा पूँजी के बारे में यह बात सत्य नहीं है। श्रमिकों को मजदूरी और पूँजीपतियों को ब्याज न मिलने पर श्रम व पूँजी की पूर्ति बाजार से हट जायगी। यही बात साहसी और सामान्य लाभ के साथ है—यदि सामान्य लाभ नहीं मिलेगा तो साहसी बाजार से हट जायगा और उत्पादन रुक जायगा।*]

परन्तु मार्शल ने दो तरह का लाभ बताया है। एक तो वह जिसका अभी वर्णन किया गया है (इसे मार्शल ने सामान्य लाभ या normal profit कहकर पुकारा है।) और एक दूसरा वह जो इसके अतिरिक्त साहसी को बच रहता है (इस अवशिष्ट आय को मार्शल ने अतिरिक्त लाभ या surplus profit कहकर पुकारा है) और उनका कहना है कि पहला (यानी normal profit) लागत या कीमत में सम्मिलित रहता है और दूसरा (यानी surplus profit) नहीं।

इस तरह यह स्पष्ट है कि प्रो० वाकर ने लाभ को केवल अतिरिक्त लाभ (surplus profit) के अर्थ में लिया है जो ठीक नहीं है। उनका सिद्धान्त लाभ के केवल एक भाग के लिए ठीक है, क्योंकि, जैसा प्रो० मार्शल ने बताया, "normal profits enter into normal price and above this normal rate profits are just like the rent of the land"

(४) लाभ का प्रगतिशील सिद्धान्त (*Dynamic Theory of profit*)—प्रो० क्लार्क का कहना है कि लाभ केवल प्रगतिशील तथा परिवर्तनशील अवस्था (Dynamic State) में प्राप्त होता है। स्थायी अवस्था (Static State) में प्रतियोगिता तथा आर्थिक संघर्ष के कारण लाभ प्राप्त होना बन्द हो जाता है, क्योंकि स्थायी अवस्था में सभी बातें जनसंख्या, पूँजी का परिमाण वस्तु की माँग, उपभोक्ताओं की रुचि, उत्पादन व्यय आदि पहले से मालूम होने के कारण जोखिम उठाने की कोई आवश्यकता नहीं होती है और जब किसी प्रकार का जोखिम ही नहीं तो लाभ भी नहीं प्राप्त होना चाहिए क्योंकि लाभ जोखिम उठाने का पारिश्रमिक है। परन्तु चूँकि संसार प्रगतिशील तथा परिवर्तनशील है और इसमें हमेशा परिवर्तन होते रहते हैं। अतः चतुर साहसी उन परिवर्तनों को समझता है और उनसे लाभ उठाता है। [परन्तु प्रो० नाईट के मतानुसार लाभ नियमित रूप से होनेवाले परिवर्तनों से नहीं वरन् अनियमित रूप से होनेवाले परिवर्तनों

---

* STONIER AND HAGUE ने 'सामान्य लाभ' की परिभाषा इस प्रकार की है : 'Normal profits, for an entrepreneur in an industry, are those profits which are just sufficient to induce him to stay in the industry."

से होता है। "It is not dynamic change nor any change as such, which causes profit but the divergence of actual conditions from those which have been expected and on the basis of which business arrangements have been made' और इस तरह यह कहना कि स्थायी अवस्था में लाभ नहीं होता उतना ही गलत है जितना कि यह कहना कि परिवर्तनशील अवस्था में लाभ का न होना असम्भव है। लाभ प्रगतिशील परिवर्तन न होने की स्थिति में भी उत्पन्न हो सकता है। यदि सभी लोग किसी परिवर्तन की आशा करते हैं और वह परिवर्त्तन नहीं होता तो परिवर्त्तन का न होना ही लाभ को जन्म दे सकता है।]

(५) लाभ का मजदूरी सिद्धान्त (*Wages Theory of Profit*)—प्रो० टौसिग के अनुसार लाभ एक प्रकार से साहसी की मजदूरी है जो उसकी विशेष योग्यता और बुद्धिमत्ता के कारण मिलती है। "Profits are not due to mere chance they are the outcome of the exercise of special ability, a sort of mental labour not much different from the labour of lawyers and judges"—*Taussig* साधारण मजदूरी और इसम भेद केवल यह है कि लाभ सब प्रकार के उत्पादन व्यय को निकाल कर प्राप्त होता है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि मजदूरी और लाभ एक समान नहीं कहे जा सकते। लाभ नितान्त विलुप्त भी हो सकता है। कभी कभी अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण ऐसा भी होता है कि मजदूरी कम हो जाती है परन्तु लाभ बढ़ जाते हैं। फिर एक कम्पनी के हिस्सेदार क्या काम करते हैं जिसके कारण उनको लाभ मिलता है?

(६) लाभ के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण (*Marxian or Socialist Theory of Profit*—इसके अनुसार श्रमजीवियों की मजदूरी में छीना-झपटी करके जो बचत होती है वही साहसी का लाभ है। कार्ल मार्क्स का कहना है कि लाभ इसलिए होता है कि मजदूर को उसकी मेहनत से कम दिया जाता है। उनके विचार म साहसी एक डाकू के समान है और लाभ उसकी वह लूट है जिसकी सरकार की तरफ से छूट है (profits are legalised robbery), क्योंकि उनका तो यह विचार है कि केवल श्रम ही वस्तुओं के मूल्य का कारण है (labour alone confers value)। परन्तु वास्तविक बात यह है कि साहसी भी उत्पादन में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, और उसे जो पारितोषिक मिलता है वही लाभ कहलाता है और वह उसको मिलना ही चाहिये।

सराश यह है कि इन सब सिद्धान्तों म त्रुटियाँ हैं। ये उत्पादक के कार्यों के किसी एक पहलू पर जोर देते हैं और दूसरे पहलुओं को भूल जाते हैं। लाभ व्यवस्थापक के किसी एक कार्य के कारण नहीं प्राप्त होता वरन् बहुत से कार्यों के कारण प्राप्त होता है जैसे जोखिम उठाना, अनिश्चितता सहन करना, योजना बनाना, इत्यादि, इत्यादि। अभी तक अर्थशास्त्री लाभ के सम्बन्ध में केवल अलग अलग शब्दों के प्रयोग पर झगड़ रहे हैं। कोई उसे

'risk-taking' का पारितोषित बतलाता है, कोई 'uncertainty-bearing' का, इत्यादि इत्यादि। परन्तु वे अभी तक कोई सतोषजनक लाभ का सिद्धान्त नहीं पा सके हैं। यह देखते हुए हम कह सकते हैं कि लाभ का माँग और पूर्ति का सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ है। केवल यह ही कहा जा सकता है कि लाभ जोखिम का पारितोषिक है और जिस प्रकार उत्पादन के अन्य साधनों का प्रतिफल माँग और पूर्ति से निर्धारित होता है, उसी प्रकार साहसी की सेवाओं का प्रतिफल, लाभ, भी साहसकर्त्ताओं की सेवाओं की माँग और पूर्ति से निर्धारित होता है। साम्य की अवस्था म उनकी सेवाओं का माँग व पूर्ति बराबर होते हैं और उस अवस्था म साहसी की सीमान्त उत्पत्ति उसके सीमान्त त्याग के बराबर होता है। अन्य वस्तुओं की तरह साहस की माँग होती है जो उत्पत्ति के आकार और साहसी की सीमात उत्पादकता पर निर्भर होती है और उसकी पूर्ति होती है जो जनसख्या, उसकी मनोवृत्ति, व्यवसाय की अनिश्चितता आदि पर निर्भर होती है। जहाँ साहस की माँग और पूर्ति बराबर होते हैं वहीं लाभ (normal profit) की दर नियत होती है। इससे अधिक जो लाभ होता है उसे अतिरिक्त लाभ (surplus profit) कहते हैं, और वह अवश्य एक प्रकार का लगान है।

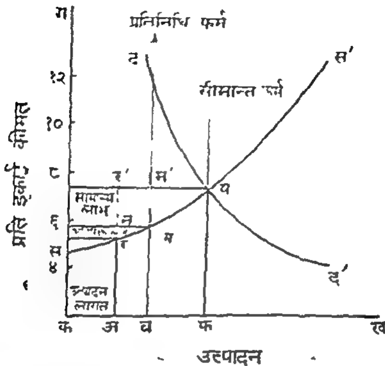
लाभ और मूल्य

(Profit and Price)

हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रो॰ वाकर के मतानुसार लाभ मूल्य म सम्मिलित नहीं रहता है, क्योंकि लाभ लगान की तरह एक अतिरिक्त आय (surplus income) है, जो सीमात साहसी के उत्पादन व्यय के उपरान्त होती है। दूसरे शब्दों म, सीमात साहसी के उत्पादन व्यय म लाभ सम्मिलित नहीं है और उसी के उत्पादन लागत से मूल्य तय होता है, अतः मूल्य पर लाभ का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

परन्तु यह सिद्धात ठीक नहीं है और प्रो॰ मार्शल का सिद्धात इससे अधिक ठीक मालूम होता है। सामान्य लाभ (Normal Profit) साहसी के केवल जोखिम उठाने का प्रतिफल है और मजदूरी, ब्याज आदि की तरह यह साहसी की सेवा की माँग व पूर्ति से निर्धारित होता है और उसी प्रकार मूल्य म सम्मिलित रहता है, क्योंकि सीमात उत्पादक लाभ रहित उत्पादक नहीं होता है वरन् *उसके उत्पादन की लागत म सामान्य लाभ सम्मिलित रहता है।* (यदि सीमात उत्पादक को दीर्घ काल मे सामान्य लाभ प्राप्त नहा होता तो वह उत्पादन करना बन्द कर देता।) हाँ, अतिरिक्त लाभ (Surplus Profit) मूल्य म सम्मिलित नहीं रहता है। प्रो॰ मार्शल के मतानुसार मूल्य प्रतिनिधि फर्म (representative firm) के उत्पादन व्यय से निर्धारित होता है और चूँकि प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन व्यय म सामान्य लाभ सम्मिलित रहता है, इसलिए मूल्य म भी सामान्य लाभ सम्मिलित रहता है परन्तु अतिरिक्त लाभ के साथ यह बात नहीं है। ("Normal Profits enter into price, Surplus Profits do not"—Marshall)

यह अन्तर नीचे के चित्र से और स्पष्ट हो जायगा



प फ = सीमांत फर्म का उत्पादन लागत = बाजार मूल्य (इस फर्म को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता)

ब म = एक प्रतिनिधि फर्म की उत्पादन लागत

म म' = प्रतिनिधि फर्म का सामान्य लाभ

अ र = एक एेसी फर्म की उत्पादन लागत जिसको र र' के बराबर लाभ प्राप्त होता है यानी सामान्य लाभ म म' (जो र' न के बराबर है) + अतिरिक्त लाभ न र

लाभ में समानता होने की प्रवृत्ति

(*Profits tend to Equality*)

लाभ की दर का अलग अलग व्यवसायों में अलग अलग होना स्वाभाविक है। जिस व्यवसाय में जोखिम अधिक है, या जान का खतरा है, जैसे कि खानों में, उसम लाभ की दर भी ऊँची होती है, अपेक्षाकृत उन व्यवसायों के जिनमे अच्छे वातावरण में शुद्ध वायु जल में काम करना पड़ता है। नये व्यवसायों में भी बहुधा दर पुराने व्यवसायों की अपेक्षा ऊँची होती है, इत्यादि इत्यादि। इसका कारण गतिशीलता की कमी है। परन्तु किसी एक व्यवसाय में लाभ के दर के एक होने की प्रवृत्ति होती है—उस व्यवसाय में प्रतियोगिता के

कारण हर एक उत्पादक को बराबर लाभ मिलता है। इसी लिए यह कहा जाता है कि लाभ में समानता होने की प्रवृत्ति होती है (profits tend to equality)। वास्तव में तो अलग अलग व्यवसायों में भी शुद्ध लाभ की दर एक होनी चाहिये यदि पूर्ण गतिशीलता सम्भव हो।

लाभ की कम से कम होने की प्रवृत्ति

(*Profits tend to be the Minimum*)

लाभ की दूसरी प्रवृत्ति आर्थिक उन्नति के साथ साथ कम होने की होती है। शिक्षा की उन्नति के साथ साथ तथा औद्योगिक उन्नति के साथ साथ उत्पादकों की मात्रा में वृद्धि होती है, और ज्यों ज्यों अच्छे उत्पादकों की पूर्ति में वृद्धि होती है त्यों-त्यों लाभ की दर पुराने उद्योगों में नीचे जाती है। हाँ, नये उद्योगों में जहाँ नई आवश्यकताएँ होती हैं नई नई मशीन काम में लाई जाती है और नये नये आविष्कार होते रहते हैं, लाभ की दर ऊँची हो सकती है, किन्तु प्रतियोगिता के कारण कुछ दिनों बाद वह भी गिरने लगता है।

बिक्री पर लाभ की गणना तथा वार्षिक लाभ की गणना

(*Profits per annum and on the turn over*)

साधारण रूप से लाभ को वार्षिक आधार पर प्रयुक्त पूँजी के प्रतिशत के रूप में दर्शाया जाता है। जैसे एक व्यापारी ने एक वर्ष में ५०००) रु० का पूँजी लगाई जिससे उसको १,०००) का लाभ हुआ तो उसका पूँजी पर प्रतिशत उस वर्ष का लाभ २०% हुआ। परन्तु साल भर में केवल पूँजी की मात्रा की ही बिक्री नहीं होती, व्यावहारिक रूप में बिक्री इससे कई गुनी अधिक होती है, इसलिए बहुत से व्यापारी अपने लाभ को बिक्री के आधार पर निकालते हैं। जैसे यदि उपर्युक्त ५,०००) पूँजी की फिरती एक बार हुई और उस फिरती पर लाभ २५०) हुआ है तो एक फिरती पर लाभ ५ प्रतिशत कहलायेगा, [जब किसी व्यवसाय में जितनी पूँजी लगी है, उसी के बराबर बिक्री हो जाय, तब यह कहा जाता है कि एक बार पूँजी के बराबर कुल बिक्री हो गई अर्थात् एक capital turn over हुआ है मान लो कि व्यापारी ने ५,०००) की पूँजी लगाई है और वह ५,०००) की बिक्री कर लेता है, तब यह कहा जायगा कि व्यापारी ने एक बार पूँजी के बराबर कुल बिक्री कर ली है (one capital turnover), पर यदि उसने वस्तुओं का क्रय विक्रय १०,०००) के बराबर कर लिया है, तब यह कहा जायगा कि उसने दो बार पूँजी के बराबर बिक्री कर ली है (two capital turn overs) इत्यादि] और यदि इस प्रकार की वर्ष में ८ बार फिरती हुई तो लाभ ४०% कहलायेगा।

कुछ व्यापारी small profits and quick return" में विश्वास करते हैं। वह लाभ की दर कम रखते हैं परन्तु उलट फेर जल्दी जल्दी कई बार करते हैं। फलतः उनका कुल वार्षिक लाभ अधिक होता है। दूसरे व्यापारी, जैसे कि मोटर कार जैसी चीजों

का ही रह जाता है। और ऐसे समय ऋण का लेना अनुचित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैसे ही देश की समृद्धि बढ़े, वैसे ही बिना अतिरिक्त कर वसूली किये, बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय के द्वारा, इन ऋणों का भुगतान किया जा सकता है।

(४) युद्ध तथा अन्य आकस्मिक संकटों के समय भी ऋण के लेने की आवश्यकता पड़ जाती है। युद्ध के अंधाधुंध खर्चे को कर से पूरा नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में ऋण ही एकमात्र अवलम्बन होता है।

इस प्रकार हम निष्कर्ष निकालते हैं कि राज्य-ऋण देश के ऊपर हमेशा भार न होकर उसकी आर्थिक व्यवस्था के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

ये ऋण कई रूप में लिये जा सकते हैं। थोड़े समय के लिए ये Treasury Bills के रूप में ले लिये जाते हैं। अधिक समय के लिए ये Funded और Unfunded loans का रूप धारण करते हैं। कभी-कभी ऋण नोट जारी करके लिये जाते हैं, नये नोटों को छापकर नये रुपयों का सृजन किया जाता है और इस उपाय द्वारा खर्च चलाया जाता है। इसे 'हीनार्थ प्रबंधन' (*Deficit Financing*) कहते हैं *जिसका वर्णन हम आगे एक अलग शीर्षक में* करेंगे। इसको साधारणतया ठीक नहीं समझा जाता, क्योंकि इसके परिणामवश देश में मुद्राप्रसार की स्थिति आ जाती है जो एक बार शुरू होने पर रोकी नहीं रुकती और आगे चलकर एक भयानक रूप (uncontrollable inflation) धारण कर लेती है जैसा कि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय कुछ देशों में देखने में आया। इसी लिए कहते हैं कि "The note issue as a means of raising funds for emergencies has come to occupy a definite place in public finance, but it is admittedly the worst means and one that is fraught with serious dangers."

ऋण और कर
(*Loans vs. Taxes*)

ऋण और कर में अन्तर है। मुख्य मुख्य अंतर निम्नलिखित हैं :-

(१) ऋण और कर में पहला अंतर यह है कि सरकार को ऋण को वापस करना पड़ता है, जब कि कर से आई रकम वापस नहीं की जाती।

(२) कर सरकार के साधारण खर्चों को पूरा करने के लिए वसूल किए जाते हैं जब कि ऋण आकस्मिक संकटों का निवारण अथवा देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए, लिए जाते हैं। साधारणतः ऋण राष्ट्र-निर्माण की योजनाओं को पूरा करने के लिए लिये जाते हैं। इन योजनाओं से आनेवाली पीढ़ियों को लाभ होता है, अतः अर्थशास्त्रियों की यह धारणा है कि इन योजनाओं को पूरा करने का भार आनेवाली पीढ़ी पर ही पड़ना चाहिए, क्योंकि वे ही इससे लाभ उठाती हैं; और इसलिए योजनाएँ ऋण द्वारा पूरी की जा सकती हैं।

(३) साधारणतः कर ऋणों की अपेक्षा अच्छे रहते हैं क्योंकि जब तक सरकार अपने खर्चों को करों की आय से पूरा करती है, तब तक वह रुपया बहुत सोच विचार करके खर्च

करती है। परन्तु जैसे ही वह ऋण लेने की आदी हो जाती है वैसे ही वह रुपया व्यर्थ में बरबाद करने लग जाती है, और अफीमची की तरह इसे बार बार उधार लेने की चाट पड़ जाती है।

(४) ऋणों का अप्रत्यक्ष रूप से देश की आर्थिक व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जब लोग राज्य को ऋण देने में अपनी पूँजी लगाने लगते हैं, तब वे उस पूँजी को नये उद्योग धंधों में नहीं लगा पाते, क्योंकि हर आदमी के पास सीमित पूँजी होती है। इससे आर्थिक कल्याण घटता है, क्योंकि अब नये उद्योग-धंधे खुलने बंद हो जाते हैं। पर करों का ऐसा कोई भी प्रभाव उद्योग-धंधों पर नहीं पड़ता।

(५) कर केवल देश-वासियों से ही वसूल किये जा सकते हैं। परन्तु ऋण विदेशियों से भी लिये जा सकते हैं। विदेशियों से लिया गया ऋण कभी-कभी देश की उन्नति में बहुत अधिक सहायक होता है, परन्तु कभी कभी यह उसमें बाधक भी हो जाता है, और देश की स्वतंत्रता को खतरे में डाल देता है।

ऊपर के तर्कों से यह भ्रम हो सकता है कि कर और ऋण परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं। कर देश के लिए लाभदायक होता है और ऋण हानिकारक। पर वास्तविकता यह है कि ऋण और कर एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी न होकर पूरक हैं। इसी लिए प्रायः सरकार कुछ आय करों द्वारा और कुछ ऋणों द्वारा प्राप्त करती है। जहाँ असाधारण परिस्थितियों में कर से समस्या नहीं सुलझती, वहीं ऋण लिये जाते हैं। आदर्श नीति यह है कि इनका उपयुक्त रूप से सामञ्जस्य किया जाय।

देशी और विदेशी ऋण
(*Internal and External Debts*)

ऋण अपने देश के लोगों से भी लिये जाते हैं और विदेशों से भी। जब ऋण अपने देश से लिये जाते हैं तब उन्हें देशी ऋण (Internal Debt) कहते हैं, जब वे विदेशों से लिए जाते हैं तो उन्हें विदेशी ऋण (External or Foreign Debt) कहते हैं।

उत्पादक और अनुत्पादक ऋण
(*Productive and Unproductive Debts*)

यदि ऋण ऐसे काम में लगाया जाता है जिससे आगे चलकर आमदनी की आशा हो, तो उस उत्पादक ऋण (Productive Debt) कहते हैं, जैसे यदि ऋण के रुपये से रेल बनवाई जायें या नहरें खुदवाई जायें, तो उससे लाभ होगा, इसी लाभ से ऋण और ब्याज चुक सकता है; परन्तु यदि ऋण युद्ध आदि के समान कामों में लगाया गया तो उसे अनुत्पादक ऋण (Unproductive Debt) कहते हैं। उत्पादक ऋण को Reproductive Debt और अनुत्पादक ऋण को Deadweight Debt भी कहते हैं।

अनिश्चित कालीन ऋण और अल्प कालीन ऋण

(*Funded, Unfunded and Floating Debts*)

Funded debts—वे ऋण होते हैं जो सरकार अधिक समय के लिए लेती है। बहुधा ये ऋण वापस नहीं किये जाते। केवल सरकार इन पर ब्याज देती रहती है। परन्तु यदि सरकार इस उधार लिये हुए रुपये को कभी वापस करती है तब सरकार इसका एक नोटिस देती है और उधार लेने के समय की गई शर्त के अनुसार ही रुपया वापस किया जाता है। यह एक तरह का स्थायी ऋण है और रुपया उधार देनेवाले को इसे वापस माँगने का अधिकार नहीं होता।

Unfunded Debts—वे ऋण होते हैं जो थोड़े काल के लिए लिये जाते हैं और जिनकी अदायगी किसी निश्चित तारीख पर की जाती है, जैसे कि सरकार किसी ऋण के साथ यह वायदा करे कि इसकी अदायगी १९६० या १९७५ या १९८० में कर दी जायगी, तो सरकार के लिए यह अनिवार्य होता है कि उसे निश्चित समय पर वापस करे, क्योंकि यह ऋण एक निर्दिष्ट काल के लिए ही होते हैं।

Floating Debts—यह अति अल्पकालीन ऋण होते हैं। सरकार को करों से आय धीरे धीरे वर्ष भर तक होती है, पर व्यय कभी कभी एक समय में काफी करना पड़ जाता है। ऐसी दशा में सरकार को अपने खर्च चलाने के लिए थोड़ी अवधि के ऋण लेने पड़ते हैं। इसी प्रकार असाधारण व्यय की मदों पर भी केन्द्रीय बैंक से कर्जे लिये जाते हैं। इनकी अदायगी साल के अन्दर ही हो जाती है। Treasury Bills तीन महीने के लिए होते हैं, Ways and Means Advances छः महीने के लिए, इत्यादि।

ऋण का रूपान्तर

(*Conversion of Debt*)

ऋण-परिवर्त्तन का अर्थ है, पुराने ऋण को नये ऋण से बदल लेना। ऐसा हो सकता है कि किसी समय सरकार ऋण ऊँची ब्याज-दर पर ले और बाद में ब्याज-दर गिर जाय। ऐसी दशा में सरकार ऊँची दर पर लिये हुए पुराने ऋण को कम ब्याज-दर के नये ऋणों में बदल देती है और इसे ऋण का रूपान्तर (Conversion of Debt) कहते हैं। सरकार अपने ऋणदाताओं को ऋण की दर कम करने के लिए बाध्य कर सकती है, क्योंकि यदि वे दर कम करने को राजी नहीं हों, तो वह कम दर पर नये ऋण लेकर पुराने ऋण को चुका देगी और इस प्रकार भी भविष्य में इसे कम ब्याज देना पड़ेगा। मान लो सरकार १० करोड़ रुपया ६% सूद की दर पर १९५१ में उधार लेती है। थोड़े समय बाद १९५३ में ब्याज की दर गिर जाती है। मान लो नई दर ३% ही रह जाती है। ऐसी दशा में सरकार ३% पर १० करोड़ रुपया ऋण लेकर पुराने ऋण का भुगतान कर सकती है। लोग इस बात को जानते हैं और इसी कारण ऋण के रूपान्तर को स्वीकार कर लेते हैं।

ऋण-परिशोधन-कोष

(Sinking Fund)

कभी-कभी ऋण लेने के बाद सरकार यह तय कर लेती है कि वह कुछ रकम हर वर्ष ऋण चुकाने के लिए, अलग कोष में, ब्याज दर ब्याज पर, रखती जायगी जब तक कि यह कुल ऋण के बराबर न हो जाय। यह ऋण-परिशोधन-कोष (Sinking Fund) कहलाता है। यह तरीका पहले बहुत प्रचलित था, रुपया जुड़ता रहता था और जब रकम कुल ऋण और ब्याज के बराबर हो जाती थी, दे दिया जाता था। आजकल का तरीका इससे कुछ भिन्न है। सरकार की आय में से कुछ रुपए ear mark कर दिये जाते हैं और प्रतिवर्ष इसमें से कुछ रुपया निकालकर ऋण कम किया जाता है अथवा प्रतिवर्ष ऋणों का कुछ अंश चुका दिया जाता है। चूंकि ऋणों की पूँजी में प्रति वर्ष कुछ कमी हो जाती है इसलिए आगे के वर्षों का कुछ ब्याज का बोझ हलका हो जाता है और ऋण चुकाने के लिए कुछ अधिक रकम मिलने की आशा भी की जा सकती है।

ऋण-परिशोधन कोष की रीति का प्रयोग करने में एक डर बना रहता है। ऐसा हो सकता है कि वित्त मंत्री आर्थिक संकट के समय नये कर न लगाकर, इस ऋण-परिशोधन-कोष के धन को ही व्यय कर डाले। यदि ऐसा होगा तो ऋण का बोझ ज्यों का त्यों बना रहेगा।

वार्षिक वृत्ति

(Terminable Annuities)

जब सरकार एक स्थायी ऋण को एक निश्चित समय के अन्दर खतम कर देना चाहती है, तो कभी कभी ऐसा करती है कि ऋण की रकम को समय के हिसाब में बाँट देती है, और अपने ऋणदाताओं को हर साल एक निश्चित रकम देती रहती है। ऐसे सालाना भुगतान को annuities कहते हैं—उदाहरण के लिए १०० करोड़ रुपये का ऋण है और १० वर्ष में वापस देना है, तो अन्युइटीज़ के रूप में सरकार १०० करोड़ की रकम को १० वर्ष में बाँट देगी और इस तरह हर साल १० करोड़ अदा करती रहेगी।

विशेष पूँजी-कर

(Capital Levy)

युद्ध में लिए ऋण को चुकाने के लिए, एक और तरीका बतलाया गया है। युद्ध-काल में सरकार को बहुत बड़ी रकम ऋण के रूप में लेनी पड़ती है जो कि युद्ध के बाद आसानी से मामूली तरीकों से चुकायी नहीं जा सकती। इसलिए कुछ लोगों के विचार में ऋण को एक तरह का पूँजी-कर लगाकर चुका देना चाहिए। जिन आदमियों के पास एक निश्चित सीमा से अधिक पूँजी हो, उन पर पूँजी-कर लगा देना चाहिए और उस पूँजी-कर द्वारा वसूल रकम से ऋण को चुका देना चाहिए। दूसरे शब्दों में मालदार आदमियों से उनकी सम्पत्ति का एक अंश सरकार को छीन लेना चाहिए और इस पूँजी की उगाही से ऋण को चुका देना चाहिए।

इसी को capital levy कहते हैं, और यह घोषणा पहले महायुद्ध के बाद लोगों के सामने बड़े ज़ोर के साथ आई। परन्तु इसके विरुद्ध कई एक बातें हैं। प्रथम तो ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि पूँजी और साख को हानि पहुँचेगी, व्यापार और उद्योग को धक्का लगेगा, कीमतें और मजदूरी घट जायेंगी। इसको वसूल करने में कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त ऐसे पग उठाना आसान नहीं है। ऐसा कानून बनाना तब तक कठिन है जब तक कि सभी की अनुमति न मिल जाय, और कानून बनानेवाला में बहुत से मालदार आदमी भी होंगे, जो कभी भी ऐसा कानून पास नहीं होने देंगे। (पिछले साल भारत ने जो सम्पत्ति कर (Wealth Tax) लगाया है वह इसी प्रकार का कर है, यद्यपि वह ऋण चुकाने के लिए नहीं बल्कि योजनाओं को सफल बनाने के लिए लगाया गया है)

राजकीय ऋणों के आर्थिक परिणाम
(*Effects of Public Debts*)

इस विषय के समझने से पूर्व हमको यह जान लेना चाहिए कि ऋण का प्रभाव दो रूप में पड़ता है। एक तो इस रूप में कि कितना रुपया ब्याज और मूलधन की वापसी में देना है और किसको देना है। दूसरे इस रूप में कि इनके भुगतान करने का अंतिम प्रभाव देश के आर्थिक हितों में क्या होता है और किसको क्या लाभ हानि होती है। हमको यहाँ यही बात दो स्थितियों में देखनी है—एक तो बाहरी ऋण की स्थिति में और दूसरी आंतरिक ऋण की स्थिति में।

जहाँ तक बाहरी ऋण का सम्बन्ध है हम यह देखते हैं कि जब किसी एक देश को दूसरे देश को ब्याज और मूलधन वापस करना पड़ता है तो सरकार इसके लिए रुपया अपने देश में कर के रूप में हासिल करती है। यदि यह कर अधिकतर मालदारों से वसूल किया जाता है तो बोझ कम पड़ता है और यदि गरीबों से वसूल होता है तो बोझ ज्यादा पड़ता है। और आर्थिक हित में जो देश को नुकसान होता है, वह इस बात पर निर्भर करता है कि गरीब और अमीर किस अनुपात में इन करों को देते हैं। दूसरी बात यह है कि जब कर्जा वापस किया जाता है तो ऋणी देश से वस्तुएँ बाहर भेजनी पड़ती है जो कि यदि कर्ज नहीं होता तो उसी देश के लोगों के काम आती। और इस तरह देश को नुकसान होता है। इस हानि का कम या ज्यादा होना इस बात पर निर्भर करता है कि यह मालदार और गरीब लोगों पर किस अनुपात में बँटता है। अप्रत्यक्ष भार इस बात पर निर्भर रहता है कि इन करों के लगने के कारण देश की उत्पादन शक्ति में कितनी रुकावट पड़ती है। अर्थात् लोगों की बचत करने की प्रवृत्ति में कितनी कमी आ जाती है। जब करों में रुपया देना पड़ेगा तो स्वाभाविक है कि बचत की प्रवृत्ति में कमी होगी और उत्पादन घटेगा।

जहाँ तक कि देशी ऋणों का सम्बन्ध है, बोझ का कम या ज्यादा होना इस बात पर निर्भर है कि ऋण सरकार को कौन से वर्ग के लोग देते हैं और सरकार इस रुपये को कैसे खर्च करती है और किस वर्ग के पास यह रुपया जाता है। जब सरकार कर्ज लेती है तो मालदार कर्ज देते हैं सरकार इसको खर्च करती है—लोगों से वस्तुएं और सेवाएं खरीदती है—और इस तरह से एक वर्ग से रुपया निकलकर दूसरे वर्ग में पहुँचता है। यदि इसके परिणाम

स्वरूप मालदारों से रुपया निकलकर गरीबों के पास आता है तो अच्छा समझा जाता है और यदि रुपया गरीबों से निकलकर मालदारों के पास पहुँचता है तो यह एक बोझ समझा जाता है। व्यवहार में हम देखते हैं कि पिछली बात की ही ज्यादा सम्भावना रहती है, कर्जा वापिस देने के लिए सरकार को कर लगाने पड़ते हैं जो गरीब और अमीर दोनों देते हैं। परन्तु यह रुपया जाता है केवल अमीरों के पास, क्योंकि अधिकतर कर्जा तो सरकार को उन्होंने ही दे रखा होगा, और इसके परिणामत गरीबों के पास से मालदारों के पास रुपया पहुँच जायेगा जो आर्थिक हित में नहीं है। इसके अतिरिक्त सरकार को कर्ज देनेवाले अधिकतर लोग बड़ी आय के ही होते हैं और इस तरह रुपया काम करनेवालों (जवानों) के वर्ग से निकलकर न काम करनेवालों (बूढ़ों) के वर्ग में पहुँच जाता है और इस तरह आन्तरिक ऋण का असर उत्पादन और वितरण दोनों पर ही बुरा पड़ता है और साथ ही साथ लोगों की काम करने की और बचत करने की प्रवृत्ति में कमी आ जाती है।

तो भी इस सम्बन्ध में हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि कर्जा किस तरह का है और किस काम के लिए लिया गया है। अगर कर्जा, रेल, नहरें आदि उत्पादक कार्यों के लिए लिया गया है तो उससे लाभ ही अधिक है।

जहाँ तक लड़ाई के ऋण का सम्बन्ध है बोझ दोनों पर पड़ता है कर देनेवाले (present generation) और ऋण को चुकता करने वाले (taxpayers in future generation) पर। किस पर ज्यादा बोझ पड़ता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि सरकार किस प्रकार से लड़ाई के खर्चों का सामना करती है। यदि वह नोटों का प्रचार, मुद्रा-स्फीति आदि करके रुपया वसूल करती है तो किसी एक वर्ग पर इसका प्रभाव पड़ता है और यदि वह और टैक्स से कर्ज आदि लेकर रुपया वसूल करती है तो दूसरे वर्ग पर। इत्यादि, इत्यादि।

हीनार्थ प्रबंधन या घाटे का बजट
(*Deficit Financing*)

सरकार अपना खर्च चलाने के लिए जनता पर कर लगाती है और जब कभी करों की आय से खर्च पूरा नहीं होता, क्योंकि कर एक सीमा तक ही लगाये जा सकते हैं उससे अधिक नहीं, तो सरकार को दूसरे उपाय सोचने पड़ते हैं। एक उपाय तो यही है कि सरकार उन लोगों से, रुपया उधार ले ले जिनके पास रुपया है। परन्तु उधार भी एक सीमा तक ही लिया जा सकता है, उससे अधिक नहीं। दूसरा उपाय है नये नोटों को छाप कर नये रुपयों का सृजन करना और उन रुपयों के द्वारा अपने खर्च को पूरा करना, और यदि इस उपाय से कोई सरकार किसी समय अपना अर्थ-प्रबंधन करती है और अपनी आय से अधिक व्यय करती है तो इस स्थिति को घाटा अर्थ प्रबंधन या हीनार्थ प्रबंधन (Deficit Financing) कहते हैं।

इस उपाय को प्रथम महायुद्ध के बाद डाक्टर शाष्ट ने जर्मनी की उन्नति के बढ़ाने के लिए प्रयोग किया और यह सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिया कि नोटों द्वारा मुद्रा को जन्म देने की रीति यदि भली प्रकार प्रयोग में लाई जाये तो लाभदायक हो सकती है। यह स्थिति भारत में दूसरे महायुद्ध के समय देखने में आई थी। भारत-सरकार का खर्च बहुत बढ़ गया था परन्तु करों द्वारा जो आय हुई वह काफी नहीं थी और न उधार लेकर ही खर्च पूरा पड़ सका

और इसलिए सरकार को नोट छापने के लिए बाध्य हो गई। आजकल भारत सरकार अपनी पंचवर्षीय योजना को सफल करने के लिए इस नीति को एक सीमा तक काम में ला रही है और यह नीति ठीक भी सिद्ध हो रही है।

हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) का शाब्दिक अर्थ यह है कि सरकार अपने बजट के घाटे की कमी को अपनी करेन्सी की मात्रा को बढ़ाकर यानी कागजी नोट छापकर पूरा करती है। इस नीति का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह मुद्रा प्रसार (Inflation) को प्रोत्साहन देती है, जिससे कभी कभी देश की आर्थिक दशा बहुत खराब हो जाती है, व्यापार को बहुत बड़ा धक्का पहुँचता है, जैसा कि जर्मनी आदि देशों में १९२३ में देखने में आया था जब कि सूचक अंक १०००००००००००००० की गिनती तक पहुँच गया और जर्मनी के मार्कस की नोटों की कीमत उतनी भी न रह गई जितनी कि उस सादे कागज की कीमत थी जिस पर कि वह छपे थे। यही कारण है कि कोई सरकार जब तक उसका बस चलता है, हीनार्थ प्रबन्धन की नीति को काम में नहीं लाती। इस नीति से जनता का सरकार में विश्वास बिल्कुल उठ जाता है। तो भी हीनार्थ प्रबन्धन सदैव ही बुरा है, ऐसी बात नहीं है। कभी कभी इस नीति को सरकार को काम में लाना ही पड़ता है जैसे कि जब देश में रहन सहन का दर्जा नीचा हो रहा हो, बेकारी बहुत बड़े पैमाने पर फैल रही हो, और देश के साधनों का पूर्ण उपयोग न हो रहा हो, तो सरकार को हीनार्थ प्रबन्धन की शरण लेनी ही पड़ती है। कहा जाता है कि सरकार की अवधि को १२ महीनों तक ही सीमित रखना कोई आवश्यक बात नहीं है और इस बात का भी कोई कारण नहीं कि बजट को प्रतिवर्ष सन्तुलित किया जाय। यह सम्भव है कि सरकार अगले ५ या १० वर्षों के लिए बजट व्यवस्था करे, जिनमें से कुछ वर्षों में घाटा हो और अन्य में लाभ हो, और दीर्घकाल में सरकार की वित्तस्थिति संतुलित हो जाय। इसी प्रकार जब आर्थिक योजनायें बनती हैं तो वह सदा सञ्चयन से ही नहीं चलाई जाती, क्योंकि एक ऐसे देश में जिसका आर्थिक विकास न हुआ हो यह सम्भव नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है नहीं तो देश का विकास असम्भव हो जाये।

तो हमारा निष्कर्ष यह हुआ कि उत्पादन कार्य के लिए हीनार्थ प्रबन्धन को अपनाने में विशेष हानि नहीं है। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध में सभी युद्धग्रस्त राष्ट्रों ने इस रीति को अपनाया था, क्योंकि सरकार के लिए द्रव्य एकत्रित करने की यह सबसे सरल रीति है। आरम्भ में जनता भी इस विधि का स्वागत करती है, क्योंकि मुद्रा प्रसार से उसके हाथों में नई शक्ति आ जाती है जिसे पाकर वह भूल से अपने को अमीर समझने लगती है और ऐसे समय में उद्योगपतियों और व्यापारियों को मूल्य के बढ़ने से बहुत अधिक लाभ मिलता है और नये उद्योग धंधे खुल जाने से और दूसरे कारणों से लोगों को अधिक रोजगार मिल जाता है। परन्तु यह एक बहुत भयानक रीति है। बिना सोचे इस नीति को काम में लाना अवश्य मुद्रा-प्रसार को प्रोत्साहन देना है और देश को हानि पहुँचाना है। इसकी किसी देश के लिए उचित मात्रा क्या है, यह उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विनियोग, विदेशी सहायता, कृषि तथा उद्योग सम्बन्धी शक्तियों, साखप्रणाली, मजदूरी, कर, जनता के स्वभाव तथा देश के भुगतान सन्तुलन और सरकारी पार्टी के प्रभाव पर निर्भर करता है।

इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि कीमतों का बढ़ना और मुद्रा प्रसार* का अधिक या कम होना इस बात पर भी निर्भर करता है कि सरकार रुपया किन बातों पर खर्च करती है। यदि रुपया उत्पादन कार्यों में खर्च किया जाता है तो मुद्रा प्रसार के अधिक तीव्र होने की सम्भावना कम रहती है; क्योंकि इससे उत्पादन की वृद्धि होने की आशा रहती है, और जब उत्पादन बढ़ता है, तो लोगों का जीवनस्तर उठता है और बेरोजगारी कम होती है, सरकार की कर द्वारा और ऋण द्वारा आय प्राप्ति के अवसर अच्छे हो जाते हैं, और उत्पादन बढ़ने के कारण कीमतें घटती हैं।

हीनार्थ प्रबन्धन को करते समय निम्न बातों का ध्यान आवश्यक है —जितने भी उपायों से अतिरिक्त आय प्राप्त की जा सकती है, सबको काम में लाना चाहिए। (२) लोगों को रुपया बचाने और विनियोग में लगाने के लिए प्रोत्साहन मिलता रहना चाहिए (३) सरकार को अपने व्यय पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिए। (४) लोगों को सरकार की योग्यता में पूर्ण विश्वास होना चाहिए। इत्यादि, इत्यादि।

Question

1 What are public debts? Discuss the ways in which their burden can be diminished (agra 1956)

---

* मुद्रा-प्रसार के निम्नलिखित दोष हैं —

(१) मुद्रा प्रसार से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं परन्तु मजदूरों की मजदूरी उसी अनुपात में नहीं बढ़ती इससे उनका रहन सहन का स्तर नीचे गिरता है।

(२) इससे धन के वितरण की असमानता भी बढ़ती है, क्योंकि व्यापारी और धनी लोग अधिक लाभ कमाने के कारण और भी धनी हो जाते हैं जब कि गरीब मजदूर लोग और भी गरीब हो जाते हैं।

(३) इससे देश के व्यापार में बहुत अधिक अनिश्चितता आ जाती है जिससे व्यापार को धक्का पहुँचता है। देश में सट्टेबाजी को भी प्रोत्साहन मिलता है और देश की पूँजी वास्तविक उत्पादन कार्य में लगने की जगह सट्टे में लगने लगती है।

(४) इससे लोगों का देश की मुद्रा में विश्वास नहीं रहता, वे द्रव्य के रूप में बचत करना कम कर देते हैं और पूँजी देश के बाहर भागने लगती है। जनता का विश्वास हट जाने से बहुत से दुष्परिणाम हो सकते हैं—जर्मनी में नात्सीवाद का फैलना और चीन में कम्युनिस्ट राज्य का स्थापित होना ऐसी ही बातों का परिणाम था।

(५) इसकी सबसे बुरी बात यह है कि जब मुद्रा-प्रसार एक बार शुरू हो जाता है तो वह फिर बढ़ता ही जाता है। सरकार एक विषैले चक्र में फँस जाती है—वह अपने खर्च को पूरा करने के लिए जितना अधिक मुद्रा-प्रसार करती है, वस्तुओं के मूल्य उतने ही बढ़ते चले जाते हैं और सरकार को इस कारण वस्तुएं और सेवाएँ खरीदने के लिए उतना ही अधिक व्यय करना पड़ता है और परिणामस्वरूप और अधिक मुद्रा-प्रसार करना पड़ता है।

or

Discuss whether (a) wars and (b) public utility projects should be financed by taxes or loans (Agra 1957)

2 What are public debts? Discuss the ways in which their burden can be diminished (Agra 1958)

3 The note issue as a means of raising funds for emergencies has come to occupy a definite place in public finance but it is admittedly the worst means and one that is fraught with serious dangers Discuss (Agra 1954)

4 What is meant by deficit financing? Examine its scope and role in the development of Indian economy (Agra 1957 56, 55 54)

5 Write short notes on —

(a) Funded Unfunded and Floating Debts (Agra 1951

(b) Inflation as a means of raising funds (Agra 1954 s)

(c) Sinking Fund

(d) Conversion of a Debt

(e) Capital Levy

४२

भारतीय वित्त-व्यवस्था

(Indian Public Finance)

भारतीय राजस्व या वित्त व्यवस्था क्या है, कैसी है, इस विषय का उचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उसके इतिहास पर एक दृष्टि डाली जाए।

भारतीय राजस्व का विकास

(*Evolution of Indian Public Finance*)

प्रारम्भ में सम्पूर्ण भारत का केवल एक बजट हुआ करता था। कुल आय केन्द्रीय सरकार के पास जाती थी और वही उसका व्यय करती थी। प्रान्तीय व्यय की छोटी से छोटी रकम के लिए भी प्रान्त को केन्द्रीय सरकार से स्वीकृति लेनी पड़ती थी। प्रान्तीय सरकारें प्रतिवर्ष एक निश्चित रकम लेती थीं और यदि किसी वर्ष के बजट में किसी प्रान्त को कुछ घाटा हो जाता था, तो दूसरे वर्ष उसे और लम्बी रकम माँगने का अवसर मिल जाता था, अत प्रान्तीय सरकारें मनमाने ढंग से व्यय करती थीं और कर आदि के वसूल करने में बेपरवाही करती थीं और मितव्ययिता को ध्यान म नहीं रखती थीं। इस प्रकार वित्त व्यवस्था के केन्द्रीयकरण का प्रान्तीय शासन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा और विकेन्द्री-करण की ओर ध्यान गया।

विकेन्द्रीकरण की ओर सबसे पहला पग १८७० में लार्ड मेयो की सरकार ने उठाया। इसके बाद १८७७ में लार्ड लिटन की सरकार ने, १८८२ में लार्ड रिपन की सरकार ने, और फिर १९१२ में लार्ड हार्डिञ्ज की सरकार ने कुछ संशोधन किए और १९१९ तक एक "मिली जुली पर अलग भी" व्यवस्था चलती रही, परन्तु इसके पश्चात् उसमें कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किया गया। १९१९ के विधान के अनुसार सघी राजस्व का विकास हुआ और एक सीमा तक प्रान्तीय तथा केन्द्रीय आय व व्यय के स्रोतों को बिलकुल अलग कर भारतीय राजस्व की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया। प्रान्तों को कर-निर्धारण तथा ऋण लेने के भी अधिकार प्रदान किए गए।

परन्तु केन्द्रीय तथा प्रान्तीय आय की मदों के बिलकुल अलग कर दिए जाने से केन्द्रीय बजट म काफी घाटा होने लगा, जब कि प्रान्तों को बचत रहने लगी, और केन्द्र के घाटे की पूर्ति के लिए प्रान्तों से सहायता मिलना आवश्यक हो गया। इसलिए १९२० में लार्ड मेस्टन की अध्यक्षता म एक समिति नियुक्त की गई कि वह निश्चित करे कि विभिन्न प्रान्त किस किस मात्रा म केन्द्र को अंशदान दें। समिति ने जो निर्णय किया, उसे मेस्टन एवार्ड (*Meston Award*) कहा जाता है। इस निर्णय ने प्रत्येक प्रान्त के चन्दे की सीमा निर्धारित कर दी और हरएक प्रान्त को उसका देना अनिवार्य हो गया। किंतु यह प्रान्तों की सरकारों के लिये संतोषजनक न था, क्योंकि उनके बजट म उस समय बचत

अवश्य थी और वे अपने चदे को दे भी सकते थे, परन्तु भविष्य म उनके कार्यो के बढने के कारण अधिक व्यय की सभावना थी, जबकि उनकी आय के स्रोत ऐसे थे कि उनके द्वारा आय के बढने की सभावना न थी। इसलिए मेस्टेन एवार्ड का बहुत विरोध हुआ। विरोधियों का कहना था कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय स्रोतों का जिस प्रकार निर्धारण किया गया था, उसमें प्रान्तों की पारस्परिक आवश्यकताओं की उपेक्षा की गई थी। उनका कहना था कि केन्द्रीय सरकार के व्यय ने मद कुछ स्थायी से थे, उनके बढने की कोई विशेष आशा नहीं थी, जबकि उसकी आय के साधनों को काफी सम्पन्न रखा गया था और उनके बढने की संभावना भी थी। इसके विपरीत प्रान्तों की आय के स्रोतों को बहुत सीमित रक्खा गया था, और उनके बढने की कोई गुजाइश नहीं थी जबकि उनके कधे पर राष्ट्रनिर्माण के कार्य को पूरा करने का उत्तरदायित्व था, जिन पर व्यय करने की कोई सीमा नहीं हो सकती और यह सर्वथा अनुचित था। मतलब यह है कि मेस्टन निर्णय देश में ज्यादा दिन तक न चल सका, उसका बहुत विरोध हुआ और १९२७-२८ म वह समाप्त हो गया।

इसके पश्चात् १९३५ म भारत के विधान में पुन परिवर्तन हुआ और सविधान के अनुसार केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राजस्व मदों का इस प्रकार वितरण किया गया कि आय के कुछ साधन पूर्णतया केन्द्र को दिए गए, कुछ पूर्णतया प्रान्तों को दिए गए, कुछ के केन्द्र और प्रान्तों के बीच बाँटने की व्यवस्था की गई और कुछ के केन्द्र द्वारा वसूल करने की, पर प्रान्त को दे देने की, व्यवस्था की गई। साथ ही साथ यह भी आवश्यक समझा गया कि केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों को कुछ सहायता दे और १९३५ म सर ओटो नीमियर को इस कार्य के लिए नियुक्त किया गया कि वह राज्य व्यवस्था की जाँच करके बताएँ कि आयकर और जूट निर्यात कर का केन्द्र और प्रान्तों म किस प्रकार विभाजन किया जाए जिससे वित्त व्यवस्था उपयुक्त हो जाय। जो निर्णय उन्होंने दिया उसे नीमियर एवार्ड (*The Niemeyer Award*) के नाम से पुकारा जाता है। उसके अनुसार सरकार से यह सिफारिश की गई कि आय-कर से जो आय प्राप्त हो, उसका केवल ५० प्रतिशत भाग केन्द्रीय सरकार अपने काम म लाए और बाकी ५० प्रतिशत भाग राज्यों में बाँटा जाय और उस ५० प्रतिशत रकम में भिन्न भिन्न राज्यों का भाग इस प्रकार हो —

प्रान्त	कुलआय का प्रतिशत भाग
बम्बई	२०
बगाल	२०
सयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश)	१५
मद्रास	१५
बिहार	१०
पजाब	८
मध्यप्रदेश	५
आसाम	२
उड़ीसा	२
सिंध	२
उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त	१
	१००

इसके अतिरिक्त जूट निर्यात कर के सम्बन्ध में यह आयोजन हुआ कि उसका कुछ प्रतिशत अन्य राज्यों के बीच उनमें उत्पादित जूट के महत्त्व क्रम से वितरित किया जाए, इत्यादि, इत्यादि।

नीमियर एवार्ड का यह सिद्धान्त १९४७ तक चलता रहा। इसके पश्चात् भारत के विभाजन के फलस्वरूप संघ सरकार की आय कम हो गई तथा कुछ भाग भारत से अलग हो गए। ऐसी दशा में आयकर के विभाजन में अपनाए गए सर ओटो नीमियर के सूत्र में परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत हुआ और भारत सरकार ने १७ मार्च १९४८ को आय के वितरण के विषय में एक आज्ञापन निकाला जो *Distribution of Revenue Order*—1948 के नाम से प्रसिद्ध है और जिसके अनुसार आयकर के ५० प्रतिशत भाग में प्रान्तों का भाग निम्नलिखित सूत्र से निश्चित किया गया —

प्रान्त	प्रतिशत विभाग
बम्बई	२१
संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश)	१६
मद्रास	१८
बिहार	१३
पश्चिमी बंगाल	१२
मध्यप्रदेश व बरार	६
पूर्वी पंजाब	५
आसाम	३
उड़ीसा	३
	१००

फिर नवम्बर १९४८ में श्री चिंतामणि देशमुख को सरकार ने यह आदेश दिया कि भारत के विभाजन के बाद की नवीन परिस्थितियों का अध्ययन करके यह बताएँ कि आय कर से प्राप्त आय के ५० प्रतिशत भाग का वितरण राज्यों में किस प्रकार किया जाय तथा जूट व तैयार माल पर लगाए जानेवाले निर्यात कर से प्राप्त आय के कितने अंश का किस प्रकार बंगाल, आसाम, बिहार और उड़ीसा में वितरण किया जाय। श्री देशमुख ने अपना निर्णय जनवरी १९५० में दिया जिसे देशमुख एवार्ड (*Deshmukh Award*) के नाम से पुकारा जाता है, और जो उस समय तक के लिए मान्य रहा, जब तक भारतीय विधान की धारा २८० के अनुसार निर्मित वित्त आयोग (Finance Commission) की सिफारिशों पर भारत सरकार ने कोई निर्णय नहीं किया। देशमुख एवार्ड ने आयकर के ५० प्रतिशत भाग को राज्यों में वितरण करने का सूत्र इस प्रकार दिया :—

राज्य	प्रतिशत
बम्बई	२१·०
उत्तर प्रदेश	१८·०
मद्रास	१७·५
पश्चिमी बंगाल	१३·५
बिहार	१२·५
मध्यप्रदेश	६·०
पंजाब	५·५
आसाम	३·०
उड़ीसा	३·०
	१००

परन्तु श्री देशमुख के इस निर्णय से भी प्रान्तों को संतोष नहीं हुआ। उन्हें उससे वैसी ही शिकायत रही जैसी ओटो नीमियर के निर्णय से थी। सभी प्रान्त यह चाहते थे कि उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक भाग दिया जाए; किंतु यह व्यवहार में सम्भव नहीं था। असंतोष का मुख्य कारण यह था कि विभाजन के पश्चात् राज्यों की विकास योजनाओं के कार्यरूप में परिणित करने में यह अधिक सहायता प्रदान न कर सका।

इसके पश्चात् विधान की धारा २८० के अनुसार विधान के लागू होने के दो वर्ष के भीतर तथा इसके पश्चात् हर पाँच वर्ष बीतने पर, या यदि राष्ट्रपति आवश्यक समझें तो इससे पूर्व, एक वित्त आयोग (Finance Commission) की नियुक्ति होनी चाहिए थी और इसलिए श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में वित्त आयोग नियुक्त किया गया, जिसने अपनी रिपोर्ट ३१ दिसम्बर १९५२ को दी और आयोग की मुख्य सिफारिशें १ अप्रैल १९५३ से लागू हो गईं। आयोग की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं :—

(१) आयकर से प्राप्त शुद्ध आय के ५० प्रतिशत के स्थान पर ५५ प्रतिशत* भाग 'अ' और 'ब' राज्यों में बाँटा जाय और वितरण निम्न अनुपात में हो :—

---

* द्वितीय वित्तीय कमीशन की रिपोर्ट (१४ नवम्बर १९५७) के अनुसार अब यह ६० प्रतिशत कर दिया गया है और यह विभिन्न प्रान्तों को दो बातों के आधार पर बाँटा जायगा—९० प्रतिशत जनसंख्या के आधार पर और १० प्रतिशत इस आधार पर कि किसी प्रान्त से कितना कर इकट्ठा हुआ है (अब तक यह प्रतिशत ८० और २० था)।

इसी प्रकार द्वितीय वित्तीय कमीशन के अनुसार केन्द्रीय उत्पादन कर का पहिले से कुछ अधिक भाग राज्यों को दिया जायगा। अब तक केवल तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति तेल से जो आय प्राप्त होती थी उसका ४० प्रतिशत उनमें वितरित किया जाता था अब काफी, चाय, चीनी, कागज तथा Vegetable non essential oils से प्राप्त आय, भी राज्यों में वितरित कर दी जायगी—इन आठों वस्तुओं से प्राप्त आय का २५ प्रतिशत।

राज्य	प्रतिशत
बम्बई	१७·५०
उत्तर प्रदेश	१५·७५
मद्रास	१५·२५
पश्चिमी बंगाल	११·२५
बिहार	९·७५
मध्यप्रदेश	५·२५
उड़ीसा	३·५०
पंजाब	३ ५०
आसाम	२·२५
हैदराबाद	४·५०
राजस्थान	३·५०
ट्रावनकोर कोचीन	२·५०
मैसूर	२·२५
मध्यभारत	१·७५
सौराष्ट्र	१·००
पेप्सू	·७५
	१००

इसके अतिरिक्त आयकर से प्राप्त शुद्ध आय का २·७५ प्रतिशत भाग 'स' राज्यों को दिया जाय।

(२) केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाए गए कुछ उत्पत्ति करों (जैसे तम्बाकू, दियासलाई, सिगरेट, वनस्पति घी) की आय का भी ४० प्रतिशत भाग राज्यों में उनकी जनसंख्या के अनुपात से निम्नप्रकार बाँटा जाए :—

राज्य	प्रतिशत
उत्तर प्रदेश	१८ २३
मद्रास	१६·४४
बिहार	११ ६०
बम्बई	१०·३७
पश्चिमी बंगाल	७·१६

मध्यप्रदेश	६ १३
उड़ीसा	४·२२
पंजाब	३ ६६
आसाम	२ ६१
हैदराबाद	५·३६
राजस्थान	४ ४१
ट्रावनकोर कोचीन	२ ६८
मैसूर	२ ६२
मध्यभारत	२ २६
सौराष्ट्र	१·१६
	१००

(३) कच्चे जूट और जूट के तैयार माल पर निर्यात कर से प्राप्त आय के उस भाग में जो आसाम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बगाल को अनुदान के रूप मे मिलता है, निम्न प्रकार की वृद्धि की जाय :—

बगाल को	१०५ लाख रुपये के बदले	१५० लाख रुपये
आसाम „	४० „ „ „ „	७५ „ „
बिहार „	३५ „ „ „ „	७५ „ „
उड़ीसा „	५ „ „ „ „	१५ „ „

(४) कुछ राज्यों को उनके साधनों की कमी को पूरा करने के लिए अतिरिक्त सामान्य सहायक अनुदान दिये जायें, जैसे आसाम, पंजाब, उड़ीसा, पश्चिमी बगाल, मैसूर, सौराष्ट्र और ट्रावनकोर कोचीन को आर्थिक सहायता देने के लिए केन्द्र के साधनों को उस सीमा तक हस्तान्तरित किया जाए जिससे केन्द्र इस बढ़े हुए भार को भली भाँति वहन कर सके और केन्द्र के अनुदान को राज्यो में वितरित करते समय समान सिद्धान्तों का पालन किया जाए तथा वितरण के सिद्धान्तों द्वारा राज्यों में सम्पत्ति की असमानता को कम किया जाए।

वर्त्तमान भारतीय वित्त-व्यवस्था

(*Present System of Public Finance in India*)

आज के दिन केन्द्रीय सरकार के आय के स्रोत निम्नलिखित हैं :—

आयात निर्यात् कर (Customs Duty)
कुछ वस्तुओं पर उत्पत्ति कर (Central Excise Duty)
आयकर (और कार्पोरेशन कर) (Income Tax including Corporation Tax)
मृत्यु कर (Death Duty)
अफीम-कर (Opium Duty)
सम्पत्ति कर (Wealth Tax)

व्यय कर (Expenditure Tax)
उपहार कर (Gift Tax)
करेन्सी और मिंट (Currency and Mint)
पोस्ट्स और टेलीग्राफ (Posts & Telegraph)
रेलवेज (Railways)

और राज्यों के आय के स्रोत निम्न प्रकार हैं :—

मालगुजारी (Land Revenue)
सिंचाई से प्राप्त आय (Irrigation)
जंगल (Forests)
आबकारी (Provincial Excise)
स्टाम्प (Stamps)
कोर्टफीस और रजिस्ट्रेशन (Court Fees and Registration)
कृषिभूमि पर मृत्यु कर (Death Duty on Agricultural Land)
कृषि आय कर (Agricultural Income Tax)
मोटर कर (Motor Tax)
मनोरंजन कर (Entertainment Tax)
बिक्री कर (Sales Tax)

इसके अतिरिक्त जो कुछ केन्द्रीय सरकार को आयकर द्वारा (जिसमें कार्पोरेशन कर सम्मिलित नहीं है) प्राप्त होता है, उसका ६० प्रतिशत भाग प्रान्तों को वित्त आयोग के बताए हुए अनुपात में (पिछला चार्ट पढ़िए) वितरित कर दिया जाता है। इसी प्रकार जो कुछ आय केन्द्रीय सरकार को उत्पत्ति कर के रूप में होती है, उसका कुछ प्रतिशत भाग प्रान्तों के बीच वित्त आयोग के बताए हुए अनुपात में वितरित कर दिया जाता है (पिछला चार्ट पढ़िए), और जो आय जूट पर निर्यात् कर द्वारा प्राप्त होती है, उसमें से आसाम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल को ४०, ३५, ५ और १०५ लाख रुपए अनुदान के रूप में दिये जाते हैं। इसके उपरान्त केन्द्रीय सरकार प्रान्तों को आवश्यकतानुसार अनुदान भी देती रहती है। और योजना कमीशन के सुझाव के अनुसार कुछ प्रान्त विकास योजनाओं के लिए अधिक धन प्राप्त करने के हेतु दो नए कर भी लगाते हैं—एक विकास कर (Development Levy) और दूसरा उत्तमत्ता-कर (Betterment Levy)। विकास-कर सिंचाईवाली भूमि पर लगाया जाता है, और इस कर से प्राप्त आय से पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नागरिक गृह-निर्माण, जलविद्युत् तथा सिंचाई की योजनाओं का पूँजी-व्यय पूरा किया जाता है। उत्तमता-कर उस भूमि पर लगता है जिस पर पहले से कोई सिंचाई-सुविधा नहीं थी और अब सरकार द्वारा यह सुविधा प्राप्त होने लगी है।

दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के खर्चों की मदें इस प्रकार हैं :—

सेना का व्यय (Defence Expenditure)
सिविल शासन (Civil Administration)

देश निर्माण कार्य (National Development)
राज्यों को ग्रान्ट (Grants to States)
शरणार्थियों पर व्यय (Expenditure on Refugees)
खाद्य पदार्थों पर व्यय (Subsidy on Food Grains)

और राज्यों के खर्चे की मदें इस प्रकार हैं :—

पुलिस (Police)
न्याय (Justice)
जेल (Jails)
शिक्षा (Education)
स्वास्थ्य (Public Health)
सिंचाई (Irrigation)
चिकित्सा (Medicine)
वैज्ञानिक रिसर्च (Scientific Research)
कृषि (Agriculture)
पशुचिकित्सा (Animal Husbandry)
सहकारिता (Co operative Societies)
उद्योग धंधे (Industries)
बिजली की योजनाएँ (Electricity Projects)
हवाई यातायात (Air Transport)
सिविल निर्माण कार्य (Civil works)

आज के दिन केन्द्र और राज्यों के बीच आय व्यय के मदों का किस प्रकार विभाजन किया जाता है और इनके आय-व्यय की स्थिति किस प्रकार की है, इसका चित्र ध्यान में रखने के लिए १९५८-५९ का केन्द्र का बजट और १९५६ ५७ का एक राज्य (उत्तर प्रदेश राज्य) का बजट* नीचे दिया जाता है :—

---

* बजट (आय-व्यय-अनुमान विवरण पत्र)

बजट एक विवरण पत्र होता है जिसमें सरकार का आगामी वर्ष के अनुमानित आय तथा व्यय का पूरा विवरण दिया जाता है यानी आगामी वर्ष के लिए यह सरकार की कुल आर्थिक योजना होती है और इसमें वित्तमंत्री दिखलाता है कि वह कितना व्यय करना चाहता है और कितनी आय की उसे आशा है। यह आगामी वर्ष हमारे देश में १ अप्रैल से ३१ मार्च तक माना जाता है और वित्त मंत्री इस आय व्यय अनुमान विवरण-पत्र को फरवरी के अन्तिम दिवस पर या पहली मार्च को, यानी लागू होने से एक महीने पहले, एक भाषण के साथ लोक सभा (Lower House) में प्रस्तुत करता है। (हर एक राज्य सरकार का बजट भी इसी प्रकार उसकी राज्य परिषद् में प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि केन्द्रीय सरकार की और राज्य सरकारों की पद्धति हमारे देश में दोनों एक ही हैं) इस विवरण पत्र में तीन वर्षों से सम्बन्धित आंकड़े होते हैं—गत वर्ष के वास्तविक आय और व्यय (actual receipts and expenditure), प्रचलित वर्ष के स्वीकृत तथा पुनरीक्षित अनुमान

(revised estimates) [यह पुनरीक्षित अनुमान इसलिए पुकारे जाते हैं कि इसमें केवल जनवरी, फरवरी तक के वास्तविक आँकड़े होते हैं और फरवरी मार्च के आँकड़ों का केवल पिछले महीनों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है, कारण कि बजट फरवरी में प्रस्तुत किया जाता है जब कि वर्ष ३१ मार्च तक चलता रहता है।] और आगामी वर्ष के बजट अनुमान (Budget Estimates)। मतलब यह है कि जब पहली मार्च १९५६ को आगामी साल (१९५६–५७) का बजट पेश किया जायगा तो उसमें १९५४–५५ के वास्तविक आय तथा व्यय के आँकड़े दिए जायँगे, १९५५–५६ के पुनरीक्षित अनुमान दिए जायँगे तथा १९५६–५७ के लिए अनुमानित आँकड़े पेश किए जायँगे। यह बजट इसलिए पेश किया जाता है कि विधान बनानेवालों को इस बात का अवसर मिले कि वे इसकी जाँच-पड़ताल करें और किसी विभाग या मंत्री की आलोचना कर सकें। संसद किसी विभाग के अनुदानों को बन्द कर सकती है या कम कर सकती है। हाँ, कुछ मदें ऐसी होती हैं, जिन पर संसद के सदस्य बहस तो कर सकते हैं परन्तु वोट नहीं दे सकते। वे नये अनुदान या नये करों का प्रस्ताव भी नहीं रख सकते।

बजट पेश होने के दिन ही बहस नहीं होती। एक दिन निश्चित किया जाता है जिस पर बहस शुरू होती है और चार-छः दिन तक रहती है। फिर आलोचकों का उत्तर देकर वित्त-मंत्री साधारण बहस समाप्त कर देता है। इसके बाद मतदान की बात आती है। बजट में दो प्रकार के व्ययों का विवरण होता है। कुछ व्यय ऐसे होते हैं जो भारत के संगठित कोष (Consolidated Fund) से किए जाते हैं, जैसे राष्ट्रपति का वेतन, राज्यपाल का वेतन, लोक सभा के सभापति का वेतन, ऋण सम्बन्धी व्यय, सुप्रीम न्यायालयों के जजों का वेतन, आडिटर जनरल आफ इंडिया का वेतन, पब्लिक सर्विस कमीशन के प्रबन्ध व्यय, इत्यादि। इन पर मत नहीं लिया जाता और संसद के सदस्यों को उनके घटाने का अधिकार भी प्राप्त नहीं होता। दूसरे प्रकार के व्यय राज्य की आय से व्यय की जानेवाली रकमों की मदें होती हैं जिन पर संसद का मत लिया जाता है और इन सब व्ययों के लिए संसद की स्वीकृति आवश्यक है। संसद को इनके घटाने का (परन्तु बढ़ाने का नहीं) पूर्ण अधिकार रहता है।

साधारण बहस के बाद प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग से सम्बन्धित व्ययों के लिए अनुदानों की माँग पेश करता है। उस समय वह अपने विभाग के कार्यों पर प्रकाश डालता है और उससे सम्बन्धित नीति की घोषणा भी करता है। जब अनुदानों की माँग स्वीकार हो जाती है तो वही Appropriation Bill का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार आय बढ़ाने के साधन नये कर आदि से Finance Bill बन जाता है। ये दोनों बिल पहले लोकसभा और लेजिस्लेटिव असेम्बली अर्थात् लोअर चैम्बर में प्रस्तुत किये जाते हैं। इसके बाद राज्य सभा (Upper House) को भेज दिये जाते हैं। अपर चैम्बर १४ दिवस की अवधि में उन पर सोच-विचार कर सुझाव सहित उन्हें लोअर चैम्बर को वापस भेज देता है। लोअर चैम्बर इन सुधारों को स्वीकार कर ले तो ठीक है यदि नहीं तो वह स्वतः ही रद्द हो जाते हैं और लोअर चैम्बर द्वारा पास किये गये बिल ही राष्ट्रपति अथवा गवर्नर को

केन्द्रीय सरकार का बजट
(*Central Govt Budget*)
१९५८–५९

आय का ब्यौरा	लाख रुपयों में	व्यय का ब्यौरा	लाख रुपयों में
आय के मद	अनुमानित अंक	व्यय के मद	अनुमानित अंक
कस्टम्स (Customs)	१७०,००	कर इकट्ठा करने का व्यय (Direct Demands on Revenue)	६४,६५
केन्द्रीय उत्पत्ति कर (Central Excise Duty)	२०४,७६	सेना का व्यय (Defence—Military Expenditure)	२७८,१४
आय कर (Income Tax, other than Corporation Tax)—राज्य कर देने के बाद	८४,५३	सिविल शासन (Civil Administration)	२००,४४
कार्पोरेशन कर (Corporation Tax)	५५,५०		
मृत्यु कर (Estate Duty)—राज्यों को देने के बाद	१२	ऋण पर ब्याज आदि (Debt Services)	४०,००
सम्पत्ति कर (Wealth Tax)	१२,५०	राज्यों को ग्रान्ट आदि (Grants to States)	४७,०३
व्यय पर कर (Expenditure Tax)	३,००		
रेलवे टिकटों पर कर (Tax on Railway Tickets)	७	शरणार्थियों पर व्यय (Expenditure on Refugees) और अन्य व्यय	७०,८१
उपहारों पर कर (Tax on Gifts)	१,००	पेन्शन (Pension)	६,४०
अफीम कर (Opium Duty)	२,८७		
ब्याज (Interest Receipts)	६,६०		
सिविल शासन (Civil Administration)	४४,२४		
करेन्सी और मिन्ट (Currency and Mint)	३६ ६२		
सिविल निर्माण कार्य (Civil Works)	२,८७	सार्वजनिक निर्माण, कार्य (Civil Works)	१८,७१
आय के अन्य साधन (Other Sources of Revenue)	३२,६३		

हस्ताक्षर करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। (इसका यह अर्थ हुआ कि अपर चैम्बर बिल पर कोई अधिकार नहीं रहता।)

आय का ब्यौरा	लाख रुपयों में	व्यय का ब्यौरा	लाख रुपयों में
आय के मद	अनुमानित अंक	व्यय के मद	अनुमानित अंक
पोस्टस और टेलीग्राफ से वास्तविक आय जो जनरल रिवेन्यूज को प्राप्त हुई। (Posts and Telegraphs)	२,३४	सिंचाई (Irrigation)	१३
रेलवे से आय जो जनरल रिवेन्यूज को प्राप्त हुई (Railways)	७,०४	करेन्सी और मिंट (Currency and Mint)	८,५०
		विशेष असाधारण मदें (Extraordinary Items)	२८,४०
कुल आय (Total Income)	७६८,९९		
घाटा —	२७,०२		
	७९६,०१	कुल व्यय (Total Expenditure)*	७९६,०१

आय के स्रोत

(*Sources of Revenue*)

आयात-निर्यात कर (Customs Duties)—आयात और निर्यात पर जो कर लगाए जाते हैं उन्हें ही तटीय कर या कस्टम्स ड्यूटी कहते हैं। इसका अधिक भाग आयात कर से प्राप्त होता है, जो सरकार के आय कमाने या देश के उद्योग को संरक्षण देने के लिए लगाए जाते हैं। (पहिले प्रकार के करों को आय सम्बन्धी तट-कर (Revenue Duties) और दूसरे प्रकार के करों को संरक्षात्मक तट-कर (Protective Duties) कहते हैं।) यह कर कुछ आवश्यक वस्तुओं और औद्योगिक कच्चे माल को छोड़कर प्रायः प्रत्येक वस्तु पर लगता है, और विलास की वस्तुओं (जैसे सिगार, सिगरेट, शराब, रेशम, सुनहरा काम,

* भारत सरकार का दीर्घकालीन व्यय इसके अतिरिक्त है। यह व्यय पिछले दिनों में बहुत बढ़ गया है। जहाँ १९५०-५१ में यह ७१.०३ करोड़ था १९५६-५७ में यह ३१६.७४ करोड़ हो गया। इन दीर्घकालीन मदों का सरकार के चालू बजेट पर विशेष भार नहीं पड़ता है। इन मदों पर किया जानेवाला व्यय ऋण तथा भारत सरकार के अन्य कोषों से पूरा किया जाता है। और चूँकि देश के आर्थिक साधनों का विकास करने के हित में विभिन्न योजनाओं पर व्यय करना पड़ता है इसलिए यह अच्छा है कि व्यय चालू बजेट की अपेक्षा दीर्घकालीन बजेट (Capital Budget) से किया जाय। परन्तु १९४८-४९ से भारत सरकार ने मुद्रा स्फीति निरोध उपाय के रूप में दीर्घकालिक व्यय की पूर्ति चालू बजट से करने की नीति अपना रखी है। इससे करदाताओं पर अधिक भार पड़ा है जिससे बचत और पूँजी निर्माण में बहुत रुकावट हो गई है। १९५८-५९ में इन मदों पर ४१२ करोड़ खर्च करने का अनुमान है जो ऋण द्वारा पूरा होगा।

इत्यादि) पर तो बहुत अधिक मात्रा में लगता है। दूसरा भाग इस तटीय कर का निर्यात कर से प्राप्त होता है। परन्तु निर्यातकर लगने से वस्तुओं के मूल्य बढ़ते हैं और विदेशों में हमारा माल महँगा हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उन देशों में हमारा माल और देशों की प्रतियोगिता में कम बिक पाता है। इसलिए ऐसे कर केवल पटसन, चाय, तिलहन बाना, माईका, मैंगनीज, काली मिर्च, कपड़े आदि थोड़ी ही वस्तुओं पर लगाए गए हैं, और इन्हें देश और विदेशों में मूल्य स्थिति के अनुसार कम या अधिक करना पड़ता है। १९५८-५९ के बजट में इस कर से १७० करोड़ की आय का अनुमान लगाया गया है।

केन्द्रीय उत्पत्ति कर (Central Excise Duties)—तटीय करों के साथ साथ केन्द्रीय सरकार अब देश में बननेवाले कुछ माल पर भी कर लगाती है जिसे उत्पत्ति कर या सेन्ट्रल एक्साइज ड्यूटी कहते हैं। यह कर देश में तैयार होनेवाली कुछ वस्तुओं पर जैसे चाय काफी, चीनी तम्बाकू, मोटर स्पिरिट, मिट्टी का तेल, सूती वस्त्र, दियासलाई, वनस्पति घी, सुपारी, सीमेंट, साबुन और जूतों इत्यादि पर लगाया जाता है। [एक समय नमक के उत्पादन पर भी कर लगता था और यह नमक कर अधिक महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि इससे ८-१० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष आय थी, परन्तु महात्मा गांधी की डंडी यात्रा के बाद भारतीय जनमत इसके विरुद्ध हो गया, जिससे सन् १९४६-४७ में यह कर समाप्त कर दिया गया। इस कर के विरुद्ध सबसे बड़ा आक्षेप यह था कि इसका भार गरीबों पर पड़ता था। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो इसका कोई विशेष भार नहीं था। एक परिवार पर एक महीने में लगभग एक पैसा कर का द्रव्य भार पड़ता था। अतः आर्थिक दृष्टिकोण से इस कर को हटाना बुद्धिमानी नहीं थी। इस कर को हटाकर सरकार ने आय का एक बड़ा अच्छा साधन खो दिया है और इसके कारण आय में होनेवाली कमी को पूरा करने के लिए और करों को लगाया है जिनका भार भी निर्धनों पर पड़ता है। यही कारण है कि अब कभी कभी इस कर के फिर से लगा देने के सुझाव सुनने में आते हैं।] और चूँकि ये सब कर जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर लगाए जाते हैं, इसलिए इनका अधिकांश भार समाज के निर्धन वर्ग पर पड़ता है और यह अच्छे नहीं समझे जाते। कुछ भी हो, यह उत्पादन कर केन्द्रीय सरकार की आय का आजकल एक मुख्य साधन है।

१९५८-५९ के बजट में उत्पत्ति कर से लगभग ३०० करोड़ की आय का अनुमान लगाया गया है जब कि कुल बजट ८०० करोड़ से कम का है। इस सम्बन्ध में यह बात अवश्य है कि यद्यपि इस कुल कर को केन्द्रीय सरकार ही वसूल करती है, परन्तु इस कर के रूप में आई हुई रकम का कुछ प्रतिशत भाग वित्त आयोग के सुझाव के अनुसार उसके बताये हुए अनुपात में प्रान्तों में बाँट दिया जाता है। (पिछला शीर्षक पढ़िए।)

आयकर (Income Tax)—आयकर निर्धारित करने और वसूल करने का कार्य केन्द्रीय सरकार करती है। इसका भारतीय कर व्यवस्था में बहुत बड़ा महत्त्व है, यह एक प्रत्यक्ष कर है और इसका भार अधिकतर धनी व्यक्तियों पर पड़ता है, जो एक अच्छी बात समझी जाती है। दूसरी अच्छाई इसकी यह है कि यह प्रगतिशील है—एक निश्चित न्यूनतम आय को कर मुक्त करके और शेष पर प्रगतिशील कर

(अधिक आय पर अधिक कर, और उससे अधिक आय पर और भी अधिक कर) लगाकर, निश्चित आय से अधिक आय पर सुपरटैक्स लगाकर, यह ऐसा बनाया गया है जिससे बहुत कम आयवाले कर मुक्त हैं, कम आयवालो पर कम भार पड़ता है, अधिक आयवालों पर अधिक भार पड़ता है और उससे भी अधिक आयवालो पर और भी अधिक भार पड़ता है। इस कर की एक और अच्छाई यह है कि यह राजस्व का एक लचीला साधन है—जनता की आय मे वृद्धि होने के साथ सरकार की इस कर द्वारा प्राप्त आय में भी वृद्धि होती है और जनता की आय में कमी होने के साथ सरकार की आय में भी कमी हो जाती है और इस प्रकार आर्थिक समृद्धि के समय सरकार की आमदनी स्वय बढ जाती है और मंदी के समय यह आमदनी स्वय गिर जाती है।

भारतवर्ष मे यह कर सर्वप्रथम १८६० में लगाया गया था। वैसे तो समय समय पर इस कर की व्यवस्था मे कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहा, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन १९०३ में और उसके बाद किए गए। उस समय आय कर को लगाने की न्यूनतम रकम २००० रु० कर दी गई, १९१६ मे इसकी दरों मे सशोधन किया गया, १९३१ म आय कर से मुक्त होने की रकम की न्यूनतम सीमा १००० कर दी गई किंतु कर की दर मे वृद्धि की गई और सुपरटैक्स का प्रचलन किया गया। १९३५ मे आय कर से मुक्त रकम की न्यूनतम सीमा फिर २००० रु० कर दी गई जो १९४० में ३००० रु० १९५० में ३६०० रुपये तथा १९५३ में ४२०० रु० हो गई। (आज के दिन यह न्यूनतम सीमा ३००० रु० कर दी गई है और साथ ही व्यक्तियों और कम्पनियों पर लागू आय कर और सुपरटैक्स की दरों म भी बहुत वृद्धि हो गई है।)

इसके अतिरिक्त सन् १९३९ में आय-कर के विधान में अनेक सुधार हुए और पिछली "सीढी प्रणाली" (Step System) के स्थान पर "पाट प्रणाली" या "खड प्रणाली" (Slab System) को अपनाया गया। "सीढी प्रणाली" में २,००० रु० से कम आय पर कर नहीं लगाया जाता था, २००० से ५००० रु० तक की आय पर ३४ प्रतिशत, ५००० से १०००० रु० तक पर ५·१ प्रतिशत आय कर था और १०,००० से १५,००० रु० पर ६·८ प्रतिशत, इत्यादि, इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि इस प्रणाली के अनुसार आय कर की दर म वृद्धि क्रमशः न होकर एकदम हो जाती थी—यदि किसी व्यक्ति की आय पहली श्रेणी की आय से कुछ भी अधिक बढ़ी तो अपनी कुल आय पर दूसरी श्रेणी की अधिकतम दर के हिसाब से उसे कर देना पड़ता था जो उचित नही था। उदाहरणार्थ यदि ५००० रु० की आय पर तब की दर के अनुसार आय कर ३·४ प्रतिशत देना पड़ता तो ५,१०० रु० आय पर कुल आय का ५ १ प्रतिशत देना पड़ता, और इसी प्रकार यदि १०,००० रु० आय पर ५ १% देना पड़ता तो १०,६०० आय पर कुल आय का ६ ८ प्रतिशत। परन्तु नई "पाट प्रणाली' या "खड प्रणाली' के अन्तर्गत यह दोष दूर कर दिया गया—आय कर की दर में अकस्मात् परिवर्त्तन होने का दोष समाप्त हो गया और आय-कर प्रणाली अधिक न्यायसंगत हो गई। मान लीजिए कि ५,००० रु० आय पर कर की तब की दर के अनुसार ३ ४ प्रतिशत आयकर होता है तो ५,३०० की आय पर ३ ६ प्रतिशत आयकर होता है। और इसी प्रकार यदि १०,००० रु० की आय पर ५·६

प्रतिशत आयकर होता है तो १०,६०० रु० की आय पर ६ प्रतिशत आयकर होता है, इत्यादि, इत्यादि।

सन् १९४२-४३ में आयकर प्रणाली में एक और महान् परिवर्तन हुआ अर्थात् कमाई हुई आय Earned Income) और बिना कमाई हुई आय (Unearned Income) में सर्वप्रथम अन्तर किया गया। कमाई हुई आय के दसवें भाग अथवा अधिक से अधिक २,००० रु० तक कर से छूट दी गई। सन् १९४५ ४६ में इस छूट की मात्रा को बढ़ाकर पाँचवाँ भाग अथवा अधिक से अधिक ४,००० रु० किया गया।

युद्धकाल म आयकर में वृद्धि की गई और २५ प्रतिशत सर चार्ज लागू किया गया। यह सर-चार्ज क्रमशः ६६⅔ प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया। इसके अतिरिक्त १९४० म "अतिरिक्त लाभ कर" (Excess Profits Tax) लागू किया गया। यह कर ३६,००० रुपये से अधिक अतिरिक्त लाभ पर ५० प्रतिशत की दर से लगाया गया और फिर यह दर क्रमशः ६६⅔ प्रतिशत तक बढ़ा दी गई। इसके परिणाम स्वरूप आयकर द्वारा सरकार की आय बहुत बढ गई परन्तु इतना अधिक कर उद्योगों की कर भार वहन करने की क्षमता से अधिक था और १९४६ में इस कर को हटा देना पड़ा। १९४७ ४८ के बजट में व्यापार से होनेवाली आय पर एक दूसरा कर "व्यापार लाभ कर" (Business Profits Tax) लागू किया गया, और यह व्यवस्था की गई कि एक लाख से अधिक व्यापार लाभ पर (या कुल लगी पूँजी के ६ प्रतिशत के बराबर, या इन दोनों म जो अधिक रकम हो उस पर) व्यापार लाभ कर १६⅔ प्रतिशत की दर से लगाया जाय। १९४८ ४९ म यह दर १० प्रतिशत की गई और दो लाख रुपये तक की आय आयकर से मुक्त कर दी गई। १९५० १९५१ म यह कर भी समाप्त कर दिया गया। इसके साथ एक और कर इमारतों तथा शेयरों इत्यादि की कीमतो मे १५,००० से अधिक वृद्धि होने पर "पूँजीगत लाभ कर" (Capital Gains Tax) लागू किया गया था, वह भी अब समाप्त कर दिया गया है यद्यपि इसका एक अश आयकर के अन्तर्गत अब भी आ जाता है।

आज के दिन भारतीय आयकर की व्यवस्था निम्न प्रकार है :—जैसा कि नाम से विदित है यह कर आय पर लगता है—पूँजी या सम्पत्ति पर नहीं। इसको तीन भागों में बाँट दिया जाता है (अ) व्यक्तिगत आय पर कर, (ब) उच्च कर या सुपर टैक्स और स) कार्पोरेशन टैक्स।

(अ) प्रत्येक विवाहित) व्यक्ति, सयुक्त हिन्दू परिवार, बिना रजिस्ट्री के फर्म तथा व्यक्तियों के एसोसियेशनों पर आयकर (Income Tax) तथा अतिरिक्त भार (Surcharge) की दर निम्न प्रकार है :—

वर्ग	कर की दर
समस्त आय के पहले ३०००) रु० पर	कुछ नहीं
" " " २०००) " "	३ प्रतिशत

वर्ग		कर की दर
समस्त आय के अगले	२५००) पर	६ प्रतिशत
,, ,, ,,	२५००) ,,	६ ,,
,, ,, ,,	२५००) ,,	११ ,,
,, ,, ,,	२५००) ,,	१४ ,,
,, ,, ,,	५०००) ,,	१८ ,,
,, ,, ,,	शेष भाग पर	२५ ,,

किंतु व्यक्ति की आय ३०००) रु० से कम हो या हिन्दू अविभाजित परिवार की आय ६०००) से कम हो तो आयकर नहीं लगाया जाता। अविवाहित व्यक्ति को पहिले १०००) रु० की आय पर तो कुछ नहीं देना पड़ता परन्तु दूसरे ४०००) रु० की आय पर ३ प्रतिशत देना पड़ता है। इसके बाद वही दरें होती हैं जो विवाहित व्यक्ति के लिए। ७५००) रु० से कम आय वाले व्यक्ति पर तथा १५०००) रु० से कम आय वाले संयुक्त परिवार पर अतिरिक्त भार नहीं लगता। इससे अधिक आय वाले को 'अतिरिक्त भार' भी देना पड़ता है, जिसकी दरें इस प्रकार हैं: मेहनत से कमाई हुई एक लाख तक की आय पर आयकर की रकम का ५ प्रतिशत, और इससे अधिक आय पर १० प्रतिशत; बिना मेहनत की कमाई आय पर शुरू से आखिर तक २० प्रतिशत।

कम्पनियों की समस्त आय पर ३० प्रतिशत आयकर और इसका ५ प्रतिशत भाग अतिरिक्त कर लगाया जाता है। यह दर सभी कम्पनियों पर समान होती है।

(ब) जिनकी आय २०,००० रु० से अधिक है उन पर उच्च कर (Super tax) भी लगाया जाता है, जिसकी दरें निम्न हैं :—

वर्ग	उच्च कर की दर
प्रथम २०,००० रु० पर	कुछ नहीं
अगले ५,००० ,, ,,	५ प्रतिशत
,, ५,००० ,, ,,	१३ ,,
,, १०,००० ,, ,,	२० ,,
,, १०,००० ,, ,,	३० ,,
,, १०,००० ,, ,,	३५ ,,
,, १०,००० ,, ,,	४० ,,
कुल आय के शेष भाग पर	४५ ,,

(स) कम्पनियों को जो उच्च कर देना पड़ता है उसे कार्पोरेशन कर (Corporation Tax) कहते हैं। यह कर कुल कम्पनियों की वास्तविक आय पर लगता है और इसके देने के बाद ही कम्पनियाँ ने डायरेक्टर्स, शेयर होल्डरों म डिविडेण्ड निर्धारित कर सकते हैं या रिजर्व म रुपया हस्तान्तरित कर सकते हैं। (इसके बारे न अगला शीर्षक भी पढ़िये)। इसकी दर २० प्रतिशत है। ६ प्रतिशत से अधिक डिविडेण्ड देने की स्थिति म १० प्रतिशत और १० प्रतिशत से अधिक डिविडेण्ड देने की स्थिति म २० प्रतिशत Excess Dividend Super-tax कम्पनियों को और भी देना पड़ता है।

आज के दिन आय कर से केन्द्रीय सरकार को लगभग १५० करोड़ और कार्पोरेशन टैक्स से लगभग ५० करोड़ सालाना की आय प्राप्त होता है, और जैसा कि हम इससे पहले शीर्षक में कह चुके हैं, केन्द्रीय सरकार इन दोनों म से पहली मद से प्राप्त आय का ६० प्रतिशत प्रान्तों म बाँट देता है और शेष स्वय काम म लाती है। (यह बात केवल आय कर से प्राप्त आय के विषय म है। कार्पोरेशन टैक्स से प्राप्त आय के साथ यह बात नहीं है। इसका कोई भाग प्रातो को नहीं दिया जाता और यह कुल केन्द्रीय सरकार स्वय काम म लाती है।)

तो हमने देखा कि भारत म आयकर सरकार की आय का एक मुख्य साधन है। एक प्रत्यक्ष कर होने के नाते इसका भार अधिकतर धनी व्यक्तियो पर पड़ता है। यह प्रगतिशील भी है और लचीला भी। इसम अर्जित आय और अनर्जित आय म अंतर भी माना गया है और गरीब आदमियों को जिनकी २०००) से कम सालाना आय है, कर से मुक्त भी रखा गया है। इसम इस बात का प्रबन्ध है कि यह व्यक्ति की आय प्राप्ति के समय स्वय ही वसूल हो जाय (collection at source)। कानून के अनुसार मालिकों को श्रमिकों आदि को वेतन देते समय आयकर काटकर इन्कम टैक्स आफिस को भेज देना पड़ता है, जिससे सुविधा भी रहती है और टैक्स से बच जाने की प्रवृत्ति भी कम हो जाती है। तो भी इस टैक्स का यह दोष है कि लोग अपनी आय को छिपाने की और कर से बचने की चेष्टा करते रहते हैं। भारत सरकार ने १६४६ म आयकर जाँच समिति नियुक्त की जिसने १६५२ के अन्त म आय छिपानेवालों के मामलो पर विचार किया। इस आयोग ने १६५२ के अन्त तक जितनी छिपाई आय का पता लगाया, उस पर सरकार को २६ करोड़ रुपया कर और मिलेगा। दूसरा आरोप इस कर पर यह लगाया जाता है कि यह बचत और विनियोगों को प्रेरणा देने की जगह उनको निरुत्साहित करता है। एक और दोष इस कर का अब तक यह रहा है कि हमारी कर प्रणाली इस बात म कोई भेद नहीं करती रही है कि कर देनेवाला विवाहित है या अविवाहित और न इस बात का कोई विचार किया जाता रहा है कि एक विवाहित व्यक्ति को कितने बडे परिवार का पोषण करना पड़ता है न्याय और औचित्य की माँग यह है कि समान आयवाले दो व्यक्तियों म से बड़े परिवार वाले से कम और छोटे परिवार वाले से अधिक कर लिया जाए, जैसा कि इँगलैंड में होता है। परन्तु इससे देश की जनसख्या, जो अब भी बहुत है, के बढने म परोक्ष रूप से प्रोत्साहन मिलेगा जो देश के लिए हितकर नहीं होगा। दूसरे, ऐसा करने से हमारी आय कम होगी, जब कि देश के निर्माण के लिए रुपये की आवश्यकता बहुत है। कुछ भी सही, इस साल के बजट म विवाहित और अविवाहित की आयकर म अतर करना आरम्भ हो गया है।

कार्पोरेशन कर (Corporation Tax)—जैसा कि अभी हमने ऊपर देखा, सयुक्त पूँजी कम्पनियों को उच्च कर नहीं देना पड़ता, परन्तु एक दूसरे प्रकार का कर देना पड़ता है जिसे कार्पोरेशन कर कहते हैं। यह कर सयुक्त पूँजी कम्पनियों से उनके लाभों पर लिया जाता है। इन कम्पनियों को और सबों की भाँति आयकर तो देना ही पड़ता है, उसके अतिरिक्त यह कर भी देना पड़ता है। इसमें आय का कोई भी भाग करमुक्त नहीं

होता। सभी कम्पनियों को अपनी आय पर यह कर देना पड़ता है और इस कर की दर भी सबके लिए एक जैसी रहती है। यहाँ प्रगतिशील पद्धति को नहीं अपनाया गया है। फिर भी कम्पनियों को एक दूसरा कर Excess Dividends Tax देना पड़ता है, जिसकी नीचे और ऊपर की दरों म अन्तर होता है। ६ प्रतिशत डिविडेंड देने की स्थिति म १० प्रतिशत और ६ प्रतिशत से अधिक डिविडेंड देने की स्थिति म २० प्रतिशत अधिक लाभ कर कम्पनियों को देना पड़ता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इससे लगभग ५० करोड़ की सरकार को आय होती है, जो कुल केन्द्रीय सरकार हा अपने काम म लाती है।

[इन्कम टैक्स और कार्पोरेशन टैक्स म अतर यह है कि कार्पोरेशन टैक्स तो लाभों को डिविडेन्ड्स म बाँटने से पहले ही देना पड़ता है उसके बिना लाभों को काम म नहीं लाया जा सकता, परन्तु आयकर उस लाभ पर लगता है जो शेयर होल्डर्स को डिविडेन्ड्स के रूप म जाता है। इस प्रकार पहला कर तो कम्पनियों के लाभों पर हुआ और दूसरा कर कम्पनी के हिस्सेदारों की आयों पर। पिछले कर की रकम उस समय कम या अधिक कर ठीक कर ली जाती है, जब इन्कम टैक्स विभाग व्यक्तिगत रूप म उनकी आय पर कर लगाता है।]

मृत्यु कर (Estate Duty)—यह कर संसार के सभी उन्नतिशील देशों म लगाया जाता है। इसके दो रूप होते हैं—(१) मृत्यु कर (Death Duty) जो व्यक्ति की मृत्यु के समय उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति पर लगाया जाता है और (२) उत्तराधिकार कर (Succession Duty or Inheritance Tax) जो उत्तराधिकारियों द्वारा प्राप्त सम्पत्ति पर लगाया जाता है, और प्रत्येक उत्तराधिकारी को मिले हुए हिस्से के हिसाब से लगाया जाता है। भारत म पहिले प्रकार का मृत्यु कर कुछ दिन से लगने लगा है। यह कर स्टेट ड्यूटी Estate Duty के नाम से पुकारा जाता है और यह वह मृत्यु कर होता है जो किसी व्यक्ति के मरने पर उसकी समस्त सम्पत्ति पर उत्तराधिकारियों म बँटने से पहले ही लगाया जाता है। इस कर के पुष्टीकरण का आधार इसका आकस्मिक तत्त्व है। जो व्यक्ति उत्तराधिकारी होता है वह उस जायदाद को बिना किसी प्रयत्न के ही अकस्मात् पा लेता है, इस कारण उसके लिए जायदाद पाना एक आकस्मिक लाभ है, और यदि इस पर कर लगाया जाए तो ठीक ही है। इसलिए इस कर की दर भी बहुत अधिक होती है और मृतक तथा उत्तराधिकार प्राप्त करनेवाले म जितनी दूर का सम्बन्ध होता है, उतनी ही इसकी मात्रा अधिक होती है। यह कर कर नीति के सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत को भी पूरा करता है, क्योंकि यह उनसे वसूल किया जाता है जो सम्पत्ति वाले और पूँजी वाले हैं। और क्योंकि इसका भार धनिकों पर ही पड़ता है, इसलिये यह पूँजीवाद के अन्तर्गत होने वाली सम्पत्ति और आय के वितरण की विषमता को कम करने का एक बड़ा अच्छा साधन भी है, उचित समय पर लगाया भी जाता है, सुविधापूर्ण भी है और साथ साथ इससे बचना भी सहज नहीं है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार को विकास-योजनाओं के लिए बहुत रुपयों की आवश्यकता भी है और इस कर से अच्छा और कौन सा नया कर हो सकता है।

यद्यपि इस कर को लगाने के लिए भारत म समय समय पर पहले भी सुझाव रक्खे गए, पर किन्हीं कारणों से इनको क्रियात्मक रूप पहले नहीं दिया जा सका और प्रथम बार १५ अक्टूबर १६५३ से यह कर लगाया गया है। यह कर केन्द्रीय सरकार द्वारा ही लगाया

गया है और वही इसे एकत्र करेगी। परन्तु विधान के अनुसार इसकी सारी आय राज्यों में बाँट दी जायेगी। एस्टेट कर विधान (Estate Duty Act) के अनुसार :—

(१) यह कर मृतक व्यक्ति की उस सब सम्पत्ति पर लगेगा जो कि व्यक्ति की मृत्यु पर हस्तान्तरित होती है। इस सम्पत्ति में ऐसे उपहार भी शामिल होंगे जो मृत्यु होने से छः महीने पूर्व की अवधि में किसी सार्वजनिक धर्मार्थ कार्यों के लिए तथा दो वर्ष पूर्व की अवधि में किसी अन्य कार्य के लिए दिए गए हों। अब यह अवधि ५ वर्ष की कर दी गई है।

(२) यह कर सब प्रकार की चल और अचल, खेतो की और दूसरे प्रकार की सम्पत्ति पर वसूल किया जायेगा। इसमें किसी व्यक्ति की विदेशों में रखी चल पूँजी भी सम्मिलित होगी, यद्यपि विदेशों में स्थित अचल पूँजी शामिल नहीं होगी।

(३) कुछ रकमों को सम्पत्ति कर से छूट दी जाएगी, परन्तु कर की दर निश्चित करते समय सम्पत्ति के मुख्य मूल्यांकन में उन्हें सम्मिलित किया जायेगा। ऐसी रकमें ये हैं : —

(क) सार्वजनिक धर्मार्थ कार्यों के लिए मृत्यु से छः महीने के भीतर दिए गए २५०० रुपये तक के दान, (ख) अन्य कार्यों के लिए मृत्यु से दो वर्ष के भीतर दिये गए १५०० रुपये तक के दान, (ग) सम्पत्ति कर के भुगतान के लिए की पालिसी से मिली वे रकमें, जो भुगतान किए जाने वाले कर की रकम के बराबर सरकार के नाम की हुई हों और पचास हजार रुपये से अधिक न हों, (घ) सम्पत्ति कर के भुगतान के लिये सरकार के पास जमा किया गया, कर की मात्रा तक, पचास हजार से कम रुपया, (ङ) मृत व्यक्ति के बीमे का पाँच हजार तक रुपया, (च) बीमे या ट्रस्ट की घोषणा या समझौते के द्वारा किसी उस सम्बन्धी लड़की के विवाह के लिए निकाला गया ५००० तक रुपया जिसको कि मृतक ने पाला है।

ये सब रकमें कर लगाते समय कुल सम्पत्ति के मूल्य में शामिल की जायेंगी, परन्तु इन पर स्वयं एक हिसाब से 'रिबेट' दिया जायेगा।

(४) कुछ रकमों को मृत्यु कर के लिए सम्पत्ति का मूल्य आँकते समय सम्मिलित नहीं किया जाएगा, बल्कि सम्पत्ति के कुल मूल्य में से घटा दिया जायेगा। ये रकमें निम्नलिखित हैं :—(क) एक हजार रुपयों तक क्रिया-कर्म का खर्च, (ख) वास्तविक ऋण तथा दूसरी रकमें जो मृतक को देनी थी, (ग) पति की सम्पत्ति में जीवन काल के लिए पत्नी का भाग, (घ) विदेशी सम्पत्ति के प्रबन्ध या वसूली में सम्पत्ति के मूल्य के पाँच प्रतिशत तक होनेवाला खर्च।

(५) कर को प्रतिशील दर पर लगाया गया है। ५०,००० रु० तक की सम्पत्ति पर कर नहीं लिया जाता और इससे ऊपर की सम्पत्ति के कर की दरें ये हैं—

५०,००० रु० से १ लाख रुपये तक	५ प्रतिशत
१ लाख ,, ,, १½ ,, ,, ,,	७½ ,,
१½ ,, ,, ,, २ ,, ,, ,,	१० ,,
२ ,, ,, ,, ३ ,, ,, ,,	१२½ ,,
३ ,, ,, ,, ५ ,, ,, ,,	१५ ,,
५ ,, ,, ,, १० ,, ,, ,,	२० ,,
१० ,, ,, ,, २० ,, ,, ,,	२५ ,,
२० ,, ,, ,, ३० ,, ,, ,,	३० ,,
३० ,, ,, ,, ५० ,, ,, ,,	३५ ,,
५० ,, से ऊपर	४० ,,

(६) यदि एक मृत्यु के बाद तीन महीनों के भीतर सम्पत्ति के दूसरे स्वामी की मृत्यु हो जाय, तो ऐसी दशा में केवल पहली मृत्यु पर ही सम्पत्ति कर लिया जायेगा।

(७) सम्पत्ति कर की दरें आय-कर की दरों की भाँति प्रति वर्ष ही संसद द्वारा निश्चित की जायँगी।

इस कर की तरह तरह की आलोचनाएँ की गई हैं। इसमें से एक आलोचना यह है कि यह पूँजी निर्माण में कमी लाएगा और इसका बचत तथा विनियोग पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। पूँजीपति अपने धन को ऐसी जगह नहीं लगाना चाहेंगे जहाँ उसका मूल्यांकन आसानी से किया जा सके बल्कि वे उसे सोना चाँदी या नकदी के रूप में रखना चाहेंगे जिससे उनकी सम्पत्ति का सरकार को पता न लगे और वह कर वसूल न कर पाए। और यह देश के उद्योग धंधों तथा व्यापार के हित में नहीं है। परन्तु ऐसा समझना कुछ ठीक नहीं जान पड़ता। यह कर बहुत अच्छा समझा जाता है।

नोट—यह कर केन्द्रीय सरकार द्वारा ही लगाया गया है और वही इसे एकत्र करेगी। परन्तु विधान के अनुसार प्रशासन के खर्च को छोड़कर इसकी सारी आय प्रांतों में बाँट दी जाएगी। भारतीय विधान के अनुसार पहले केन्द्र को कृषि-भूमि पर कर लगाने का अधिकार नहीं था परन्तु राज्य सरकारों ने एक एक करके इस अधिकार को अब केन्द्र को दे दिया है, और ऐसा करना उन सरकारों के हित में ही है, क्योंकि मृत्यु कर की आय राज्य सरकारों में ही तो बँट जाती है। इस कर से अभी सरकार को बहुत कम आय प्राप्त होती है, परन्तु इससे भविष्य में बहुत आय मिलने की आशा की जाती है।

सम्पत्ति-कर (Tax on Wealth)—यह एक नया कर है जो १ अप्रैल १९५७ से लगा है। हर एक व्यक्ति, हर एक हिन्दू अविभाजित परिवार और हर एक कम्पनी को अपनी सम्पत्ति पर सालाना कर देना पड़ता है। व्यक्तियों की २ लाख से कम सम्पत्ति पर और हिन्दू अविभाजित परिवार की ३ लाख से कम सम्पत्ति पर यह कर नहीं लगता। परन्तु इससे आगे की दस लाख की सम्पत्ति पर ½ प्रतिशत, इससे भी आगे की दस लाख की सम्पत्ति पर १ प्रतिशत और शेष सम्पत्ति पर १½ प्रतिशत की दर से कर देना पड़ता

है। कम्पनियों की ५ लाख से कम की सम्पत्ति पर यह कर नहीं लगता—शेष सब सम्पत्ति पर ½ प्रतिशत की दर से कर लगता है। कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें कर से छूट दी गई हैं,—जैसे कृषिक सम्पत्ति, धार्मिक संस्थाओं की सम्पत्ति, कला की वस्तुएँ, निजी फर्नीचर, मोटरकार, ज्वैलरी इत्यादि २५,००० रु० तक की कीमत की सम्पत्ति। यह कर केवल मालदारों पर लगता है। इस तरह इस कर का मुख्य उद्देश्य यह हुआ कि अमीरों तथा गरीबों की विषमता के अन्तर में कमी आए और समाजवाद की ओर कदम बढ़े।

व्यय कर (Tax on Expenditure)—यह कर भी १९५७ में घोषित हुआ था और १ अप्रैल १९५८ से कार्यान्वित हो गया। यह एक नया कर है जो और कहीं देखने में नहीं आता। इसका उद्देश्य दिखावे के फिजूल खर्च को कम करना और बचत को बढ़ाना है। यह कर व्यक्तियों और हिन्दू अविवाहित परिवारों पर, जिनका खर्च ६०,००० रु० से ऊपर हो, लगता है। हर एक व्यक्ति और उसकी पत्नी के लिए २५,००० रु० और हर एक आश्रित बच्चे के लिए ५,००० रु० तक की छूट दी जाती है और शेष व्यय पर कर लगता है। १०,००० रु० तक के खर्च पर १०% कर लगता है और इससे अधिक खर्च पर प्रगतिशील दर से कर बढ़ता जाता है। क्योंकि यह कर मालदारों पर ही लगता है तो इसका उद्देश्य भी अमीरों तथा गरीबों की विषमता को दूर कर समाजवाद की ओर कदम बढ़ाना ही हुआ।

रेलवे टिकटों पर कर (Tax on Railway Passenger Fares)—१९५७-५८ के बजट में सरकार ने अपनी आय को बढ़ाने का एक स्रोत यह निकाला है कि जितना रेल का किराया पहले लगता था उस पर अतिरिक्त कर और लगा दिया। इसकी दर इस प्रकार होगी—३०मील तक के सफर पर ५% ३१ मील से ५०० मील तक के सफर पर १५% और इससे ऊपर के सफर पर १०%। इस कर से ७ करोड़ रुपये की वार्षिक आय होने की आशा की जाती है, (जो द्वितीय वित्त कमीशन के सुझाव के अनुसार राज्यों में वितरित कर दिया जायगा)।

उपहारों पर कर (Tax on Gifts —ऐसा कर अब तक यू० एस० ए०, कनेडा, जापान और आस्ट्रेलिया में पाया जाता था परन्तु १९५८-५९ के बजट में हमारी सरकार ने भी इस कर की शरण ली है। एक साल में १०,००० रु० तक की कीमत के उपहार कर मुक्त होंगे और यदि एक साल में दिए गए कुल उपहार की रकम १०,००० रु० से ऊपर हो जाती है तो उस अतिरिक्त रकम पर टैक्स लगेगा। इस १०,००० रु० वाली रकम के छूट के अतिरिक्त कुछ छूटें और भी दी गई हैं जैसे—केन्द्रीय, प्रान्तीय, स्थानीय और दानवाली संस्थाओं को दिए गए उपहार, स्त्री आश्रितों को विवाह के समय पर दिए गए उपहार, इत्यादि, इत्यादि।

इस कर की दर मृत्यु-कर की दर के समान ही होगी। अन्तर केवल इतना है कि मृत्यु-कर की दर में पहिले ५०,००० रु० की रकम कर मुक्त है परन्तु उपहार कर में ऐसा नहीं रक्खा गया है। इस कर में दर ४ प्रतिशत से लेकर ४० प्रतिशत (जो ५० लाख के ऊपर के उपहारों पर लगती है) तक की है। उपहार कर के लगाने का विशेष कारण यह है कि मृत्यु कर से बचने के लिए लोग उपहार के रूप में सम्पत्ति का हस्तान्तरण कर देते

थे। अब उनको इस प्रकार के हस्तान्तरण पर भी कर देना पड़ेगा। यह कर हरएक व्यक्ति, हरएक अविभाजित हिन्दू परिवार तथा हरएक प्रकार की कम्पनी को देना पड़ेगा। इस स्रोत से ३ करोड़ रुपये की वार्षिक आय की आशा की जाती है।

अफीम कर (Opium Duty)—सरकार ने अफीम (पोस्त) की खेती करने, और इसे बनाने और बेचने का पूर्ण अधिकार अपने पास रखा है। सरकार से लाइसेंस मिलने पर ही पोस्त की खेती की जा सकती है जो पैदा करने के बाद सरकार को ही बेचनी होती है। सरकारी कारखानों में ही अफीम तैय्यार भी की जाती है। और इसके बेचनेवालों को अधिकार प्राप्त करने के लिए जो फीस देनी होती है, या इसके बेचने पर या इसके निर्यात करने पर जो कर लगाए जाते हैं, उन सबसे जो आय होती है वह सरकार को मिलती है। पहले अफीम बड़ी मात्रा म तैय्यार की जाती थी और इसका अधिकांश भाग चीन को निर्यात कर दिया जाता था सरकार को इससे लगभग ८ करोड़ रुपये की आय होती थी। परन्तु १९३५ से अफीम की उत्पत्ति कम कर दी गई है और इसका चीन को निर्यात बन्द कर दिया गया है, क्योंकि इससे चीनियों के स्वास्थ्य और चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ता था, और इस स्रोत से आय अब पहिले से बहुत कम हो गई है। तो भी १९५८-५९ में इस कर से लगभग २½ करोड़ रु० की आय की आशा की जाती है।

ब्याज (Interest)—जो ऋण केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों, विदेशी सरकारों तथा देश म उद्योग धंधों को देती है, उन पर उसे प्राय ब्याज मिलता है। इस प्रकार जो आय होती है वही इस मद म आती है। १९५८-५९ में इस मद से ६ करोड़ ६० लाख की आय के होने की आशा की जाती है।

नागरिक प्रशासन (Civil Administration)—यों तो यह मद केवल खर्चे की ही है, परन्तु राज्य के लोगों को न्याय आदि देने के सम्बन्ध में फीस और जुर्माने, और परीक्षा, लाइसेंस व चिकित्सा आदि की फीस के रूप म केन्द्रीय सरकार को कुछ आय भी प्राप्त होती है, उस आय से ही यहाँ मतलब है।

मुद्रा व टकसाल (Currency and Mint)—रिजर्व बैंक का १ जनवरी १९४९ को राष्ट्रीयकरण हो गया था। अब उसके द्वारा नोट छापने और सरकार की ओर से टकसाल में सिक्के बनाने से जो शुद्धलाभ होता है वह सरकार को मिलता है। (बैंक के राष्ट्रीयकरण से पहले भी बैंक के हिस्सेदारों को ३½ प्र० श० लाभ देकर शेष सरकार स्वय ले लेती थी।) इसी आय से यहाँ मतलब है। १९५८-५९ में इस स्रोत से सरकार को ३९ ६२ करोड़ रुपये के मिलने की आशा है।

सार्वजनिक निर्माण कार्य (Civil Works)—केन्द्रीय सरकार जिन इमारतों, नहरों आदि सार्वजनिक कार्यों की स्वामी है उनसे भी उसे कुछ आय प्राप्त होती है। १९५८-५९ में इस मद म २ करोड़ ८७ लाख रु० आय के होने का अनुमान है। (इस मद पर व्यय इससे कहीं अधिक होता है। बजट म 'व्यय' भाग को देखिए।)

डाक व तार (Posts and Telegraphs)—यह आय का कोई महत्वपूर्ण साधन नहीं है। डाक और तार पर केन्द्रीय सरकार का एकाधिकार अवश्य है, परन्तु

ऐसे अधिकार जनता की सुविधा तथा लोक कल्याण के लिए ही होते हैं, न कि लाभ कमाने के लिए। तो भी डाक व तार से सरकार को प्रतिवर्ष कुछ आय प्राप्त होती है, उसी से यहाँ तात्पर्य है। १६५७-५८ के बजट में पोस्टकार्ड, अन्तर्देशीय पत्र, लिफाफे, रजिस्ट्री, तार आदि सबके दामों में वृद्धि कर दी गई है। इस स्रोत से अब कुछ आय बढ़ जाएगी।

रेलें (Railways)—केन्द्रीय सरकार को रेलों से होनेवाले लाभ का भी एक भाग मिलता है। सन् १६५० की रेलवे कन्वेन्शन के अनुसार अब केन्द्रीय सरकार को रेलों में लगी पूँजी पर ४ प्रतिशत लाभ दिया जाता है। इसमें से लगभग ३½ प्रतिशत तो ब्याज के रूप में चला जाता है और शेष केन्द्रीय सरकार की आय में रेलों के अंशदान के रूप में शामिल हो जाता है। सन् १६५८-५६ में सरकार को रेलों से ७ करोड़ १५ लाख रु० की शुद्ध आय की आशा है।

आय के अन्य साधन (Other Sources of Revenue)—इस मद का उन सब असाधारण आयों से तात्पर्य है जिनके प्राप्त होने की सरकार को आशा होती है। उदाहरण के लिए भारत को पाकिस्तान से १६.२० करोड़ रुपये पिछले दो वर्षों में ऋण की वापसी के रूप में मिलने थे और यह रकम अनुमानित आय में दिखाई जाती रही है, यद्यपि पाकिस्तान ने इस रकम को दिया नहीं है।

व्यय की मदें
(*Items of Expenditure*)

कर इकट्ठा करने का व्यय (Direct Demands on Revenue)—केन्द्रीय सरकार को अपने द्वारा लगाए गए करों को एकत्र करने पर धन व्यय करना पड़ता है, जैसे इन्कम टैक्स विभाग, कस्टम्स आफिस आदि पर व्यय। १६५८-५६ में इस मद पर ६४ करोड़ ४५ लाख रु० के व्यय का अनुमान लगाया गया है। यह खर्च बहुत अधिक है और बराबर बढ़ता जा रहा है। इसमें मितव्ययिता की आवश्यकता है।

सेना का व्यय (Defence—Military Expenditure)—केन्द्रीय सरकार के कुल व्यय का एक बहुत बड़ा भाग देश की सुरक्षा सम्बन्धी सेवाओं पर व्यय होता है। यह १६३६-४० में लगभग ५५ करोड़ रु० के बराबर था। द्वितीय महायुद्ध में और उसके बाद यह लगभग ३६० करोड़ रु० सालाना हो गया था। देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात् यह व्यय युद्धकाल जितना तो नहीं रहा है, परन्तु फिर भी इसमें विशेष कमी नहीं की जा सकी है। अब भी जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका का रक्षा व्यय कुल व्यय का २५ प्रतिशत है और रूस का १७ प्रतिशत, भारत का रक्षा व्यय कुल व्यय का ४५ प्रतिशत है। यहाँ प्रतिवर्ष लगभग २५० करोड़ रु० देश की रक्षा पर व्यय किये जाते हैं, जो भारत जैसे निर्धन देश के लिए बहुत अधिक है। इससे देश की आर्थिक उन्नति और सामाजिक कल्याण की सेवाओं के विकास के लिए बहुत कम धन सरकार के पास बचता है। अतः किसी प्रकार इस व्यय को कम करने की आवश्यकता है। परन्तु अभी तक यह सम्भव नहीं हो सका है। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद से अब तक अन्तर्राष्ट्रीय अवस्था ठीक नहीं रही है। सारे संसार में अब

तक तीसरे विश्वयुद्ध का भय भी बना रहा है। उधर पड़ोसी देश पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे हैं। काश्मीर का झगड़ा, हैदराबाद में पुलिस कार्यवाही, कई सौ मील लम्बी उत्तर पश्चिमी सीमा की रक्षा, कोरिया युद्ध आदि पर सरकार को बहुत व्यय करना पड़ रहा है। साथ ही देश की वायु सेना, थल सेना और नौ सेना को हर प्रकार से मजबूत करने के लिए अभी कई वर्षों तक बहुत अधिक व्यय की आवश्यकता है। अतः जब तक विश्व में शान्तिमय वातावरण नहीं फैलता, इस मद पर व्यय को कम करना भी सम्भव नहीं है।

नागरिक प्रशासन (Civil Administration)—रक्षा व्यय के पश्चात् सरकार का सबसे अधिक व्यय नागरिक प्रशासन पर होता है। इस मद में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित हैं (१) लोकसभा व राजसभा का व्यय, (२) मन्त्रिमंडल का व्यय, (३) मन्त्रालयों अर्थात् भारत सरकार के विभिन्न मन्त्रियों के दफ्तरों का व्यय, (४) भारत के प्रधान व उपप्रधान का व्यय, (५) विदेशों में राजदूतावासों का व्यय, (६) सुप्रीम न्यायालय का व्यय, (७) आडिट और एकाउन्टस विभागों का व्यय और (८) यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन का व्यय। ऊपर लिखित व्यय में विभिन्न पदाधिकारियों और कर्मचारियों के वेतन, ऊपर खर्च व अन्य भत्ते तथा उनके दफ्तरों के खर्चे सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा, चिकित्सा व स्वास्थ्य आदि पर केन्द्रीय सरकार द्वारा किया गया व्यय भी इसी मद के अन्तर्गत आता है।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इस मद पर केवल ११ करोड़ रुपये खर्च होते थे। युद्धकाल में बहुत से दफ्तरों के बढ़ने और मूल्यवृद्धि के कारण वेतन व भत्ते आदि में भी वृद्धि होने से यह रकम ६० करोड़ रुपये हो गई थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् यह व्यय और भी बढ़ गया है। १९५८-५९ में इस मद पर २०० करोड़ ४४ लाख रुपये खर्च होने का अनुमान है। इस वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि अब लोकसभा व राजसभा के सदस्यों की संख्या, मन्त्रियों और उनके आधीन काम करनेवाले अफसरों और कर्मचारियों की संख्या, तथा विदेशों में दूतावासों की संख्या में बहुत वृद्धि हो गई है। इस मद पर व्यय में बहुत अधिक मितव्ययिता की आवश्यकता है, क्योंकि भारत जैसा निर्धन देश इतने मँहगे प्रशासन का भार सहन नहीं कर सकता और उसे राष्ट्र निर्माण के कार्यों के लिए अधिक से अधिक धन की आवश्यकता है। भिन्न भिन्न जाँच आयोगों ने इस बात की ओर सरकार का ध्यान दिलाया है और सरकार ने भी इस मद पर व्यय में कमी करने की आवश्यकता को स्वीकार किया है। परन्तु वास्तव में इस दिशा में कुछ काम नहीं हो पाया है। सरकार को चाहिए कि वह इस ओर शीघ्र ध्यान दे।

ऋण पर व्याज (Debt Services)—केन्द्रीय सरकार ने समय-समय पर बहुत सार्वजनिक कार्यों के लिए और युद्ध जैसे संकट के समय देश के लोगों से तथा विदेशों से ऋण लिया है। इस समय सरकार का ऋण लगभग ३००० करोड़ रुपया है और इस पर १९५८-५९ में ४० करोड़ रुपये व्याज के रूप में दिये जाने का अनुमान है। (यह उस व्याज के अतिरिक्त है जो अन्य व्यापारिक व्यवसायों के लिए गए उत्पादक ऋणों पर दिया जाता है, क्योंकि ये व्यवसाय अपना व्याज स्वयं ही अपनी आय में से देते हैं।)

राज्यों को ग्रायट आदि (Grants to States)—केन्द्रीय सरकार प्रतिवर्ष राज्य सरकारों को कुछ रुपया स्वास्थ्य, शिक्षा, मकानों की व्यवस्था, सड़क बनवाने बाढ या अकाल रोकने आदि विशिष्ट या स्वीकृत योजनाओं के लिए सहायक अनुदान के रूप में देती है। १६५८–५६ में इस मद पर सरकार का ४७ करोड़ रु० के व्यय का अनुमान है।

शरणार्थियों पर व्यय (Expenditure on Refugees)—१६४७ में देश का विभाजन होने पर लाखों की संख्या में लोग पाकिस्तान से भारत में शरणार्थी बनकर आये। इन उजड़े हुए लोगों को फिर से बसाने पर केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों को बहुत सा धन खर्च करना पड़ रहा है। अब तक केन्द्रीय सरकार इस मद पर १०६ करोड़ ६७ लाख रुपया व्यय कर चुकी है। परन्तु व्यय का यह मद अस्थायी है। शरणार्थियों के पुनर्निवास का कार्य लगभग समाप्त हो चुका है और शीघ्र ही सरकार का इस मद पर व्यय कम होकर समाप्त हो जाएगा।

खाद्यान्न की सहायता (Subsidies on Foodgrains)—भारत में कई वर्षों से खाद्यान्न की कमी रही है। पाकिस्तान बनने के बाद से यह कमी और भी बढ़ गई है। अतः इस कमी को पूरा करने के लिए प्रति वर्ष ही करोड़ों रुपयों का अनाज विदेशों से मँगवाया जा रहा है। और चूँकि इस आयात किये हुए अनाज का मूल्य देश में अनाज के प्रचलित मूल्य से बहुत ऊँचा होता था, जब कि सरकार इस अनाज को भी उसी नीचे मूल्य पर बेचना चाहती थी, इसीलिए केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को अर्थ सहायता देती थी। १६५१–५२ में यह सहायता १८·६६ करोड़ रुपये थी और १६५२–५३ में २१·१ करोड़ रु०। १६५३–५४ में इस मद पर सरकार को केवल १·७७ करोड़ रु० व्यय करने पड़े और और १६५४–५५ में न होने के बराबर, क्योंकि अब देश पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत खाद्यान्न की उत्पत्ति में वृद्धि के कारण आत्मनिर्भर हो गया है, और खाद्यान्न बाहर से मँगाने की और इस पर अर्थ सहायता देने की आवश्यकता नहीं रह गई है।

पेन्शन (Pensions)—केन्द्रीय सरकार के कर्मचारी रिटायर होने पर पेन्शन पाते हैं। सरकार का जो इस मद पर खर्चा होता है उससे ही यहाँ मतलब है।

सार्वजनिक निर्माण कार्य (Civil Works)—केन्द्रीय सरकार प्रतिवर्ष राष्ट्रीय राजमार्गों, इमारतों आदि सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर भी रुपया व्यय करती है। १६५८–५६ में इस मद पर १८ करोड़ ७१ लाख रु० के व्यय होने का अनुमान है।

सिंचाई (Irrigation)—सरकार को प्रतिवर्ष सिंचाई की बड़ी बड़ी योजनाओं पर भी रुपया व्यय करना पड़ता है। १६५८–५६ में केन्द्रीय सरकार का इस मद पर १३ करोड़ रुपया व्यय होने का अनुमान है। (यों तो सिंचाई प्रांत का मद है और साधारणतया प्रांत ही इस पर रुपया खर्च करते हैं। केन्द्रीय सरकार का यह असाधारण व्यय उसके अतिरिक्त है।)

करेन्सी और मिंट (Currency and Mint)—रिजर्व बैंक द्वारा नोट छापने और सरकार की ओर से टकसाल में सिक्के बनवाने में जो व्यय होता है, वह इस मद में सम्मिलित है। १९५८-५९ में इस पर ८ करोड़ ५० लाख रु० व्यय होने का अनुमान है।

विशेष असाधारण मदें (Extraordinary Items)—ऊपर दिये मदों के अतिरिक्त सरकार का अन्य असाधारण मदों पर जो व्यय होता है, उसी से यहाँ मतलब है। इस मद पर १९५८-५९ में २८ करोड़ ४० लाख रुपया व्यय होने का अनुमान है।

उत्तर प्रदेश राज्य का बजट

(U. P Budget)

१९५६-५७

आय के मद	अनुमानित अंक (लाख रुपयों में)	व्यय के मद	अनुमानित अंक (लाख रुपयों में)
मालगुजारी (Land Revenue)	२२,०४	कर प्राप्ति का व्यय (Direct Demands on Revenue)	९,५९
कृषि आय कर (Agricultural Income Tax)	१,००	नागरिक शासन (Civil Administration) :—	
प्रान्तीय आबकारी कर (Provincial Excise)	४,९३	शासन (Administration) व न्याय (Justice)	७,७३
मनोरंजन कर (Entertainment Tax)	७४	जेल (Jails)	१,३१
बिक्री कर (Sales Tax)	५,३५	पुलीस (Police)	८,१०
स्टाम्पस (Stamps)	२,७३	शिक्षा (Education)	१२,८१
जंगल (Forests)	३,९०	चिकित्सा (Medicine) व स्वास्थ्य (Health)	५,७५
मोटर कर (Motor Tax)	१,१५	कृषि (Agriculture)	३,९८
सिंचाई (Irrigation Receipts)	२,६४	पशु चिकित्सा (Animal Husbandry)	१,७५
नागरिक शासन (Civil Administration)	११,२१	सहकारिता (Co operative Societies)	१,०७
उत्तराधिकार कर (Estate Duty)	३६	उद्योग धन्धे (Industries)	५,४३
बिजली कर (Electricity Duty)	६०	सिंचाई (Irrigation)	५,२८
गन्ने पर कर (Sugarcane Duty)	३,५०	सूद (Interest)	५,६५
आय कर का अंश कार्पोरेशन कर को छोड़कर) (Share of Income Tax)	८,५०		

आय के मद	अनुमानित अंक
	(लाख रुपयों में)
केन्द्रीय उत्पत्ति कर का अंश (Share of Central Excise Duties)	३,३२
सिविल निर्माण कार्य (Civil Works)	१,४५
विद्युत् योजनाएँ (Electricity Projects)	६५
केन्द्रीय सरकार की सहायता (Grants by Central Govt.)	४,५४
विविध (Miscellaneous)	१ ६८
कुल आय (Total Revenue)	८५,३६
बचत या घाटा (±)	६,५५
	६४,६१

व्यय के मद	अनुमानित अंक
	(लाख रुपयों में)
सिविल निर्माण कार्य (Civil Works)	५,१७
बिजली की योजनाएँ (Electricity Projects)	१,१६
विविध (Miscellaneous)	८,०६
आयोजन (Planning)	७,५४
कुल व्यय (Total Expenditure)	६४,६१

१९५६-५७ के वास्तविक आय और व्यय (Actual receipts and expenditure) इस प्रकार थे :—

आय ८६,६६ लाख
व्यय ८६,५४ „
बचत + १२ „

१९५७-५८ के उत्तर प्रदेश बजट के परीक्षित अनुमान (Revised estimates) इस प्रकार थे :—

आय ९९,८६ लाख
व्यय १०३,९३ „
घाटा − ४,०७ „

और १९५८ ५९ के उत्तर प्रदेश के अनुमानित आँकड़े (Budget estimates) इस प्रकार हैं :—

आय १०८ करोड़ २३० लाख
व्यय ११२ „ ७७ „
घाटा ४ करोड़ ५४ „

प्रायः अन्य प्रान्तों या राज्यों की आय व्यय की मदें भी इसी प्रकार हैं। इनकी मुख्य मदों का विवरण नीचे दिया जाता है :—

आय के स्रोत
(Sources of Revenue)

मालगुजारी (Land Revenue)—यह कर हमारे देश में राज्य-सरकारों की आय का प्राचीन काल से एक महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। अँगरेजी राज्य में भी बहुत काल

तक आय का यही प्रमुख साधन समझा जाता था। द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद के काल में राज्यों में अनेक नए करों के लगने के कारण इसका महत्त्व कुछ कम हो गया; किंतु फिर भी राज्य सरकारों की कुल आय का लगभग २० प्रतिशत भाग इस कर से ही प्राप्त होता है।

इस समय अधिकांश राज्यों में जमींदारी का उन्मूलन हो गया है। इसके फलस्वरूप हम यह आशा कर सकते हैं कि मालगुजारी से राज्यों की आय बढ़ेगी, क्योंकि पहले जो आय जमीन के मालिकों को होती थी, उसका अब एक बड़ा भाग राज्यों को और कुछ भाग किसानों को मिलेगा, यद्यपि इस अतिरिक्त आय का अधिकांश भाग जमींदारों को प्रतिफल (compensation) देने में चला जायेगा और ४० वर्षों तक सरकार को इससे बहुत नहीं मिलेगा।

आय के स्रोत के रूप में मालगुजारी का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह अत्यन्त बेलोच है—वस्तु का मूल्य बढ़ने पर मालगुजारी में वृद्धि नहीं होती; क्योंकि यह एक लम्बे समय के लिए एक बार ही निश्चित कर दी जाती है। इसके अतिरिक्त यह कर प्रतिगामी है और न्याय तथा 'कर देने की योग्यता के सिद्धान्त के अनुसार नहीं लगाया जाता। यह कर छोटे और बड़े भू स्वामियों पर एक सा लगाया जाता है और बहुत छोटे भू स्वामियों को भी इस कर से छूट नहीं दी गई है।

कृषि आयकर (Agricultural Income Tax)—भारत के केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किए जानेवाले आयकर कृषि आय पर लागू नहीं होते। भारत सरकार के १९३५ के कानून के अनुसार राज्य सरकारों को कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार सर्वप्रथम मिला था और तभी से राज्यों में इस कर का लगाना शुरू हुआ। इस प्रकार का कर सबसे पहले बिहार ने १९३८ में लागू किया। वर्तमान समय में बिहार, आसाम, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, हैदराबाद, राजस्थान और त्रिवांकुर कोचीन में कृषि आय पर कर लगाया जाता है, जो निम्न प्रकार है—

	बिहार	बंगाल	आसाम	उत्तर प्रदेश
न्यूनतम रकम जिस पर कर नहीं लगता	रु० ५०००	रु० ३०००	रु० ३०००	रु० ३०००
पहले १५०० रु० की आय पर	कुछ नहीं	कुछ नहीं	कुछ नहीं	कुछ नहीं
दूसरे २५०० " " " " प्रति रु०	-)	)॥।	)॥।	-)
" ५००० " " " " " "	=)	-)।	-)।	=)
" ५००० " " " " " "	≡)॥।	=)	=)॥।	≡)॥।
" ५००० " " " " " "	)॥।	≡)	)।	।-)
" ५००० या उससे अधिक आय पर प्रति रु०	।-)	।)	।)	।-)

(प्रान्तीय) आबकारी कर (Provincial Excise Duty)—भारतीय विधान के अनुसार देशी शराब, ताड़ा गाँजा, भाँग, अफीम आदि मादक वस्तुओं पर उत्पत्ति कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारों को है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व यह कर राज्य सरकारों की आय का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्रोत रहा है। १९३८-३९ में सब प्रान्तों की कुल आय का २२ प्रतिशत भाग इस मद से प्राप्त हुआ था। युद्ध काल में इससे आय और भी अधिक बढ़ गई थी। परन्तु जब से विभिन्न प्रान्तों में मद्य निषेध (Prohibition) की नीति को अपनाया गया है, इस साधन की आय कम हो गई है। मद्रास में १९४- में तथा बम्बई में १९५० में पूर्ण मद्य निषेध की नीति को अपनाया गया, और उत्तर प्रदेश, देहली तथा अन्य कुछ राज्यों में इस नीति को आंशिक रूप में धीरे धीरे अब अपनाया जा रहा है। इस नीति को अपनाने से राज्यों के पास विकास योजनाओं पर व्यय करने के लिए धन की बहुत कमी रहने लगी है। इसीलिए योजना कमीशन ने राज्यों को अपनी मद्यनिषेध नीति में संशोधन करने और इसे धीरे चलाने का परामर्श दिया है।

बिक्री-कर (Sales Tax)—किसी वस्तु के विक्रय और क्रय पर राज्य सरकारों को कर लगाने का अधिकार है और जब नशाबंदी की नीति के लागू करने से आय में कमी होने लगी अर्थात् विकास योजनाओं की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पड़ने लगी तो अनेक राज्य-सरकारों को इस कर का आश्रय लेना पड़ा। मद्रास ने सबसे पहले १९३९में बिक्री कर लगाया। आज के दिन सभी राज्यों में यह कर लागू है, और राज्यों की आय का मुख्य साधन बन गया है।

यह कर दो प्रकार से लागू होता है —(१) एक-स्थानीय बिक्री कर (Single-Point-Sales Tax) जिसके अन्तर्गत उत्पादक से उपभोक्ता तक माल पहुँचने की सारी प्रक्रिया में केवल एक बार कर लगाया जाता है, और या तो आरम्भ में उत्पादक से उत्पादित माल बेचते ही वसूल कर लिया जाता है या अंत में फुटकर विक्रेता से उपभोक्ता को माल बेचते समय वसूल किया जाता है और (२) बहु स्थानीय बिक्री कर (Multi point Sales Tax) जिसके अन्तर्गत यह कर बिक्री की हर श्रेणी पर लागू होता है, और उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुँचने तक सारी प्रक्रिया में माल पर अनेक बार कर वसूल किया जाता है। इस प्रणाली में कर की दर प्रथम प्रणाली की दर से कम रहती है और कर कम चुराया जा सकता है, क्योंकि उत्पादक से उपभोक्ता तक माल पहुँचने में कर का चुराया जा सकना सम्भव नहीं है, परन्तु यह कर व्यापारियों और कर लगानेवाले अधिकारियों दोनों के लिए ही बहुत असुविधाजनक है। भारत में दोनों प्रणालियों के अनुसार यह कर लगाया जाता है। दूसरी प्रणाली मद्रास बम्बई, हैदराबाद तथा मैसूर में और प्रथम प्रणाली पश्चिमी बंगाल, पंजाब, मध्यभारत और दिल्ली में लागू है। उत्तर प्रदेश में कुछ वस्तुओं पर प्रथम प्रणाली के अनुसार और अन्य वस्तुओं पर दूसरी प्रणाली के अनुसार कर लगाया जाता है। परन्तु चाहे किसी भी प्रणाली के अनुसार लगाया गया हो, बिक्री कर का द्रव्य भार केवल उपभोक्ता पर ही पड़ता है, क्योंकि दूकानदार कर की रकम को मूल्य के साथ ही ग्राहक से वसूल कर लेते हैं। जहाँ तक बिक्री कर की दर का सम्बन्ध है, यह विभिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न है, परन्तु सामान्य रूप से यह कहा जा सकता

है कि आवश्यक पदार्थों पर कर की दर कम तथा विलासिता की वस्तुओं पर उससे अधिक होती है।

यह कर बहुत अच्छा नहीं समझा जाता। यह एक परोक्ष कर है और इसलिए इस बात की कोई सम्भावना नहीं कि इसको प्रगतिशील बनाया जा सके। प्रत्येक विक्रेता को चाहे उसकी वास्तविक आय कुछ भी क्यों न हो तथा प्रत्येक उपभोक्ता को चाहे उसकी कर देने की योग्यता कुछ भी हो, यह कर एक ही दर पर देना पड़ता है और इस प्रकार इस कर का भार निर्धनों पर अधिक पड़ता है। दूसरे इससे दोहरे करारोपण की सम्भावना भी रहती है जब कोई वस्तु ऐसी हो जो प्रत्यक्ष उपयोगिता भी देती हो और किसी वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त की जाती हो तो एक ही वस्तु की बिक्री पर कर दो बार लग सकता है। ऐसा दोहरा करारोपण देश के औद्योगिक विकास को आघात पहुँचाता है। फिर कर का शासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुत हैं। विक्रेता इसके देने में बेइमानी कर जाते हैं। उनको हिसाब इत्यादि रखने में असुविधा भी बहुत होती है। और इसके उपरान्त सब राज्यों में बिक्री कर एक सा न होने के कारण दो राज्यों के बीच व्यापार होने में रुकावट पड़ती है, इत्यादि, इत्यादि।

इन दोषों का कुछ उपाय करने की कोशिश भी की जा रही है। केन्द्रीय सरकार इन पर विशेष ध्यान दे रही है कि सब प्रान्तों में एक सा कर हो, दो प्रान्तों के बीच के व्यापार में यह बाधक न हो, जीवन रक्षक पदार्थों पर यह कर न लगे, इत्यादि, इत्यादि।

स्टाम्प कर (Stamps Duty)—यह भी राज्यों की आय का एक अच्छा मद है। यह दो प्रकार का होता है—न्यायिक (Judicial) और व्यापारिक (Commercial) पहला प्रकार का स्टाम्पकर न्यायालय में मुकद्दमे लड़ाने पर लगता है और दूसरा प्रकार का स्टाम्प कर बिल्लों आदि पर लगता है। (यहाँ स्टाम्प से मतलब डाकखाने के उन स्टाम्पों से नहीं है, जो केन्द्रीय सरकार अपने पोस्ट और टेलीग्राफ स्रोत से वसूल करती है। ये दोनों अलग अलग चीज़ें हैं।)

मनोरंजन कर (Entertainment Tax)—यह कर सिनेमा, थियेटर, सर्कस, घुड़दौड़ आदि मनोरंजन के साधनों की टिकटों पर (दो आने का टिकटों से नीचे को छोड़कर) लगाया जाता है, और टिकट की दर के साथ कर की दर भी बढ़ती जाती है। इस मद से प्राप्त होनेवाला आय सिनेमा के प्रचार के साथ साथ बढ़ता जा रहा है। यह कर न्यायसंगत और सुविधाजनक समझा जाता है, क्योंकि यह विलासिता पर कर है और परोक्ष होते हुए भी प्रतिगामी नहीं है।

रजिस्ट्री फीस (Registration Fee)—मसौदों के रजिस्टर करने पर, जैसे जायदाद खरीदने बेचने के समय, सरकार जो फीस लेती है वह राज्य सरकारों के पास जाती है, उसी से यहाँ मतलब है।

मोटर गाड़ियों पर कर (Motor Tax)—मोटर लारी, मोटर साइकिल, टैक्सी, कार आदि के लाइसेन्स जारी करने का फीस से भी राज्य सरकारों को कुछ आय होती है इस मद से लगभग १ करोड़ रुपया उत्तर प्रदेश सरकार को प्राप्त होता है।

जगलों, सिंचाई, व उद्योग धन्धों से आय (Forests, Irrigation, Industries etc)—राज्य सरकारें जगलों से प्राप्त इमारती व जलाने की लकड़ी व अन्य वस्तुएँ बेचती हैं। साथ ही वे नहरों व ट्यूब वैल्स से किसानों को जो पानी देता हैं, उसका उनसे मूल्य लेती हैं। और राज्य सरकारें जो अपने उद्योग चलाती हैं, उनसे उन्हें आय होती है। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश की सरकार मोटर बसों के चलाने से आय प्राप्त करती है।

आयकर का अश और केन्द्रीय उत्पत्ति कर का अश (Share of Income Tax and Share of Central Excise Duties)—वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार, राज्य सरकारों की आय बढ़ाने के लिए, केन्द्र से उनको कुछ रुपया मिलता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसी से यहाँ तात्पर्य है। आय कर से जो आमदनी केन्द्रीय सरकार को होती है उसका ५५ प्रतिशत (अब ६० प्रतिशत) प्रान्तों में बँट जाता है और इस भाग का कुछ प्रतिशत उत्तर प्रदेश राज्य को मिलता है। इसी प्रकार तम्बाकू, दियासलाई, वनस्पति घी इत्यादि पर लगे केन्द्रीय उत्पादन कर का कुछ प्रतिशत भाग प्रान्तों में बँट जाता है और इसका एक भाग उत्तर प्रदेश राज्य को भी मिलता है। (इसके बारे में "भारतीय वित्त व्यवस्था का इतिहास" शीर्षक पढ़िए।)

व्यय की मदें

(*Items of Expenditure*)

कर प्राप्ति पर व्यय (Direct Demands on Revenue)—मालगुजारी, बिक्री कर, आबकारी कर आदि उपरोक्त लिखित करों को एकत्र करने मे राज्य सरकारों को प्रतिवर्ष कई करोड़ रुपये व्यय करने पड़ते हैं। ऐसे खर्च ही इस मद में आते है।

नागरिक प्रशासन (Civil Administration)—केन्द्रीय सरकार की भाँति राज्य सरकारें भी अपनी आय का एक बड़ा भाग नागरिक प्रशासन पर व्यय करती है। इस मद के व्यय मे कई प्रकार के व्यय शामिल हैं, जैसे प्रजातन्त्र को चलाने का व्यय, शान्ति व व्यवस्था या पुलिस पर व्यय, राष्ट्रीय निर्माण कार्यों पर व्यय आदि, आदि।

प्रत्येक राज्य में प्रजातन्त्र को चलाने के लिए राज्यपाल और उसके कर्मचारियों, मन्त्रियों, ससद सचिवों, मन्त्रालयों और विधान सभा आदि पर व्यय करना पड़ता है। इसमें सभी पदाधिकारियों और कर्मचारियों के वेतन और भत्ते और दफ्तर का हर प्रकार का व्यय सम्मिलित है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यद्यपि राज्य पालों का व्यय कम हो गया है, परन्तु मन्त्रियों और राज्य विधान सभाओं का व्यय काफी बढ़ गया है।

पुलिस तथा जेल आदि पर प्रान्तीय सरकार को काफी व्यय करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र निर्माण के कार्यों पर भी उसे बहुत व्यय करना पड़ता है। जैसे, शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, पशु चिकित्सा, सहकारिता, उद्योग धंधे, वैज्ञानिक विभाग, ग्रामसुधार, सड़कें, बिजली योजनाएँ, सामूहिक विकास योजनाएँ इत्यादि, इत्यादि। यह सब मदें नागरिक प्रशासन मे आ जाती हैं। यद्यपि यह सब अत्यन्त आवश्यक कार्य हैं और इन पर ही समाज का कल्याण निर्भर है, तो भी इनके व्यय में मितव्ययिता की बहुत

अधिक आवश्यकता है। आवश्यकता इस बात की है कि सामान्य प्रशासन तथा सुरक्षा पर व्यय कम करके राष्ट्र निर्माण के कार्यों पर अधिक से अधिक मात्रा में धन व्यय किया जाये।

ब्याज (Interest)—यद्यपि राज्य सरकारें बहुत कम ऋण लेती हैं, फिर भी इस मद पर कुछ व्यय हो ही जाता है और उसी से यहाँ तात्पर्य है। पंचवर्षीय योजना के परिणाम स्वरूप पिछले दिनों इस मद पर प्रान्तों का खर्चा कुछ बढ़ गया है।

सिंचाई (Irrigation)—भूमि की सिंचाई के लिए सरकार को नहरें कुएँ, ट्यूब-वैल्स, तालाब आदि बनवाने पर भी काफी रुपया व्यय करना पड़ता है। उसी से यहाँ मतलब है।

अन्य मदों का विवेचन करने की कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती।

भारतीय वित्त व्यवस्था पर एक दृष्टि

(*Indian Public Finance—a Review*)

केन्द्रीय वित्त व्यवस्था—किसी देश की कर प्रणाली का प्रभाव उस देश के उत्पादन, वितरण, कार्य कुशलता बचत तथा पूँजी की बनावट इत्यादि बातों पर बहुत पड़ता है। यदि कर प्रणाली ठीक प्रकार की है तो उत्पादन शक्ति बढ़ेगी, धन के वितरण की असमानता कम होगी, लोगों की कार्य कुशलता बढ़ेगी और देश की बचत को भी प्रोत्साहन मिलेगा। इसके विपरीत यदि कर प्रणाली ठीक प्रकार की नहीं है, तो उसका इन सब बातों पर दूषित प्रभाव पड़ेगा। इसलिए हरएक सरकार इस बात का प्रयत्न करती है कि कर प्रणाली की व्यवस्था ऐसी की जाय कि जिससे हानि कम तथा लाभ अधिक हो। परन्तु यह सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसी देश की कर प्रणाली बिलकुल दोषों से खाली है। इस तरह भारत की कर प्रणाली में भी कुछ दोष हैं जिनका वर्णन हम नीचे करते हैं।—

(१) अब तक हमारे देश की कर प्रणाली में परोक्ष करों की बहुत अधिक प्रधानता थी, और प्रत्यक्ष कर बहुत कम थे, जो ठीक नहीं था—इससे कर प्रणाली न्याय संगत नहीं रहती, क्योंकि परोक्ष करों का भार अधिकतर निर्धन व्यक्तियों पर पड़ता है, जबकि प्रत्यक्ष करों का भार अधिकतर धनी व्यक्तियों पर। परन्तु पिछले सालों में भू-सुकर, सम्पत्ति कर, व्यय कर और उपहार कर के लग जाने से यह दोष जाता रहा है। तो भी बिक्री कर और चाय, तम्बाकू, वनस्पति घी, चीनी इत्यादि पर लगाए गए उत्पत्ति कर जैसे करों को अच्छा नहीं समझा जाता, क्योंकि वे अधिकतर निर्धन व्यक्तियों पर ही पड़ते हैं।

(२) हमारे देश में करों से जो आय होती है वह पर्याप्त मात्रा में नहीं होती और हमारी कर प्रणाली में लोच का भी अभाव है। आय की मात्रा कम होने के कारण सामाजिक सेवाओं की उन्नति नहीं हो सकती और आवश्यकता होने पर भी अस्पताल, शिक्षालय आदि संस्थाएँ नहीं खुल सकतीं, फलतः देश की कार्यकुशलता और देश की उत्पादन शक्ति में पर्याप्त उन्नति नहीं हो सकती।

(३) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बीच आय का विभाजन भी दोषपूर्ण है। लोगों का कहना है कि इनमें आय के स्रोतों के बाँटने में प्रान्तों की पारस्परिक आवश्यकताओं की

उपेक्षा की गई है—उनकी आवश्यकताएँ तो बहुत सी हैं, परन्तु उनके आय के साधन बहुत ही अपर्याप्त हैं। इस दोष को दूर करने के लिए वित्त आयोग ने काफी सन्तोषजनक परिवर्तन किए हैं (पिछला शीर्षक पढ़िए)। परन्तु राज्य सरकारों की आय के साधन अब भी बहुत अपर्याप्त हैं।

(४) हमारी सरकार की अपनी आय के व्यय करने की नीति भी सन्तोषजनक नहीं है। हमारी आय का बहुत बड़ा भाग रक्षा सम्बन्धी सेवाओं पर अर्थात् फौजों इत्यादि पर व्यय होता है। किसी अन्य देश में आय का इतना अधिक अनुपात सुरक्षा के लिए व्यय नहीं किया जाता है। जब भारत स्वतन्त्र नहीं हुआ था तो हमारे नेता विभिन्न देशों के व्यय को लेकर भारतीय राष्ट्र निर्माण सम्बन्धी सेवाओं पर होनेवाले व्यय से उसकी तुलना किया करते थे और इस प्रकार विदेशी सरकार की बड़ी कड़ी आलोचना की जाती थी। परन्तु भारत के स्वतन्त्र होने पर भी स्थिति वैसी की वैसी ही है। यह बात अवश्य है कि हमारा देश अभी ही स्वतन्त्र हुआ है और पाकिस्तान की प्रवृत्ति अच्छी न होने के कारण सुरक्षा पर व्यय करना आवश्यक हो जाता है। असाधारण स्थितियों के कारण हम विवश हैं।

हमारा नागरिक प्रशासन व्यय भी बहुत बढ़ गया है, कारण कि सरकार के मन्त्रालयों का प्रसार हो रहा है, विभिन्न राष्ट्रों से राजनैतिक सम्बन्ध करने के उद्देश्य से भारत के प्रतिनिधि अनेक देशों में भेजे जा रहे हैं। वेतन तथा मँहगाई भत्तों में वृद्धि हुई है, इत्यादि, इत्यादि। परिणामवश बहुत से व्यय जो इन व्ययों से अधिक आवश्यक हैं, बिना किए रह जाते हैं। इसलिए सरकार को कोई ऐसा तरीका अपनाना चाहिए जिससे इस मद में बचत हो। उदाहरण के लिये सबसे ऊपर के आफिसरों को जो बहुत अधिक वेतन व भत्ते मिलते हैं, वे कम कर दिए जाने चाहिए। विदेश में जानेवाले प्रतिनिधियों को वेतन बिना विदेश जाकर देश सेवा करनी चाहिए, विभिन्न मन्त्रालयों के व्ययों में कटौती होनी चाहिए, इत्यादि, इत्यादि।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ वर्षों से सरकार की बहुत सी विकास योजनाओं पर व्यय हो रहा है और यह देश के हित में है, परन्तु इनमें भी बहुत सा रुपया ऐसे व्यय हो रहा है जैसे कि नहीं होना चाहिए।

यह सब होते हुए भी हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि सामान्य रूप से किसी भी देश की कर प्रणाली पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकती। उसका आदर्श होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हमारा दृष्टिकोण केवल यह होना चाहिए कि करों से प्राप्त होनेवाली आय में वृद्धि तो हो, परन्तु अधिक कर की प्राप्ति धनी लोगों से ही हो और निर्धन लोगों पर कर का भार बिलकुल हल्का हो, साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि हमारी बढ़ती हुई आय फौजों, सुरक्षा आदि पर व्यय न हो, बल्कि राष्ट्र निर्माण सेवाओं पर तथा सामाजिक सेवाओं पर हो। यदि हमारी गरीबी का किसी प्रकार निराकरण हो सके, हमारा जीवन स्तर ऊँचा हो सके, हमारी बेरोजगारी घट सके, हमारे देशवासियों को अधिक संख्या में मुफ्त शिक्षा प्राप्त करने के अवसर मिल सकें, इत्यादि, इत्यादि, तब ही हम कह सकेंगे कि भारत एक Welfare State के उद्देश्यों की पूर्ति कर रहा है।

राज्य वित्त व्यवस्था राज्य सरकारों की वित्त व्यवस्था में भी निम्नलिखित दोष पाए जाते हैं (१) राज्य सरकारों की आय यद्यपि पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है तो भी उनकी आवश्यकताओं के देखते हुए बहुत अपर्याप्त है और उनके बजटों में जहाँ पहिले बचत होती थी वहाँ अब घाटा रहने लगा है। मृत्यु कर इसी उद्देश्य से लगाया गया कि इससे कुछ प्रान्तों की आय बढ़े। परन्तु यह काफी नहीं है। राज्य सरकारों को अपनी आय बढ़ाने के लिए कुछ उद्योग हाथ में लेना चाहिए जैसा कि उत्तर प्रदेश की सरकार ने मोटर बसें चलाकर, बिजली पैदा करके, सीमेंट इत्यादि की फैक्टरी खोलकर अपनी आय बढ़ाने की कोशिश की है। (२) राज्य करों का वितरण असमान है। निर्धन व्यक्तियों पर अधिक भार पड़ता है। उदाहरण के लिए बिक्री कर का भार धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है। इसी प्रकार मालगुजारी और सिंचाई से प्राप्त होनेवाली आय का अधिकांश भाग गरीबों की जेबों से आता है। प्रत्यक्ष कर होते हुए भी मालगुजारी प्रगतिशील नहीं है। इसमें अनार्थिक जोत के स्वामी किसानों को भी छूट नहीं दी जाती। (३) राज्य सरकारों की कर प्रणाली में असमानता है इसलिए प्रतिव्यक्ति कर भार भी विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न हो है। जहाँ उड़ीसा में प्रतिव्यक्ति कर का द्रव्यभार ५) रु० है वहाँ बम्बई राज्य में यह भार १३) रु० है (४) सुरक्षा और पुलीस पर अत्यधिक व्यय किया जाता है और इसलिए निर्माण कार्यों के हेतु कम धन बच पाता है। (५) अपव्यय बहुत होता है, और गाँवों के लोगों की अपेक्षा नगरवासियों को अधिक लाभ पहुँचता है, इत्यादि, इत्यादि।

यही सब कारण हैं कि अप्रैल १९ ३ में डा० जान मथाई की अध्यक्षता में एक कर जाँच समिति नियुक्त की गई थी। इस समिति को यह जाँच करने को कहा गया था कि (१) विभिन्न वर्गों और विभिन्न राज्यों पर केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों और स्थानीय संस्थाओं के करों का कितना भार पड़ता है? (२) देश के विकास कार्यक्रम और उसके लिए केन्द्र तथा राज्य सरकारों और स्थानीय संस्थाओं के कर लगाने की वर्तमान प्रणाली कितनी उपयुक्त है और आय तथा सम्पत्ति की असमानता को कम करने में वर्तमान प्रणाली कहाँ तक सहायक हो सकती है? (३) कर व्यवस्था और आयकर की वर्तमान दरों का पूँजी के निर्माण में और उत्पादक उद्योगों को चालू रखने में क्या प्रभाव पड़ता है? (४) मुद्रास्फीति और अस्फीति निरोधक साधन के रूप में कर व्यवस्था को वित्तीय साधन बनाना कहाँ तक उचित है? (५) अन्य सम्बन्धित बातें और (६) इसके साथ ही समिति से यह सिफारिशें करने को कहा गया था कि कर की वर्तमान व्यवस्था में क्या सुधार करने की आवश्यकता है और किन-किन साधनों पर कर लगाया जा सकता है? कमेटी ने अपनी रिपोर्ट भी दे दी है और समिति की सिफारिशों के आधार पर सरकार का भारतीय कर प्रणाली में सुधार करने का प्रयास भी चल रहा है।

एक भीषण आरोप भारतीय वित्त व्यवस्था पर कुछ लोग यह लगाते हैं कि आजकल जो घाटे का अर्थ-प्रबन्धन* (Deficit Financing) की नीति भारत सरकार ने अपनी

*घाटे का अर्थ प्रबन्धन—घाटे के बजट का अर्थ उस स्थिति से है जब कि सरकार के आय और पूँजी के बजट में कुल व्यय की मात्रा बजट में बताये हुए आय के स्रोतों से

पंचवर्षीय योजनाओं को चलाने के लिए अपनाई है वह ठीक नहीं है और उसके परिणामस्वरूप मुद्रा प्रसार की परिस्थितियों का हमें सामना करना पड़ रहा है। परन्तु वे भूलते हैं कि जब खर्चा उत्पादक कार्यों के लिए किया जाता है, तब मुद्रा प्रसार की परिस्थितियाँ केवल थोड़े समय के लिए होती हैं, क्योंकि उत्पादक व्यय से देश में आर्थिक प्रगति का होना, और भविष्य में देश के लोगों की आय का बढ़ना और उनके जीवन-स्तर का ऊँचा होना स्वाभाविक है। हाँ, यह अवश्य है कि घाटे का अर्थ प्रबन्धन एक सीमा से बाहर नहीं जाना चाहिए। वह एक दवाई की भाँति थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ही काम में लाना चाहिए, न कि खुराक के तौर पर। पहिली पंचवर्षीय योजना की सफलता से स्पष्ट है कि हमारी घाटे के अर्थ-प्रबन्धन की नीति दूरदर्शिता को ध्यान में रखते हुए, देश के हित में ही है।

स्थानीय सरकारों के आय-व्यय

(Local Finance in India)

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अतिरिक्त भारत में स्थानीय सरकारें (Local Self Governments) भी हैं जिनमें जिला बोर्ड (District Board) और नगर-पालिकाएँ (Municipality) मुख्य हैं। जिला बोर्डों का क्षेत्र गाँव में होता है और नगरपालिकाओं का शहरों में।

नगरपालिकाएँ मुख्यतः निम्न प्रकार के कार्य करती हैं :—सफाई, रोशनी, बिजली, सड़क, पानी, प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध; पुस्तकालय, खेल-कूद के मैदान, अजायबघर तथा पार्कों की व्यवस्था; आग से बचाना, पेड़ लगाना, जगली जानवरों से रक्षा करना, अस्पताल खुलवाना, बाजार लगवाना, मेले व प्रदर्शनी का प्रबन्ध करना इत्यादि इत्यादि। इन सब कार्यों का सम्पादन करने के लिए प्रत्येक राज्य में पास किए गए ऐक्ट के आधार पर नगरपालिकाओं को विभिन्न कर लगाने के अधिकार प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त उनके पास आय के अन्य साधन भी होते हैं जैसे उनकी जमीन या जायदाद पर किराया इत्यादि।

बढ़ जाय। जैसे पहिली पंच वर्षीय योजना के पाँच सालों में आय के सभी स्रोतों के उपरान्त लगभग ५०० करोड़ रुपयों की कुल न्यूनता हुई; यानी आय से व्यय अधिक हुआ, तो यह घाटे का अर्थ-प्रबन्धन कहलायेगा। अब यह न्यूनता पूरी कैसे हुई। सरकार के सामने दो रास्ते थे या तो वह बचत की रोकड़ में कमी करके अपना खर्च पूरा करती या रिजर्व बैंक के हाथ ट्रेजरी बिल्स बेचकर ऋण का प्रबन्ध करती और उस रुपये से कमी पूरी करती। चूँकि सरकारी रोकड़ की मात्रा पहिले से ही न्यूनतम स्तर पर पहुँच चुकी थी इसलिए इसकी सहायता का प्रश्न ही नहीं उठता था, और अब एक ही रास्ता खुला था वह ट्रेजरी बिल्स के बेचने का था। सरकार ने यही किया। उसने रिजर्व बैंक के हाथ ट्रेजरी बिल्स बेची, रिजर्व बैंक ने नोट छापे और भुगतान किया। तो इसका अर्थ यह हुआ कि घाटे के अर्थ-प्रबन्धन के परिणामस्वरूप अधिक नोट छापे गये, चलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ गई और मुद्रा-प्रसार को प्रोत्साहन मिला। इसी से यहाँ मतलब है।

उनकी आय के साधन बहुधा निम्न प्रकार के होते हैं :—

(१) मकान या भूमि कर (House Tax and Land Tax)—यह कर किसी मकान या भूमि के मूल्य के आधार पर लगता है। मकान मालिक को यह कर देना पड़ता है। वार्षिक मूल्य से एक साल जितना किराया मिलता है उसके एक निश्चित प्रतिशत की दर से यह कर लिया जाता है।

(२) चुंगी (Octroi Duty) तथा सीमा कर (Terminal Tax) चुंगी नगरपालिका की आय का मुख्य साधन है। बहुत पुरानी प्रणाली होने के कारण इसके देने में बहुत सकोच नहीं होता और चूँकि यह कर थोड़ी थोड़ी मात्रा में यथा-समय दिया जाता है, इसलिए लोगों को इससे विशेष कष्ट नहीं होता। परन्तु इसकी वसूली में बहुत से दोष पाए जाते हैं। इसके वसूल करने म खर्च अधिक पड़ता है। इस प्रथा से वाणिज्य और व्यवसाय को प्रोत्साहन नहीं मिलता और जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर चुंगी लगने से गरीबों पर इसका अधिक भार पड़ता है। जहाँ चुंगी नहीं लगती वहाँ सीमा कर लगता है—यह नगर पालिका की सीमा के अन्दर आनेवाले मुसाफिरों पर लगता है। अधिकतर यह रेलवे द्वारा टिकट या महसूल के रूप म वसूल किया जाता है और बाद में नगरपालिकाओं को मिल जाता है। सीमा कर से बचने के लिए कभी कभी माल रेल से न भेजकर सड़कों से मँगाया जाता है तो ऐसी दशा म कहीं कहीं एक दूसरा कर मोटर, बैलगाड़ियों आदि पर लगाया जाता है जिसे सीमा टोल (Terminal Toll) कहते हैं। यह कर सीमा कर का पूरक है।

(३) वृत्ति और व्यवसाय कर (Tax on Profession)—यह दो प्रकार के कर होते हैं—किसी विशेष व्यवसाय पर जैसे ईंट के भट्ठे और देशी चीनी बनाने के व्यवसाय आदि पर, और किसी भी पेशे पर जिसमें वेतन या फीस मिलती हो।

(४) पशु और सवारी कर (Taxes on Animals and Vehicles)—नगरपालिका की सीमा में रखे जानेवाले पशु और चलनेवाली सवारी के साधनों पर यह कर वार्षिक रूप से लगाया जाता है।

(५) यात्री कर (Tax on Pilgrims)—कहीं कहीं तीर्थयात्रियों से यात्री कर लिया जाता है। वह भी एक आय का मद है।

(६) लाइसेन्स शुल्क (License Fees)—जैसे फेरीवालों से फेरी करने के लिए ली गई फीस, या स्कूल और अस्पतालों से ली जानेवाली फीस।

(७) सेवा कर या व्यापारिक कार्यों से आय, जैसे (Water Rates, Electricity Rates, Conservancy Rates Drainage Rates, Latrine Rates) इत्यादि।

(८) राज्य सरकार से अनुदान (Grants from State Government)

(९) विविध (Miscellaneous)—अनेक प्रकार के जुर्मानों आदि से जो कुछ मिलता है वह भी एक प्रकार की आय हो जाती है।

इसी प्रकार जिला बोर्डों का कार्य जिले के गाँवों में शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, सफाई, सड़क निर्माण, मेलों और प्रदर्शनियों का आयोजन करना, भूमि को खेती योग्य बनाना आदि हैं। इन कार्यों का सम्पादन करने के लिए जिला बोर्ड की आय के अनेक साधन होते हैं, जैसे—

(१) भूमि उपकर या अनत्राव (Land Cess or Additional Land Revenue) जो जमींदारों की भूमि पर प्रति एकड़ के हिसाब से लगाया जाता है और सरकारी मालगुजारी के साथ वसूल होकर जिला बोर्ड को मिल जाता है।

(२) गाँव की सम्पत्ति पर जायदाद या हैसियत कर (Circumstances and Property Tax)—यह कर गाँव में रहनेवाले लोगों की कुल आय पर लगाया जाता है।

नगरपालिकाओं और जिलाबोर्डों के अतिरिक्त भारतीय संविधान की धारा के अनुसार राज्य सरकारें, ग्रामपंचायत (Village Panchayats) और नगर समितियाँ (Town Area Committee) जैसी स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को बनाने में भी सहायता देती हैं। बहुत से राज्यों, विशेषतः उत्तरप्रदेश व मध्यप्रदेश में ग्राम पंचायत और जनपद बनी हैं जो अपने अपने गाँव व क्षेत्र का प्रबन्ध करते हैं—छोटे छोटे कस्बों में नगर समितियाँ बन रही हैं।

ग्राम पंचायत (Village Panchayats) के आय के साधन और खर्च की मदें निम्न प्रकार होती हैं :—

आय के साधन—

(१) किसानों से लगान की रकम पर एक आने प्रति रुपया शुल्क।
(२) जमींदारों से मालगुजारी पर दो पैसे प्रति रुपये की आय।
(३) व्यापार और उद्योग धन्धों पर लगाये गये करों से प्राप्त आय।
(४) पंचायती अदालतों से प्राप्त आय।
(५) जिला बोर्ड प्रान्तीय सरकार तथा अन्य व्यक्तियों से प्राप्त सहायता।

खर्च की मदें—

(१) गाँव में सड़कें बनवाना तथा उनकी मरम्मत का उचित प्रबन्ध करना।
(२) गाँव में रोशनी और सफाई की व्यवस्था करना।
(३) गाँव में प्रारम्भिक और प्रौढ़ शिक्षा के लिए पाठशाला और रात्रि विद्यालय स्थापित करना।
(४) गाँव में जन्म-मृत्यु का लेखा रखना।
(५) मेले और बाजार की व्यवस्था करना।
(६) सार्वजनिक कुँओं और तालाबों की देख रेख करना।

स्थानीय संस्थाओं (नगर पालिकाओं और जिला बोर्डों) से आज जिन कार्यों के किए जाने की आशा की जाती है, वे काफी विशाल हैं। शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, यातायात आदि के साधनों का विकास जैसे कार्यों का उत्तरदायित्व बहुत कुछ इन संस्थाओं पर है। इन सब बातों को देखते हुए कहा जा सकता है कि उनके आय के

साधन उपयुक्त नहीं है। साथ ही साथ भारतीयों की निर्धनता के कारण नवीन स्रोतों की खोज निकालना अर्थात् नवीन करों का पता लगाना भी उपयुक्त नहीं है और हम यह भी ऊपर देख चुके हैं कि राज्य सरकारों की दशा ऐसी नहीं है कि वे सहायक अनुदान को बढ़ा सकें। इसलिए सबसे आवश्यक बात यह है कि हम इन नागरिक संस्थाओं की प्रशासन सम्बन्धी स्थिति को ठीक करें, बेईमानी कुशासन, इत्यादि को दूर करें और इन संस्थाओं के अधिकारियों और कर्मचारियों में उत्तरदायित्व के भावों का जागरण करें जिससे कि वे इन संस्थाओं के लिए किए जानेवाले करों को अच्छी तरह वसूल करने का प्रबन्ध करें करों आदि के वसूल करने में जो धाँधली बेईमानी आदि होती है उसे दूर करें। प्रान्तीय सरकारों को भी चाहिए कि वे मोटर कर, बिक्री कर तथा मनोरंजन कर में से स्थानीय संस्थाओं को कुछ भाग दें। स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद देश में स्थानीय स्वराज्य की प्रगति हुई है, परन्तु यह कुछ भी नहीं है। इन संस्थाओं की और प्रगति होने की बहुत आवश्यकता है। यदि हम अपने नगरों और गाँवों में प्राप्त नागरिक सुविधाओं की तुलना उन्नतिशील देशों में प्राप्त सुविधाओं से करें तो इससे पता चलेगा कि हम कितने पीछे हैं और इस शोचनीय दशा को सुधारना हमारा कितना बड़ा कर्तव्य है।

भारतीय सार्वजनिक ऋण

(*Public Debt of India*)

३१ मार्च १९३९ को भारत सरकार का कुल ऋण १२०५.७६ करोड़ रुपए का था जिसमें से ४६६ करोड़ रुपये का ऋण (Rupee Debt) भारत में और बाकी ७३७ करोड़ रु० का ऋण विलायत में स्टर्लिंग के रूप (Sterling Debt) में था। इस कुल ऋण का अधिक अंश अर्थात् ७४६ करोड़ उत्पादक था और इसके पीछे भारत के पास पूँजीगत सम्पत्ति थी, जैसे रेलें, नहरें, डाक तथा तार विभाग, इत्यादि, जिनसे सरकार को प्रतिवर्ष आय होती थी। इस ऋण का कुछ भाग राज्य सरकारों को भी ऋण के रूप में दिया गया था जो अधिकतर उत्पादक कार्यों के लिए था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत की स्थिति ऋण के सम्बन्ध में बहुत अच्छी थी। और देशों की अपेक्षा हमारे देश पर ऋण कम था।

महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर भारत सरकार को भी युद्ध को चलाने के लिए बहुत अधिक व्यय करना पड़ा और बहुत ऋण लेना पड़ा। परिणामस्वरूप रुपया-ऋण में बहुत अधिक वृद्धि हुई। साथ साथ स्टर्लिंग ऋण की स्थिति बदल गई। निर्यात के बढ़ने के कारण और भारतीय सरकार के ब्रिटिश सरकार के लिए रुपए का प्रबन्ध करने के कारण हमारे पास बहुत अधिक स्टर्लिंग विलायत में जमा हो गया और उसमें से विलायत का स्टर्लिंग का ऋण समाप्त कर दिया गया, यहाँ तक कि लड़ाई के खत्म होने पर हमारा स्टर्लिंग ऋण केवल ३८ करोड़ का रह गया, परन्तु हमारा रुपया-ऋण उस समय बढ़कर १३३५ करोड़ तक पहुँच गया। भारत सरकार ने देश में छोटी छोटी बचतों (Small Savings) को ऋण के रूप में एकत्र करने की योजनाएँ बनाईं, और बहुत-सा चलता ऋण (Floating Debt) राजकीय विपत्रों (Treasury Bills) द्वारा भी एकत्र किया और मार्गोपाय अग्रिम (Ways and Means Advances) द्वारा भी। यह सब भी इस ऋण में शामिल है।

इसके पश्चात् रुपया ऋण में और वृद्धि हुई—वह लगभग २५०० करोड को पहुँच गया और स्टर्लिंग ऋण लगभग समाप्त हो गया—केवल २७ करोड रह गया। भारतीय ऋण सबका सब रुपये के रूप में हो गया और भारत विदेशियों का ऋणी न रहकर उनका ऋणदाता बन गया। यही नहीं, एक समय भारत के पास विलायत मे पौंड पावने (Sterling Balances) लगभग १७४० करोड के जमा हो गए थे, यद्यपि उनकी मात्रा अब कम होते होते केवल ४५० करोड रह गई है। इस संबंध में दूसरे खण्ड के अध्याय "भारतीय मुद्रा-प्रणाली" को पढ़िये।

भारतीय सरकार की ऋण स्थिति १९५६-५७ के शुरू मे इस प्रकार थी :—

भारत मे लिया हुआ रुपया ऋण	३७५५ करोड
लन्दन मे लिया हुआ स्टर्लिंग ऋण अमेरिका में ” ” डालर ”	१७७ ”
	३९३२ करोड

[अब यह रकम और भी बढ गई है।]

इसमें से १००० करोड रु० से अधिक रेलों मे लगा हुआ है, १००० करोड रु० से अधिक राज्यों को उनके विकास कार्यों के लिए उधार दिया हुआ है; और १००० करोड रु० से अधिक सार्वजनिक उद्योगों मे तथा योजनाओं पर लगा हुआ है; ३०० करोड पाकिस्तान और बर्मा से पावना है, और कुछ सरकार के पास नकदी तथा प्रतिभूतियाँ आदि हैं। केवल ८८४ करो रुपया रह जाता है जिसके पेटे सरकार ने किसी को ऋण आदि नहीं दे रखा है और जिस पर सरकार को ब्याज देना पड़ता है।

[इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत सरकार द्वारा लिये गए सार्वजनिक ऋण की स्थिति असंतोषजनक नहीं है। सरकार के पास इस ऋण के चुकाने के लिए पर्याप्त साधन हैं। बाहरी ऋण कुल ऋण का एक छोटा भाग होने के नाते हम यह भी कह सकते हैं कि देश के ऊपर वास्तविक बोझ बहुत नहीं है। इसके अतिरिक्त बाहर से लिया हुआ ऋण, जैसे विश्व बैंक से लिए हुए या अमेरिका इत्यादि से लिए हुए डालर, देश निर्माण की योजनाओं मे ही लगाया जा रहा है, और इसके परिणामवश हमारी पूँजी सम्पत्ति मे वृद्धि हो रही है।]

इसके पश्चात् १९५६-५७ मे विदेशी मित्र राष्ट्रों से ४६१ करोड रु० के ऋण प्राप्त हुए और १९५७-५८ में लगभग १० करोड डालर के ऋण कोलम्बो प्लान के अन्तर्गत कैनाडा से और फोर्ड फाउनडेशन के अन्तर्गत अमेरिका से प्राप्त हुए। कुछ ऋण अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने भी रेलवेज और टाटा स्टील वर्क्स आदि के लिए दिये। इस प्रकार अब हमारी बाहरी देनदारी (foreign indebtedness) लगभग ६०० करोड रु० की हो गई है। इसके अतिरिक्त द्वितीय पचवर्षीय योजना मे भारत सरकार ने १२०० करोड का रुपया ऋण लेने का विचार किया है। यह सब उपरोक्त ऋण की मात्रा के अतिरिक्त ही है। अमेरिका ने २२५ मिलियन डालर (करीब १०७ करोड रुपय) का ऋण (और इसके अतिरिक्त २५ मिलियन डालर का नाज) देने का वादा किया है। रूस ने ५०० [^
(क़रीब ६० करोड रुपये) उधार देने को कहा है। जापान ने १८ बिलियन येन (
करोड रु०) और फ्रांस ने २५ बिलियन फ्रैंक्स (करीब २८ करोड रुपया) के ऋण

वचन दिया है। इसी प्रकार रूस भिलाई प्लाण्ट के लिए तथा पश्चिमी जर्मनी हरिकेला प्लाण्ट के लिये कुछ ऋण देंगे और अंतर्राष्ट्रीय बैंक कुछ ऋण न दरगाहों के निर्माण के लिए, कोयना हाइड्रो एलक्ट्रिक प्रोजेक्ट के लिए तथा दामोदर वैली योजना के लिए देगा, जिसके विषय में अभी बात चीत चल रही है। इस साल करीब २२५ करोड रुपये के ऋण के आने की आशा की जाती है। और हो सकता है कि अमेरिका आशा से भी अधिक ऋण देवे।

इसके अतिरिक्त, १९५८ ५९ के समाप्ति तक राजकीय विपत्रों (treasury bills) द्वारा एकत्रित किया हुआ ऋण लगभग १४०० करोड के हो जाएगा और इनके दीर्घकालीन ऋण में परिवर्तित करना पड़ेगा। यह सब पंच वर्षीय योजना के अन्तर्गत उत्पादन कार्य में ही लगा है।

QUESTION

1 Discuss the division of the principal sources of revenues between the Central and the State Governments under the present constitution State the position of income tax in the above allocation (Agra 1955 1951s)

2 Comment briefly on the main heads of revenue and expenditure of the Union Government (Agra 1954s)

or

Give the salient features of the Government of India budget of 1957–58, and offer your comments on the same (Agra 1958)

3 Adjudge the merits of the Indian Income Tax in the light of the canons of taxation (Agra 1951)

4 Adjudge the desirability or otherwise of the re impo sition of the salt tax in the country. (Agra 1952)

5, Discuss the main sources of renenue and items of expenditure of the UttarPradesh Government Point out the importance of income tax in the Indian tax system (Agra 1955, 53, 52s,)

6 How would you increase the revenue resources of municipal and district boards without increasing the burden on the over-taxed sections of the urban and rural population? (Agra 1954)

7 Account for the growth of public expenditure in India since 1947 (Alld 1955)

8 Examine the changes brought about in the nature and direction of Indian Public Debt during the second world war (Agra 1955 52, 51s)

9 Describe the size and position of India s public debt, Do you regard the position as satisfactory ?

द्रव्य (मुद्रा) और करेंसी
(MONEY AND CURRENCY)

४३

अदल-बदल से क्रय-विक्रय की ओर

(From Barter to Money)

हम पहले पढकर आये हैं कि प्राचीन काल में मनुष्य अपनी आवश्यकताएँ अपने ही प्रयत्न द्वारा पूरी कर लेता था और उत्पादन और उपभोग का सीधा सम्बन्ध था, परन्तु जब मनुष्य की आवश्यकताएँ बढी और श्रम विभाग तथा विशिष्टीकरण इत्यादि का विकास हुआ तो विनिमय का आश्रय लेना पड गया और उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनो ही विनिमय प्रणाली पर निर्भर रहने लगे। आज के दिन तो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था ही विनिमय पर आधारित है और विनिमय का अर्थ शास्त्र में बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी विषय का हम अब विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

विनिमय के दो रूप होते हैं —

(अ) अदल बदल या वस्तु विनिमय (Barter)

(ब) क्रय-विक्रय (Sale and Purchase) जो वास्तव में द्रव्य-द्वारा (through money) सम्पन्न होता है।

(अ) अदल-बदल की प्रथा

(Barter)

विनिमय व्यवस्था का वह रूप जिसमें आवश्यकताओ की तृप्ति के लिए वस्तुओ (तथा सेवाओ) का आपस में अदल-बदल किया जाय, वस्तु-विनिमय या अदल बदल कहलाता है। आदि काल म जब मनुष्य की सभ्यता का पूण उदय नही हुआ था, प्राय व्यापार अदल बदल के ही द्वारा सम्पन्न होता था। तब विनिमय का क्षेत्र सीमित था और विनिमय का कोई उपयुक्त माध्यम भी नही था। वस्तुओं की बदली वस्तुओ से, बिना किसी तीसरी वस्तु के बीच में आये हुए, यानी बिना द्रव्य की सहायता के, हो जाती थी। एक चमार अपने बनाए हुए जूतो में से एक जोडी जूता देकर किसान से अनाज ले लेता था और इसी प्रकार बज़ाज से कपडा। इसी तरह अन्य लोग भी अपनी वस्तुओ को दूसरे आवश्यकतावालो को देकर, और उनसे अपनी-अपनी आवश्यकता की वस्तुओ को लेकर अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति किया करते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का आधार बडा सरल था। रुपये के माध्यम की आवश्यकता नही थी। पर यह उस काल में ही सभव था जबकि मनुष्य की आवश्यकताएँ थोडी थी। जैसे-जैसे सभ्यता बढी और आवश्यकताएँ बढी, वैसे-वैसे बाजारो का क्षेत्र बढा। विनिमय भी सकुचित घेरे से निकल कर विस्तृत हो चला। अदल-बदल की कठिनाइयाँ लोगो के सामने प्रत्यक्ष रूप में आने

लगी और लोगों को एक नवीन माध्यम की आवश्यकता पड़ी। इस विनिमय के माध्यम का प्रारम्भ जानवरों से हुआ, फिर अन्य वस्तुएँ आईं। धीरे-धीरे द्रव्य अर्थात् मुद्रा का आविष्कार हुआ जो आज तक स्थापित है।

अदल-बदल की कठिनाइयाँ

(*Difficulties of Barter*)

इससे पहले कि हम द्रव्य के बारे में कुछ और अध्ययन करें, हमें यह देखना है कि अदल-बदल की प्रमुख कठिनाइयाँ क्या थी जिनके कारण से द्रव्य का आविष्कार हुआ।

(१) आवश्यकताओं के दोहरे संयोग की कमी (lack of double coincidence of wants)—अदल-बदल में सबसे बड़ी कठिनाई इस बात की होती है कि यदि हमें किसी वस्तु विशेष की आवश्यकता है तो हमें न केवल ऐसा व्यक्ति ढूँढ़ना होता है जो उस वस्तु को देने को तैयार हो बल्कि यह भी देखना होता है कि वह व्यक्ति ऐसा हो कि जिसे उस वस्तु की आवश्यकता हो जिस हम वस्तु के बदले में देना चाहते हैं। मान लीजिए एक आदमी के पास एक घोड़ा है और उसे एक गाड़ी की आवश्यकता है। उसे गाड़ी तब तक नहीं मिल सकती जब तक कोई ऐसा व्यक्ति न मिल जाय जो गाड़ी देना चाहता हो और साथ ही साथ बदले में घोड़ा भी लेना चाहता हो। यह संयोग कठिनाई से ही होता है और इसके प्राप्त करने में बहुत समय और शक्ति का दुरुपयोग होता है। मान लीजिए कि एक ऐसा आदमी मिलता है जो गाड़ी देने को तैयार है पर उसके बदले में घोड़ा नहीं चाहता, बल्कि एक बाइसिकल चाहता है तो अदल-बदल नहीं हो सकेगा। इसी तरह मान लीजिए कि एक आदमी घोड़ा लेने को तैयार है परन्तु उसके पास बदले में गाड़ी देने को नहीं है तो भी अदल-बदल नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि अदल-बदल के लिए ठीक ठीक व्यक्ति को ढूँढ़ लेना आसान नहीं है। इस सम्बन्ध में एक यात्री के विषय में एक कहानी है कि वह अफ्रीका गया, जहाँ उसे एक नाव लेने की आवश्यकता पड़ी। नाव का मालिक नाव देने को तैयार था, पर बदले में हाथीदाँत चाहता था। उसने एक हाथीदाँतवाला आदमी तलाश किया कि जिससे वह तार देकर हाथीदाँत ले ले, परन्तु वह बदले में कपड़ा चाहता था। यात्री के पास कपड़ा भी नहीं था, केवल तार था। इसलिए अब भी काम नहीं बना—समस्या तब सुलझी जबकि उसे एक कपड़ेवाला मिला जो तार के बदले में कपड़ा दे सकता था। तब उसने तार से कपड़ा, कपड़े से हाथीदाँत और हाथीदाँत से नाव खरीदी। ऐसा करने में उसे कितनी असुविधा हुई इसका अनुमान लगाना कठिन है।

आज के युग में तो यह और भी असम्भव है। यदि हमारे पास देने के लिए सेवाएँ हैं और सेवाओं के बदले कोई व्यक्ति वस्तु देने के लिए तैयार नहीं है या कोई उचित वस्तु ही नहीं है जो दी जा सके, तो कठिनाई और भी बढ़ जाती है। कोई कृषक एक मजदूर को मजदूरी के बदले में अनाज दे सकता है पर एक रेल्वे कम्पनी या जहाज का व्यापारी उन काम में लगे मजदूरों को उनकी सेवाओं के बदले में क्या दे सकता है? जहाज या रेल के टुकड़े करके तो दिया ही नहीं जा सकता।

(२) मूल्य आंकने की कठिनाई (lack of a common measure of value)–अदल-बदल की प्रणाली में, सर्वमान्य मूल्य के माप की कमी के कारण, विनिमय योग्य वस्तुओं का मूल्य नहीं आंका जा सकता, न किसी वस्तु के मूल्य की तुलना ही आसानी से दूसरी वस्तुओं के मूल्य से की जा सकती है। मान लीजिए कि एक आदमी के पास घोड़ा है और दूसरे के पास गाड़ी—दोनों अदल-बदल करना चाहते है तो भी एक सर्वमान्य मूल्य की कमी के कारण ऐसा होना कठिन हो जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि घोड़े का मालिक अपने घोड़े को ठीक गाड़ी की क़ीमत का ही समझे, उसके विचार से घोड़े की कीमत अधिक हो सकती है। ऐसी अवस्था में वह अदल-बदल के लिए क्यों तैयार होगा। इसी तरह यदि गाड़ी का मालिक अपनी गाड़ी की क़ीमत घोड़े की कीमत से अधिक समझे तो भी अदल-बदल नहीं हो सकेगा। हाँ, यदि कोई ऐसी वस्तु होती जो विनिमय के अनुपात में मापदंड का कार्य करती अर्थात् दोनों वस्तुओं के मूल्य को कुछ निश्चित मात्रा में प्रकट कर सकती तो विनिमय सहज हो जाता, क्योंकि तब मनुष्य तुरन्त जान सकता कि उसको कितनी वस्तु के बदले दूसरे की कितनी वस्तु लेनी या देनी चाहिए। जैसा कि आजकल द्रव्य के माध्यम बन जाने से हो जाता है।

इसी कठिनाई के साथ एक और कठिनाई भी जुड़ी हुई है, वह है वस्तुओं का विभाजन न कर सकने की कठिनाई (lack of sub-division)। बहुत-सी वस्तुओं के भाग नहीं हो सकते। और उनको हम भागों या टुकड़ों में नहीं स्वीकार कर सकते। जैसे एक पुस्तक के बदले में हमें दो कुर्सियाँ मिल रही हैं परन्तु आवश्यकता है एक कुर्सी की। क्या ऐसी अवस्था में किताब के दो टुकड़े किए जायें? यदि ऐसा करेंगे तो किताब की क़ीमत नष्ट हो जायेगी। इसी तरह बहुत सी वस्तुएँ है, जिनके टुकड़े करने से उनकी कीमत नहीं रह जाती। मान लीजिए एक आदमी के पास गाय है और उसे हल की आवश्यकता है। उसे एक ऐसा मनुष्य मिल भी जाता है जिसके पास हल है और जो उसके बदले में गाय लेने को तैयार है। लेकिन यह विनिमय फिर भी नहीं हो सकता—गाय हल से अधिक मूल्यवान वस्तु है और उसका कोई अंग काटकर भी नहीं दिया जा सकता।

(३) अदल बदल में एक और कठिनाई है वह यह है कि भविष्य के प्रयोग के लिए सम्पत्ति को जोड़ना कठिन हो जाता है (lack of a good store of value) क्योंकि कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिन्हें अधिक दिनों तक रखा नहीं जा सकता अन्यथा वे ख़राब हो जाती है जैसे दूध, फल इत्यादि। इस विषय में एक बड़ा मनोरंजक उदाहरण है। एक फ्रांसीसी गायक को ऐसे देश में जाना पड़ा, जहाँ रुपये का प्रयोग नहीं होता था। उसको गाने के बदले सुअर, बकरी, केले सेब आदि दिये गये। सुअर और बकरी तो केले और सेब खा गये; उस बेचारे को अपने खाने के अतिरिक्त इन जानवरों को जीवित रखने की समस्या को सुलझाने के लिए भी गाना पड़ा। उसे गाने की मेहनत से कुछ लाभ नहीं हुआ। यदि उसे रुपये दिये जाते तो वह वास्तव में उन्हें जोड़कर धनी बन जाता।

[अदल-बदल की यह सब कठिनाइयाँ आजकल द्रव्य को विनिमय का माध्यम बना लेने से दूर हो गई है।]

(ब) क्रय-विक्रय

(Sale and Purchase through Money)

विनिमय करने का दूसरा ढंग खरीदने और बेचने का होता है। इस प्रणाली में एक ऐसी वस्तु स्वीकार कर ली जाती है जिससे समाज में सब विनिमय कार्य सरलतापूर्वक हो जाते हैं। इस वस्तु को अर्थशास्त्र में द्रव्य कहते है और यह निम्न प्रकार से विनिमय कार्य में सहायक होता है। दूसरे शब्दो में द्रव्य के कार्य निम्नलिखित है —

द्रव्य के कार्य

(Functions of Money)

(१) **विनिमय का माध्यम** (money serves as a medium of exchange)—द्रव्य का पहिला कार्य विनिमय का माध्यम होना है। द्रव्य के द्वारा विनिमय क्रिया दो स्वतन्त्र क्रियाओं में परिणित हो जाती है और हर वस्तु (या सेवा) द्रव्य में बेची जा सकती है और फिर इस द्रव्य से अन्य वस्तु (या सेवा) खरीदी जा सकती है और इस प्रकार दोहरे संयोग की असुविधा दूर हो जाती है और विनिमय कार्य सरल हो जाता है। किसान गेहूँ द्रव्य के बदले में बेच देता है और इससे अपनी कपड़े की आवश्यकता की पूर्ति के लिए कपड़ा खरीद लेता है। पहली क्रिया "बेचना" और दूसरी क्रिया "खरीदना" कहलाती है। चूँकि विनिमय का सबसे अधिक प्रचलित माध्यम द्रव्य है, इसलिए लोग हमेशा अपनी वस्तुओं को द्रव्य के बदले में देने को तैयार होते हैं। जिस आदमी के पास सतरे हैं वह चाहे उन्हें सेब के बदले में देने को तैयार न हो, पर वह सतरों के बदले पैसे लेने में संकोच नहीं करेगा क्योंकि उन पैसों से वह मनचाही वस्तु खरीद सकता है।

द्रव्य के विनिमय का माध्यम बनने के कार्य को दूसरे शब्दों में यह कहकर भी प्रकट कर सकते हैं कि द्रव्य करेंसी या मुद्रा की इकाई बनने का कार्य करता है। (money serves as a unit of currency)।

(२) **मूल्य का मापदंड या मूल्यांकन का साधन** (money serves as a common measure of value)—जिस तरह कपड़े की माप गज से और दूध की माप सेर से की जाती है उसी तरह हर एक वस्तु के मूल्य की सही-सही माप द्रव्य के द्वारा की जा सकती है। एक वस्तु के मूल्य की तुलना दूसरे से की जा सकती है, इस तरह विनिमय सरल हो जाता है और वस्तु के मूल्य का विभाजन करने की कठिनाई दूर हो जाती है। मान लीजिए कि एक मेज की क़ीमत चार रुपये है और एक कुर्सी की दो रुपये, तो हम आसानी से कह सकते हैं कि मूल्य में एक मेज दो कुर्सी के बराबर है। इसी तरह मान लीजिए वस्तुओं के दाम द्रव्य के रूप में इस प्रकार हैं—गेहूँ १६ रु० मन, चीनी ३० रु० मन, घी २०० रु० मन, फाऊण्टेन पेन १२० रु० दर्जन, दियासलाई ॥) दर्जन, और पेन्सिल =) प्रति पेन्सिल, इत्यादि; तो हम हिसाब लगाकर तुरन्त ज्ञात कर सकते हैं कि इनमें से किसी एक वस्तु के बदले में कितनी दूसरी वस्तु दी या ली जा सकती है। (money serves as the measuring-rod for exchange rates)।

इस तरह की वस्तुओं के मूल्य की तुलना अदल-बदल की प्रथा में यानी बिना द्रव्य का प्रयोग किये हुए बहुत कठिन है और बड़े उलझे हुए तरीके (round-about process) से ही की जा सकती है जैसा कि निम्न उदाहरण से विदित है। मान लीजिए कि एक मनुष्य के पास बकरियाँ हैं और वह उनके बदले में मोटर कार चाहता है। यह भी मान लीजिए कि—

५ बकरी की कीमत उतनी है जितनी एक गाय की,
१ गाय „ २½ मन गेहूँ की,
४ मन गेहूँ „ १ तोला सोने की
१०० तोला सोना „ १ मोटरकार की

तो बकरियों की कीमत मोटरकार के बदले में इस प्रकार होगी —

१ मोटरकार = १०० तोला सोना
= ४०० मन गेहूँ
= १६० गाय
= ८०० बकरियाँ।

और हम देख सकते हैं कि यह सब हिसाब किताब कितना कठिन और पेचदार है। यदि हमें द्रव्य की सहायता प्राप्त होती तो हमें इस कठिनाई का सामना न करना पड़ता।

द्रव्य के इस कार्य को दूसरे शब्दों में यह कहकर भी व्यक्त करते हैं कि द्रव्य हिसाब की इकाई का कार्य करता है। (money serves as a unit of account)।

(३) ऋण के भुगतान करने का साधन अथवा विलंबित भुगतान का मापदंड—(money serves as a standard of deferred payments)—द्रव्य का एक सहायक कार्य यह भी है कि यह विलंबित भुगतान का एक बड़ा सुगम साधन होता है। यदि किसी व्यक्ति को पाँच सौ रुपये की आवश्यकता है, तो वह अपने मित्र से उधार ले सकता है और भविष्य में उतना ही रुपया (या तय किये हुए ब्याज के साथ) लौटाकर वह ऋण से मुक्त हो सकता है। इस कार्य के लिए उपयुक्त माध्यम में स्थिरता या मूल्य में टिकाऊपन की आवश्यकता है। रुपये में अन्य वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा अधिक स्थिरता है अर्थात् उसका मूल्य कम घटता-बढ़ता है। (यद्यपि हम वास्तविक रूप में यह देखते हैं कि द्रव्य का मूल्य अन्य वस्तुओं के मूल्य के समान बदलता रहता है, तो भी औरों की अपेक्षा द्रव्य का मूल्य स्थिर माना जाता है)।

[द्रव्य का यह कार्य इसके पहिले लिखे कार्य से मिलता-जुलता है और उससे अलग नहीं किया जा सकता—अन्तर केवल इतना है कि पहिले में द्रव्य वर्तमान या नकद लेन-देन का सूचक है, दूसरे में विलंबित भुगतान के बारे में पता देता है। अतः तर्क की दृष्टि से, द्रव्य के इस कार्य को पिछले कार्य से पृथक् मानने के लिए कोई आधार नहीं है।]

(४) मूल्य के संचय का साधन (money serves as a good store of value)—इसके द्वारा विनिमय शक्ति का भली भाँति संचय हो सकता है। मान लिया कि किसी के पास ५०-६० मन गेहूँ हैं। अब यदि वह गेहूँ का संचय करता है तो जैसे-जैसे समय बी-

जायगा, गेहूँ खराब होते जायँगे और उनकी विनिमय शक्ति का ह्रास होता जायगा। पर रुपये के सञ्चय करने में न तो मूल्य में कमी आएगी न वे खराब ही होंगे। हाँ इस कार्य के लिए मुद्रा की स्थिरता एक आवश्यक शर्त है और इसलिए आधुनिक अर्थ-शास्त्री मुद्रा की स्थिरता पर इतना जोर देते हैं।

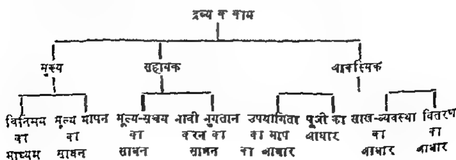
इसी तरह द्रव्य पूंजी को एकत्रित करने और उसे गतिशीलता प्रदान करने में सहायक होता है (money serves as a basis of capital)। यदि द्रव्य न होता तो संयुक्त पूंजी की कम्पनियों के लिए पूंजी का एकत्रित करना और उपयोग में लाना सम्भव न होता। साथ ही साथ द्रव्य साख का भी आधार बनता है (money serves as a basis of credit) थोड़े से रुपये के बल पर ही बैंक अधिक रुपया उधार दे डालती है। (इस सम्बन्ध में बैंकिंग अध्याय पढ़िए) दूसरी बात यह है कि अधिकांश व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का एक अंश अस्थिर और तरल रूप में (in the form of liquid assets) रखना चाहते हैं जिससे कि वे उसे किसी भी समय किसी भी व्यवहार में लगा सकें—वे अपनी जेब में करन्सी नोट रखते हैं अथवा उन्हें घर पर सुरक्षित रखते हैं या बैंक में जमा रखते हैं जिससे कि वे जिस समय चाहें उसे काम में ला सकें। इसी तरह उत्पादक और साहसी भी मजदूरों के वेतन आदि का भुगतान करने के लिए तथा और बहुत सी बातों के लिए आवश्यकता पड़ने पर व्यय करने के लिए अपनी सम्पत्ति का एक अंश अस्थिर रूप में अपने हाथ में रखना चाहते हैं। इस काम के लिए भी द्रव्य ही सबसे उपयुक्त वस्तु है।

इसके अतिरिक्त द्रव्य के द्वारा मूल्यों के इधर से उधर बदलने में या हस्तान्तरण करने में बड़ी सहायता मिलती है (money serves as a means of transferring values)। कोई भी अपना मकान की इमारत को या अन्य जायदाद को बेचकर दूसरी जगह दूसरी जायदाद ले सकता है जैसा भारत और पाकिस्तान के विभाजन के समय लोगों ने किया। एक जगह जायदाद बेची और दूसरी जगह खरीद ली। यह कार्य वस्तु विनिमय या अदल-बदल से इतनी आसानी से नहीं हो सकता।

निम्न अँगरेजी की पंक्ति में भी द्रव्य के इन चारों कार्यों का ही वर्णन है —

Money is a matter of functions four
A medium, a measure, a standard and a store

मुद्रा के हैं कार्य चार महान् माध्यम मापन सञ्चय भुगतान



(द्रव्य के इन कार्यों से यह स्पष्ट है कि द्रव्य व्यवस्था में अदल-बदल व्यवस्था की सभी कठिनाइयों का परिष्कार भली भाँति हो जाता है।)

द्रव्य (या मुद्रा) की परिभाषा

(Definition of Money)

ऊपर हम द्रव्य के कार्यों का वर्णन भली भाँति कर चुके हैं। परन्तु इन चारों कार्यों के बारे में सब अर्थशास्त्री एक मत नहीं हैं, किसी ने द्रव्य के तीन मुख्य कार्य माने हैं, किसी ने दो और किसी ने चार। इसी प्रकार उन्होंने अपने अपने दृष्टिकोण से द्रव्य की परिभाषा की है, और इनकी परिभाषाएँ अनेक हैं। कोई किसी बात पर जोर देता है तो कोई किसी और बात पर, और इस तरह हर एक की परिभाषा अलग-अलग है। और इसमें कोई आश्चर्यजनक बात भी नहीं है—ऊटन का कहना है कि जब कभी छ अर्थशास्त्री एकत्रित होते हैं, तो उनकी सात रायें होती हैं। सिजविक तथा हार्टले विदर्स का भी कहना है कि "Money is what money does" अर्थात् द्रव्य वह है जो द्रव्य का काम करे। इसका मतलब यह हुआ कि कोई वस्तु जो विनिमय का माध्यम, मूल्य का माप, मूल्य का संचय, तथा पूर्व ऋण की अदायगी का कार्य सम्पन्न करे, द्रव्य कही जा सकती है। यदि सोने का टुकड़ा यह काम नहीं कर सकता तो वह द्रव्य नहीं कहा जा सकता, इसके विपरीत यदि कागज़ के नोट से इन कार्यों को भली भाँति पूरा किया जा सकता है तो वह द्रव्य कहा जायेगा। सारांश यह है कि परिभाषा का आधार वस्तु को न मानकर कार्यों को माना गया है और जो अर्थशास्त्री जैसे द्रव्य के कार्य मानता है, वैसी ही वह द्रव्य की परिभाषा देता है। साधारणतया हम कहते हैं कि "कोई भी वस्तु जो सर्वमान्य रूप से विनिमय के माध्यम तथा मूल्य के माप और संचय का काम करे वही द्रव्य है" या "द्रव्य वह वस्तु है जो साधारणतया विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार की जाती है अर्थात् जो देना-पावना चुकाने का साधन है और साथ ही जो मूल्य के माप और उसके कोष का काम करती है ("Money is anything that is generally acceptable as a means of exchange, and at the same time acts as a measure and a store of value"—Crowther)

अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या द्रव्य के लिए इन सब कार्यों के करने के योग्य होना आवश्यक है, या इनमें से किसी एक या दो के। क्राऊथर का कहना है कि द्रव्य इन सभी कार्यों को पूरा करता है—केवल एक को नहीं। यदि कोई वस्तु विनिमय का माध्यम हो सकती है, मूल्य का माप नहीं, तो द्रव्य नहीं कही जायेगी। यदि कोई वस्तु मूल्य के संचय की क्षमता तो रखती है पर सर्वमान्य रूप से विनिमय के साधन की तरह स्वीकार नहीं की जाती तो द्रव्य नहीं कही जा सकती। इंगलैंड में गिन्नी आज भी मूल्य के माप तथा मूल्य के संचय का काम करती है; पर उसका सिक्कों की तरह विनिमय के साधन के रूप में चलन नहीं है इसलिए उसे द्रव्य नहीं कह सकते। स्टाक्स और शेयर्स के रूप में मूल्य को संचित तो किया जा सकता है पर केवल इससे ही वह द्रव्य नहीं कहलाये जा सकते, कारण कि वे द्रव्य के दूसरे कार्य करने में असमर्थ हैं। इसी प्रकार कूपन्स गिफ्ट कुछ वस्तुओं

की ऋण अदायगी में तो स्वीकार किये जा सकते हैं पर अन्य वस्तुओं के भुगतान में सब मान्य नहीं हैं इसलिए द्रव्य नहीं कहे जा सकते। इसके विपरीत राबर्टसन सेलिगमैन और अन्य अर्थशास्त्रियों का यह कहना है कि मुद्रा वह वस्तु है जिसकी सर्वग्राह्यता हो (Money is anything that possesses general acceptability') दूसरे शब्दों में द्रव्य का सबसे महान गुण उसकी सर्वमान्यता है। इसका मतलब यह हुआ कि *जिस वस्तु का द्रव्य के लिए प्रयोग हो उसे ऐसा होना चाहिए कि इन कार्यों के लिए उसे सभी* स्वीकार करें। इसी महान गुण के कारण चार इंच का छोटा सा कागज़ आज प्रमुख मुद्रा बन गया है और धात्विक द्रव्य की प्रतिष्ठा उसके सामने नीचे गिर चुकी है। [कभी कभी यह कहा जाता है कि द्रव्य इसलिए अपना कार्य करता है कि वह कानूनी ग्राह्य होता है अर्थात उसे लोग इसलिए स्वीकार करते हैं कि सरकार उन्हें ऐसा करने को मजबूर करती है पर ऐसा सोचना ठीक नहीं है। विक्टोरिया के रुपये का यद्यपि अब वह कानून ग्राह्य नहीं है लोग अब भी चाहते हैं और अधिक दाम देकर भी लेते हैं। दूसरी ओर केवल कानून ग्राह्य होने से भी मुद्रा का स्वीकृत होना आवश्यक नहीं है जैसा कि जर्मनी में लड़ाई के समय मार्क्स के साथ हुआ। यद्यपि वे कानून ग्राह्य थे परन्तु उनका मूल्य मुद्रा स्फाति के कारण ऐसा तेजी से गिरा कि लोगों ने उनको स्वीकार करना बन्द कर दिया और उनका द्रव्य के रूप में चलना बन्द हो गया। तात्पर्य यह है कि द्रव्य का सबसे महान् गुण सर्वमान्यता ही है और जिस चीज को भी लोग वस्तुओं के बदले और ऋण चुकाने में स्वीकार करते हैं वही द्रव्य है।]

इस सम्बन्ध में स्टानियर तथा हग ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है। उनका कहना है कि एक कालेज का प्रोफेसर सदैव १० बजे लेक्चर देने के लिए कालेज आ जाता है क्योंकि उसे विश्वास है कि विद्यार्थीगण उसे सुनने के लिए उस समय आएंगे और इसी प्रकार विद्यार्थीगण सदैव १० बजे कालेज पहुंच जाते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास रहता है कि प्रोफेसर साहब उस समय लेक्चर देने आएंगे। यही बात द्रव्य के साथ है। अ उसे इसलिए स्वीकार करता है कि ब उसे ले लेगा, ब उसे इसलिए ले लेता है कि उससे स ले लेगा स उसे इसलिए ले लेता है कि उसे विश्वास है कि द उसे ले लेगा आदि आदि। और जब तक इस प्रकार का विश्वास बना रहेगा द्रव्य काम करता रहेगा।

द्रव्य (या मुद्रा) की कुछ और परिभाषाएँ
(*Some other definitions of Money*)

१—मुद्रा वह वस्तु है जो साधारणतया विनिमय के माध्यम और मूल्य के मापदंड का काय करे और जिसको ऋण के भुगतान में सब लोग स्वीकार करते हों। Money is anything which is commonly used and generally accepted as a medium of exchange and as a standard of value —*Kent*

२—किसी भी वस्तु को मुद्रा कहा जा सकता है, जो विनिमय का माध्यम हो जिसको सब लोग बे रोक-टोक स्वीकार करें और जो साधारणतः ऋण भुगतान करने के काम में लाई जाय। Money is anything that passes freely from hand to

द्रव्य का महत्त्व

(Importance of Money)

आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में द्रव्य का एक विशेष स्थान है। यह कहना गलत न होगा कि यदि हमारे बीच से द्रव्य को हटा लिया जाय, तो हमारी सम्पूर्ण व्यवस्था में अराजकता छा जायेगी और हमें अपने आर्थिक सम्पादन के कार्यों में अनगिनित कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। जे० एस० मिल ने ठीक ही लिखा है कि द्रव्य से अधिक आतरिक रूप से महत्त्वपूर्ण इस सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में और कोई वस्तु नही हो सकती।

समाज के सब वर्गों और सब लोगो को द्रव्य के प्रयोग से जो लाभ हुए है, उन्हें समझना कुछ कठिन नही है। सबसे पहिला लाभ तो यह है कि उससे वे कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं जिनका अनुभव अदल-बदल सम्बन्धी आर्थिक व्यवहार में होता होगा। उसमें क्या-क्या कठिनाइयाँ उपस्थित होती होगी, उसका आज हम अनुमान भी नही लगा सकते, परन्तु हम आज के दिन यह अवश्य देख रहे है कि जीवन की प्रत्येक दशा और मानवता की सुख-समृद्धि द्रव्य के प्रयोग के साथ बँधी है। यह विनिमय (exchange) का सर्वमान्य माध्यम है, जिससे वस्तुओं का बेचना और खरीदना आसान हो गया है, बाजारों का क्षेत्रफल विस्तृत हो गया है और व्यापार बहुत बढ गया है। इससे उपभोक्ता (consumer) को यह लाभ होता है कि उसकी क्रय शक्ति एक ऐसे रूप मे हो जाती है कि वह जिस वस्तु को चाहे सरलता से खरीद सकता है और उसे खरीदारी करने में कोई कठिनाई नही होती। इसी तरह उत्पत्ति (production) के क्षेत्र में भी अपरिमित सुविधा मिलती है और श्रम-विभाजन, बड़ी मात्रा का उत्पादन, और बड़े-बड़े धधो का चलाना सम्भव हो जाता है और राष्ट्रीय आय का वितरण (distribution of national dividend) भी आसानी से किया जा सकता है। यदि द्रव्य न होता तो विनिमय की मात्रा अत्यन्त अल्प होती

---

hand as a medium of exchange and is generally received in the final discharge of debts."—*Ely*.

३—मुद्रा क्रय-शक्ति है, कुछ ऐसी चीज है, जो वस्तुओं के खरीदने के काम आती है। "Money is purchasing power—something which buys things—it is anything that is habitually and widely used as a means of payment, and is generally acceptable in the settlement of debts."—*Cole*.

इन सब परिभाषाओ से एक बात स्पष्ट होती है कि सभी अर्थ शास्त्रियो ने मुद्रा की परिभाषा में 'विनिमय-माध्यम" और "मूल्यांकन' पर विशेष ज़ोर दिया है, और हम कह सकते हैं कि साधारणतया "किसी भी देश की मुद्रा उस वस्तु को कहते हैं, जो उस देश में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन करे तथा जो उनके बदले में चुकाने के काम में लाई जाये।" इन सब परिभाषाओ से एक बात और भी स्पष्ट होती है कि द्रव्य का स्वय अपना कोई भी उपयोग नहीं। यह केवल मूल्य को एकत्र करता है तथा वस्तुओं और सेवाओं को मोल लेने और ऋण का अन्तिम भुगतान करने के काम में लाया जाता है। जब तक किसी वस्तु में यह गुण है तब तक वह द्रव्य है, उसके पश्चात् नही।

और परिणामवश उत्पत्ति की मात्रा भी बहुत कम होती। आज के दिन हम द्रव्य के बदले में ही वस्तुओं को बेचते हैं, द्रव्य से ही उन्हें खरीदते हैं, द्रव्य से ही हमारा देशी और विदेशी व्यापार चलता है। द्रव्य द्वारा ही श्रम विभाजन होता है और श्रमिकों के श्रम का मूल्य चुकाया जाता है। इसी के द्वारा सम्पत्ति का सचय और पूँजी का निर्माण होता है। और इसी की सहायता से हम उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न साधनों को सगठित करते हैं, इसी के सहारे हम मिश्रित पूँजी-वाली कम्पनियाँ चलाते हैं, मशीनों का अधिकाधिक प्रयोग करते है, देश के प्राकृतिक साधनों का उपयोग करते हैं और देश-देश से माल मँगाते हैं। द्रव्य के बिना आज की आर्थिक व्यवस्था चल ही नही सकती। इसके द्वारा ही साहित्य, सभ्यता, कला-कौशल, शिक्षा चित्रकारी, विज्ञान आदि की उन्नति हुई है, और यह ही समाज की आर्थिक प्रगति का सूचक है, विश्व बधुत्व को फैलाने का महान साधन है, और सभ्यता के इतिहास का सार है। यह वास्तव में सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की धुरी है और उसी के चारों ओर अर्थशास्त्र चक्कर लगाता रहता है। "Money is the pivot round which the economic science clusters"—(*Marshall*) यह मनुष्य के सबसे महान आविष्कारों में से है। क्राऊथर का कहना है, 'ज्ञान की प्रत्येक शाखा की अपनी अपनी मूल खोज है—जैसे यन्त्र-कला में 'चक्र', विज्ञान में 'अग्नि,' राजनीति शास्त्र में 'वोट', इसी प्रकार अर्थशास्त्र और मनुष्य के सामाजिक जीवन के कारोबार में द्रव्य' सबसे उपयोगी आविष्कार है, जिस पर बहुत सी बातें आधारित हैं।"

इस प्रकार हम देखते है कि किसी भी देश तथा जाति की आर्थिक उन्नति द्रव्य से सम्बन्धित है। पर द्रव्य में कुछ दोष भी हैं। पहिला दोष यह है कि व्यापार-चक्रो का उत्तर-दायित्व द्रव्य पर है (व्यापार चक्र अध्याय पढ़िए), दूसरे द्रव्य के प्रयोग ने ससार में असमानता फैला दी है—गरीब और भी गरीब तथा अमीर और भी अमीर बन जाते हैं, और यह विश्व शान्ति के लिए हितकर नही है, तीसरे, द्रव्य के कारण ही ससार में आत्मिकवाद का ह्रास हो गया है और भौतिकवाद का बोल बाला हो गया है। हारेस का कहना है कि —

"All things human and divine, Renown,
Honour and Worth, at money's shrine go down"

इसके अतिरिक्त, यह कहा जाता है कि द्रव्य ही अनेक सामाजिक अपराधों व पापों की जड़ है—चोरी, डकैती, घूसखोरी, इत्यादि मुद्रा के व्यवहार में आने से ही व द्रव्य के महत्व के कारण ही सरल हो जाते हैं। तो भी ये दोष वास्तव में कोई दोष नहीं हैं—द्रव्य में जितने दोष पाये जाते हैं, वे केवल इसलिए कि मनुष्य ने उसमें दोष भर दिये हैं और यदि हम द्रव्य को उसके उचित स्थान में लाकर उसे केवल आर्थिक यन्त्र के चलाने में सहायता देने का एक सरल उपाय ही समझें, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्रव्य पर इन दोषों का उत्तरदायित्व नही है, बल्कि उसके स्वामी—मानव पर। "द्रव्य एक अच्छा सेवक तो है, परन्तु एक बुरा मालिक है।"

द्रव्य पदार्थ के आवश्यक गुण

(*Qualities of Good Money Material*)

भिन्न-भिन्न देशों में, भिन्न भिन्न समयों में विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ द्रव्य के रूप में काम में लाई गई हैं। भारत में अब तक गावों में अनाज का इसी रूप में प्रयोग होता है। किन्तु इन सब वस्तुओं की अपेक्षा चादी और सोने की धातुएँ द्रव्य के रूप में अधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं और धीरे धीरे दूसरी वस्तुएँ इन्हें ही द्रव्य के रूप में जगह देने लगी हैं। इसका कारण क्या है?

द्रव्य के कार्यों का सतोषपूर्वक निर्वाह करने के लिए द्रव्य पदार्थ में कुछ विशेषताओं का होना आवश्यक है। यह विशेषताएँ इस प्रकार हैं —

(१) उपयोगिता तथा सर्वमान्यता (utility and general acceptability)—जिस पदार्थ का उपयोग द्रव्य के लिए किया जाय, उसमें एक पदार्थ की दृष्टि से भी यदि विनिमय शक्ति या मूल्य है और इस कारण आम लोगों में उसका प्रचार है तो उसके लिए विनिमय का सर्वमान्य माध्यम बनने में औरों की अपेक्षा आसानी होगी, क्योंकि, कानून के अतिरिक्त, जनता को उसमें उसकी इस स्वतंत्र-विनिमय-शक्ति के कारण भी विश्वास होगा। अत स्वतंत्र विनिमय शक्ति का उसमें पाया जाना एक गुण है। सोना चाँदी में यह गुण विद्यमान है। यह इसी से प्रत्यक्ष है कि धातु के रूप में इसकी काफी माँग है।

जो वस्तु उपादेय है वही सर्वमान्य होगी, जैसे चाँदी और सोना सभी के लिए उपयोगी है, इन्हें सभी चाहते है, अतएव ये सर्वमान्य हैं। पर यदि किसी गदी बदबूदार खाल को हम माध्यम बना दें, तो कितने आदमी इसे स्वीकार करेंगे?

(२) टिकाऊपन अर्थात अक्षयशीलता (durability and indestructibility)—ऐसे पदार्थ शीघ्र ही नष्ट न होनेवाले होने चाहिएँ, अन्यथा अधिक दिनों तक विनिमय का माध्यम न रह सकेंगे। खाल, चाय, कहवा अधिक दिनों तक नहीं रखी जा सकती, लेकिन सोने चादी को बहुत समय तक रखा जा सकता है। कहा जाता है कि सोने के सिक्के ८००० वर्ष तक सुरक्षित रह सकते हैं। आजकल सोने चाँदी के सिक्कों में ताबे को मिलाकर और भी अक्षयशील बना दिया जाता है।

(३) वहनीयता (portability) अथवा लाने और ले जाने की सुविधा—तीसरी विशेषता द्रव्य पदार्थ की यह होनी चाहिए कि एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में आसानी हो और कम खर्चा हो। इसके लिए आवश्यक है कि थोड़े में अधिक मूल्य रखने की क्षमता उन पदार्थों में हो और इस दृष्टि से सोने में यह गुण विशेष रूप से पाया जाता है। जरा से टुकड़े में काफी मूल्य आ जाता है तथा अपक्षाकृत थोड़ा खर्चा और श्रम उसकी वहनीयता में पड़ता है। इसके विपरीत लोहा, अनाज, लकड़ी, ईंट इत्यादि जैसी वस्तुएँ इस गुण के अभाव के कारण उपयुक्त नहीं मानी जाती।

(४) विभाजकता (divisibility)—द्रव्य पदार्थ में विभाजकता का गुण भी होना आवश्यक है। इससे तात्पर्य यह है कि अगर इसको टुकड़ों में बाँटा जाय तो भी इसका

मूल्य न घटे। (और यदि, इन छोटे-छोटे टुकड़ों को जोड़ दिया जाए तो फिर उनका वही मूल्य होगा जो कुल पदार्थ का था)। हीरे के टुकड़े करने से उसका मूल्य गिर जाता है। इसी तरह एक खाल के छोटे छोटे टुकड़े किए जायेंगे तो इसका मूल्य घट जायेगा। जितने छोटे टुकड़े होते चलेंगे, उतने ही मूल्य में घटते चलेंगे, क्योंकि छोटे-छोटे टुकड़ों की उपयोगिता घटती चलेगी। पर सोने के कितने ही छोटे टुकड़े किए जायें उसकी उपयोगिता कम नहीं होगी इसलिए मूल्य भी नहीं घटेगा। इस दृष्टि से भी सोना और चांदी आदर्श हैं।

(५) एकसापन या एकरूपता (homogeneity)—इस पदार्थ के टुकड़ों का मूल्य आनुपातिक रूप से समान होना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि हम चार तोले सोने के ४ टुकड़े बराबर-बराबर कर दो इनमें से हर एक सोने के टुकड़े की कीमत ४ तोले सोने की ठीक चौथाई होनी चाहिए। इस एकसापन के गुण के कारण सोना आदर्श द्रव्य माना जाता है, उसकी परीक्षा व छानबीन की आवश्यकता नहीं रहती। और हर लेन देन में जो समय परीक्षा में नष्ट होता, उसकी बचत हो जाती है।

(६) परिचयता या सरल पहचान का होना (cognizability)—जो पदार्थ इस काम के लिए चुना जाय उसमें यह गुण भी होना आवश्यक है कि वह आसानी से पहचाना जा सके और जाली और असली सिक्कों में प्रत्येक व्यक्ति शीघ्रता और सरलता से अन्तर कर सके। धातु को कसौटी पर रखकर पहचान कर लेते हैं, रुपया को चुटकी पर बजाकर परख लेते हैं, पर गेहूँ अथवा दूसरे पदार्थ की जाँच इतनी सरल नहीं है।

(७) गलनशीलता या ढलनशीलता (malleability)—यह पदार्थ ऐसा भी होना चाहिए कि सरलतापूर्वक गलाया जा सके और इसको चाहे जैसा रूप दिया जा सके। और ऐसा कि उस पर चिह्न असर (impressionability) ठीक-ठीक आ सके। ये गुण चाँदी और सोने में विशेष रूप से पाये जाते हैं।

(८) मूल्य में स्थिरता (stability in value)—द्रव्य पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि उसके मूल्य में स्थिरता हो अर्थात् वह बहुत कम परिवर्तनशील हो, क्योंकि जितनी अधिक किसी पदार्थ में स्थिरता होगी, उतनी ही उससे निर्मित मुद्रा में होगी। यह गुण बड़े महत्त्व का है क्योंकि द्रव्य का संचय और उपयोग भली भांति तभी हो सकेगा, जब कि पदार्थ के मूल्य में भी स्थायित्व हो। यह गुण सोने और चाँदी में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पाया जाता है, कारण कि किसी एक वर्ष में प्राप्त नई पूर्ति उसकी उस कुल पूर्ति की अपेक्षा जो पहले से मौजूद है, बहुत कम रहती है। जैसे पानी की थोड़ी सी मात्रा समुद्र से ले ली जाय अथवा उसमें जोड़ दी जाय तो समुद्र के कुल जल की मात्रा पर न के बराबर प्रभाव डालेगी, इसी प्रकार सोने या चाँदी की पूर्ति किसी एक साल में संसार भर की कुल उपलब्ध सोने या चाँदी की मात्रा का एक नाम-मात्र प्रतिशत होती है। और इसका प्रभाव भी नाम-मात्र ही होता है। अन्य वस्तुएँ जिनके मूल्य में अपेक्षाकृत कम स्थायित्व होता है और जिनकी पूर्ति हर समय घटती-बढ़ती रहती है, द्रव्य के संचय का कार्य नहीं कर सकतीं और न संतोषपूर्वक पुराने ऋणों का चुकता करने का कार्य ही उसके द्वारा किया जा सकता है।

अस्तु, हम निष्कर्ष निकालते हैं कि सोने और चाँदी मे अन्य धातुओ और वस्तुओ की अपेक्षा आदर्श द्रव्य पदार्थ के सभी आवश्यक गुणो का समावेश है। इसीलिए ससार के सभी सभ्य देशो मे इनका द्रव्य पदार्थ के रूप मे उपयोग होता है। इनके अतिरिक्त अन्य धातुओ जैसे ताँबा, निकिल, पीतल आदि का भी व्यवहार होता है। पर चूँकि उनमें वहनीयता का गुण कम होता है, वे बडे सिक्को के रूप में कम प्रयोग में लाई जाती है और केवल छोटे सिक्को के रूप में ही आदर्श रहती हैं। सोने-चाँदी के इतने छोटे छोटे टुकडो को उठाने में और लाने-ले जाने में बहुत कठिनाई रहती।

कागजी मुद्रा का द्रव्य के रूप मे व्यवहार

(Use of Paper as Money)

यद्यपि उपर्युक्त गुण ही एक आदर्श मुद्रा की विशषताएं हैं, पर आजकल हमारे दृष्टिकोण में काफी परिवर्त्तन हो गया है। आजकल द्रव्य का केवल एक आवश्यक गुण माना जाता है, वह है इसकी सर्वमान्यता (general acceptability) अर्थात जिसे सब स्वीकार कर ल। अ द्रव्य को इसलिए स्वीकार करता है क्योकि वह जानता है कि वह उसके द्वारा ब का ऋण चुका सकता है, ब उसे इसलिए स्वीकार करता है क्योकि वह जानता है कि वह इसके द्वारा स को मजदूरी दे सकता है आदि, आदि। (Everyone is willing to take money in exchange for his goods because he knows that others will in turn be willing to take money in exchange for their goods)। अब प्रश्न यह उठता है कि द्रव्य सर्वमान्य कब और कैसे होता है। द्रव्य सर्वमान्य तब होता है, जब इसमें कुछ उपयोगिता (utility) हो। और वह अपेक्षाकृत न्यून (scarcity) हो। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्रव्य पदार्थ के लिए न्यून होना ही एक आवश्यक गुण है।

सोना चाँदी बहुत समय से आदर्श द्रव्य-पदार्थ समझे जाते रहे हैं, क्योकि उनमें द्रव्य-पदार्थ के सभी आवश्यक गुणो का समावेश है, तो भी आजकल धातु-मुद्रा के रूप में धातुओ का प्रयोग कम होता जा रहा है। आजकल के व्यवसायी के पास इतना समय नही है कि वह धातु मुद्रा के गिनने या परखने में समय लगावे अत प्रत्येक देश मे कागज़ी द्रव्य का प्रयोग अधिकाधिक मात्रा में किया जाता है और आज के दिन कोई भी वस्तु जो न्यून है, चाहे वह रद्दी कागज का टुकडा हो या बैंक की किताबो म किया गया केवल एक हस्ताक्षर, द्रव्य है। ("Scarcity is the only test, and money today consists of things as worthless as a scrap of paper or the scratch of a clerk's pen in the books of a bank") यही कारण है कि कागज़ी नोट भी द्रव्य का कार्य सुचारु रूप से करते हैं, यद्यपि इनमें उपर्युक्त आदर्श द्रव्य पदार्थ के गुणो का सवथा अभाव है, न उपयोगिता है, न अक्षयशीलता, न वहनीयता, न विभाज्यता इत्यादि। कागज़ी नोट का स्थान तो आज की द्रव्य-व्यवस्था में सर्वोपरि है और इसके उदय होने से,

स्वर्ण और चांदी के द्रव्य रूप जिनका कभी एकाधिकार था आज विलुप्त होते जा रहे हैं या वे केवल एवं सहायक मुद्रा की भांति कागजी नोटों की अधीनता में काम कर रहे हैं।

Questions

1 What is Barter? Discuss the advantages and disadvantages of Barter Economy and Exchange Economy (Agra 1948 Alld 1945)

2. Explain what you mean by money and discuss the advantages of money to the consumer to the producer and to the economic system generally (Agra 1954)

3 Define money and briefly discuss its various functions How are these functions performed by the different forms of money that we use? (Agra 1952 Rajputana 1956)

4 Money is a conven[illegible] and an aid to book keeping—a token by which wealth is exchanged Do you agree with the above definition? Give reasons (Alld 1950)

5 Money is what money does Explain this remark with reference to the several functions of money (Agra 1951 51)

6 What qualities should a good money material possess? How is it that even a worthless substance like a piece of paper circulates as money today?

7 Account for the adoption of gold as money material Why has it been discarded in recent years? (Agra 1953)

8 What are the essential attributes of good money? Do you hold that money should have intrinsic value? (Bihar 1950)

४४

द्रव्य के रूप

(Forms of Money)

द्रव्य की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की गई हैं, उनमें से कुछ बहुत संकीर्ण है और कुछ बहुत व्यापक। संकीर्ण अर्थ में द्रव्य का अर्थ केवल धातु के सिक्कों से लिया जाता है, व्यापक अर्थों में द्रव्य में (१) धात्विक सिक्के (२) कागज नोट तथा (३) चेक, हुडियाँ इत्यादि सभी सम्मिलित किये जाते हैं। साधारण रूप से हम कह सकते है कि आज के दिन द्रव्य में निम्नलिखित वस्तुएँ सम्मिलित हैं—

(अ) धात्विक द्रव्य (सिक्के)

(ब) कागज़ी द्रव्य (नोट)

(स) साख पत्री द्रव्य अथवा साख द्रव्य (बैंक डिपॉजिट, चेक, बिल, हुण्डियाँ इत्यादि)

वास्तव मे वर्तमान युग मे कागज़ी द्रव्य को द्रव्य में सम्मिलित न करना एक बड़ी भारी भूल होगी, क्योंकि आजकल धातु-मुद्रा तो कही दिखाई भी नही पडती, और बहुत करके कागज़ी द्रव्य ही विनिमय करने के काम में लाया जाता है। इस सम्बन्ध में जी० डी० एच० कोल का कहना है कि आदत के अनुसार जो भी चीज सब लोगों में भुगतान के रूप में काम में लाई जाये, वही द्रव्य है। यह सिक्के वाला द्रव्य हो सकता है, जो फुटकर व्यवहार में और मजदूरी के भुगतान के काम मे लाया जाता है, या नोट हो सकते है जो इन सब कामो मे तो लाये ही जाते है, इसके अतिरिक्त कुछ सीमा में, बड़े ऋण चुकाने में भी काम मे आते है, या यह बैंक जमा भी हो सकती है जो चेकस के द्वारा दी जाती है। परन्तु यदि इन सबको बिल्कुल एक-सा ही माना जाय, तो भी एक भूल होगी, क्योंकि चेक, बिल, हुडियो आदि को सब लोग सब स्थानो पर बिना संशय के लेने को तैयार नही होते। दूसरे, लोग इनको तभी लेते है जब कि वे देनेवाले को जानते हैं और उसमें विश्वास रखते हैं। यही कारण है कि कुछ लेखक केवल सिक्को (धात्विक द्रव्य) और नोटो (कागज़ी द्रव्य) को द्रव्य मानते है और शेष को साख-पत्र कहकर पुकारते हैं, तो भी आजकल के युग में सभी द्रव्य का काम करते है और सबको ही द्रव्य मानना अनुचित न होगा।

द्रव्य के इन तीनो रूपो का हम अब नीचे विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

(अ) धात्विक द्रव्य (या मुद्रा)

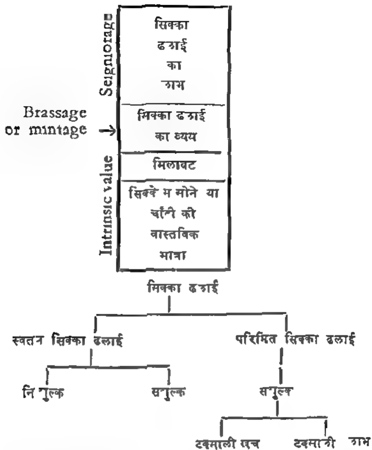
(Metallic Money)

धात्विक द्रव्य उस द्रव्य को कहते हैं जो किसी धातु का बना हुआ होता है और जिसमें अंकित मूल्य (Legal Value) के साथ-साथ धात्विक मूल्य (Metallic Value) भी होता है।

प्राचीन काल में धातु के साधारण टुकड़े द्रव्य के लिए प्रयोग किये जाते थे। परन्तु इसमें विनिमय के समय उन्हें बार-बार तोलना और जाँचना पड़ता था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए समान वजन और समान आकार-प्रकार के धातु के टुकड़े द्रव्य के लिए प्रयोग में आने लगे, जिन्हें सिक्के (coins) कहते हैं। ये धातु के ऐसे टुकड़े होते हैं, जो सुडौल और वजन व शक्ल में समान होते हैं, और उन पर उनका कानूनी मूल्य लिखा रहता है। इन सिक्कों का किरकिरादार बनाया जाता है और इनके किनारों पर धारियाँ (milling) बनी हुई होती हैं जिससे किनारे काटे नहीं जा सकते हैं। इन सिक्कों में मिश्रित धातु (alloy) भी मिलाई जाती है जिससे इनकी घिसन कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त इन सिक्कों की बनावट ऐसी होती है कि इनकी नकल सुगमतापूर्वक नहीं की जा सकती।

साधारणतया प्रत्येक देश में सिक्का-ढलाई का अधिकार वहाँ की सरकार को होता है। लेकिन कहीं-कहीं जन-साधारण या सरकार द्वारा नियुक्त किसी संस्था को भी यह अधिकार दे दिया जाता है। जिस स्थान पर सिक्के ढाले जाते हैं उसको टकसाल (Mint) कहते हैं, और सिक्का के बनाने की क्रिया को सिक्का-ढलाई या टकण (Coinage) कहते हैं। सिक्का-ढलाई की दो प्रणालियाँ प्रसिद्ध हैं। (१) स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई प्रणाली और (२) परिमित सिक्का-ढलाई प्रणाली। स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई प्रणाली (Free Coinage) के अन्तर्गत टकसाल जनता के लिए खुली रहती है अर्थात् देश के प्रत्येक नागरिक को अपनी धातु टकसाल में ले जाकर सिक्का ढलवाने का अधिकार प्राप्त होता है। भारतवर्ष में सन् १८९० ई० तक तथा इंगलैंड में सन् १९३१ ई० तक यही प्रणाली थी। इसके विपरीत यदि सरकार स्वयं ही अपने निर्णय से जितने सिक्कों की आवश्यकता समझती है ढालती है, और जनता को धातु ले जाकर टकसाल से सिक्का बनवा लेने का अधिकार नहीं होता तो इसे परिमित सिक्का-ढलाई प्रणाली (Limited Coinage) कहते हैं। अब यही प्रणाली संसार के अधिकांश देशों—इंगलैंड, फ्रांस, भारत, जापान आदि—में पाई जाती है।

यदि नागरिक को सिक्का-ढलाई के लिए कोई शुल्क नहीं देना पड़ता तो सिक्का-ढलाई *स्वतन्त्र और निःशुल्क* (Gratuitous) कहलाती है और यदि शुल्क देना पड़ता है तो सशुल्क (Non-Gratuitous)। इसी प्रकार यदि नागरिक को सिक्का ढलवाने के लिए शुल्क ठीक उतना ही देना होता है जितना सरकार को सिक्का ढालने में व्यय करना पड़ता है तो इसे 'टकसाली खर्च' (Mintage or Brassage) कहते हैं। और यदि सरकार सिक्का ढलवानेवालों से व्यय से अधिक शुल्क लेती है तो यह अधिक रकम 'टकसाली लाभ' (Seigniorage) कहलाती है। मान लो एक रुपया बनाने में सरकार के दो आने व्यय होते हैं, तो यदि सरकार दो आने ही वसूल करे तो इस फीस को टकसाली खर्च (Mintage or Brassage) कहेंगे, और यदि सरकार दो आने व्यय करे परन्तु जनता से आठ दस आने वसूल करे तो इस अतिरिक्त आय को टकसाली लाभ (Seigniorage) कहेंगे।



इस सम्बन्ध में दो एक बात और भी समझ लेनी आवश्यक हैं। जब किसी सिक्के के वजन में कमी कर दी जाय या वजन पूर्ववत् रहे किन्तु सिक्के की उत्तमता घटा दी जाय अर्थात् उसमें कीमती धातु का अनुपात कम कर दिया जाय या उसके वजन तथा उत्तमता में कमी कर दी जाय तो इसे सिक्के का विकार या खोटापन (Debasement) कहते हैं। सिक्के की उत्तमता में कमी केवल सिक्के ढालनेवाली संस्था ही कर सकती है। लेकिन सिक्के के वजन में कमी गैर-कानूनी प्रकार से उसके किनारे काटकर (clipping) उसे तेजाब में डालकर (sweating) या उसे थैली में हिलाकर या घिसकर (abrasion) भी वर्तमान लोग कीमती धातु निकाल लेने की नियत से कर सकते हैं। [जब साधारण तथा वैध उपयोग के द्वारा सिक्के के वजन में कमी हो जाती है तो उसे सिक्के का खोटापन नहीं कहते वरन् सिक्के की घिसन कहते हैं।]

यह भी हमको समझ लेना चाहिए कि परिमित और अपरिमित कानूनी सिक्कों से क्या अर्थ है। कानूनी द्रव्य या कानून-ग्राह्य द्रव्य (Legal Tender) उस द्रव्य को कहते हैं जिसका स्वीकार करना किसी देश के अंतर्गत क़ानूनन अनिवार्य होता है (कानून

के अनुसार ऋण को चुकाने के लिए सिक्का तय कर दिया जाता है और चूंकि उसके पीछे सरकार की स्वीकृति होती है इसलिए लोग इसे अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि ऐसा करें तो वे कानूनन दंडित किये जा सकते हैं।) यह कानूनी-ग्राह्य द्रव्य भी दो प्रकार का होता है—अपरिमित कानूनी द्रव्य और परिमित कानूनी द्रव्य। यदि उक्त द्रव्य से मनचाही रकम चुकाई जा सके तो वह अपरिमित कानूनी द्रव्य (Unlimited Legal Tender) कहा जायगा, जैसे इंगलैंड में पाउण्ड भारतवर्ष में रुपया और यदि उक्त द्रव्य केवल एक सीमित कीमत तक ही कानूनी है तो उस परिमित कानूनी सिक्का (Limited Legal Tender) कहेंगे, जैसे भारतवर्ष में पैसा, अधन्ना, इकन्नी दुअन्नी चवन्नी आदि रेजगारी के सिक्के परिमित कानूनी सिक्के ही हैं। पचीस रुपए से कम की कीमत चुकाने में इनका लेना अनिवार्य है। लेकिन यदि किसी व्यक्ति को सौ रुपये का ऋण चुकाना है और वह १०० रु० की इकन्नियाँ ही इकन्नियाँ देना चाहता है तो लेनेवाला लेने से इनकार कर सकता है। परन्तु रुपये और अठन्नी के सिक्के कितनी ही मात्रा में और किसी भी सीमा तक दिये जा सकते हैं, क्योंकि वे अपरिमित कानूनी सिक्के हैं। इसी तरह इंगलैंड में शिलिंग, पेंस दो पौंड अथवा ४० शिलिंग तक दिये जा सकते हैं इससे अधिक नहीं, जबकि पौंड के सिक्के किसी भी सीमा तक दिये जा सकते हैं।

प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्के
(Standard and Token Coins)

प्रामाणिक सिक्के या प्रधान सिक्के (Standard Coins)—वह सिक्के होते हैं जिनमें देश के अन्य सिक्कों के मूल्य को आधारित किया जाता है। ऐसे सिक्कों में तीन बातें पाई जाती हैं :—

(१) स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई (Free coinage)—प्रामाणिक सिक्के साधारणतः स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई वाले होते हैं, इनके नियमित मूल्य (Face Value or Legal Value) तथा वास्तविक मूल्य (Metallic or Intrinsic Value) में अन्तर नहीं होता यानी सिक्के में जो धातु होती है, उसका मूल्य और इस पर जो अंकित होता है वह मूल्य बराबर होते हैं जैसे २० सितम्बर १९३१ से पहले इंगलैंड का पाउण्ड २० शिलिंग के बराबर नियमित मूल्य का था। यदि उसको पिघला दिया जाता तो भी उसकी धातु के मूल्य से २० शिलिंग मिल जाते। (प्रामाणिक सिक्के में नियमित तथा वास्तविक मूल्य का असमान होना असंभव होता है। कारण कि यदि धातु की कीमत निर्धारित कीमत से अधिक हो जाती है तो लोग सिक्कों को सिक्का न रहने देकर पिघलाकर धातु बना लेंगे, यदि कम हो जायगी तो लोग धातु को सिक्कों में बदलकर लाभ उठायेंगे। मान लो पाउण्ड के धातु का मूल्य £१ से कम हो जाता है जैसे १९ शिलिंग रह जाता है जब कि सिक्के की कीमत £१ है, तो लोग १९ शि० की धातु लेकर उसे पौंड के सिक्के के रूप में बदल कर लाभ उठाने लगेंगे।)

(२) यह देश के बाहर और अंदर दोनों जगह देश का मुख्य सिक्का (Principal Coin) होता है। अन्य सांकेतिक अथवा सहायक सिक्कों का मूल्य इसी से निर्धारित किया जाता है। इसका आयात निर्यात भी स्वतन्त्रतापूर्वक हो सकता है।

(३) यह अपरिमित कानूनी (Unlimited Legal Tender) द्रव्य होता है। किसी भी सीमा तक ऋण का अदायगी में ऋणदाता या विक्रेता को यह क़ानूनन स्वीकार करना पड़ता है। चूंकि इसका नियमित और धात्विक मूल्य बराबर होता है इसलिए विक्रेता तथा ऋणदाता इसे प्रसन्नता से स्वीकार भी करते हैं।

सांकेतिक सिक्के या प्रतीक सिक्के (Token Coins)—वह सिक्के होते हैं जिनका नियमित मूल्य (Face Value or Legal Value) वास्तविक मूल्य (Metallic Value or Intrinsic Value) से बहुत अधिक होता है। इन सिक्कों का मूल्य सरकार द्वारा तय किया जाता है। इन्हें सहायक सिक्का (Subsidiary Coins) भी कहते हैं। कानून द्वारा किसी सीमा विशेष तक इन सिक्कों को स्वीकार करना पड़ता है। ये सिक्के परिमित कानूनी (Limited Legal Tender) कहलाते हैं। इंगलैंड के शिलिंग भारत के चवन्नी-दुवन्नी आदि इसके उदाहरण हैं। इन सिक्कों की स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई नहीं होती।

प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्कों की तुलना

प्रामाणिक सिक्का	सांकेतिक सिक्का
(१) स्वतन्त्र सिक्का ढलाई	(१) परिमित अथवा प्रतिबन्धित सिक्का-ढलाई।
(२) नियमित तथा वास्तविक मूल्यों में समानता	(२) नियमित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक होता है।
(३) अपरिमित कानूनी	(३) परिमित कानूनी।
(४) स्वतन्त्र आयात निर्यात हो सकता है।	(४) देश से बाहर स्वीकार नहीं किया जाता।

भारतवर्ष में रुपया अपनी निजी विशेषता रखता है। इसमें प्रामाणिक और सांकेतिक दोनों सिक्कों के कुछ गुण होते हैं। यह सांकेतिक इसलिए है कि इसका नियमित मूल्य धात्विक मूल्य से अधिक होता है। इसका नियमित मूल्य १ रुपया है पर इसमें धातु एक रुपये से बहुत कम की है। तो भी इसमें प्रामाणिक सिक्के के भी कुछ गुण हैं। यह देश का मुख्य सिक्का है क्योंकि सब टैक्स तथा वस्तुओं के मूल्य इसमें ही निर्धारित किये जाते हैं और यह सिक्का अपरिमित क़ानूनी सिक्का माना गया है। अस्तु यह न पूर्ण रूप से प्रामाणिक ही है न सांकेतिक ही। और इसलिए इसे सांकेतिक प्रामाणिक सिक्का (Standard Token Coin) कहते हैं।

(ब) काग़ज़ी द्रव्य

(*Paper Money*)

धातु के सिक्कों के अतिरिक्त सरकार द्वारा मान्य करेंसी नोट भी बाज़ार में काग़ज़ी द्रव्य के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। चूंकि आजकल विनिमय का क्षेत्र बहुत विस्तृत

हो रहा है और सोने-चाँदी के सिक्कों से ही सारा विनिमय का काम हल नहीं हो सकता, इसलिए नोटों का चलन बहुत ही आवश्यक हो गया है। दूसरे सोने-चाँदी को दूसरे कामों के लिए बचाना भी आवश्यक है। और हर सम्य देश धीरे धीरे धातु के सिक्कों की जगह नोटों के चलन को प्रमुखता दे रहा है। इसका मुख्य कारण धातु के सिक्कों की त्रुटियाँ और विवशता और नोटों की सुविधाजनक स्थिति ही है।

कागजी द्रव्य के गुण

(*Advantages of Paper Money*)

(१) कागजी द्रव्य में बड़ी मितव्ययता रहती है क्योंकि जो पूँजी तथा श्रम कीमती धातुओं की खुदाई में व्यय होते हैं उसको बचाकर उसको दूसरी जगह उपयोग कर सकते हैं और जो कीमती धातु कागजी नोटों के चलन से बचाई जाती है उसका भी उपयोग हम सचय आभूषण औद्योगिक कार्यों तथा देशी विदेशी व्यापार में कर सकते हैं।

(२) कागजी द्रव्य विनिमय का बड़ा सस्ता और किफायती माध्यम है। नोटों के प्रयोग से सिक्कों के घिसने टूटने-फूटने आदि से जो धातु का नुकसान होता, उसकी बचत हो जाती है।

(३) कागजी द्रव्य धातु के सिक्कों की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। और इसे लाने-ले जाने रखने आदि में अधिक आसानी होती है। इसको अधिक सुरक्षित रखा जा सकता है। यह बहुत सस्ता पड़ता है। अधिक मात्रा में और दूर के भुगतानों में इसके प्रयोग से बड़ी सुविधा रहती है क्योंकि इसके लाने ले जाने में सुगमता रहती है। उदाहरण के लिए सौ रुपये के नोट और दस रुपये के नोट के वजन में कोई अंतर नहीं होता और इस बात से व्यापार में बड़ी आसानी हो जाती है।

(४) कागजी द्रव्य में सोने की धातु की अपेक्षा मूल्य में आसानी से स्थिरता रखी जा सकती है। साथ ही इसका सरलतापूर्वक नियंत्रण भी हो सकता है कारण यह है कि सोने की पूर्ति में कमी और बढ़ती प्राकृतिक और अन्याय कारणों पर निर्भर है, पर कागजी मुद्रा की पूर्ति चलानेवाली संस्था जब चाहे घटा-बढ़ा सकती है।

इससे करेंसी की प्रणाली में बड़ी लोच आ जाती है। द्रव्य की अधिक माँग होने पर उसकी संख्या बिना किसी अधिक व्यय या समय की व्यग्रता के बढ़ाई जा सकती है। और इस प्रकार अचानक आई हुई रुपये की तंगी या महँगाई दूर की जा सकती है।

(५) कागजी द्रव्य से सरकार को भी लाभ होता है क्योंकि सरकार को आवश्यकता के समय ऋण लेना पड़ता है और ऐसे समय में वह मुद्रा का चलन बढ़ाकर अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है और ब्याज से भी बच जाती है।

कागजी द्रव्य के दोष

(*Disadvantages of Paper Money*)

(१) नोटों के फट जाने, गल जाने, चिकने हो जाने का डर रहता है। यद्यपि यह कोई बड़ी हानि नहीं है क्योंकि ऐसे नोटों को नये नोटों में बदला जा सकता है, तो भी

कुछ लोग नोटो को पसद नही करते क्योंकि उनको इनके सुरक्षित रखने में असुविधा होती है।

(२) इसका मूल्य बडा अनिश्चित होता है क्याकि इसको चलानेवाली सरकार अपनी इच्छानुसार इसके सच्चे मूल्य से जब चाहे वचित कर सकती है। इसलिए लोगों को यह द्रव्य-रीति अधिक विश्वसनीय नही लगती। जैसे कि कुछ वर्ष हुए सरकार ने ५०० रु० और १००० रु० के नोट रद्द कर दिये थे। यदि यही रकम नोट न होकर धातु के सिक्के में होती, तो कम से कम धातु की कीमत तो वसूल हो जाती।

(३) कागजी द्रव्य इसलिए विशेषरूप से त्याज्य है कि इसमें चलनाधिक्य या (over issue) की अधिक आशका रहती है अर्थात धातु के सिक्के की अपेक्षा कागजी मुद्रा में अतिचलन की अधिक सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिये पिछले युद्ध-काल में लगभग सभी देशो मे नोटो की बाढ सी आ गई थी और इन नोटों की बढोत्री इस सीमा तक पहुँच गई थी कि द्रव्य का मूल्य केवल चौथाई रह गया था और मुद्रा-प्रसार के वे सब परिणाम जिनका वर्णन पहिले किया गया है देखने में आ गए थे। द्रव्य का मूल्य किस सीमा तक गिर सकता है इस सम्बन्ध में एक बडी मनोरजक कहानी है। जर्मनी में तीन भाइयो ने सम्पत्ति के बँटवारे के बाद अपनी अपनी सम्पत्ति का इस प्रकार उपयोग किया—एक भाई ने जो बडा मितव्ययी था अपनी सम्पत्ति को बैंक में जमा कर दिया। दूसरे ने जो बडा खर्चीला था, उसे शराब में फूक दिया और उसके पास खाली बोतल ही बची खुची रह गइ। तीसरे भाई को पागलखाने में रहना पडा और उसकी सम्पत्ति पडी जहाँ की तहाँ रह गई। लडाई खतम होने पर नोटो के अतिचलन से द्रव्य के सच्चे मूल्य मे इतनी कमी आ गई कि मितव्ययी भाई के बैंक में जमा लाखों मार्क्स (marks) का मूल्य इतना कम रह गया कि वह उनके बदले में एक दिन खाना भी न प्राप्त कर सका जबकि खर्चीले भाई को अपनी खाली बोतलो के बेच देने से इतनी कीमत मिली कि उसके पास लाखो मार्क्स हो गये। और तीसरा भाई जब वह पागलखाने से निकला और उसने अपनी पडी हुई सम्पत्ति में से एक बीस मार्क्स के सोने के सिक्के का टाँगे वाले को दिया और उस को उसमें से कितने ही लाख मार्क्स के नोट वापस मिले तो वह यह समझा कि वह अभी पागल हो है और वह पागलखाने को वापस चला गया। इस सीमा तक मार्क्स की कीमत अतिचलन के कारण घट गई थी।

लडाई के पहिले जर्मनी में विनिमय दर इस प्रकार थी —

	£1=20 413 marks,
जनवरी १९२३ को	£1=40,800 marks,
फरवरी १९२३ को	£1=250,000 marks,
सितम्बर १९२३ में	£1=480 000,000 marks, हो गई।

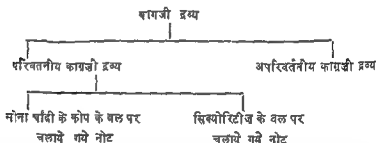
यह सब जर्मनी के अपरिवर्तनीय कागजी नोटो का अधिक मात्रा में चलन का परिणाम था। जिस वस्तु का मूल्य इंग्लैंड में £१ था जर्मनी के निवासियों को उस वस्तु के लिए ४८ करोड मार्क्स देने पडते थे।

(४) कागजी द्रव्य के चलने का क्षेत्र सकुचित होता है। विदेशी इसे लेन-देन और भुगतान में द्रव्य-रूप में स्वीकार नही करते हैं और यह केवल राष्ट्रीय द्रव्य ही रह जाता है।

कागजी द्रव्य के प्रकार

(Kinds of Paper Money)

कागजी द्रव्य दो प्रकार का होता है (१) 'बदला जा सकनेवाला"—परिवर्तनीय कागजी द्रव्य और (२) न बदला जा सकनेवाला"—अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य।



परिवर्तनीय कागजी द्रव्य (Convertible Paper Money) उन नोटो को कहते हैं जिन पर नोट चलानेवाले अधिकारी या सस्था की ओर से नोट के स्वामी द्वारा माँग पेश करने पर नोट पर अंकित रकम प्रदान करने की प्रतिज्ञा छपी हुई होती है। इनके बदले मे नोटो का स्वामी जब चाहे राजकीय कोष से धातु मुद्रा प्राप्त कर सकता है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व बैंक आफ इंगलैंड के नोट इसी प्रकार के थे। उनको पूर्णरूप से समाज स्वीकार करता था। जब ऐसे नोटो का चलन किया जाता है तब चालू करनेवाली अधिकारी सस्था को सोने और चाँदी का कोष रखना पडता है, लेकिन जितनी कीमत के नोट प्रचलित किये जाते हैं, उस कुल रकम को जमा रखने की आवश्यकता नही पडती है क्योकि सभी नोटो के स्वामी एक साथ ही अपने नोटो के बदले में धातु-मुद्रा की माग नही करते। कुल नोटो के जिस भाग के बराबर जमा रखी जाती है, उस भाग को 'रक्षित भाग' (Covered Issue) या प्रतिनिधि कागजी द्रव्य (Representative Paper Money) कहते है, शेष भाग को 'अरक्षित भाग' (Uncovered Issue) या सिक्योरिटीज के बल पर चलाये हुए नोट (Fiduciary Issue) कहते हैं। जैसे यदि एक देश में १ हजार करोड के नोट चालू है, उनमें से तीन सौ करोड के पीछे धातु-मुद्रा और मूल्यवान् धातु का कोष है और ७०० करोड के पीछे राजकृत ऋण-पत्र या सिक्योरिटीज है, तो तीन सौ करोड को तो रक्षित कहगे और ७०० करोड को अरक्षित कहगे।

अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य (Inconvertible Paper Money) उन नोटो को कहते हैं जिनके बदले में नोट छापने तथा इनका चलन करनेवाली सस्था धातु-मुद्रा देने

के लिये तैयार नहीं। जनता को यह नोट कानून के जोर से ही स्वीकार करने पड़ते हैं इसी कारण इन्हें Fiat money भी कहते है। यह प्राय युद्ध-काल के अवसर पर जारी किये जाते हैं। फ्रेंच एसाइनेट्स जो फ्रांसीसी राज्यक्रांति के अवसर पर जारी किये गये थे अमेरिकन ग्रीन बैक्स जो अमेरिकन गृह युद्ध के अवसर पर जारी किये गए थे और जर्मन मार्क्स जो पहिले महायुद्ध के समय जारी किये गये थे और भारतवर्ष के एक रुपयेवाले नोट यह सब इसके उदाहरण हैं। सरकार इन नोटों को सिक्कों में बदलने का दायित्व नहीं लेती है।

यदि देश के व्यापार तथा व्यवसाय के अनुसार उचित मात्रा में इस प्रकार के द्रव्य का चलन किया जाय तब इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विनिमय का कार्य सुचारु रूप से कर सकता है। परन्तु यह देखा गया है कि जब कभी इस प्रकार के द्रव्य का एक बार चलन हो जाता है तो सरकार इस चलन पर ठीक नियंत्रण नहीं रख सकती। लालच और आर्थिक कठिनाइयों के कारण आवश्यकता से अधिक मात्रा में अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य का देश में चलन हो जाता है जिसका परिणाम भयंकर होता है। नोटों की विनिमय शक्ति धीरे धीरे कम होने लगती है और यह क्रय शक्ति कभी-कभी यहां तक कम हो जाती है कि जिस कागज पर यह नोट छपा होता है उसके मूल्य की अपेक्षा भी नोट का मूल्य कम हो जाता है। पिछले महायुद्ध में जर्मनी के मार्क्स और चीन के नोट इसके उदाहरण है।

नोट चलाने के सिद्धान्त

(*Principles of Note issue*)

नोटों के चलन के दो सिद्धांत हैं—(१) करंसी या सुरक्षा का सिद्धांत (Currency Principle) (२) बैंकिंग या लोच का सिद्धांत (Banking Principle)।

(१) करेंसी सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार सभी प्रचलित नोटों के पीछे धात्विक द्रव्य होना अनिवार्य है अर्थात जितना सोना चांदी कोष में होगा उतने ही नोट जारी किये जा सकते हैं अधिक नहीं। और धात्विक द्रव्य यदि कम हो जाय तो उसी अनुपात में नोटों का चलन भी घटा देना पड़ता है। दूसरे शब्दों में नोटों के चलन की निर्भरता व्यापार और उद्योग के विकास की स्थिति पर न होकर स्वर्ण और चांदी की खानों की बढ़ती या कमी पर होती है। इस प्रकार यह सिद्धांत सुरक्षा पर तथा over issue के भयंकर स्थिति से बचे रहने पर जरूरत से ज्यादा जोर देता है। परिणाम यह होता है कि इसमें लोच नहीं रहती अर्थात द्रव्य के परिमाण को वास्तविक आवश्यकताओं के अनुसार बढ़ाया घटाया नहीं जा सकता और परिणामतः देश के व्यापार तथा उद्योग के विकास में बाधा पड़ती है।

(२) बैंकिंग सिद्धांत—इस सिद्धांत के अनुसार नोट जारी करनेवाली संस्था को स्वतन्त्रता रहती है कि बिना शत प्रतिशत स्वर्ण धातु अथवा धात्विक द्रव्य को कोष में रखे, किसी भी सीमा तक नोट जारी कर सकती है। दूसरे शब्दों में नोटों के चलन में बढ़ना घटना सोने और चांदी की खानों की घटती-बढ़ती पर निर्भर न रहकर व्यापार और

उद्योग की द्रव्य की माँग पर निर्भर रहती है। इस सिद्धान्त में लोच है, पर सुरक्षा नहीं। यह लोच के पीछे सुरक्षा का ध्यान नहीं रखता, अतः इसमें नोटों के आवश्यकता से अधिक प्रचलन का भय सदा बना रहता है।

इसलिए सही और दृढ़ सिद्धान्त वह ही है जिसमें इन दोनों सिद्धान्तों का मिश्रण हो अर्थात् नोट प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि उसमें निम्न सब बातें पाई जायें :—

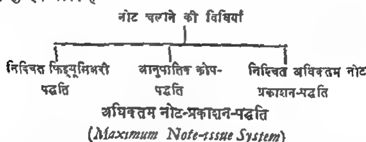
(१) नोट-व्यवस्था लोचदार हो अर्थात् ऐसी हो जिससे आवश्यकता पड़ने पर नोटों की संख्या बढ़ाई जा सके। नोटों का लोचदार होना (elasticity) नोट-व्यवस्था का एक बड़ा भारी गुण है।

(२) नोट व्यवस्था ऐसी हो जिससे कि नोटों की परिवर्तनशीलता बनी रहे और साथ ही साथ नोटों की संख्या कभी आवश्यकता से अधिक न होने पाये (security and safety against over-issue) क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो मूल्य में स्थिरता (stability of value) नहीं रह सकेगी।

(३) इसके अतिरिक्त नोट के चलाने में मितव्ययिता (economy) का ध्यान रखा जाना चाहिए जिससे नोट प्रणाली बहुत खर्चीली न हो।

(४) वह विश्वसनीय भी होनी चाहिए (confidence) और साथ ही साथ सरल भी (simplicity)।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह विचार भी किया जाना आवश्यक है कि नोट चलाने की क्या विधि होनी चाहिए। नोट चलाने की मुख्य-मुख्य प्रणालियाँ जो देशों में प्रचलित हैं, इस प्रकार हैं :—



अधिकतम नोट-प्रकाशन-पद्धति
(*Maximum Note-issue System*)

इस प्रणाली के अन्तर्गत देश की केन्द्रीय सरकार देश में चलाये जानेवाले नोटों की एक अधिकतम सीमा निश्चित कर देती है। यह सीमा कानून के द्वारा निश्चित की जाती है। उस देश का केन्द्रीय बैंक किसी भी परिस्थिति में इस सीमा से अधिक राशि के नोट नहीं चला सकता। यदि किसी समय देश में इससीमा से अधिक राशि के नोट चलाने की आवश्यकता होती है, तो कानून के द्वारा ही नोट चलाने की अधिकतम सीमा को बढ़ा दिया जाता है और तब ही केन्द्रीय बैंक और नोट छापकर देश की आवश्यकताओं को पूरा करता है। इस प्रकार नोट चलाने से देश में मुद्रा-स्फीति का भय कम रहता है, क्योंकि केन्द्रीय बैंक सरकार द्वारा निश्चित की हुई सीमा से अधिक मूल्य के नोट नहीं चला सकता। परन्तु इस प्रणाली में एक बड़ा भारी दोष यह है कि इसमें देश की नोट व्यवस्था

इस प्रणाली का सब से बड़ा दोष यह है कि इसमें थोड़े से मूल्य के नोटो को छोड़कर (जो सीक्योरिटीज़ के बल पर चलाये जाते है) अन्य सभी नोटो के बदले में बराबर मूल्य का सोना-चाँदी रखना पड़ता है। इससे कोई भी सरकार या केन्द्रीय बैंक आवश्यकता से अधिक मूल्य के नोट आसानी से छापकर नही चला सकती। और इस प्रकार इस प्रणाली में मुद्रा-प्रसार होने का अधिक डर नही होता। परन्तु इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि इस प्रणाली से देश की नोट-व्यवस्था लोचदार नही बन सकती। क्योंकि इस प्रणाली में नोटो की संख्या बढ़ाना सोना चाँदी के कोष पर निर्भर होता है इसलिए नोटो को केवल सोना-चाँदी के बल पर ही बढ़ाया जा सकता है, आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए नही। यदि किसी समय नोट छापने की आवश्यकता हुई परन्तु सोना-चाँदी न हुआ तो नोट नही चलाये जा सकते।

इस प्रणाली के अन्तर्गत सोने चाँदी को कोष में रखकर निठल्ला बना दिया जाता है जिससे उसका कोई उपयोग नही हो पाता। यह प्रणाली केवल उन्ही देशो के लिए अच्छी है जिनके पास सोना चाँदी अधिक हो और जिनका व्यापार उन्नति पर हो। छोटे-मोटे ग़रीब देशों के लिए यह प्रणाली ठीक नही है क्योंकि न तो उनके पास कोष में सोना-चाँदी होगा और न वे नोट चला सकेंगे। इंगलैंड में १८४४ से १९४८ तक यही प्रणाली प्रचलित थी। जब कभी सिक्योरिटीज़ के बल पर चलनेवाले नोटो की सीमा बढ़ानी होती थी तो पार्लियामेंट कानून बनाकर सिक्योरिटीज़ के बल पर चलनेवाले नोटो की मात्रा बढ़ा दिया करती थी, और तब ही अधिक नोट चलाये जा सकते थे और अब तो बैंक आफ इंगलैंड को अधिकार दे दिया गया है कि वह जब चाहे सरकारी वित्त विभाग से स्वीकृति लेकर सिक्योरिटीज़ के बल पर चलनेवाले नोटों की मात्रा बढ़ा सकती है।

(३) आनुपातिक कोष-पद्धति या प्रतिशत पद्धति

(*Proportional Reserve System or Percentage System*)

इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट चलानेवाली बैंक को नोटो के चलन के अनुपात में नोटो के मूल्य का कुछ प्रतिशत स्वर्ण कोष रखना पड़ता है और बाकी नोट सिक्योरिटीज़ के बल पर चलाये जा सकते हैं। नोटो के बदले में रक्खे जानेवाले सोने की निर्धारित मात्रा कानून के द्वारा निश्चित की जाती है, जो प्राय २५ से ४० प्रतिशत तक होती है और प्रत्येक केन्द्रीय बैंक को नोट चलाने से पहले कम से कम इतने सोने की मात्रा अपने कोष में रखनी ही पड़ती है। उदाहरण के लिये मान लीजिए चलाये हुए कुछ नोटो के बदले में कम से कम ४० प्रतिशत सोना रखना अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में यदि १०० रुपये के नोट चलाये जायें तो कम से कम ४० रु० के मूल्य का सोना कोष में रखना पड़ेगा, बाकी ६० रु० के नोट ही सिक्योरिटीज़ के बल पर चलाये जा सकते हैं। इसी प्रकार अगर २०० रु० के नोट और चलाये जायें तो कम से कम ८० रु० के मूल्य का सोना कोष में और बढ़ाना पड़ेगा।

इस प्रणाली की विशेषता यह है कि इसमें नोटो की संख्या बढ़ाने के लिए उसके बराबर मूल्य का सोना या चाँदी नही रखना पड़ता। केवल ४० रु० के बल पर १०० रु० के मूल्य तक के नोट चलाये जा सकते हैं। [परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि बाकी ६० रु०

के नोटों के लिये कोई बल न हो। ६० रु० के नोटों के बदले में सिक्योरिटीज़ रखनी पड़ेगी]। और इस प्रकार देश की नोट-व्यवस्था लोचदार बनती है अर्थात देश की आवश्यकतानुसार नोटों की संख्या घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यही है कि यदि देश से कभी सोना बाहर जाने लगे और केन्द्रीय बैंक के कोष में सोने की मात्रा कम हो जाय, तो नोटों को चलन का एक भाग रोककर उसकी मात्रा कम करनी पड़ेगी। इस प्रकार देश में नोटों की कमी पड़ सकती है। इस प्रणाली में यह भी दोष है कि थोड़ा सा सोना कोष में बढ़ने से उससे अधिक मूल्य के नोट छापे जा सकते हैं, जिससे देश में मुद्रा स्फीति होने का भय हमेशा बना रहता है।

यह प्रणाली, अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टाइना, न्यूज़ीलैण्ड यूगोस्लाविया, आदि देशों में अपनाई जाती है। भारत में भी चालू नोटों के बदले में कम से कम ४० प्रतिशत भाग सोना, सोने के सिक्के तथा सोने की सिक्योरिटीज़ में रखना पड़ता रहा है।

भारत में नोट चलन की प्रथा

[अब तक भारत में नोट आनुपातिक कोष निधि के अनुसार चलाए जाते रहे हैं। बैंक द्वारा चलाये गये कुल नोट के बदले इसके पास सोना, सोने के सिक्के, स्टर्लिंग सिक्योरिटी, चाँदी, रुपये के सिक्के और भारत की सिक्योरिटीज़ रहते थे। कुल रकम का कम से कम ४० प्रतिशत भाग के सोने के सिक्के सोने या स्टर्लिंग सिक्योरिटीज़ के रूप में रखना पड़ता था और बाक़ी को भारतीय सिक्योरिटीज़ रुपये इत्यादि के रूप में रक्खा जा सकता था। साथ ही साथ यह भी शर्त थी कि किसी समय भी सोने और सोने के सिक्के मिलकर ४० करोड़ रु० से कम नहीं हो सकते थे। परन्तु अब इसमें कुछ परिवर्तन हो गया है। अब बैंक कम से कम कुल ४०० करोड़ रु० की विदेशी सिक्योरिटीज़ तथा ११५* करोड़ रुपये का सोना अपने पास रक्खेगा चाहे प्रचलित नोट कितने भी मूल्य के हों (और इस ४०० करोड़ रु० की विदेशी सिक्योरिटीज़ की मात्रा भी अल्पकाल के लिये आवश्यकता पड़ने पर घटाई जा सकती है।)]

Note—आजकल लोगों का मत है कि स्वर्ण कोष तथा नोटों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं निश्चित करना चाहिए। यह कहना कि कुछ नोट सोने के आधार पर हैं और कुछ नहीं, एक पुरानी सी बात है जो मनोरंजन के लिये ही कही गई हो। व्यवहार में तो सिक्योरिटीज़ के बल पर चलाए गए नोट की मात्रा सेन्ट्रल बैंक में रक्खा सोने की मात्रा के अनुसार निश्चित नहीं होती बल्कि वह उस जनता के नोट की माँग के अनुसार स्वतः ही निश्चित हो जाती है। आजकल तो माँग का आधार भी सोना नहीं होता। बहुत कम देश

*इस समय रिज़र्व बैंक के पास इस मद में कुल सोना ४२ करोड़ रु० के मूल्य का है परन्तु यह मूल्य २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला के हिसाब से लगाया गया है। सोना उस हिसाब से जिससे अब तक मूल्य लगाया जाता था। परन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में इस मूल्य को लगभग ६२ रु० प्रति तोला के दर में लगाने को आज्ञा दी है और इसके अनुसार यह सोना १६० करोड़ रु० के बराबर होता है, जबकि कोष में रखने की न्यूनतम सीमा ११५ करोड़ निर्धारित की गई है।

एसे हैं जहा बकों के साख का सृजन सोने को ध्यान म रखते हुए होता हो। हर देश में साख की मात्रा का नियत्रण तथा कीमतो म दृढता लाना यह केद्रीय बक के कर्त्तव्य माने जाते हैं, और वक के सुविधा तथा स्वतन्त्रतापूर्वक इन कार्यों का करने के लिए नियम और प्रतिबध अनावश्यक समझ जाते हैं। और यदि आज के दिन भी कुछ लोग एसा समझते हैं कि नोटा का चलन सेट्रल बक की स्वर्ण कोष की मात्रा पर निर्भर है तो यह उनकी भूल है। ससार के अधिकाश देशो म अब एसा (नहीं होता। हा केवल अन्तरा ट्रीय व्यापार म सोने का महत्त्व अवश्य है।) फिर भी पाउड या डालर इत्यादि म लोगो का विश्वास वसा ही बना हुआ है और करसी का ढाँचा वही चल रहा है। हम पहले ही कह चुके है कि द्रव्य के होने के लिये केवल यही होना जरूरी है कि वह सर्वमान्य हो।

(स) साख द्रव्य (या मुद्रा)

(*Bank Money or Credit Money*)

कुछ द्रव्य एसा भी होता है जो कानूनी नही होता। वास्तव म इस द्रव्य को परिभाषा के अन्तर्गत नही समझना चाहिए। परन्तु द्रव्य की परिभाषा यदि विस्तृत दृष्टि से की जाय तब एसे साख-पत्र जो कानूनी नही वे भी द्रव्य की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं जसे चक बिल आफ एक्सचेज ड्राफ्ट आदि। इनको बक द्रव्य या साख द्रव्य कहते हैं। इस प्रकार के साख-पत्रों के चलन का क्षेत्र अत्यधिक सकीर्ण होता है क्योंकि इन पत्रों के लिए यह आवश्यक है कि एक पक्षवाला दूसरे पक्षवाले को भली भाति जानता हो और आपस म एक दूसरे का एक दूसरे का विश्वास हो। फिर कोई भी मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य के साख-पत्रों का स्वीकार करने के लिए बाध्य नही कर सकता है। दूसरी ओर यदि किसी मनुष्य ने यह पत्र स्वीकार भी कर लिया तो इसका अर्थ यह नही है कि रुपया देनेवाला अपने दायित्व स मुक्त हो गया है। उसके दायित्व का अन्त तभी होगा जब इस पत्र को स्वीकार करने वाला साख-पत्र का रुपया बक या अन्य व्यक्ति से प्राप्त कर लेता है। इन्ही कारणो से बहुत से आधुनिक अर्थशास्त्रियो का यह मत है कि इस प्रकार की साख मुद्रा द्रव्य के अन्तर्गत नही मानना चाहिए यह न तो कानूनी है और न सर्वमान्य ही है। तो भी आज के दिन सबसे अधिक यही द्रव्य देखने म आता है। इसका अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन एक आगे के अध्याय म बकिंग के सम्बन्ध म किया जायगा।

करसी

(*Currency*)

अग्रेजी की अर्थशास्त्र की पुस्तकों म स्थान-स्थान पर करसी शब्द का प्रयोग किया गया है अत यहां करसी शब्द का अर्थ समझना भी बहुत आवश्यक है। करसी शब्द का प्रयोग उन वस्तुओं के लिये किया जाता है जो विनिमय माध्यम के काम म आय और जिन्हे लेन-देन चुकाने के लिए सामान्यत सभी लोग स्वीकार कर। एसी वस्तुए धातु मुद्रा (सिक्के) तथा पत्र-मुद्रा (नोट) हैं। सिक्के और नोट विनिमय माध्यम का काम करते हैं तथा इन्हे देश

में सभी लोग लेन-देन चुकाने के लिए स्वीकार करते हैं, अत इनको करेंसी कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुएँ भी होती हैं जो विनिमय माध्यम का काम तो करती हैं, परन्तु जिनको सामान्यतः, सभी लोग लेन-देन के काम में नहीं लाते। ये वस्तुएँ साख-द्रव्य अर्थात् चेक, बिल, प्रतिज्ञापत्र, हुडी आदि हैं। चेक, बिल आदि वस्तुओ के लेन-देन में तो सहायता करते हैं परन्तु इनका क्षेत्र बहुत सीमित होता है। अत इनको 'साख-द्रव्य' कहते हैं। 'मुद्रा' और 'करेंसी' में यह अन्तर समझ लेना चाहिए कि बहुधा मुद्रा शब्द का प्रयोग धातु-मुद्रा (सिक्के), कागजी (नोट), तथा साख-द्रव्य (चेक, बिल आदि) के लिये होता है तथा करेंसी शब्द का प्रयोग केवल धातु-मुद्रा और कागजी द्रव्य के लिये होता है। नीचे लिखी तालिका से यह अन्तर और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा।

मुद्रा=धातु-मुद्रा (सिक्के)+कागजी मुद्रा (नोट)
+साख-मुद्रा (चेक इत्यादि)

करेंसी=धातु-मुद्रा (सिक्के)+कागजी मुद्रा (नोट)

QUESTIONS

1 What are the advantages of paper money? What are the defects?

2. What are the different systems of note issue? Examine their relative merits. (Agra 1956, 1954, 1952)

3. What principles should govern the note issue in a country? In this connection, examine the provisions of the Reserve Bank of India Act. (Agra 1956).

4. Discuss the safeguards which are necessary in having a system of inconvertible paper money. Is inconvertible paper money necessarily bad? (Agra 1951)

5 'Metallic money has lost its importance in modern economic life.' Explain and amplify this statement (Agra 1957)

6. Write short notes on —

(a) Free Coinage
(b) Legal Tender
(c) Fiduciary Issue (Agra 1958)
(d) Bank Money (Agra 1957)
(e) Standard and Token Coins (Agra 1958, 1955)
(f) Classification of money (Agra 1954)
(g) Percentage System of Note-issue (Agra 1952s.)
(h) Currency Principles vs. Banking Principle of Note-issue.

४५

द्रव्य का मूल्य

(Value of Money)

द्रव्य के मूल्य का अर्थ यह है कि द्रव्य की एक इकाई के बदले अन्य वस्तुएं कितनी मात्रा में प्राप्त की जा सकती हैं। यदि एक रुपये के बदले हम अधिक मात्रा में वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं तो हम कहेंगे कि रुपये का मूल्य ऊँचा है और यदि कम मात्रा में तो हम कहेंगे कि रुपये का मूल्य नीचा है। इस तरह जब वस्तुओं के दाम चढ़े हुए रहते हैं यानी हम अपने द्रव्य के बदले में थोड़ी सी वस्तुएँ मिलती है तब हम कहते हैं कि द्रव्य का मूल्य गिरा हुआ है परन्तु जब वस्तुओं के दाम गिरे हुए होते हैं और हम अपने द्रव्य के बदले में बहुत सी वस्तुएं प्राप्त हो जाती हैं तब हम कहते हैं कि मुद्रा का मूल्य ऊंचा है। तात्पर्य यह है कि वस्तुओं के ऊंचे दामों से द्रव्य के कम मूल्य और वस्तुओं के कम दामों से द्रव्य के अधिक मूल्य का पता लगता है। [द्रव्य के मूल्य के बढ़ने को अधिमूल्यन (Appreciation) कहते हैं और द्रव्य के मूल्य के घटने को अवमूल्यन (Depreciation) कहते हैं।]

अब प्रश्न यह उठता है कि द्रव्य का मूल्य ह्रास और मूल्य वृद्धि कब होती है और क्यों होता है? द्रव्य का मूल्य अन्य किसी वस्तु की तरह उसकी मांग और पूर्ति पर निर्भर रहता है। (The value of money, like the value of anything else, is mainly a question of demand and supply) जब द्रव्य की पूर्ति मांग से अधिक होती है तो सामान्य कीमतें में वृद्धि होती है और द्रव्य की क्रयशक्ति अथवा इसके मूल्य का ह्रास होने लगता है। हम इस अवस्था को मुद्रा स्फीति या मुद्रा प्रसार (Inflation) कहते हैं। प्रायः मुद्रा प्रसार कागजी मुद्रा के अत्यधिक चलन से होता है जैसे भारत में युद्ध से पूर्व २०० करोड़ रु० के नोटों का चलन था किन्तु अब लगभग १६०० करोड़ रु० के नोट बाजार में चल रहे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि युद्ध से पूर्व स्थिति की अपेक्षा अब कागजी द्रव्य का प्रसार ७ या ८ गुना अधिक बढ़ गया है और वस्तुओं की कीमत भी कई गुनी बढ़ गई है। [मुद्रा प्रसार या स्फीति में मुद्रा का विस्तार तो होता है पर मुद्रा के एक विशेष विस्तार को ही मुद्रा प्रसार कहते हैं। साधारण अवस्था में मुद्रा का विस्तार व्यवसाय या उद्योग की मांग की वृद्धि के अनुरूप होता है किन्तु मुद्रा प्रसार या स्फीति में असामान्य रूप से बिना उद्योग-सम्बन्धी अथवा व्यावसायिक आवश्यकता के मुद्रा का अति विस्तार होता है।] इसी प्रकार जब द्रव्य की पूर्ति मांग से कम होती है तब सामान्य कीमतें गिरने लगती हैं और द्रव्य की क्रय शक्ति अथवा उसका मूल्य बढ़ने लगता है, हम इस अवस्था को मुद्रासंकुचन या विस्फीति (Deflation) की अवस्था कहते हैं।

मुद्रा-प्रसार दो कारणों से होता है। जब कभी सोना-चांदी की नई खानों का पता लगने से सोने-चांदी की मात्रा बढ़ने लगती है तो मुद्रा की संख्या बढ़ जाती है और मुद्रा-प्रसार देखने में आता है। १८९६ से १९११ तक वस्तुओं के भाव बढ़ने का यही कारण था कि उस समय दक्षिणी अफ्रीका में सोने की खानों का पता लगा था जिससे सोने की मात्रा बढ़ गई थी और द्रव्य की क्रय-शक्ति घट गई थी। दूसरा कारण है किसी गम्भीर अवसर पर देश में द्रव्य की मात्रा का बढ़ जाना, परन्तु वस्तुओं के उत्पादन का उतना न बढ़ना, जैसा कि युद्ध काल में देखने में आया था। पिछले दोनों महायुद्धों में विशेषकर पिछले महायुद्ध में भारत में युद्ध-सम्बन्धी खर्चों को पूरा करने के कारण बहुत अधिक मुद्रा-प्रसार हुआ फलतः वस्तुओं की कीमतों में काफी वृद्धि हो गई जो अब तक गिराई नहीं जा सकी है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी सरकार देश में नीचे मूल्यों को ऊँचा उठाने के लिए नोटों का सृजन और मुद्रा प्रसार करती है जैसा कि मन्दी के काल में अमरिका की सरकार ने किया था, और कभी-कभी जब सरकार को धन की आवश्यकता होती है परन्तु जनता से ऋण नहीं मिलते या कर लगा कर भी आवश्यकता पूरी नहीं होती तो वह हीनार्थ प्रबन्धन की शरण लेती है और नोट छाप कर अपना खर्च पूरा करती है, तब भी ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है, और द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार देश में क़ीमतें बढ़ने लगती हैं। इसी को मुद्रा-प्रसार की स्थिति कहते हैं।

इसके विपरीत मुद्रा संकुचन की नीति सरकार तब अपनाती है जब मुद्रा प्रसार के कारण वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊँचे हो जाते हैं और लोगों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। मुद्रा प्रसार के दोषों को दूर करने के लिये अर्थात आवश्यकता से अधिक द्रव्य को कम करने के लिये सरकार इस नीति को काम में लाती है, जैसे कि बहुधा किसी युद्ध के समाप्त होने पर अपरिवर्तनीय कागजी द्रव्य के चलन को स्थगित कर या जनता पर भारी भारी टैक्स लगाकर या बैंक रेट नीति या खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा मुद्रा संकुचन किया जाता है अथवा देश का उत्पादन बढ़ाकर ऐसा किया जाता है।

मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकुचन दोनों का ही समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रो० सेलिगमैन का कहना है कि "बढ़ते हुए तथा गिरते हुए भावों के कारण देश की आर्थिक अवस्था में एक ऐसी अस्थिरता आ जाती है जिससे कृषि, व्यापार और उद्योग की स्थिति डाँवाडोल हो जाती है और समाज के भिन्न भिन्न वर्गों को विषम अनुपात में लाभ और हानि होती है, अतः वस्तुओं के मूल्यों में अस्थिरता नहीं रहनी चाहिए।" मुद्रा-प्रसार से, जिसके कारण क़ीमतें बढ़ती हैं, व्यापार में एक आशाजनक वायुमण्डल छा जाता है और उससे व्यापारियों की आर्थिक स्थिति में उन्नति होती है, परन्तु यह अस्थायी होती है। जब मुद्रा-प्रसार का योग समाप्त होता है तो व्यापार की स्थिति बहुत शोचनीय हो जाती है।

मुद्रा-प्रसार लाभ पर पूंजी लगानेवालों के लिये और बचत करनेवालों के लिये हानिकारक है—मुद्रा-प्रसार में शुरू में औद्योगिक समृद्धि अवश्य देखने में आती है और रोजगारी की सतह भी ऊँची उठती है, परन्तु उपभोक्ता को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त आगे चलकर, अत्यधिक उत्पादन के परिणाम स्वरूप व्यापार में अवसार या मन्दी की स्थिति आ जाती है, वस्तुओं के मूल्य गिरने लगते हैं और बेकारी शुरू हो जाती है। ब्याज की दर

अवश्य ऊँची हो जाती है पर मूल्य ऊँचे हो जाने के कारण अधिक ब्याज का वास्तविक मूल्य बहुत कम रह जाता है और विनियोगों का वास्तविक मूल्य भी कम हो जाता है। दूसरी ओर मुद्रा-सकुचन, जिसके कारण कीमत घटती है उद्योग-पतियों और मजदूरों के लिए हानिकारक होती है—लाभ कम हो जाने के कारण उत्पादन कम होता है और बेकारी फैलती है यानी मनुष्य की इच्छा और आवश्यकता होने पर भी काम नहीं मिलता, बेकारी के कारण बहुत दुख सहन करना पड़ता है और मजदूर योग्य होने पर भी अपनी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता। उत्पादन के साधन भी बेकार पड़े रहते हैं और शक्ति होने पर भी उत्पादक इनका उपयोग नहीं कर सकते फलत देश को बड़ी आर्थिक हानि होती है और इन बुराइयों के समक्ष इसमें कोई भलाई नहीं होती।

प्रोफेसर चकोल ने मुद्रा-प्रसार की तुलना एक डाकू से की है। जिस तरह डाकू डाका डाल कर हमारा माल छीन लेता है और हमको निर्धन कर देता है, इसी तरह जब मुद्रा प्रसार होता है तब पूँजी लगानेवाले निर्धन हो जाते हैं, और उनके विनियोगों का वास्तविक मूल्य घट जाता है और इससे सारे देश को हानि पहुँचती है। वह डाकू और मुद्रा प्रसार की समानता को बताते हुए कहते हैं कि "Both deprive the victim of his possession, but with this difference that robbery is visible, inflation is invisible, the robber's act is sporadic, inflation acts continuously, the robber's victim may be one or a few at a time, the victims of inflation are the whole nation, the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal"

इसी प्रकार मुद्रा-सकुचन का प्रभाव उत्पत्ति के क्षेत्र में बहुत दूषित होता है और देश में चारों तरफ बेकारी की समस्या खड़ी हो जाती है जो और भी भयानक होती है, क्योंकि पहिली स्थिति में तो केवल वितरण के क्षेत्र में ही हानि होती है परन्तु दूसरी स्थिति में उत्पादन रुक जाता है और बेकारी फैल जाती है और इसीलिए कहा जाता है कि "It is worse to provoke unemployment than to disappoint the rentier"। सबसे बुरी बात यह है कि मुद्रा-प्रसार एक सीमा तक रोका भी जा सकता है, परन्तु मुद्रा-सकुचन का रोकना बहुत कठिन है—"It is easier to stop inflation than to stop deflation" —*Crowther*

लार्ड कीन्स मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-सकुचन के विषय में लिखते हुए कहते हैं कि मुद्रा-प्रसार अनुचित है तथा सकुचन अव्यावहारिक है। दोनों को यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो *कदाचित् मुद्रा-सकुचन अधिक बुरा है।* (*"Inflation is unjust and deflation is inexpedient* Of the two perhaps deflation is the worse") परन्तु ऐसा मुद्रा प्रसार भी बहुत बुरा है जैसा जर्मनी में १९२३ में हुआ था। मुद्रा-प्रसार के दूषित प्रभावों को शुरू में तो रोका जा सकता है, परन्तु मुद्रा-प्रसार के बहुत बढ़ जाने पर यह सम्भव नहीं हो सकता।

इस तरह जहाँ हमने पिछले अध्याय में पढा कि द्रव्य से बहुत से लाभ हैं, वहाँ हमको यह भी याद रखना चाहिए कि द्रव्य की मात्रा का किसी ओर (चाहे बढने को, चाहे घटने की) "अति" पर जाना बहुत ही असतोष की स्थिति उत्पन्न कर देता है, जैसा कि हम नीचे देखेंगे—"Money, which is a source of so many blessings to mankind, becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion" इसी कारण यह आवश्यक है कि समाज को मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-सकुचन दोनो रोगों से दूर रखा जाय और यह प्रयत्न किया जाय कि मूल्य स्तर स्थायी रहे। वह अधिक बढ़े घटे नही।

[इस सम्बन्ध मे दो और शब्द प्रयोग में आते है। सस्फीति (Reflation) और अपस्फीति (Dis-inflation)। जब मदी के समय कीमतों को बढाने की आवश्यकता पडती हैं और नियन्त्रित रूप से थोडा सा मुद्रा-स्फीति का प्रयोग किया जाता है तो उसे सस्फीति कहते हैं और जब देश मे मुद्रा-प्रसार हो जाने के कारण कीमतें बहुत ऊँची होने लगती है, और इन कीमतो को बढने से रोकने के लिये अर्थात् मुद्रा-प्रसार के दोषो को दूर करने के लिये कोई नीति काम में लाई जाती है, तो उसे अपस्फीति की नीति कहते है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि अपस्फीति और मुद्रा-सकुचन में अन्तर है। अपस्फीति के अतर्गत मुद्रा-प्रसार को कम करने के उपाय किये जाते हैं परन्तु मुद्रा-सकुचन में वस्तुओ के भावो को गिरने और मुद्रा की क्रय-शक्ति बढाने के उपाय किये जाते है। दोनों ही नीतियों में मुद्रा की मात्रा कम करनी पडती है, परन्तु अपस्फीति के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा इतनी ही कम की जाती है कि वह व्यापार और उद्योग के समानुपात मे आ जाय, जबकि मुद्रा-सकुचन मे मुद्रा की मात्रा इतनी कम कर दी जाती है कि वह व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओ से भी कम हो जाती है।]

मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-सकुचन का विभिन्न सामाजिक वर्गो पर प्रभाव:—

मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-सकुचन का विभिन्न व्यक्तियो या वर्गों पर भिन्न-भिन्न रूप से प्रभाव पडता है, अत हम नीचे दोनो स्थितियो का अलग अलग अध्ययन करेंगे।

मुद्रा-प्रसार के परिणाम

(Effects of Inflation or Rising Prices)

(१) बढती हुई कीमतो से व्यापारी वर्ग एव साहसियो (entrepreneurs) को बहुत लाभ पहुँचता है। कारण कि उनकी वस्तु की लागत का मूल्य वस्तुओ के मूल्य की अपेक्षा कम बढता है। उदाहरण के लिये मजदूरी का गुण यह है कि वह मूल्यो से पीछे रह जाती है (wages tend to lag behind price), इसके बढने का नम्बर सबसे पीछे आता है। इस तरह साहसियो को बडा लाभ पहुँचता है और व्यापार की वृद्धि होती है। इससे किसानो को विशेषरूप से लाभ होता है, क्योकि अन्नादि, कृषि-सम्बन्धी पैदावार की कीमतें शीघ्र बढती हैं—अन्न आदि की पूर्ति को माँग के बराबर करने में समय लगता है और यही कारण है कि कृषि-सम्बन्धी उत्पादन की कीमतें बहुत अधिक बढ जाती हैं।

मुद्रा-संकुचन के परिणाम
(*Effects of Deflation or Falling Prices*)

(१) जब कीमतें तेजी से गिरती है तो व्यापारी को हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि वह इतनी शीघ्रता से उत्पादन के व्यय को कम नही कर सकता जितनी तेजी से कि कीमत कम होती हैं। वह मजदूरी भी कम नहीं कर पाता, क्योंकि मजदूर कटौती के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। अतः गिरती हुई क़ीमतो से व्यापारी वर्ग को नुकसान रहता है।

किसान वर्ग को भी इससे नुकसान रहता है, क्योंकि पिछले महायुद्ध के अनुभव के अनुसार हम कह सकते हैं कि कृषि-सम्बन्धी उत्पादन की क़ीमत औद्योगिक वस्तुओं की कीमतों की अपेक्षा अधिक तेजी से गिरती भी हैं, जैसे कि वह मुद्रा प्रसार मे अधिक तेजी से बढती है।

(२) गिरती कीमतो से ऋणी को नुकसान और ऋणदाता को लाभ होता है। क़ीमतों के गिरने से मुद्रा का मूल्य बढ जाता है और ऋणदाता को अधिक वस्तुओं को वापस करने पर बाध्य होना पड़ता है। मान लो 'अ' ने 'ब' को १९४० में १००० रु० उधार दिए जो कि ब १९५० में वापस करता है। अब यदि कीमत गिर गई है तो इसके परिणामस्वरूप अ जो १००० रु० ब से पाता है उनसे उतनी ही वस्तुएँ खरीद सकेगा जितनी कि १९४० मे ३००० रु० खरीद सकते थे। तो इसका यह मतलब हुआ कि १९४० के हिसाब से ब ने अ को ३००० रु० वापस किये जबकि उसने केवल १००० रु० उधार लिये थे। अस्तु क़ीमतों के गिरने के कारण ऋणी को नुकसान और ऋणदाता को लाभ रहता है। (परन्तु जब देश मे व्यापार नहीं हो और बेकारी व निराशा के बादल छाये हुए हो, तो ऋण-दाता का रुपया व्यापार मे लगे कैसे?)

(३) क़ीमतो के गिरने से उपभोक्ता एवं बंधी आय के व्यक्तियो (जैसे जमींदार, नौकरी-पेशा लोगों आदि) को लाभ रहता है, क्योंकि उनकी आय पीछे घटनी शुरू होती है और वस्तुओं के मूल्य पहिले ही गिर जाते हैं।

(४) कीमतों के गिरने से कर-दाता हानि उठाते हैं। वे यद्यपि उतना ही रुपया कर-रूप मे अदा करते है, जितना कि वे पहले दे रहे थे, परन्तु अब वे वस्तुओं की मात्रा में अधिक कर दे रहे हैं।

(५) सब से बुरी बात यह है कि क़ीमतो के गिरने से व्यापारी, औद्योगिक किसान आदि सभी के लिए एक संकट का समय आ जाता है और चारो ओर निराशामय वातावरण बन जाता है। साहसिक मजदूरी मे कटौती करते हैं और कुछ मजदूरो को निकाल भी देते है जिससे कि वे अपने लाभ को घटने से रोक सकें। परिणाम यह होता है कि बेकारी बढ जाती है। इस प्रकार घटती हुई कीमतो का मतलब हुआ देश की आर्थिक समृद्धि का रुक जाना और बेकारी का फैलना, और जब यह स्थिति आती है तब ... की मजदूरी नीचे गिराना चाहते है, इत्यादि इत्यादि, जिसके परिणामवश उद्योगपतियो में बीच संघर्ष होता है, हड़ताल और तालेबंदी इत्यादि देखने

अस्तु, दोनो ही प्रकार के परिवर्तन बुरे है। इनसे समाज में, व्यापार में, विभिन्न वर्गों के सम्बन्ध में अनिश्चितता बढती है और आर्थिक कठिनाइयाँ आती हैं। बढती क़ीमतो में हड़तालें (strikes) और गिरती कीमतो में तालाबदी (lock-outs) होती है, इनसे अशान्ति बढती है, अत स्थिर कीमतो को ही पसद किया जाता है।

[मूल्य स्तर की स्थिरता की उपयुक्तता के बारे में कभी कभी कुछ शकाएँ भी प्रकट की गई हैं। कहा भी गया है कि स्थिर कीमतों से उपभोक्ता को नुकसान होता है। फिर विज्ञान की निरतर होती हुई प्रगति और उत्पादन के साधनो में नित्य प्रति बढते हुए सुधार और परिष्कार से उत्पादन का व्यय कम होता ही जायगा और लाभ भी धीरे-धीरे बढेगा, अस्तु इस दशा में धनी व्यापारी, औद्योगिक आदि और भी धनी होते जायेंगे अथवा गरीब और भी गरीब होता जायगा। इसके अतिरिक्त स्थिर क़ीमतो से उत्पत्ति के नवीन साधनो के आविष्कार की प्रवृत्ति समाप्त होती जायगी। इन्ही कारणों से कुछ अर्थशास्त्री धीरे-धीरे गिरते हुए मूल्य स्तर को पसद करते हैं। किंतु इसके विपरीत अनेक अर्थशास्त्री धीरे-धीरे चढती हुई कीमतो को पसद करते हैं, क्योकि गिरती क़ीमतें उद्योग और व्यवसाय की प्रगति को मद करती है तथा बेकारी को बढाती है। ठीक बात तो यह है कि मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-सकुचन दोनो यदि अति की मात्रा पर हैं, तो समाज के लिए हितकर नही है, परन्तु मुद्राप्रसार की थोडी सी मात्रा उत्पादन को बढाने में सहायक होती है और मुद्रा-सकुचन की थोडी सी मात्रा बँधी आयवालो को लाभप्रद होती है, अत दोनों को समय के अनुसार एक उचित सीमा तक प्रयोग करने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।]

मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-सकुचन के रोकने के उपाय

(Remedies for Inflation and Deflation)

जब मुद्रा-प्रसार का विकास हो जाता है तो सशोधन के दो ही रास्ते हो सकते हैं—एक ओर उत्पादन की वृद्धि करना (नवीन उद्योगो की तरह तरह की सहायता देकर और प्रोत्साहन देकर) और दूसरी ओर जनता की क्रय-शक्ति को कम करने के लिए राजकीय प्रयत्न करना (जैसे नोटों के जारी करने की आखिरी सीमा निश्चित कर देना, इत्यादि), क्योकि जब देश में वस्तुओ की मात्रा अधिक होगी और द्रव्य का परिमाण कम, तो कीमतें अवश्य कम हो जायेंगी।

मुद्रा-प्रसार को कम करने के उपाय निम्नलिखित हैं —

(१) नोटो का जारी करना बन्द करना और करेन्सी को बढने से रोकना (Stoppage of Currency Expansion)

(२) लोगों की क्रय शक्ति को भिन्न भिन्न उपायो से कम करना (Mopping Up of Purchasing-power)

(३) सरकारी व्यय में कमी करना और बजट को सतुलित करना यानी व्यय को आय से अधिक न बढने देना (Reduction in Public Expenditure)।

(४) विलास की वस्तुओं पर कर लगाना और यदि वे विदेश से आती हों तो ऊँचा आयात-कर लगाना (Taxes on Luxuries)।

(५) देश में सेविंग्स स्कीम्स, प्रोविडेन्ट फंड स्कीम्स और इन्श्योरेन्स की स्कीम्स आदि का प्रचार करके राष्ट्रीय बचत (National Saving) को बढा देना।

(६) मुनाफाखोरी (Profiteering), चोर-बाजारी (Black Marketing), इत्यादि के विरुद्ध कार्यवाही करना और सयुक्त-पूंजी कम्पनियों के लाभ की सीमा बाँध देना।

(७) कीमतों का सरकार द्वारा निश्चित करना, (Fixation of Price), राशनिंग (Rationing) और नियत्रण (Control) की नीति को काम में लाना।

(८) बैंक दर का बढाना, साख का राशनिंग (Credit Rationing) करना।

(९) उद्योगीकरण और उत्पत्ति वृद्धि पर अधिक से अधिक जोर देना (Industrialisation and Grow More Food Campaign)

इन सबका परिणाम यह होता है कि लोगों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है, मुद्रा प्रयोग में कम रह जाती है, जब कि उत्पादन बढाने का हर प्रकार प्रयास किया जाता है और फलत कीमतें धीरे-धीरे गिरने लगती है।

इसके विपरीत जब मुद्रा सकुचन की स्थिति को दूर करना होता है तो गिरती हुई कीमतों को रोकने के लिए और बेकारी कम करने के लिए सरकार को व्यापार और उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन देना पडता है। सरकार नये नये कार्यों को हाथ में लेकर और भिन्न-भिन्न प्रकार के उद्योगों को तरक्की देकर तथा सामाजिक सेवाओं की योजनाओं को चलाकर, अपना व्यय बढाती है, मुद्रा व करेंसी का विस्तार करती है, करों को कम करती है, बैंक दर को गिरा देती है, इत्यादि, इत्यादि, और फलत कीमतें धीरे-धीरे बढने लगती हैं।

सूचक-अक

(*Index Number*)

हमने ऊपर देखा कि द्रव्य का मूल्य बढता घटता रहता है यानी उसकी क्रय-शक्ति बढती घटती रहती है और इसका विभिन्न सामाजिक वर्गों पर बडा प्रभाव पडता है। परन्तु हमें यह भी देखना है कि यह द्रव्य का मूल्य किस अनुपात में बढा या घटा है।

द्रव्य का मूल्य या उसकी क्रय-शक्ति का माप कैसे होता है, इस प्रश्न का उत्तर हमें वस्तुओं की कीमतों के अध्ययन से मिलेगा। कीमत से यहाँ तात्पर्य किसी एक वस्तु की कीमत से नहीं है, बल्कि सामान्य वस्तुओं की कीमत के सग्रथित रूप से ही है, जिसे "सामान्य मूल्य स्तर" (general price level) भी कहते हैं। जिस अनुपात में सामान्य मूल्य स्तर बढता है उसी अनुपात मे हम कहते है कि द्रव्य की क्रय-शक्ति घट गई है अर्थात् उसका मूल्य गिर गया है। इसी प्रकार जिस अनुपात में सामान्य मूल्य-स्तर गिरता है उसी अनुपात में हम कहते हैं कि द्रव्य की क्रय-शक्ति बढ गई है अर्थात् उसका मूल्य बढ गया है।

स्पष्ट है कि हमें द्रव्य के मूल्य को मापने तथा लेखा करने के लिए "सामान्य मूल्य स्तर" का ज्ञात होना आवश्यक है और इसके लिए हम 'सूचक अंक' का सहारा लेते है जो "सामान्य मूल्य स्तर" का लगभग ठीक ठीक परिचय दे देता है।

वस्तुओं की सब कीमतें एक साथ नहीं घटती-बढ़ती—जब क़ीमतें बढ़ती हैं तो कुछ क़ीमतें गिरती भी है और कुछ वैसी की वैसी ही रहती हैं। और यदि सब क़ीमतों के परिवर्त्तनों की पूरी तसवीर खींची जाय तो वह हजारों क़ीमतों के बढ़ने, घटने, स्थिर रहने की स्थिति दिखाकर एक उलझन पैदा कर देगी और कुछ समझ में नहीं आयेगा। इसलिए हम विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की क़ीमतों का औसत निकाल लेते हैं, और इस के सहारे हम यह ज्ञात कर सकते है कि क़ीमत बढ़ी हैं या घटी हैं अथवा द्रव्य का मूल्य घटा है या बढ़ा है। इस औसत को ही हम इडेक्स नम्बर कहते हैं जिस की परिभाषा इस तरह से की गई है—

"क़ीमतों का इडेक्स नम्बर किसी लिए हुए वर्ष या समय में सामान्य मूल्य स्तर के बारे में इस दृष्टि से बतलाता है कि इसका अन्य विशेष समय के सामान्य मूल्य स्तर से (जिसे कि 'आधार वर्ष' Base Year मान लेते हैं और जिसकी सामान्य कीमत स्तर को १०० मान कर चलते हैं) क्या सम्बन्ध है।"

[इडेक्स नम्बर के द्वारा द्रव्य की क्रय-शक्ति अथवा मूल्य में हुए परिवर्त्तनों को इस प्रकार माप करते हैं—जब सामान्य मूल्य स्तर का इडेक्स नम्बर १०० से ऊपर होता है तो हम यह निष्कर्ष निकालते है कि जो चीज़ पहिले १००) में मिलती थी उसके लिये अब १००) से अधिक देना पड़ता है और द्रव्य का मूल्य गिर गया है और जब यह १०० से कम होता है तो हम समझते हैं कि जो चीजें पहिले १००) में मिलती थी उनके लिये अब १००) से कम देना पड़ता है और द्रव्य का मूल्य बढ़ गया है।]

इडेक्स नम्बर की रचना का ढंग सरल है—हम एक आधार वर्ष (Base Year) मान कर चलते हैं और क़ीमतों के परिवर्त्तन की तुलना इस वर्ष की क़ीमतों से करते हैं। हम इस वर्ष में वस्तुओं की क़ीमतें १०० के बराबर मान लेते हैं और अनेकों वस्तुओं की एक सूची इस प्रकार बनाते हैं—

आधार वर्ष १९३९

(Base year)

वस्तुओं के नाम	मूल्य	मूल्य प्रतिशत में
गेहूँ	६ रु० मन	१००
कपड़ा	६ आना गज	१००
चीनी	४ आना सेर	१००
घी	१ रु० सेर	१००
कोयला	२० सेर प्रति रुपया	१००

इसके बाद यदि हमको यह देखना है कि इस वर्ष (१९३९) की अपेक्षा किसी दूसरे वर्ष (१९५८) में कीमतें बढ़ी हैं या घटी हैं, तो हम उन्हीं चीजों की इस दूसरे साल की क़ीमतों की भी सूची इसी प्रकार बनायगे और देखेंगे कि जो या जितनी चीज पहले सौ में मिलती थी, अब कितने में मिलती है—

वर्ष १९५८

वस्तुओं के नाम	मूल्य	मूल्य प्रतिशत में
गेहूँ	१६ रु० मन	४००
कपड़ा	१२ आने गज	३००
चीनी	१२ आना सेर	३००
घी	५ रु० सेर	५००
कोयला	५ सेर प्रति रुपया	४००

अब हम इन सब प्रतिशतों को जोड़ेंगे और इस जोड़ को (यानी १९०० को) वस्तुओं की मात्रा से (यानी ५ से) भाग देंगे तो जो कुछ आयेगा (यानी ३८०) वह १९५८ का सूचक अंक कहलायेगा और उसी से पता चलेगा कि १९३९ की अपेक्षा १९५८ में कितनी कीमतें बढ़ी हैं या घटी हैं अथवा मुद्रा का मूल्य कितना घटा है या बढ़ा है। नीचे पढ़िए—

आधार वर्ष १९३९			चालू वर्ष १९५८	
वस्तुओं के नाम	आधार वर्ष के मूल्य	मूल्य प्रतिशत में	चालू वर्ष के मूल्य	मूल्य प्रतिशत में (आधार वर्ष की अपेक्षा घटत-बढ़त)
गेहूँ	४) रु० मन	१००	१६) रु० मन	४००
कपड़ा	।) की गज	१००	।।।) प्रति गज	३००
चीनी	।) प्रति सेर	१००	।।।) सेर	३००
घी	१) रु० सेर	१००	५) रु० सेर	५००
कोयला	२० सेर प्रति रुपया	१००	५ सेर प्रति रुपया	४००
	योगसूचक अंक ५००—५=१००			१९००—५=३८०

स्पष्ट है कि जितनी वस्तुएँ १९३९ में १०० मुद्रा में प्राप्त होती थी अब १९५८ में ३८० मुद्रा में प्राप्त होती हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि १९५८ में १९३९ की अपेक्षा वस्तुओं की कीमतें इसी अनुपात में बढ़ गई हैं अथवा मुद्रा की क्रयशक्ति इसी अनुपात में घट गई है।

परन्तु इण्डेक्स नम्बर के बनाने में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। राबर्टसन का तो कहना है कि "Neither in practice nor perhaps in theory is it possible to measure accurately changes in the value of money". इसी प्रकार मार्शल का कहना है कि "A perfectly exact

measure of purchasing power is not only unattainable but even unthinkable' तो भी जैसा कि हम नीचे देखेंगे इण्डक्स नम्बर के अर्थशास्त्र में कई उपयोग हैं और इनका बहुत महत्त्व है। हाँ इनके बनाते समय हमें निम्नलिखित बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए—

(१) आधार वर्ष का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि वह वर्ष ऐसा होना चाहिए जिसमें सूखा अकाल या अन्य किसी प्रकार की असामान्यता (abnormality) न घटी हो। यह एक औसत दर्जे का (normal Base Year) मान होना चाहिए अन्यथा इण्डक्स नम्बर मूल्य स्तर के उतार चढ़ाव की ठीक ठीक सूचना नहीं देगा।

(२) वस्तुओं का चुनाव करते समय दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। एक तो वस्तुओं की संख्या का और दूसरे उनकी विशेषताओं का। वस्तुओं की संख्या न तो बहुत अधिक होना चाहिए और न बहुत कम हो। यदि संख्या अधिक होगी तब उन्हें सँभालना कठिन हो जायगा तथा भ्रम पैदा होने का डर रहेगा। इसके विपरीत यदि संख्या कम रहेगी तब भी गलती होने का भय रहेगा। दूसरी ओर केवल वे ही वस्तुएँ लेनी चाहिए जो वस्तुओं का प्रतिनिधित्व कर सकें (representative commodities) अतः कुछ आवश्यक वस्तुओं तथा कुछ आराम की चीजों का चुनना अच्छा रहता है।

(३) वस्तुएं जिनको हम इण्डक्स नम्बर के बनाने में ले रहे हैं दोनों समय में एक ही प्रकार की होनी चाहिए। यदि उनमें अन्तर होगा तो उनकी कीमतों में भी अंतर हो जायगा और इस कारण इण्डक्स नम्बर में भी अंतर हो जायगा।

(४) कीमतों के चुनाव में हमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। जैसे यदि हम थोक बाजार की कीमत ले रहे हैं तो सभी वस्तुओं की कीमत थोक बाजार में ही लेनी चाहिए। कुछ वस्तुओं की कीमत थोक बाजार में और कुछ की फुटकर बाजार से लेना ठीक नहीं है। दूसरे हम वस्तुओं की कीमतें किसी विश्वसनीय जगह समाचार पत्र रेडियो इत्यादि से ही लेना चाहिए।

(५) इण्डक्स नम्बर का सही-सही रूप में मालूम करने के लिए वस्तुओं को उनकी उपयोगिता के अनुसार अधिक या कम भार (weight) देना उचित होगा। उदाहरण के लिए यदि देश में गहूँ पर कोयले की अपेक्षा २० गुना खर्च होता है तो हम कोयले को १ और गहूँ को २० भार देना चाहिए तब हर एक को सौ से गुणा करने के बाद ही औसत निकालनी चाहिए। इस प्रकार के औसत को भारतीय या महत्त्वानुसार औसत (weighted average) कहते हैं।

मान लिया कि उपर्युक्त उदाहरण में गहूँ कपड़ा चीनी घी और कागज पर २० ४ २ २ और १ के अनुपात में खर्च होता है तब हमारा भारतीय या महत्त्वानुसार सूचक अंक (Weighted Index Number) निम्न प्रकार बनेगा—

	आधार वर्ष १९३९			चालू वर्ष १९५८	
वस्तुओ के नाम	भार या महत्त्व	आधार वर्ष के मूल्य	मूल्य प्रतिशत मे	चालू वर्ष के मूल्य	मूल्य प्रतिशत मे (आधार वर्ष की अपेक्षाकृत)
गेहूँ	२०	४) रु० मन	२०×१००= २०००	१६) रु० मन	२०×४००= ८०००
कपडा	८	।) फी गज	४×१००=४००	।।।) प्रति गज	४×३००=१२००
चीनी	२	।) प्रति सेर	२×१००=२००	।।।) प्रति सेर	२×३००=६००
घी	२	१) सेर	२×१००=२००	५ रु० सेर	२×५००=१०००
कोयला	१	२० सेर प्रति रु०	१×१००=१००	५ सेर प्रति रुपया	१×४००=४००
	२९		२९००		११२००
सूचक अक (या इण्डेक्स नबर)			२९) २९०० (१००		२९) ११२०० (३८६

निश्चित ही यह भारशील इन्डेक्स नम्बर (Weighted Index Number) साधारण इन्डेक्स नम्बर की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होगा। किन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि 'भार' (weight) ज्ञात करने के लिए बडी सावधानी की आवश्यकता है। यह निर्णय कर लेना बहुत कठिन है कि किस वस्तु को कितना भार या प्रभाव देना चाहिए, अर्थात् वस्तुओ को किस अनुपात में रखना चाहिए। भारशील सूचक अक साधारण सूचक अको से अधिक सही तथा उपयोगी क्यो समझा जाता है, इसका कारण यही है कि इसमें प्रत्येक वस्तु को उपयुक्त महत्त्व दिया जाता है और साधारण सूचक-अको में सबको समान महत्त्व मिलता है। यदि गेहूँ का मूल्य आधा हो जाय और साइकिल का मूल्य दुगना हो जाय तो साधारण सूचक-अक मे इतना अन्तर नही पडेगा जितना कि पडना चाहिए, परन्तु भारशील सूचक-अक ऐसे अतर को भी प्रत्यक्ष रूप से दिखलाते हैं।

(६) औसत निकालने के तरीके मे भी सावधानी अपेक्षित है। साधारणतया इसमें समानान्तर औसत (Arithmetic Average) का प्रयोग होता है। इसमें कीमतों को जोडकर वस्तुओ की सख्या से विभाजन कर दिया जाता है, जैसे कि उपरोक्त उदाहरण में किया गया है। किन्तु सुविधानुसार अन्य प्रकार के औसतो का भी उपयोग कर सकते हैं जैसे कि ज्यामितिक औसत (Geometric Average) का या हरात्मक औसत (Harmonic Average) का। ज्यामितिक औसत निकालने के लिए मूल्यो को गुणकारक गुणनफल का वही घात-मूल निकालते हैं जितनी वस्तुओ की सख्या होती है। जैसे यदि अ और ब दो सख्याएँ हों तो उनका ज्यामितिक औसत $\sqrt{\text{अ ब}}$ हुआ। और इन्ही का हरात्मक औसत निकालने के लिए हम पहिले अ और ब के व्युत्क्रम पद को जोडेगे। यह जोड हुआ

$\frac{१}{अ}+\frac{१}{व}$ यानी $\frac{अ+व}{अव}$। फिर इसे २ से भाग देंगे (क्योंकि वस्तुओं की संख्या २ है) ऐसा करनेसे आएगा $\frac{अ+व}{२ अव}$। इसका व्युत्क्रम $\frac{२ अव}{अ+व}$ हुआ, और यह ही हरात्मक औसत कहलाएगा। ज्यामितिक औसत प्राय अधिक सही फल देता है परन्तु इसका प्रयोग करना कठिन है। इसी प्रकार हरात्मक औसत का प्रयोग भी कठिन है। अत सामान्यत समानान्तर औसत (यानी $\frac{अ+व}{२}$) निकालने का ही प्रचलन है।

सूचक अंको का उपयोग

(*The use of Index Numbers*)

(१) इनके द्वारा हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि द्रव्य की क्रय-शक्ति कितनी है और किस दशा में परिवर्तित हो रही है। यदि हम देखते हैं कि वस्तुओं का मूल्य बढ़ या घट रहा है, तो हम मुद्रा की मात्रा को घटा या बढ़ाकर कीमतों को स्थिर रख सकते हैं। अत इण्डेक्स नम्बर के द्वारा कीमतों को स्थिर रखने में सहायता मिलती है।

(२) इण्डेक्स नम्बर के द्वारा हम यह मालूम कर सकते हैं कि किसी वर्ग का जीवन-स्तर ऊँचा उठ रहा है या नीचे गिर रहा है। अत इसके अध्ययन से मजदूरी को तय करने में सहायता मिलती है। यदि हम देखते हैं कि वस्तुओं का मूल्य बढ़ रहा है, जिसके परिणाम-स्वरूप जीवन-स्तर गिर रहा है, तब मजदूरी को बढ़ाकर जीवन-स्तर को गिरने से रोका जा सकता है। इसके विपरीत वस्तुओं के मूल्य के गिरने पर मजदूरी कम की जा सकती है। मत-लब यह है कि इस प्रकार की जानकारी से हमें मजदूरों तथा मालिकों के मजदूरी-सम्बन्धी आपस के झगड़े तय करने में सहायता मिलती है।

[जब वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होता है तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर उनकी परिस्थिति और रहन-सहन के अनुसार उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है, जैसे जब वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है तो सभी व्यक्तियों का निर्वाह-व्यय बढ़ जाता है, परन्तु किसी का जीवन-व्यय अधिक बढ़ता है और किसी का कम। इसलिए हम केवल साधारण सूचक-अंकों से यह पता नहीं लगा सकते कि निर्वाह-व्यय में क्या परिवर्तन हो रहा है, और हम एक विशेष प्रकार के सूचक-अंक बनाते हैं जिन्हें जीवन-निर्वाह सूचक अंक (Cost of Living Index Number) कहते हैं। ये इस बात को सूचित करते हैं कि द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन होने से मनुष्यों पर उपभोक्ताओं की हैसियत से क्या प्रभाव पड़ा है, और ये इस बात का अध्ययन करते हैं कि प्रामाणिक वर्ष की अपेक्षा प्रचलित वर्ष में निर्वाह के उसी स्तर को रखने में अब निर्वाह-व्यय में कितनी वृद्धि अथवा कमी हो गई है। इनके तैयार करने की विधि प्राय वही है जो साधारण सूचक-अंकों के तैयार करने की है। इनको तैयार करने के लिए वस्तुओं और स्थानों का चुनाव ठीक उसी प्रकार होता है, केवल वस्तुओं का चुनाव करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि वे ही वस्तुएँ चुनी जावें जिनका उस श्रेणी के लोग जिनके सम्बन्ध में हम निर्वाह-व्यय सूचक-अंक तैयार करने जा रहे हैं अधिक उपभोग करते हों।]

(३) इनकी सहायता से किसी देश की आर्थिक और औद्योगिक विकास का सही ज्ञान प्राप्त होता है। ये किसी देश के आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाओं में बड़े सहायक होते है। क्योंकि इनकी सहायता से प्रत्येक प्रकार के सख्यात्मक परिवर्तनो (quantitative changes) का, जैसे मजदूरी, आयात, निर्यात, व्यवसाय आदि का, कृषिकरण क्षेत्र के परिवर्तन या जनसख्या के परिवर्तन, उधार लेन-देन, लाभ ब्याज, आदि आदि का अध्ययन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हम अको द्वारा यह पता लगा सकते है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में उत्पादन किस प्रकार घट या बढ रहा है, देश के आयात व निर्यात किस अनुपात में बढ़ घट रहे हैं और विदेशी व्यापार के भुगतान में सन्तुलन किस प्रकार लाया जा सकता है, मुद्रा के मूल्य में क्या घट बढ हो रही हैं और इसके बुरे प्रभावो को किस प्रकार रोका जा सकता हैं, इत्यादि, इत्यादि।

(४) दीर्घकालीन ऋणो के भुगतान में समता रखने के लिए भी इनका उपयोग किया जा सकता है। यदि मूल्य स्तर गिर जाता है तो उसी अनुपात में ऋण की मात्रा को कम करके और यदि मूल्य स्तर बढ जाता है तो उसी अनुपात में ऋण की मात्रा को बढाकर यह समता प्राप्त की जा सकती है।

(५) इनकी ही सहायता से आजकल एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देशों की मुद्रा में मालूम किया जाता है, इत्यादि, इत्यादि।

QUESTIONS

1. "The value of money like the value of anything else is mainly a question of demand and supply." (Alld. 1958, 55, 53, 51)

or

Explain carefully the concepts of the supply of money and the demand for money (Agra, 1957)

2. Explain inflation and deflation of currency (Agra 1956, 55s· 47) Examine the various methods to check inflation in a country. (Agra 1954s, Bihar 1958)

3. State what you understand by the term inflation. To what causes can it be ascribed and what consequences follow from it? (Alld 1949, Agra 1951s.,) Under what conditions is inflation beneficial for the country's economic development? (Agra 1958)

4. Discuss the economic effects of the rise in the general level of prices on the following classes of the people —

(a) Cultivators (b) Debtors (c) Exporters (d) University Teachers (e) Middle-class People (f) Industrialists. (Alld. 1945)

5. "Fluctuations in prices are of the profoundest social significance, and may exert immeasurable influence on the production and distribution of wealth." Explain (Agra 1957)

6. "Inflation is unjust and deflation is inexpedient. Of the two perhaps deflation is the worse" Discuss. (Agra 1953).

7. "Thus money, which is source of so many blessings to mankind becomes also, unless we can control it, a source of peril and confusion' Discuss. (Agra 1952)

8. "Since every one is both a creditor and a debtor, changes in the value of money do not matter," Comment and criticise (Agra 1952s.)

9. How can changes in the price level be measured? (Bihar 1958, Alld. 1952, 1950) Explain briefly the method of framing index numbers, bringing out clearly the difference between the simple and the weighted index numbers (Alld 1948, Agra 1957, 51)

10 What do you understand by Index Numbers? Construct a table of simple index numbers. What principles should be borne in mind in constructing such a table? What is the object and importance of index numbers? (Alld 1956,55,51, Agra 1958,56,55s 54, 53 Rajputana, 1956, 54)

४६

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त

(Quantity Theory of Money)

पिछले अध्याय में हमने यह देखा कि अन्य वस्तुओं के मूल्य की भांति मुद्रा का मूल्य भी पूर्ति और माग के आधार पर निश्चित किया जाता है। ("The value of money, like the value of anything else, is mainly a question of demand and supply") द्रव्य की माँग उन सब वस्तुओं तथा सेवाओं से होती है जिनका उसके द्वारा किसी एक निश्चित समय में विनिमय होता है। उत्पादन तथा उपभोग दोनों क्रियाओं में ही वस्तु अथवा सेवा का विनिमय होता है, इसी कारण समाज में द्रव्य की माँग होती है—उत्पत्ति बढ़ने से द्रव्य से अधिक वस्तुओं का विनिमय होता है और द्रव्य की माँग में वृद्धि हो जाती है, इसके विपरीत यदि किसी समय उत्पत्ति घट जाती है तो कम वस्तुएँ विनिमय के लिए रह जाती हैं और उसकी माँग घट जाती है। दूसरी ओर, द्रव्य की पूर्ति का अर्थ है कि मनुष्यों के पास कितना द्रव्य है (क्योंकि वह सब द्रव्य ही, उस द्रव्य के निकालने के बाद जो जमा कर दिया गया है, विनिमय के प्रयोग में आता है)।

इस प्रकार यदि द्रव्य की माग यथावत् रहे, तो हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य का मूल्य उसके परिमाण पर निर्भर करेगा। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि १० वस्तुएँ विनिमय के लिए है और द्रव्य की १० इकाई विनिमय के माध्यम के लिए है तो इस दशा में एक वस्तु की क़ीमत द्रव्य की एक इकाई होगी। अब यदि द्रव्य की इकाइयाँ बीस हो जायें तो एक वस्तु की कीमत द्रव्य की दो इकाई हो जायेगी और यदि इकाइयाँ ५ ही रह जायें तो एक इकाई में दो वस्तु खरीदी जा सकेगी। दूसरे शब्दों में यदि द्रव्य की माँग यथावत् रहे और द्रव्य की पूर्ति दुगनी हो जाय तो मूल्य-स्तर दुगना हो जायगा (और द्रव्य का मूल्य आधा रह जायेगा) और इसी प्रकार यदि द्रव्य की पूर्ति आधी हो जाये तो मूल्य-स्तर आधा रह जायगा (और द्रव्य का मूल्य दुगना हो जायेगा)। और हम कह सकते हैं कि वस्तुओं के मूल्य या (द्रव्य की क्रय शक्ति) और द्रव्य के परिमाण में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को ही द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) द्वारा प्रकट करते हैं, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन नीचे किया जाता है।

द्रव्य का परिमाण सिद्धांत यह बतलाता है कि और सब चीजें यथावत् रहे तो द्रव्य की क्रय-शक्ति द्रव्य के परिमाण के साथ उल्टे अनुपात में परिवर्तित होती है—"Other things remaining the same, the purchasing power of money varies inversely as the quantity of money in circulation." और चूंकि जब द्रव्य का मूल्य ऊंचा होता है तो वस्तुओं का मूल्य-स्तर गिरता है और जब

द्रव्य का मूल्य नीचा होता है तो वस्तुओं का मूल्य-स्तर ऊँचा होता है (अर्थात् वस्तुओं का मूल्य-स्तर द्रव्य के मूल्य के प्रतिकूल दिशा में चलता है) इसलिए हम इसी बात को यों भी व्यक्त कर सकते हैं कि मूल्य के स्तर में द्रव्य के परिमाण से सीधे अनुपात में परिवर्तन होता है।—"Other things remaining the same, price-level varies directly with quantity of money in circulation." मान लीजिए कि M द्रव्य का परिमाण है और P वस्तुओं के मूल्य का स्तर तो

P varies as M

जहाँ P=मूल्य स्तर

M=कानूनी सिक्कों की मात्रा

इसका यह अर्थ हुआ कि यदि द्रव्य का परिमाण (M) दूना हो जायगा तो मूल्य का स्तर (P) भी दुगना हो जायगा (यहाँ, द्रव्य मूल्य या द्रव्य की क्रय-शक्ति आधी रह जायगी), और यदि द्रव्य का परिमाण (M) आधा रह जाय तो मूल्य का स्तर (P) भी पहले के समान ही आधा रह जायगा (यहाँ द्रव्य मूल्य अथवा द्रव्य की क्रय-शक्ति परिणामवश दुगनी हो जायेगी।)

यह ही है द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त जिसका अर्थशास्त्र में इतना महत्त्व है और जिस पर अलग अलग अर्थशास्त्रियों का अलग-अलग मत है। विशेष रूप से अर्थशास्त्रियों का ध्यान तीन बड़े-बड़े सिद्धान्तों पर केन्द्रित हो गया है—"द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त" "नकद-शेष सिद्धान्त" और "आयसिद्धान्त"। तीनों सिद्धान्त एक ही कार्य-प्रणाली को बताते हैं, अतः उनका बहुत नजदीक का संबंध है। वास्तव में कई बातों में वे एक दूसरे के पूरक हैं। और अब हम उन्हीं का नीचे अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

परिमाण सिद्धान्त में संशोधन

प्रो० फिशर का समीकरण

उपरोक्त रूप में परिमाण सिद्धांत केवल प्राचीन युग के लिए ही उपयुक्त था और वह भी कुछ विशेष दशाओं में ही, जैसे यह सिद्धान्त उस जगह ही लागू होगा जहाँ पर केवल एक ही तरह के द्रव्य का प्रयोग होता हो, जहाँ न नोट हैं न बैंक-जमा और न साख-द्रव्य, जहाँ द्रव्य को जमीन में नहीं गाड़ते और व्यर्थ में संचय नहीं करते; जहाँ सम्पूर्ण द्रव्य का उपयोग वस्तुओं के विनिमय कार्यों में ही होता है, जहाँ द्रव्य की एक इकाई का उपयोग विनिमय में केवल एक ही बार होता है, जहाँ विनिमय योग्य वस्तुओं की संख्या एक-सी ही रहती है, आदि, आदि। पर वास्तविक संसार में 'यह सब चीजें' जो सिद्धान्त के वर्णन में आती हैं, कभी भी ऐसी सरल नहीं पाई जाती और सदा बदलती रहती हैं, अतः कई बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

(१) मान लो, मेरे पास १ रुपया है। मैं बाजार से फल खरीदता हूँ और फल-वाले को १ रु० दे देता हूँ। फलवाला रुपया बजाज को देता है और बजाज उस रुपये को विसाती को देता है। इस प्रकार पूरे दिन में रुपये का तीन बार प्रयोग हुआ। इसस तीन

रुपये का कार्य पूरा हुआ। इसलिए यदि हमें सिद्धान्त को अधिक पूर्ण बनाना है तो हमें केवल मुद्रा की सख्या का ध्यान नही रखना चाहिए, बल्कि इस बात का भी कि मुद्रा की चलन-गति क्या है और वह कितनी तेजी से चलती है अर्थात् इस उदाहरण में हमें रुपये की सख्या १ न लेकर ३ लेनी चाहिए।

स्पष्ट है कि द्रव्य की मात्रा केवल सिक्कों की असली सख्या के बराबर न होकर सिक्कों की सख्या×सिक्कों की चलन गति* के बराबर होती है (Quantity of Money=Quantity of Coins×Velocity of Circulation of Coins)

तब यह ज्ञात हुआ कि

P varies as M V*

जहाँ P=मूल्य-स्तर

M=कानूनी सिक्कों की मात्रा

V=उनकी चलन-गति

---

*चलन की गति में फेर-बदल होने के कारण—मुद्रा के चलन की गति को तेज करनेवाले कारण है —

(१) मुद्रा की आपेक्षिक कमी।
(२) जन-सख्या, में वृद्धि।
(३) यातायात एव सचार-साधनों की वृद्धि।
(४) सामान्य आर्थिक उन्नति।

यदि किसी समय मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से कम हो तो प्रत्येक व्यक्ति एक मुद्रा से अधिक से अधिक विनिमय का काम करने का प्रयत्न करता है तथा लोग मुद्रा-सग्रह करना कम कर देते है। इस प्रकार मुद्रा के चलन का वेग बढने लगता है। यदि जन-सख्या बढ जाय या यातायात के साधन अधिक और अच्छे हो जायँ तो मुद्रा के लेन-देन, लाने ले जाने तथा चलाने की सुविधाएँ बढ जाती है और इस प्रकार गति में वेग आ जाता है। इसी प्रकार जब देश में सामान्यत आर्थिक सगठन रहता है तो लोगो में पारस्परिक विश्वास बढ जाता है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आय का अधिकाश भाग व्यय करने लगता है जिससे मुद्रा का वेग बढ जाता है।

मुद्रा के चलन की गति मन्द पडने के निम्न कारण है —

(१) सकटकालीन भय, (२) व्यापार की डावाँडोल स्थिति।

अवनत तथा कृषि-प्रधान देशो में विकसित तथा उद्योग-प्रधान देशों की अपेक्षाकृत मुद्रा की मात्रा कम तथा मुद्रा के चलन की गति मन्द होती है क्योंकि उन देशों में लेन-देन प्राय. कम रहता है। औद्योगिक केन्द्रो तथा व्यापारिक शहरो में अन्य स्थानों की अपेक्षाकृत मुद्रा के चलन की गति तेज होती है। साधारणत ऐसा देखा गया है कि जब कभी किसी स्थान पर लेन-देन (क्रय-विक्रय) का काम बहुत अधिक बढ जाता है तो वहाँ के मूल्य-स्तर को सतुलित बनाने और उचित अनुपात में टिकाऊ बनाने के लिए वहाँ के लोगो को या तो मुद्रा की मात्रा में फेर-बदल करनी पडती है या मुद्रा के चलन की गति में परिवर्त्तन करना पडता है या एक साथ ही दोनो काम करने पडते हैं।

*रॉबर्टसन ने इस सम्बन्ध में एक बडी मनोरजक कहानी दी है जिससे मुद्रा की चलन-गति का विचार बहुत स्पष्ट हो जाता है। डर्बी घुडदौड के दिन दो पुरुषो (Bob और Joe) ने एक बियर शराब का पीपा खरीदा और घुडदौड के स्थान की ओर चल

(२) इसी प्रकार द्रव्य की मात्रा (M) खाली कानूनी सिक्को की सख्या पर और उसकी चलन-गति पर निर्भर नही रहती, किन्तु देश के साख द्रव्य और उसकी चलन-गति (Credit Money and its Velocity of Circulation) पर भी निर्भर रहती है। अस्तु, सिद्धात को अधिक पूर्ण बनाने के लिए हम इसे इस प्रकार वर्णित करेंगे।

P varies as $MV + M'V'$

जहाँ P=मूल्य-स्तर

M=कानूनी सिक्को की मात्रा

V'=उनकी चलन-गति

M'=साख-द्रव्य

V'=साख द्रव्य की चलन-गति

(३) इसके अतिरिक्त, अब तक तो हमने यह माना था कि द्रव्य की माँग हमेशा एक सी रहती है, किन्तु वास्तविक स्थिति में ऐसा नही होता। जब देश की उत्पत्ति बढती है और परिणामत व्यापार बढता है तो रुपये की माँग भी बढती है और मूल्य-स्तर पर भी अपना प्रभाव डालती है। अस्तु, सिद्धात को पूर्ण करने के लिए हमें माँग का भी विचार करना चाहिए। हम वस्तुओ की कीमत का द्रव्य की माँग तथा पूर्ति से सम्बन्ध इस प्रकार जोड सकते हैं—

$$P \text{ varies as } \frac{MV + M'V'}{T}$$

जहाँ P=मूल्य-स्तर

M=कानूनी सिक्को की मात्रा

V=उनकी चलन-गति

M'=साख द्रव्य

V'=साख द्रव्य की चलन गति

T=किसी देश के व्यापार की मात्रा (वस्तुओ का कुल लेन-देन)

निकले कि घुडदौड के स्थानपर इस बियर को ६ पेंस प्रति गिलास बेचेंगे और आधा आधा आपस में बाँट लेंगे। रास्ते में Bob को बहुत प्यास लगी, उसके पास एक तीन पेंस का सिक्का था, उसने एक गिलास बिअर पी ली और Joe को उसके हिस्से के बदले में तीन पेंस का सिक्का दे दिया। थोडी देर बाद Joe को प्यास लगी, उसने एक गिलास बिअर पी लिया और तीन पेंस का सिक्का Bob को वापस दे दिया। गर्मी की वजह से Bob को फिर प्यास लगी और उसके बाद फिर Joe को। जब वे घुडदौड के स्थान पर पहुँचे तो Bob की जेब में तीन पेंस का सिक्का वापस आ गया था, सब बिअर समाप्त हो गई थी और एक दूसरे ने आपस का कर्जा निपटा दिया था। इस प्रकार केवल एक तीन पेंस के सिक्के ने सब काम कर दिया जिसके लिए यदि बिअर घुडदौड के मैदान में लोगो के हाथ बेचा जाता जैसा कि शुरू में विचार था तो बहुत से शिलिंग्स की जरूरत पडती। स्पष्ट है कि द्रव्य की चलन-गति पर भी ध्यान आवश्यक है।

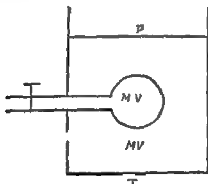
अस्तु सिद्धांत का अंतिम रूप यह हुआ —

$$P = \frac{MV + M'V'}{T} \quad \text{या} \quad PT = MV + M'V'$$

द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त को इस रूप में अमरिका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर इरविंग फिशर ने प्रचलित किया था। इसीलिए इसे फिशर का परिमाण समीकरण भी कहते हैं। इस समीकरण के द्वारा निम्न चार निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं —(१) यदि द्रव्य का परिमाण बढ़ जाय परन्तु द्रव्य के चलन की गति और वस्तुओं का कुल लेन देन यथावत रहे तो वस्तुओं का मूल्य बढ़ेगा। (२) यदि द्रव्य की चलन गति बढ़ जाय परन्तु द्रव्य का परिमाण और वस्तुओं के कुल लेन देन यथावत रहें तो भी वस्तुओं का मूल्य बढ़ेगा। (३) यदि वस्तुओं का कुल लेन देन बढ़ जाय परन्तु द्रव्य का परिमाण और द्रव्य की चलन-गति यथावत रहे तो वस्तुओं का मूल्य घटेगा। (४) यदि वस्तुओं की मात्रा में कमी हो जाय परन्तु द्रव्य का परिमाण और द्रव्य की चलन गति यथावत रहे तो वस्तुओं का मूल्य बढ़ेगा।

इसी को A Barker ने अपनी पुस्तक 'Cash and Credit" में एक चित्र द्वारा समझाया है।

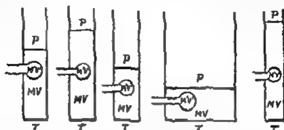
एक बर्तन है जिसकी पेंदी घटाई बढ़ाई जा सकती है। इस बर्तन में MV को पानी मानकर भरा गया है। इसमें एक रबर की थैली भी लगी हुई है। जिसके



द्वारा पानी के भीतर हवा भरी जा सकती है या उसके भीतर से निकाली जा सकती है और जिसमें M'V' है। बर्तन की नीचे की सतह को T माना गया है। पानी के भरने पर जो ऊंचाई रहती है वह P अथवा मूल्य स्तर है। तो हम ध्यान देने पर यह देखते कि MV या M'V' के बढ़ने पर P की सतह ऊँची हो जाती है, और T के बढ़ने पर उसकी सतह नीची हो जाती है। इसी तरह MV या M'V' के घटने पर P की सतह नीची हो जाती है और T के घटने पर उसकी सतह ऊँची हो जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि P varies directly as MV and M'V' and inversely as T अर्थात् मूल्य का स्तर MV, M'V' के अनुकूल और T के विपरीत बदलता रहता है।

नीचे के चित्रों पर ध्यान दीजिए —

चित्र २ में M'V' की मात्रा चित्र १ की अपेक्षा बढाई गई है, जब कि वस्तुओं की कुल मात्रा T वही रहती है, और इसका परिणाम यह होता है कि P ऊपर चला जाता



है। चित्र ३ में M'V' की मात्रा घटा दी गई है, जब कि वस्तुओं की कुल मात्रा T वही रहती है, और इसका परिणाम यह होता है कि P का स्तर नीचा हो जाता है।

इसी प्रकार M'V' की मात्रा वही रहते हुए, वस्तुओं की मात्रा T चित्र ४ में बढ़ा दी गई है और फलस्वरूप P नीचे चला गया है, और चित्र ५ में घटा दी गई है, जिसके फलस्वरूप P ऊपर चला गया है।

परिमाण सिद्धान्त की आलोचना

Criticism of the Quantity Theory of Money

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि फिशर का यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। यह सिद्धान्त वास्तविक स्थिति में काम के योग्य नहीं है और इस बात के इतिहास में अनेक उदाहरण हैं। यदि यह सिद्धान्त सही होता तो मंदी के समय (अर्थात् गिरती क़ीमतों के युग में) द्रव्य के परिमाण में वृद्धि कर क़ीमतों को गिरने से रोका जा सकता, किंतु १९२९ में जब सारी दुनिया में कीमतें तेज़ी से गिरीं, सब देशों की सरकारों ने द्रव्य का परिमाण बढ़ाया, परन्तु तो भी मूल्य स्तर में बढ़ती नहीं हुई, और जब बढ़ती हुई तो अन्य कारणों से हुई। इसी तरह इस सिद्धान्त के अनुसार महँगी के समय मुद्रा का परिमाण घटा कर ही क़ीमतों को घटाया जा सकता है, किंतु दुनिया में महँगी की स्थितियाँ अनेक बार बिना मुद्रा का परिमाण घटाये स्वयं ही समाप्त हो गई हैं। फिशर ने इसको इस तरह समझाने की चेष्टा की है कि मंदी में मुद्रा के परिमाण को बढ़ाने पर भी वस्तुओं की क़ीमतें इसलिए नहीं बढ़तीं कि द्रव्य के परिचलन का वेग कम हो जाता है। इसी प्रकार महँगी में मुद्रा संकुचन के बाद भी वस्तुओं की क़ीमतें इसलिए नहीं गिरतीं कि मुद्रा के परिचलन का वेग बढ़ जाता है। किन्तु मुद्रा के परिचलन के वेग की कल्पना अस्पष्ट है और इसका पता भी लगाना सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त में अन्य परिस्थितियों के जैसी की तैसी रहने की कल्पना की गई है, परन्तु ये जैसी की तैसी कभी नहीं रहतीं। जब कभी वस्तुओं के उत्पादन इत्यादि में परिवर्तन होते हैं या द्रव्य के परिमाण में परिवर्तन होता है तो केवल मूल्य-

स्तर पर ही उसका प्रभाव नही पडता, वरन् द्रव्य की चलन गति पर तथा वस्तुओ के कुल लेन-देन पर भी। लेवेन्सकी का कहना है कि यह सिद्धान्त तो ऐसी मशीन है जिसके समीकरण का प्रत्येक भाग एक दूसरे से सम्बन्धित है और उस मशीन मे केवल 'द्रव्य की मात्रा' और 'मूल्य-स्तर' के ही दो पहिए नहीं है वरन् छोटे-छोटे अनेक 'चकपहिये' भी है। द्रव्य के घटने-बढने से केवल मूल्य-स्तर का पहिया ही नही घूमता वरन् द्रव्य की चलन गति तथा वस्तुओं के लेन-देन के सभी चकपहिये घूम जाते है, और एक तरफ ही नही बल्कि दोनों ओर घूमते रहते है। ऐसी परिस्थितियो में द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त बहुत महत्त्व नही रखता। फिर इस समीकरण मे कोई विशेष बात भी नही बताई गई है। केवल यह ही तो बताया है कि किसी भी समय कुल-व्यय कुल-बिक्री-मूल्य के बराबर होता है ($MV+M'V'=PT$) अर्थात् किसी भी समय जनता जितना व्यय करती है वह व्यय राशि उतने ही समय में विक्रय-राशि के बराबर होती है—एक ओर जितना व्यय करते हैं दूसरी ओर दूकानदार उतने ही मूल्य की बिक्री करते हैं। इस प्रकार लेवेन्सकी का कहना है कि द्रव्य के परिमाण के साथ-साथ वस्तुओ के मूल्य-स्तर में फेर-बदल होना एक साधारण और स्वयं-सिद्ध बात है और इस सिद्धान्त में कोई नवीन शोध नही है। (With the qualification "other things remaining the same" the Quantity Theory of Money is a useless truism) इस सिद्धान्त मे यह बात ज्ञात नही होती कि किस विधि के अनुसार मुद्रा की मात्रा घटने-बढने से मूल्य घट-बढ जाते हैं। और यह भी कैसे मान लिया जाय कि द्रव्य परिमाण से ही हमेशा मूल्य-स्तर निर्धारित होता है और द्रव्य परिमाण स्वय मूल्य-स्तर से प्रभावित नही होता?

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि हमे जानना तो है कि द्रव्य की क्रय-शक्ति क्या है यानी इसके बदले उपभोग की वस्तुएँ अब पहिले से कितनी कम या अधिक मिल सकती हैं, परन्तु यह सिद्धान्त हमे यह नही बताता। लार्ड कीन्स का कहना है कि द्रव्य के द्वारा होनेवाले अधिकाश लेन-देन या तो औद्योगिक होते है या व्यापार और वित्त-सम्बन्धी। वस्तुओ के क्रय-विक्रय सम्बन्धी लेन-देन तो द्रव्य के द्वारा बहुत कम होते है। और 'फिशर समीकरण' मे जो "T" माना गया है, उसमें पहिले प्रकार के ही लेन-देन ज्यादा आते है जिनका उपभोग से कोई सम्बन्ध नही है और इसलिए हम कह सकते है कि इससे हमको उपभोक्ता की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नही होता। न ही द्रव्य की कुल क्रय-शक्ति का सही-सही और पूरा-पूरा अनुमान होता है। परिमाण सिद्धान्त के अनुसार तो द्रव्य एक नकद सौदो का माप (Cash Transactions Standard) बनकर रह जाता है—वह मुद्रा की क्रय-शक्ति को नही नापता, बल्कि केवल नकद लेन-देन के स्तर को।

केम्ब्रिज स्कूल वालो का समीकरण

(*Cambridge School Theory*)

परिमाण सिद्धान्त के इन दोषो के कारण इसको अर्थशास्त्र के केम्ब्रिज स्कूल ने (मार्शल, पीगू, कीन्स, कैनन, रोबर्टसन आदि ने) एक दूसरे ही रूप मे रखा है। फिशर

के अनुसार द्रव्य केवल विनिमय का साधन है। यह एक रेल्वे टिकट के समान है जो कि रख छोड़ने के लिए नहीं बल्कि यात्रा करने के लिए ही खरीदा जाता है। इस प्रकार जब व्यापार बढ़ता है तो द्रव्य की माँग में वृद्धि होती है और जब व्यापार घटता है तो द्रव्य की माँग भी घट जाती है। किन्तु केम्ब्रिज स्कूल-वालों के मतानुसार द्रव्य केवल टिकट की तरह ही प्रयोग में नहीं लाया जाता अपितु उसको लोग नकद के रूप में भी अपने पास या बैंक में रखना चाहते हैं। द्रव्य की माँग उनके मत से व्यापार की मात्रा पर निर्भर नहीं करती बल्कि लोगों की नकदी रखने की इच्छा (liquidity preference) और योग्यता पर निर्भर करती है—अर्थात् इस बात पर कि लोग किसी समय अपनी आय का कौन-सा भाग नकदी के रूप में "hold" करना चाहते हैं। द्रव्य को लोग इसलिए "hold" करते हैं क्योंकि उसमें क्रय-शक्ति है जिससे मनुष्य जब चाहे तब अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए सामान खरीद सकता है। यह बात अवश्य है कि वह अपनी कुल आय को धन के रूप में अपने पास नहीं रखता, क्योंकि ऐसा करने से तो वह फिर न उपभोग पर ही खर्च कर सकता है और न वह बैंक या अन्य किसी व्यक्ति को उधार देकर उससे ब्याज ही प्राप्त कर सकता है; तो भी प्रत्येक मनुष्य द्रव्य को अपने पास रखने के लाभ और हानि का विचार करके अपनी कुल आय का कुछ भाग द्रव्य के रूप में अपने पास रखता है, वही उसकी द्रव्य की माँग है और देश के सारे व्यक्तियों तथा संस्थाओं की द्रव्य की माँग, देश की द्रव्य की माँग हुई।

द्रव्य की यह माँग कई बातों पर निर्भर रहती है, जैसे (१) व्यक्ति की आय मिलने की अवधि—जितनी जल्दी किसी मनुष्य को वेतन मिलेगा उतना ही कम धन वह अपने पास रखेगा। (२) वस्तुओं के मूल्य—यदि मूल्य ऊँचे हैं तो अधिक धन रखना पड़ेगा और यदि कम हैं तो कम धन ही पर्याप्त होगा। (३) व्यापार की स्थिति—मंदी के समय धन की माँग बढ़ जाती है, और तेजी के समय माँग घट जाती है। (४) जनसंख्या—जितनी अधिक जनसंख्या होगी उतनी ही अधिक द्रव्य की माँग होगी। (५) लेन देन की आदत—जिन लोगों में साख-पत्रों का अधिक चलन है, उनकी माँग कम होगी और जिनमें कम चलन है उनकी अधिक। इन सब बातों का विचार करते हुए ही किसी देश के लोग अपनी आय का एक भाग संचय करते हैं और इस संचय की मात्रा आर्थिक अवस्था के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। दूसरी ओर जितना द्रव्य चलन में रहता है, वह किसी न किसी के पास रहता ही है। तो हम यह सकते हैं कि द्रव्य का मूल्य एक ओर तो द्रव्य की इस पूर्ति से ज्ञात होता है और दूसरी ओर द्रव्य की माँग से जो नकदी पसन्दगी या तरलता अधिमान का प्रतिरूप है—"The Value of money is determined on *the one side by the supply of* money (all the cash and deposits in the hands of the public) and on the other side by the demand for liquidity preference."

मान लीजिए कि किसी देश के लोग अपनी आय का एक अंश (K अंश) अपने पास रखते हैं जिसमें कि वह देश में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं अर्थात् देश की वास्तविक

आय (annual real incomes—R) का K अंश खरीद सकें तो द्रव्य की कुल मात्रा का मूल्य KR हुआ। अब यदि यह मान लें कि द्रव्य की कुल मात्रा M है तो द्रव्य की एक इकाई का मूल्य $\frac{KR}{M}$ हुआ यानी मूल्य स्तर $\frac{M}{KR}$ हुआ। इस प्रकार कैम्ब्रिज स्कूल आव इकोनॉमिक्स के अनुसार —

P varies as $\frac{M}{KR}$

यहां P=मूल्य-स्तर

M=द्रव्य की पूर्ति

KR=द्रव्य की मांग (R से मतलब लोगो की आय से है और K से मतलब उस अनुपात से है जिस अनुपात मे लोग आय का अंश "hold" करना चाहते हैं।)

[इसी बात को एक दूसरे समीकरण द्वारा भी दिखाया जाता है, जो इस प्रकार है —

$$n = p\,(K + rk') \text{ or } p = \frac{n}{K' + rk'}$$

यहाँ n द्रव्य की कुल मात्रा है

p द्रव्य की क्रय-शक्ति है

k उपभोग की वस्तुओं की वह मात्रा है जो लोग अपने पास द्रव्य के रूप मे रखते हैं।

k' उपभोग की वस्तुओं की वह मात्रा है जो लोग द्रव्य के रूप में बैंको मे जमा रखते है

r बैंको के नकद कोष का वह अनुपात है जिसे बैंक अपनी जमा के सम्बन्ध में अपने पास रखते हैं।]

केम्ब्रिज स्कूल के अर्थशास्त्रियों का कहना है कि यह सिद्धान्त का एक सुधरा हुआ रूप है। यह माँग और पूर्ति के साधारण सिद्धान्त की तरह ही काम करता है और इसके द्वारा इस बात का भी सतोषजनक उत्तर मिल जाता है कि व्यापार चक्र म मूल्य-स्तर के घटने-बढने के क्या कारण होते हैं (तेजी के समय में तेजी इसलिए रहती है कि ऐसे समय में लोगों की नकदी पसन्दगी घट जाती है और द्रव्य की माँग घट जाती है। मन्दी के समय मे मन्दी इसलिए रहती है कि ऐसे समय में लोगो की नकदी पसन्दगी बढ जाती है, क्योंकि अब लोग द्रव्य को व्यापार मे लगाकर अधिक लाभ नही उठा सकते, और द्रव्य की माँग बढ जाती है।) परन्तु इस समीकरण में भी कोई विशेष बात नही बताई गई है। केवल यही तो बताया है कि लोग जितना द्रव्य "hold" करना चाहते हैं वह किसी न किसी के पास रहता ही है, जो एक स्वय-सिद्ध बात है। परिमाण सिद्धान्त के इस रूप को 'नक़द कोष सिद्धान्त' (Cash Balance Standard) का नाम दिया जाता है परन्तु इस सिद्धान्त में भी उसी प्रकार की त्रुटियाँ हैं जो फिशर

समीकरण के अन्तगत पाई गई हैं। कैम्ब्रिज स्कूल का समीकरण मूल्य-स्तर के सम्बन्ध में उन बातों की ओर इंगित अवश्य करता है जिन पर मूल्य स्तर निर्भर करता है परन्तु विविध आर्थिक अवस्थाओं में इन बातों का सम्बन्ध किस प्रकार बदलता है और एक दूसरे को प्रभावित करते हुए द्रव्य के विनिमय मूल्य का निर्धारित करता है, इसका पर्याप्त विश्लेषण इस सिद्धान्त में भी नहीं पाया जाता है। यद्यपि यह सिद्धान्त यह बतलाता भी है कि द्रव्य की माँग क्यों बदलती है तो भी वह यह नहीं बताता कि मूल्य-स्तर की घट बढ़ का आरम्भ किन कारणों से और किस प्रकार होता है। (It explains why the demand for money changes with changes in its value but does not explain how changes in the value of money start) इनको जानने के लिए हमें किसी और सिद्धान्त की आवश्यकता है।

आय-सिद्धान्त

(*The Income Theory by Lord Keynes*)

आधुनिक अर्थशास्त्री अब पहलेवाले इस विचार को, कि द्रव्य की मात्रा व्यापार की स्थिति बदलने का और मूल्य-स्तर को निर्धारित करने का कारण होती है, बिल्कुल नहीं मानते। यह समझा जाता है कि कोई और चीज है जो व्यापार की स्थिति, द्रव्य के परिमाण और मूल्य-स्तर को निर्धारित करती है और वह है आय में घट-बढ़। मंदी के समय में मूल्य-स्तर के घटने का कारण द्रव्य की मात्रा की कमी नहीं होती बल्कि आय के घट जाने के कारण ही लोगों की नकदी पसन्दगी बढ़ जाती है और द्रव्य के वेग चलन में कमी आती है जिससे मूल्य स्तर गिरता है। इसी प्रकार तेजी के समय में द्रव्य की मात्रा के बढ़ने से तेजी नहीं आती बल्कि लोगों की आय के बढ़ जाने के कारण लोगों की नकदी पसन्दगी कम जाती है और द्रव्य का वेगचलन बढ़ जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप मूल्य-स्तर भी बढ़ जाता है।

लार्ड कीन्स के अनुसार द्रव्य जो व्यय करता है वह समाज के अन्दर की नकद या नोटों की मात्रा या केवल लोगों की आय पर आधारित नहीं है बल्कि अनेक कारणों पर—जैसे लोगों की आय (income of the people) उनकी बचाने की आकांक्षा (their propensity to save), और उनकी उपभोग करने की इच्छा (their propensity to consume), बचत और विनियोग का सम्बन्ध (relation of savings to investment), देश में रोजगार की सीमा (the volume of employment in the country) इत्यादि, इत्यादि। इनका विश्लेषण उन्होंने अपनी Savings and Investment Theory में विस्तारपूर्वक किया है, और बताया है कि किस प्रकार जब विनियोग (investment) बचत (savings) से अधिक होता है, मूल्य-स्तर बढ़ता है और जब विनियोग (investment) बचत (savings) से कम होता है तो मूल्य-स्तर गिरता है। और इस तरह उन्होंने इस समस्या पर एक नया प्रकाश डाला है। वास्तव में उन्होंने सम्पूर्ण अर्थशास्त्र की धारणाओं का बदल दिया है। किंतु

यह सब बातें पूर्णरूप से द्रव्य के अध्ययन में नहीं आती। दूसरे यह इस श्रेणी के विद्यार्थियों की योग्यता के बाहर भी हैं इसलिए इनका अधिक वर्णन यहाँ नहीं किया जाता। [इस विषय का अध्ययन हम आगे चलकर अध्याय १६ में फिर करेंगे उसको पढ़िये।]

तो भी हमको यह नहीं समझ लेना चाहिए कि लार्ड कीन्स के सशोधन के पश्चात् फिशर द्वारा प्रस्तुत और कैम्ब्रिज स्कूल द्वारा परिष्कृत परिमाण सिद्धान्त कुछ मूल्य ही नहीं रखता। दोनो—"परिमाण सिद्धान्त" और "बचत और विनियोग का सिद्धान्त"—का अपना-अपना महत्त्व है। पहिला लम्बी अवधि की कीमतों के उतार-चढ़ाव की व्याख्या करता है दूसरा अल्प अवधि के कीमतों के उतार-चढ़ाव के कारणों पर प्रकाश डालता है। परिमाण सिद्धान्त मानो समुद्र की औसत सतह को दर्शाता है और बचत तथा विनियोग सिद्धान्त ज्वार-भाटा की तीव्रता को।

QUESTIONS

1. Discuss the Quantity Theory of Money Is it a correct explanation of the changes in the value of money? (Agra 1956, 5s., 52)

2. The Quantity Theory of Money has been widely criticised. With the qualification "other things remaining the same" it is a useless truism.

Examine the statement and give the main weaknesses of the theory. (Agra 1954).

3. "The Quantity Theory of money in its earliest and crude form is useless and misleading as no economist now believes in any fixed and automatic relationship between the quantity of money and the general level of prices".

Examine this statement and outline the criticism of the theory. (Agra 1954s).



४७

द्रव्य के मान

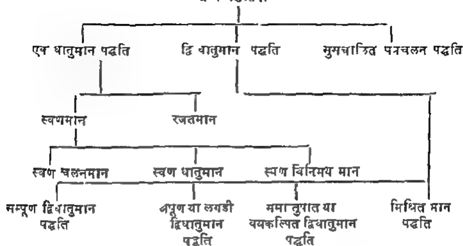
अर्थात

मुद्रा-प्रमाप पद्धतियाँ
(Monetary Standards)

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि मूल्य में परिवर्तन होने से समाज के विभिन्न वर्गों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि किसी देश की करंसी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि वहां की मुद्रा की क्रय-शक्ति स्थिर रहे। साथ ही साथ वह ऐसी भी होनी चाहिए कि जिसके होते हुए देश की सम्पत्ति में वृद्धि हो, जनसंख्या में पूंजी को संचित करने की प्रवृत्ति जाग्रत हो, देश के व्यापार तथा व्यवसाय में वृद्धि हो और अन्य प्रकार की आर्थिक उन्नति हो। अतः देश की करंसी का उचित रूप से नियंत्रण आवश्यक है और उसकी इकाई का मूल्य किसी प्रमाण के आधार पर नियत करना भी आवश्यक है। इसलिए जब किसी देश की सरकार धातु के सिक्के और कागजी नोट चलाती है तो इनके मूल्य को भी एक हिसाब से निर्धारित कर देती है, और जिस हिसाब से एक देश में मुद्रा की एक इकाई का मूल्य निर्धारित किया जाता है, उसे द्रव्य का मान या मुद्रा प्रमाप (Monetary Standard) कहते हैं। दूसरे शब्दों में— जिस पदार्थ या वस्तु या तालिका से सम्बन्ध स्थापित करके द्रव्य के मूल्य का नियंत्रण किया जाता है, उसे अर्थशास्त्र में द्रव्य का मान या मुद्रा प्रमाप कहते हैं। ("Any object in terms of which the purchasing-power of money is expressed is known as the monetary standard.")

अर्थशास्त्रियों ने द्रव्य-व्यवस्था के लिए अनेक मान सुझाये हैं और विविध देशों ने समय-समय पर इनको अपनाया है। जब कोई देश मूल्य के मान के लिए एक धातु की प्रामाणिक मुद्रा को ग्रहण करता है, तो इसे एक धातुवाद पद्धति (Mono metallism or Single Standard System) कहते हैं जैसे स्वर्णमान, रजतमान। जब दो धातुओं का उपयोग होता है तो द्विधातुवाद पद्धति (Bi metallism or Double Standard System) कहते हैं। और जब केवल कागजी द्रव्य का ही चलन होता है तो उसे कागजी-चलन-पद्धति (Paper Standard System or Managed Paper Currency Standard) कहते हैं। नीचे इनका विस्तृत रूप से विवेचन किया गया है।

मौद्रिक मान
या
द्रव्य पद्धतियाँ



(अ) एक धातु-वाद

(Mono metallism)

यदि किसी देश में एक धातु मान है तब इसका अर्थ यह है कि उस देश में केवल एक धातु के प्रामाणिक सिक्के बनाये जाते हैं और उनका मूल्य उस धातु के मूल्य से सम्बन्धित और नियन्त्रित होता है। सोने और चाँदी में से किसी एक धातु का प्रयोग किया जाता है और जो सिक्का बनता है वह स्वभावतया अपरिमित कानूनी ग्राह्य सिक्का होता है। उसकी स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई होती है यानी जनसंख्या के प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह धातु को उस टकसाल में ले जाकर इसके सिक्के किसी सीमा तक ढलवा सकता है। एक धातुमान में दूसरी धातुओं (तांबा पीतल) के बने सांकेतिक सिक्के तथा कागजी मुद्रा का भी प्रयोग हो सकता है पर इनका मूल्य प्रामाणिक सिक्कों के आधार पर ही नापा जाता है। एक धातु चलन के भी दो रूप हो सकते हैं—स्वर्णमान (Gold Standard) जब धातु सोना है और रजतमान (Silver Standard) जब धातु चाँदी है और इनके भी तीन रूप हो सकते हैं—

(१) स्वर्ण (या रजत) मुद्रामान—Full Gold (or Silver) Standard or Gold (or Silver) Currency Standard

(२) स्वर्ण (या रजत) पाटमान—Gold (or Silver) Bullion Standard

(३) स्वर्ण (या रजत) विनिमय मान—Gold (or Silver) Exchange Standard

एक धातुवाद के गुण-दोष वही हैं जो कि स्वर्णमान के है, जिनका विवेचन विस्तृत रूप मे आगामी अध्याय मे किया गया है। उसे पढिए।

सन् १९३३ ई० तक इंगलैंड मे, १९३१ तक अमेरिका में और १९३६ तक फ्रास में स्वर्णमान पद्धति, और कुछ ही दिनो पहले तक चीन में रजतमान पद्धति प्रचलित थी।

(ब) द्विधातुवाद

(Bi-metallism)

जब किसी मुद्रा-व्यवस्था म मूल्य के मान के रूप में दो धातुओं का (सोने और चांदी का) साथ-साथ प्रयोग होता है, तो इस प्रकार के मान को द्विधातुमान कहते हैं, इसके अन्तर्गत सोने और चांदी दोनो धातुओं के सिक्के स्वतन्त्रतापूर्वक चलते हैं। दोनो धातुओं के सिक्के प्रमाणिक मुद्रा होते है, दोनो अपरिमित कानून ग्राह्य होते हैं दोनो के वास्तविक और अंकित मूल्यों में अंतर नही होता, और धातुओ के सिक्को की ढलाई स्वतन्त्र होती है। साथ ही सरकार एक अनुपात बाँध देती है, जिसमे दोनो सिक्को का आपस मे विनिमय हो सकता है।

इस व्यवस्था के निम्नलिखित गुण हैं—

(१) इसमे स्वर्णमान और रजतमानवाले देशो के बीच विनिमय सरल हो जाता है। और विदेशी व्यापार की प्रगति होती है।

(२) इससे कीमतो में अधिक स्थिरता आती है कारण कि चलन में दोनो धातुएँ परस्पर समातुलन प्रभाव (compensatory influence) डालती रहती है और दोनो सिक्को के बीच बाजार दर कानूनी दर से इधर-उधर नही होने पाता। मान लीजिए, किसी देश में सोना और चाँदी दोनो के सिक्के चलते हैं और सरकार ने इन दोनो का मूल्य १ १६ के अनुपात में नियन्त्रित कर दिया है, यानी वह सोने के एक सिक्के के बदले १६ चाँदी के सिक्के और १६ चाँदी के सिक्को के बदले में एक सोने का सिक्का देने को तैयार है। अब मान लीजिए कि बाजार में सोने का दाम चाँदी की अपेक्षा तेज हो जाता है और सोने के एक सिक्के में जितना सोना होता है उसके बदले इतनी चाँदी मिल जाती है कि जिसमें १७ चाँदी के सिक्के बन जायें। दूसरे शब्दो में मान लीजिए कि कानूनी अनुपात १ १६ और बाजारी अनुपात १ १७ है तो इसका परिणाम यह होगा कि लोग सोने के सिक्को को बाजार में धातु के रूप में बेचने लगेंगे और चाँदी लेकर उसके सिक्के बनवाने लगेंगे। बाजार में सोन की पूर्ति अधिक हो जायगी, इससे इसकी कीमत गिर जायगी। दूसरी ओर चाँदी के सिक्के बनाने के लिए चाँदी की माँग बढेगी और इसकी कीमत बढ जायगी। अस्तु, जो धातु (सोना) तेज थी वह सस्ती हो जायगी और जो धातु (चाँदी) सस्ती थी वह तेज हो जायेगी। इसका परिणाम यह होगा कि बाजार दर में भी परिवर्तन होगा। और अत में सोना और चाँदी १:१६ के अनुपात पर पुन आ जायेंगे। अब मान लो सोना सस्ता हो जाता है (१:१५) तो लोग सोने के सिक्के बनवाने को टकसाल ले जायेंगे। और चाँदी के सिक्को को पिघलाकर बाजार में बेचेंगे। इस प्रकार सोने की माँग बाजार मे बढ़ेगी और उसकी क़ीमत भी

बढ़ेगी। साथ ही साथ चाँदी की माँग कम होगी, उसकी कीमत गिरेगी और फिर दोनों पुराने अनुपात पर आ जायेंगे। इस प्रकार की स्वयंचालक सन्तुलन क्रिया द्विधातुवाद में सदा ही काम करती रहती है। दोनों धातुओं का बाजार-मूल्य घट-बढ़कर अंत में कानूनी मूल्य के समान हो जाता है और सोने और चाँदी के पारस्परिक-मूल्य में स्थायित्व बना रहता है, और इसके परिणामवश देश के मूल्यस्तर में स्थिरता भी बनी रहती है।

(३) एक धातुवाद में सिक्के बनाने के लिए केवल एक धातु को प्रयोग करते हैं तो कभी-कभी उसकी पूर्ति में कमी आ जाने से यह संभव हो सकता है कि द्रव्य-पूर्ति में कठिनता पड़े पर द्विधातुवाद में दो धातुओं की पूर्ति होने से इस प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। अर्थात् इसमें द्रव्य की पूर्ति बढ़ जाती है, जिससे द्रव्य का मूल्य शनैं-शनैं गिर जाता है, वस्तुओं के भाव शनैं-शनैं बढ़ते हैं, और उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। दूसरी ओर यदि किसी समय किसी एक धातु की पूर्ति बढ़ जाती है तो इसका प्रभाव भी कम पड़ता है, क्योंकि दो धातुओं के सिक्के प्रयोग में होने के कारण उनकी मात्रा बड़ी हुई होती है और किसी एक धातु की पूर्ति के थोड़े से बढ़ने से मुद्रा की मात्रा पर थोड़ा ही प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार जैसे कि किसी बड़ी नदी में थोड़ा सा जल बढ़ा देने से कुल जल की मात्रा पर थोड़ा सा ही प्रभाव पड़ सकता है।

(४) द्विधातुवाद में बैंकों को भी कोष रखने और इनका सचालन करने में सुविधा और मितव्ययिता रहती है। इसलिए ब्याज की दर नीची और अधिक समान रहती है। विदेशी व्यापार में भी सुविधा रहती है क्योंकि दोनों प्रकार के सिक्के प्रयोग में होने से व्यापार सोने के सिक्केवाले देशों और चाँदी के सिक्केवाले देशों दोनों से संभव होता है, विदेशी विनिमय दर स्थिर रहती है, और परिणामवश व्यापार का क्षेत्र बढ़ जाता है। इत्यादि, इत्यादि।

किन्तु इस प्रणाली में अनेक दोष भी हैं जिसमें सबसे प्रमुख है ग्रेशम के नियम (Gresham's Law) का लागू होना। धातुओं के परिपूरक प्रभाव के होते हुए भी जब कि तेज धातु के सिक्के ग्रेशम के नियम के लागू होने के कारण चलन से बाहर हो जाते हैं तो किसी काल में दोनों के बीच आनुपातिक सम्बन्ध बनाये रखना बहुत कठिन हो जाता है। मान लीजिए कि सोने और चाँदी का कानूनी आनुपातिक सम्बन्ध १ १६ है। यह भी मान लीजिए कि सोने का भाव बाजार में बढ़ जाता है, तो आनुपातिक सम्बन्ध १ १७ हो जायेगा, और लोग सोने का धातु के रूप में बेचने लगेंगे और लाभ कमायेंगे। [जैसे एक आदमी के पास १०० सोने के डालर है तो वह १७०० चाँदी के डालर प्राप्त करेगा। फिर १६०० चाँदी के डालर टकसाल को देकर १०० सोने के डालर वापस ले लेगा। और १०० चाँदी के डालर का उसे लाभ हो जायेगा।] इस प्रकार लोग लाभ कमायेंगे, अपना सोना बेच चाँदी खरीदेंगे, फिर टकसाल में वापस देकर सिक्के ले लेंगे। परिणाम यह होगा कि टकसाल में चाँदी रह जायेगी, सोना विदेश चला जायेगा। देश में चाँदी के सिक्के ही देखने में आयेंगे। और, बजाय द्विधातुमान के वास्तविक दशा में केवल एक धातुमान ही देश में रह जायेगा।

इस समस्या का निराकरण करने के लिए यह प्रस्ताव रखा गया था कि ससार के सारे देशो मे द्विधातुवाद को अपनाया जाय (International Bi-metallism) ताकि धातु को दूसरी जगह निर्यात करने का प्रश्न ही न रहे और ग्रेशम का नियम लागू न हो, पर इंगलैंड के विरोध के कारण यह योजना कार्यान्वित नही हो सकी।

द्विधातुवाद मान की प्रमुखता १९वी सदी के अंतिम चौथाई भाग तक पश्चिमी ससार में (ब्रिटेन को छोडकर, जिसने १८१६ में ही सोने का मान बना लिया था) थी, परन्तु अब इसका महत्त्व पूर्णतया जा चुका है और यह केवल इतिहास की ही वस्तु रह गई है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ होते ही, एक धातुवाद और द्विधातुवाद मे जो गरमागरम प्रतिवाद चल रहा था, पूर्णत समाप्त हो गया, क्योकि उस काल मे नई-नई सोने की खानें पाई गई और इस कारण द्विधातुवाद की कोई आवश्यकता नही समझी गई, और एक धातुवाद-प्रणाली ससार की सबसे अधिक स्वीकृत प्रणाली मानी जाने लगी। निस्सदेह, पहले महायुद्ध के आरम्भ और मध्य में यह प्रतिवाद फिर उठा क्योंकि सोने के भाव में चढती तथा मुद्रा-प्रसार हो गया था तथा ससार मे सोने की पर्याप्त पूर्ति न होने के कारण सब कही उसकी माँग बढ गई थी। कई देशो ने द्विधातुवाद को मान बनाने की राय प्रकट की परन्तु किसी ने भी गभीरता से इसकी ओर दृष्टिपात नही किया। नई नीतियाँ और नये नये द्रव्य के सिद्धान्त क्षेत्र में आ चुके थे, और लोग उनमे विश्वास करने लगे थे।

कुछ समय तक फ्रास आदि में एक प्रणाली जारी की गई जिसके अनुसार सोने और चाँदी, दोनो के सिक्के अपरिमित कानूनी ग्राह्य माने गये, पर केवल सोने के सिक्को की ही स्वतत्र ढलाई हो सकती था। इस प्रणाली को **लगडी द्विधातुवाद पद्धति** (Limping Bi-metallism) कहते हैं। इसे लगडी इस कारण कहते थे क्योकि चाँदी की स्वतत्र ढलाई नहीं हो सकती थी और वह बडी कठिनाई से चलित हो पाती थी। यह मुद्रा-व्यवस्था कुछ काल तक ही फ्रास आदि देशो में रही।

एक और प्रणाली देखने में आई है जिसे **समानान्तर द्विधातु पद्धति** (Parallel Standard) कहते हैं। इसमें सोने और चादी दोनो के सिक्के रहते हैं। दोनो की स्वतत्र ढलाई होती है और दोनों ही अपरिमित कानून ग्राह्य हैं। इसमें और द्विधातुवाद मे यह अतर है कि द्विधातुवाद मे तो सरकार नियत कर देती है कि किस अनुपात में दोनो सिक्के बदले जायेंगे, परन्तु वयकल्पित द्विधातु चलन में ऐसा नहीं होता। इसमे सोने और चाँदी दोनो की टकसाल की कीमत दोनो धातुओं की बाजार की कीमत पर आधारित रहती है—अर्थात् उसके साथ-साथ घटती-बढती है। टकसाल की कीमत नियत नही की जाती बल्कि बाजार के भावो के साथ बदलती रहती है और यही इस प्रणाली का दोष है। एक और भी प्रकार का द्विधातु-वाद होता है जिसे नव-द्विधातुवाद कहते हैं। इसमें सोने और चाँदी पर आधारित कागज के नोट चला दिये जाते हैं और नोट बदलवानेवाले की इच्छा पर सोने या चाँदी में बदले जाते हैं। इसमे भी चादी और सोने के बीच सरकार कोई अनुपात निर्धारित नही करती। यह अनुपात समय-समय पर बदलता रहता है। यह बहुत बडा दोष है और इसी कारण इस पद्धति का सचालन बहुत कठिन हो जाता है।

दूसरी और पद्धति है **धातु-मिश्रित मान पद्धति** (Symmetallism) जिसकी घोषणा डाक्टर मार्शल ने १८८१ में की थी। उनके प्रस्ताव के अनुसार करेंसी प्रणाली ऐसी होनी चाहिए, जिसमें मुद्रा सोने या चांदी में न बदली जाय बल्कि ऐसी छड या पासे में बदली जाय जो सोने और चाँदी से मिश्रित बना हो और जिसके दाम नियत हो। इस प्रणाली में सोने और चांदी के आपस में बदलते दामो का कोई प्रभाव नही पडेगा और प्रणाली दोनो की मयोजित पूर्ति पर ही होगी। दूसरे शब्दो में द्विधातुवाद के सब गुण सम्मिलित होगें और दोष नही रहेंगे। तो भी इस पद्धति के भी कुछ दोष है। जब सोने या चांदी के मूल्य या दोनो के मूल्य मे कोई फेर-बदल होता है तो सिक्के का मूल्याकन करना कठिन हो जाता है जिससे भुगतान लेने-देने मे बडी अडचन होती है। सिक्के की घिसावट आदि होने पर भी यह अनुमान नही लगाया जा सकता कि कौन-सी धातु अधिक कम हो गई है। इत्यादि इत्यादि।

इसके अतिरिक्त एक और पद्धति होती है जिसे सूचकाक-मान-पद्धति (Tabular or Index Number Standard) कहते है। इस पद्धति में उस देश की चलित-मुद्रा का मूल्य रखने के लिए सूचकाक बनाये जाते है जिनके द्वारा आधार वर्ष की तुलना कर मुद्रा का मूल्य निश्चित किया जाता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार कीमतों के अनुसार मुद्रा का मूल्य सदैव एक-सा ही बना रहेगा जिससे लेन देन मे समता बनी रहेगी और किसी को हानि नही होगी। उदाहरण के लिए सूचकाक ५ प्रतिशत गिर जाता है तो यह दर्शाता है कि मुद्रा (या स्वर्ण) के मूल्य में ५ प्रतिशत की वृद्धि हो गई है और सरकार ऐसी दशा मे सोने की कीमतो को ५ प्रतिशत बढा देगी और केन्द्रीय बैंक अधिक करेंसी निकाल सकेगा। और इस तरह सूचकाक और अधिक गिरने से रुक जायगा। किन्तु फिशर के इस सिद्धान्त मे बहुत-सी कठिनाइयाँ है। यह प्रणाली बहुत जटिल है। यही कारण है कि इसका कभी प्रयोग नही हो सका। यह व्यावहारिक नही है। इस प्रणाली के अपनाने से लोगो की आय क्रय-शक्ति के रूप में स्थायी बनी रहती है, क्योंकि मुद्रा का मूल्य मूल्यस्तरो के अनुरूप निश्चित किया जाता है। स्थायी आयवाले लोगों को जीवन व्यय बढ जाने से भी कोई फर्क नही पडता, क्योकि उनकी आय की क्रय शक्ति स्थायी रहती है। इसी प्रकार बचत करनेवालो को यह भय नही रहता कि जो कुछ भी उन्होंने आज बचाया है उसका मूल्य कल घट जायगा। परन्तु यह पद्धति सरल नही है। इसमें जनता को विश्वास नही होता, अन्य देशो से व्यापार करने में कठिनाई पडती है मतलब यह है कि यह पद्धति व्यावहारिक नही है।

(स) कागजी-मान-पद्धति

(Paper Standard)

धात्विक मुद्रा-व्यवस्था स्थिर रखने के लिए सोने और चाँदी का भारी भडार चाहिए, परन्तु आजकल ससार मे मूल्यवान् धातुओ की बहुत कमी है, सोने का तो अकाल पडा हुआ है। ऐसी व्यवस्था में चालू मुद्रा कागज की होती है और सरकारें उन कागजी मुद्राओ को स्वर्ण-मुद्रा में परिवर्तित करने का भार व उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर नही लेती। इसमें 'अ-प्रवर्तनीय" कागजी नोटों का चलन होता है। वे ही देश के प्रमाणिक द्रव्य होते हैं, और उन्हें

असीमित संख्या में छिपा-दिया जा सकता है। उनका मूल्य किसी धातु से मर्यादित नहीं होता। और उनके मूल्य को स्थिर रखने के लिए उनका परिचालन एक निश्चित योजना के अनुसार केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। ऐसी मुद्रा-प्रणाली को ही हम कागजी-द्रव्य-पद्धति या संचालित मुद्रा-पद्धति कहते है।

इस पद्धति के समर्थकों का कहना है कि इससे स्वर्णमान सम्बन्धी सब त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। केन्द्रीय बैंक क़ीमतों को घटा बढ़ा कर नियंत्रण रख सकता है और इसके लिए उसे सोने का सुरक्षित कोष रखने की भी आवश्यकता नहीं। उनका यह कहना है कि चूँकि नोट इत्यादि जारी करने के लिए स्वर्ण रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती, करेंसी को आसानी से आवश्यकतानुसार घटाया या बढ़ाया जा सकता है। यह पद्धति देश को विनिमय के क्षेत्र में काफ़ी स्वतंत्रता प्रदान करती है और इस बात का अवसर देती है कि जब विनिमय दर के बारे में अनिश्चितता हो तो उसको दूर करने का उपाय किया जा सके। कीमतें स्थिर रखी जा सकती हैं, और उनमें अधिक घट-बढ़ रोकी जा सकती है।

परन्तु इस पद्धति की कुछ त्रुटियाँ भी हैं —एक तो यह कि प्रत्येक देश अपने अपने व्यवसायिक लाभ के लिए अपनी करेंसी की अधिक से अधिक क़ीमत गिराने का प्रयत्न करता है, और विभिन्न देशों में एक बात की एक प्रतियोगिता-सी होने लगती है और देशों में विश्वास की भावना कम हो जाती है, क्योंकि इसमें यह निश्चित नहीं होता कि कोई देश कैसी नीति को अपनाएगा। दूसरा दोष यह है कि इस प्रकार की करेंसी अतर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा डालती है श्रम विभाजन को बढ़ाने से रोकती है, और संसार के उत्पादन की मात्रा को घटा देती है। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित नहीं है कि संचालित कागज़ी पद्धति देश की समृद्धि व प्रति कार्य करती है और व्यक्तिगत या दलबन्दी के चक्कर में नहीं फँसती है। इसमें एक और दोष यह है कि मुद्रा-प्रसार के समय कागजी मुद्रा किसी प्रकार की सुरक्षा नहीं करती।

सच तो यह है कि यह कहना बड़ा कठिन है कि करेंसी केवल कागजी ही होनी चाहिए या धात्विक भी। कुछ लोगों के विचार में, जो मनुष्य की बनाई हुई संस्थाओं और उनकी व्यवस्था में बुद्धिमानी की झलक पाते हैं, संचालित पद्धति (managed currency) ही होनी चाहिए और करंसी में धातु का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। उनका विचार है कि मनुष्य गलती अवश्य कर सकता है परन्तु उससे इतनी हानि नहीं होती जितनी इससे कि हम करेंसी को पूर्णतः प्रकृति के हाथों सौंप दें अर्थात् धरती जितना सोना-चाँदी उपजे, उसी के अनुसार करेंसी रखें। करेंसी तो व्यापार इत्यादि की आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए। दूसरी ओर कुछ लोगों का विचार है कि कागजी करेंसी राजनीति के हाथों में आवश्यकता से अधिक शक्ति दे देती है, जिसे वह अपनी या अपनी पार्टी के लाभ में काम ला सकता है। कागज़ी मुद्रा से जो भयानक स्थिति लड़ाई के समय हुई थी, उसे हम आज तक नहीं भूले हैं। इसलिए यही अच्छा होगा कि करेंसी को किसी धातु से बाँध दिया जाय।

परन्तु इन सबको देखते हुए यही ठीक मालूम देता है कि दोनों का अर्थात् कागजी मुद्रा व धातु का सयुक्तीकरण कर दिया जाये। अतर्देशीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) इसी उद्देश्य से बनाया गया है। उसमें एक ओर स्वर्ण प्रमाप की स्थायी और पुरातन पद्धति का नवीन स्वरूप स्थापित किया गया है और दूसरी ओर एक लोचदार सचालित पद्धति को पुनर्जन्म दिया गया है। (अतर्देशीय मुद्रा-कोष के विषय में अध्याय १४ को पढिए।)

ग्रेशम का नियम

(Gresham's Law)

जब विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ चलन में होती हैं तो वे सब एक समान नही होती। उदाहरणार्थ कुछ टकसाल से निकले बिलकुल नये सिक्के होते है, कुछ अधिक प्रयोग से घिस चुके होते है। और यह देखा गया है कि लोगों में इन अच्छे नये सिक्को को सचय करने और बुरे घिसे सिक्को को बाजार में चलाने की प्रवृत्ति होती है। परिणाम यह होता है कि बाजार से अच्छे नये सिक्के लुप्त हो जाते है और बुरे घिसे हुए सिक्के चलन में रह जाते हैं। इस प्रवृत्ति का सिद्धान्त रूप वर्णन पहली बार इंगलैंड के अर्थशास्त्री और रानी एलिजाबेथ के सलाहकार सर टामस ग्रेशम ने किया था, इसीलिए यह सिद्धान्त ग्रेशम का नियम कहलाता है। यह सिद्धान्त इस प्रकार है—

"यदि किसी देश में एक समय पर अच्छी और बुरी मुद्रा दोनोंका चलन है। तब बुरी मद्रा की प्रवृत्ति अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकालने की होती है, यदि और सब चीजें यथावत् रहे।" "Other things being equal, when in a country two (or more) kinds of money circulate at the same time, bad money drives good money out of circulation." मार्शल ने इसे इस प्रकार वर्णित किया है—एक बुरी मुद्रा यदि उसका परिमाण सीमित नही है तो अच्छी मुद्रा को निकाल बाहर करती है। "An inferior currency, if not limited in amount, will drive out a superior currency."

यहाँ प्रश्न उठता है 'अच्छा द्रव्य क्या है? बुरा द्रव्य क्या है? किसको कौन निकालेगा?' बुरे सिक्को से यहाँ मतलब खोटे या जाली सिक्को से नही है। बुरे सिक्को के माने उन सिक्को से है जिनका वास्तविक मूल्य अन्य सिक्को की अपेक्षा कम है, जिनमे अन्य सिक्को की अपेक्षा मूल्यवान् धातु कम है, इत्यादि, इत्यादि। नीचे ध्यान दीजिए —

(१) जब एक ही धातु के बहुत से सिक्के साथ-साथ बाजार में चलते हैं, तो पुराने घिसे सिक्को का नये की अपेक्षा धात्विक मूल्य कम होता है। अस्तु, नये सिक्के 'अच्छे' रहे, पुराने घिसे सिक्के 'बुरे' रहे।

(२) जब "अपरिवर्तनीय" नोट (या कागजी द्रव्य) धात्विक सिक्का के साथ-साथ चलते है, तो पहले प्रकार के द्रव्य का असली मूल्य दूसरे की अपेक्षा बहुत कम होता है। अस्तु, सामान्यत· कागजी नोट 'बुरे' रहे और धात्विक सिक्के, अच्छे सिक्के कहलायेंगे।

(३) जब अपरिवर्तनीय कागजी नोटों की अपेक्षा परिवर्तनीय नोटों का चलन हो तो पहले 'बुरे' और दूसरे 'अच्छे' कहलायगे।

(४) जब दो धातु के सिक्के (चादी और सोने) का साथ-साथ चलन है तो बाजार-भाव में घट-बढ होने से इनके आपसी मूल्य मे अन्तर हो जायगा और जो सिक्का अधिक मूल्य का होगा वह अच्छा और दूसरा बुरा कहलायेगा। जैसे मान लीजिए सोने और चादी के मूल्य मे सरकार ने कानून द्वारा १:१६ का अनुपात निर्धारित किया है, किन्तु चांदी का मूल्य, इसकी अधिक पूर्ति होने के कारण कम हो जाता है, अर्थात् एक तोले सोने के बदले में बाज़ार मे १७ तोले चादी मिल जाती है, तो परिणाम यह होगा कि इस दशा मे केवल चादी के सिक्के ही मुद्रा चलन में रह जायेंगे और सोने के सिक्के या तो जनता जमा करके रख छोड़ेगी या पिघलाकर लाभ उठायगी या इनका निर्यात हो जायगा। इस प्रकार सोने के सिक्कों का चलन बन्द हो जायेगा। इस दशा में ग्रेशम के नियमानुसार चादी के सिक्को (बुरे) ने सोने के सिक्के (अच्छे) का चलन के बाहर कर दिया। (ऊपर द्विधातु-वाद शीर्षक पढ़िए।)

अब दूसरा प्रश्न उठता है यह किस प्रकार सम्भव होता है? किस प्रकार बुरा सिक्का अच्छे सिक्के के चलन को बाहर करता है? यह इन तीन तरीकों से होता है —

(१) जब हमारे पास दो सिक्के है —एक पुराना और दूसरा नया, तो पहले हम पुराने को देते हैं, नये को रखने का प्रयत्न करते है। इस प्रकार नये का सग्रह (hoarding) होता है और पुराने का चलन होता है।

(२) सुनार जौहरी आदि जिन्हे आभूषण बनाने के लिए सोने-चाँदी की आवश्यकता पड़ती है, नये सिक्कों को जिनमे धातु का पूरी मात्रा होती है, पिघलाने (melting) के काम मे लाते है और लाभ कमाते है। (यदि पुराने सिक्के पिघलाये जायेंगे तो धातु की अपेक्षाकृत कम मात्रा मिलेगी।)

(३) विदेशी लोग जिनके लिए दूसरे देशों के वास्तविक सिक्कों का मूल्य उनमें लगी हुई धातु के अनुसार ही हो सकता है। अच्छे सिक्के ही लेना चाहते हैं, इसलिए बहुधा अच्छे सिक्के देश के बाहर आयात का भुगतान करने मे चले जाते हैं (exporting, for payment to foreigners)।

अच्छे सिक्के का उपयोग सामान्य रूप से सचय करने, पिघलाने अथवा निर्यात के काम में होता है और बुरे सिक्के चलन मे रह जाते है।

इस सम्बन्ध मे हम यह याद रखना चाहिए कि इस नियम की कुछ मर्यादाएँ (Limitations) भी हैं—

(१) देश में औद्योगिक प्रगति से द्रव्य की माँग अत्यधिक है तो यह नियम लागू नहीं हो सकता। जैसे मान लो मेरे पास १० रु० हैं और ५ रु० की चीज खरीदनी है तो ५ रु० अच्छे मैं बचाकर रख सकता हूँ और ५ रु० बुरे मैं चीजवाले को दे सकता हूँ। किन्तु यदि १० चीजें खरीदनी हैं और १० रु० ही मेरे पास हैं तो मुझे सब ही रुपये दन पड़ेंगे यानी शेष अच्छे ५ रु० भी निकालने पड़ेंगे।

(२) दूसरी अवस्था इसी प्रकार की तब होगी जब बुरे सिक्के इतने बुरे हो कि लोग उनको स्वीकार करने से मना कर दें। जब बुरे सिक्के अस्वीकृत रहेंगे तो अच्छे सिक्के देने ही पड़ेंगे और चलेंगे ही। बुरे सिक्के स्वयं बाजार से निकल जायेंगे।

(३) कभी कभी ऐसा हो सकता है कि आदत के वश लोग अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के सिक्को का व्यवहार करते रहें और यह दोनो प्रचलन में रहें, परन्तु यह तब ही तक हो सकता है कि जब तक वे उस प्रकार के सिक्को मे अच्छे और बुरे के अन्तर करने में अनभिज्ञ हो।

(४) यह नियम प्राय प्रामाणिक मुद्रा पर ही लागू होता है। यानी ऐसी मुद्रा के साथ जिसका अंकित और वास्तविक मूल्य एक-सा होता है। पर सांकेतिक सिक्को का मूल्य तो सदा ही धातु के रूप में कम होता है—इनका मूल्य तो विनिमय के साधन के रूप में ही है। अत इनमें बुरे और अच्छे सिक्को का अन्तर करना निरर्थक है।

ग्रेशम के नियम के प्रभाव को आजकल की सरकारें मुद्रा के प्रचलन पर नियंत्रण लगाकर अथवा करेंसी का विस्तार या संकुचन करके रोकने की सदा ही चेष्टा करती रहती हैं।

द्रव्य-पद्धति के आवश्यक गुण

(*Requisites of a Sound Monetary system*)

किसी देश की द्रव्य-पद्धति में निम्नलिखित गुण होने आवश्यक है —

(१) इसके द्वारा देश में कीमतो की उचित स्थिरता (stability in internal value) बनी रहनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप में द्रव्य के आन्तरिक मूल्य अथवा क्रय-शक्ति में बहुत घट-बढ नही होनी चाहिए, और मुद्रा प्रसार या मुद्रा-संकुचन को रोकने का प्रयत्न होना चाहिए। मूल्य में अस्थिरता होने से समाज के विभिन्न वर्गों, व्यापार तथा औद्योगिक धन्धो पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(२) इसके द्वारा उस देश के द्रव्य के बाहरी मूल्य में भी स्थिरता (stability in external value) बनी रहनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि इसका मूल्य विदेशी मुद्रा के एक निश्चित मात्रा पर नियंत्रण के द्वारा स्थिर रखा जाना चाहिए, जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में रुकावट न पड़े।

(३) मुद्रा-पद्धति कम से कम खर्चीली होनी चाहिए। एक आदर्श द्रव्य-व्यवस्था में मितव्ययिता (economy) का होना भी एक गुण है। खर्चीले विनिमय के माध्यम का अपनाना राष्ट्रीय व्यय का व्यर्थ बढ़ाना है। इस दृष्टि से स्वर्ण अथवा रजतमुद्रा की अपेक्षा एक व्यवस्थित या नियंत्रित कागजी मुद्रा अधिक संतोषजनक है।

(४) इसके अंदर लोच (elasticity) तथा स्वयंचालकता होनी चाहिए ताकि व्यापार उद्योग की आवश्यकता के अनुसार मुद्रा की घट-बढ़ हो सके। और साथ ही साथ यह घट-बढ़ मुद्रा अधिकारियो की इच्छा पर अवलंबित न होकर स्वयंचालक (automatic working) होनी चाहिए। मुद्रा के मूल्य में स्थिरता लाने के लिए यह आवश्यक है कि

मुद्रा-पद्धति लचीली हो। व्यापार में तेजी आने के साथ मुद्रा की अधिक माँग हो जाती है और मंदी आने के समय मुद्रा की माँग कम हो जाती है इसलिए मुद्रा-पद्धति भी ऐसी होनी चाहिए कि आवश्यकता के समय मुद्रा में वृद्धि या कमी होने की संभावना हो। उदाहरणार्थ भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश होने के कारण यहाँ फसल कटने के समय पर मुद्रा की माँग अधिक होती है और फसल बोने के समय व्यापार में कुछ मंदी आ जाती है, अतः मुद्रा-पद्धति में लचीलेपन का होना अत्यन्त आवश्यक गुण है।

(५) मुद्रा-पद्धति में सरलता (simplicity) भी होनी चाहिए। वह ऐसी होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति उसको सरलता से समझ सकता हो, जिससे उसका उस देश की मुद्रा में विश्वास स्थापित हो जाय। स्वर्ण-मुद्रा मान और स्वर्ण-पाँसामान में यह गुण पाया जाता है।

(६) मुद्रा-पद्धति में निश्चितता (certainty) का होना भी आवश्यक है। मुद्रा-पद्धति ऐसा होनी चाहिए कि उसमें प्रत्येक बात स्पष्ट हो। सरकार का उत्तरदायित्व कानून द्वारा साफ-साफ लिखा होना चाहिए ताकि सरकार मनमानी रूप से उसमें परिवर्तन न कर सकें। भारतवर्ष के स्वर्ण-विनिमय-मान में यह दोष था कि उसके बारे में कोई साफ तथा निश्चित रूप से वर्णन नहीं मिलता था।

(७) मुद्रा-पद्धति ऐसी भी होनी चाहिए कि उसमें जनता का विश्वास (confidence) हो। यदि जनता को यह विश्वास न हुआ कि उसके द्रव्य की क्रय-शक्ति सदैव स्थायी रहेगी और विनिमय माध्यम के रूप में यह सदैव काम करती रहेगी, तो जनता का विश्वास धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा और इस प्रकार की द्रव्य-व्यवस्था सफलतापूर्वक नहीं चल सकेगी। जनता के विश्वास के लिए यह एक आकर्षण की बात होती है कि मुद्रा के नियमित तथा वास्तविक मूल्यों में समानता हो—इस प्रकार की मुद्रा में अतिचलन का डर नहीं रहेगा और वह चलन में सर्वमान्य हो जायगी। परन्तु ऐसा होना कोई आवश्यक बात नहीं है। यदि कागजी नोटों पर भी जनता का अटल विश्वास है, तो वे भी आदर्श रूप से द्रव्य का कार्य कर सकेंगे।

यों तो प्रत्येक देश अपनी द्रव्य-पद्धति को अपनी आर्थिक व्यवस्था, जनसंख्या की आदत, समाज की प्रथाओं तथा परिस्थितियों के अनुसार ही निश्चित करता है। परन्तु यह निर्णय करते समय कि कौन-सी मुद्रा-पद्धति सर्वश्रेष्ठ रहेगी, उक्त लिखित गुणों का ध्यान रखा जाता है।

QUESTIONS

1. What is meant by the monetary standard of a country?

2. Discuss the essential features of Bimetallism, and explain whether bi metallic standards keep prices steadier than mono-metallic standards. (Raj. 1955)

3. Describe the safeguards which are necessary in having system of inconvertible paper money. Is inconvertible paper money necessarily bad? (Agra 1951)

4. What are the essential features that a monetary system should have before it can be looked upon as satisfactory? (Agra 1956s.,55,53, 51s.)

5. What is meant by managed currency? Examine the advantages and disadvantages of the same (Agra 1956)

6. 'When a currency consists of good and bad coins either of which can be tendered in the discharge of debts, people tend to hoard the better coins to melt them down, or to export them in settlement of debts or for profit, thus leaving only bad coins in circulation.' Examine the operation of the above mentioned law. (Agra 1957)

7 Write short notes on —

(a) Gresham's Law (Agra 1952, 1953s, Raj 1956)

(b) Tabular Standard (Agra 1952)

(c) Law of Compensatory Action (Agra 1956s)

४८

स्वर्णमान

(Gold Standard)

हमने पिछले अध्याय में देखा कि जिस एक-धातु-पद्धति में स्वर्ण को मान माना जाता है अर्थात् जहाँ द्रव्य का मूल्य स्वर्ण के मूल्य से सम्बन्धित और नियंत्रित होता है, उसे स्वर्णमान कहते हैं। प्रोफसर रोबर्टसन के शब्दों में स्वर्णमान से उस अवस्था का बोध होता है जिसमें कोई देश अपने द्रव्य की इकाई का मूल्य और स्वर्ण की निश्चित मात्रा का मूल्य एक दूसरे के बराबर रखता है। ("Gold Standard is the monetary system where the unit of value is the value of a fixed quantity of gold in a free gold market") इसके कई रूप होते हैं —

(अ) पूर्ण स्वर्णमान अथवा स्वर्णमुद्रा मान (Full Gold Standard or Gold Currency Standard)

(ब) स्वर्ण पाटमान (Gold Bullion Standard)

(स) स्वर्ण विनिमयमान (Gold Exchange Standard)

नीचे हम इनका अलग-अलग विवेचन करेंगे —

(अ) स्वर्ण-मुद्रा मान

(Gold Currency Standard)

जब सरकार स्वर्णमान को इस रूप में अपनाती है तो यह द्रव्य की इकाई के सोने के अंश को नियत कर देती है अर्थात् द्रव्य इकाई के मूल्य को स्वर्ण के मूल्य से सम्बन्धित कर देती है। जैसे इंगलैंड के सोने के प्रामाणिक सिक्के पाउण्ड (£) को लीजिए। इसमें प्रामाणिक मान का अर्थात् २२ कैरैट सोने का १२३.२७४४७ ग्रेन सोना (जो ११३$\frac{1}{1}$$\frac{1}{3}$ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर होता है) होना आवश्यक है। साथ ही साथ जनता को स्वर्ण-मुद्रा ढलवाने की पूर्ण स्वतंत्रता (Free Coinage) रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि हर किसी को १ आउन्स ट्रॉय सोना देकर * £ ३ १७ sh १०$\frac{1}{2}$ d के सोने के सिक्के लेने का अधिकार होता है। जब कि दूसरी ओर इतने सिक्कों को पिघलाकर १ आउन्स ट्राय सोना धातु रूप में प्राप्त किया जा सकता है। यह कहना कि £ में प्रामाणिक सोने के १२३.२७४४७ ग्रेन हैं, और यह कहना कि स्वर्ण की टकसाली कीमत (mint price of gold) ३ पौंड १७ शि० १०$\frac{1}{2}$ पें० है, इसी प्रकार है जैसे यह कहना कि १ फुट में

*यदि हिसाब लगाया जाय तो ज्ञात होगा कि एक आउन्स ट्रॉय, जो ४८० ग्रेन के बराबर होता है, में उतना ही सोना होता है जितना ३ पौंड १७ शि० १०$\frac{1}{2}$ पेंस के मूल्य के सिक्कों में।

१२″ और १ इच म $\frac{1}{2}$ फुट हैं। तात्पर्य यह है कि प्रामाणिक सिक्का पूरे मूल्यवाला सिक्का होता है—अर्थात इसका अंकित मूल्य इसके धात्विक मूल्य के बराबर होता है और यह चलन में भी रहता है।

इस पद्धति की दो अन्य विशेषताएँ यह है—(१) इसमें प्रत्येक कानूनी सिक्के को तुरन्त सोने के सिक्को में बदलने की स्वतत्रता होती है अर्थात् नोट भी सोने के समान होते है—इनको चाहे जब सोने के सिक्का मे बदला जा सकता है। और (२) सोने का स्वतत्र आयात निर्यात होने की आज्ञा रहती है, जोकि एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात है। किसी भी सरकार को सच्चे तरीके मे स्वर्णमान आधारित तब तक ही कहा जा सकता है जब तक कि नोटो का मालिक, चाहे जहां कही भी हो, जब चाहे, सोने के सिक्का म, अथवा सिक्को को नोटा में, अपनी इच्छा के अनुसार बदल सके। और इसके लिए जरूरी है कि सोने के आयात निर्यात करन की स्वतत्रता हो क्योकि यदि किसी कारण देश से सोने का निर्यात रुक जाता है, तो इस बात की पूर्ति होना सभव न हो पायेगा और देश स्वर्णमान से गिर जायगा।

स्वर्ण-मुद्रा मान में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं—(१) मूल्य मे स्थिरता-आतरिक (internal stability)—यह पद्धति स्वयचालक (automatic) है। सरकार अथवा करेन्सी सस्थाओ की परिवर्तनशील नीति की अनुगामी नही है। अर्थात् कोई सरकार जब चाहे अपनी इच्छानुसार द्रव्य परिमाण में घट-बढ नही कर सकती। जब सिक्का-ढलाई स्वतत्र होती है तो द्रव्य की पूर्ति स्वयमेव द्रव्य की माँग के अनुरूप चलती है। जब द्रव्य की माँग उद्योग व्यापार के विस्तार के कारण बढती है तो लोग धातु को टकसाल मे ले जाकर सिक्को में बदल लेते है। अस्तु, द्रव्य की पूर्ति उसकी माँग के अनुरूप बढ जाती है। इसकी ठीक उल्टी दशा मे जब द्रव्य की पूर्ति माँग की अपेक्षा बढ जाती है तो लोग अधिक करेन्सी को पिघलाकर धातु बना लेते है और पूर्ति घट जाती है। इसके अतिरिक्त इस मान के प्रयोग से देश में मुद्रा के विस्तार को ऊपरी सीमा स्थापित की तुलना हो जाती है (क्योंकि साख-व्यवस्था अतत उस सोने पर ही निर्भर रहती है जो किसी मुद्रा-सस्था के पास होता है) और कागजी नोटो की द्रव्य व्यवस्था की तुलना मे अनियन्त्रित मुद्रा-प्रसार की सभावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं। दूसरे शब्दो में इसमे मुद्रा-प्रसार का भय नही रहता और हम कह सकते हैं कि स्वर्ण-मुद्रा-मान आतरिक मूल्यों में स्थिरता बनाये रखता है।

(२) मूल्य में स्थिरता बाहरी (external stability)—इस पद्धति में विदेशी विनिमय की दर एक सीमा तक स्थिर और बँधी हुई होती है। स्वर्ण दशा की एक आम मुद्रा होती है। उसे हर एक देश में अलग-अलग नाम से पुकारते हैं जैसे इंगलैंड में पाउण्ड, अमेरिका में डालर, फ्रास मे फ्रैंक, किन्तु इन सबका आधार सोना ही होता है और हर एक का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर होता है और चूँकि सोना अतर्राष्ट्रीय द्रव्य होने के कारण एक देश से दूसरे देश का जाता रहता है—स्वर्णमान में सोने का निर्यात स्वतत्रतापूर्वक होता रहता है—इसलिए इन सब मुद्राओ को आपस में एक निश्चित दर होती है। उदाहरण के लिए £ १ और ४ ८६६ डालर एक बराबर सोने की मात्रा से बदल

जा सकते हैं अर्थात् एक पाउण्ड में उतना ही सोना होता है जितना ४ ८६६ डालर में, तो एक पाउण्ड का विनिमय मूल्य ४ ८६६ डालर होगा। इस मूल्य में घट-बढ़ अधिक काल तक उतने से अधिक नहीं हो सकती जितना लंदन से न्यूयार्क अथवा न्यूयार्क से लंदन को इतना सोना लाने ले-जाने में व्यय करना पड़ेगा। यदि दर इससे ऊँची-नीची होने लगेगी तो लंदन से पाउण्ड न्यूयार्क को जाकर डालर में बदला जाने लगेगा या न्यूयार्क से डालर लंदन जाकर पाउण्ड में बदला जाने लगेगा।

(३) स्वर्णमान देशों की लेन-देन की बाकी (balance of indebtedness) को ठीक कर देता है। मान लो इंगलैंड और अमेरिका दोनों स्वर्णमानवाले देश हैं और वे दोनों केवल आपस में ही व्यापार करते हैं तथा अमेरिका का इंगलैंड पर लेने-देन बाकी रह गया है। इंगलैण्ड से सोना अमेरिका को भेजा जायेगा। अँगरेजी केन्द्रीय बैंक में सोना कम रह जायेगा। परिणाम यह होगा कि इंगलैंड में करेंसी का प्रसार सकुंचित हो जायेगा और कीमतें गिर जायेंगी। अमेरिका में सोने के बाहुल्य और द्रव्य तथा साख के विस्तार से मूल्य-स्तर ऊँचा हो जायगा। इंगलैंड तब खरीदने के लिए अच्छा बाजार बन जायगा, बजाय बेचने के। दूसरी ओर अमेरिका बेचने के लिए अच्छा बाजार बन जायगा, बजाय खरीदने के। इस प्रकार ब्रिटिश निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा। आयात कम होगी। अमेरिका के निर्यात कम होंगे, आयात बढ़ेंगे। तब लेन-देन की बाकी इंगलैंड की ओर बढ़ेगी जब तक कि दशा साम्य पर न पहुँच जाय। लेन-देन की बाकी बहुत काल तक एक दिशा में नहीं रह सकती। एक देश से धात्विक द्रव्य दूसरे देश को चला जायगा तो आर्थिक शक्तियाँ इस तरह काम करने लगेंगी कि व्यापार की बाकी पुन पूर्वस्थिति को वापस होने लगेगी।

(४) इसकी अन्तिम विशेषता यह है कि यह पद्धति जनता को विश्वास दिलानेवाली है और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ानेवाली है। जब तक १० में से ९ लोग यह सोचते हैं कि स्वर्णमान सर्वोत्तम है तब तक वास्तव में यह सर्वोत्तम है। इसके अतिरिक्त आदर्श द्रव्य की एक विशेषता यह भी है कि इसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो, और स्वर्ण सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किये जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के परम उपयुक्त है। इससे अंतर्राष्ट्रीय विनिमय दर में स्थिरता आती है, जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और अंतर्राष्ट्रीय इन्वेस्टमेण्ट फंड में प्रगति होती है।

स्वर्णमान के निम्नलिखित दोष भी होते हैं—(१) स्वर्णमान में द्रव्य इकाई का मूल्य अंधी प्राकृतिक शक्तियों के हाथ का खिलौना रहता है—खानों से सोना बहुलता से निकल पड़े तो द्रव्य की पूर्ति बढ़ जाये—खानों से कम सोना निकले तो द्रव्य की पूर्ति घट जाये—मतलब यह है कि सोने की खानों के हर एक परिवर्तन के साथ यह बदलती रहती है जो कि कुछ लोगों की राय में ठीक नहीं है। उनका मत है कि करेंसी-व्यवस्था नियंत्रित होनी चाहिए।

(२) दूसरा दोष यह है कि इस व्यवस्था में बड़ा अपव्यय होता है। काफी सोने की आवश्यकता पड़ती है। यह बड़ी महँगी व्यवस्था है। हमें तो माध्यम का साधन चाहिए। सोना होना कोई आवश्यक तो है नहीं।

(३) इसमें एक और दोष यह है कि यह देश के आन्तरिक पहलू की अपेक्षा देश के द्रव्य-नीति के अंतर्राष्ट्रीय पहलू पर अधिक ध्यान देती है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में स्थिरता तो आती है पर यह स्वतन्त्र राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल स्वतन्त्र द्रव्य-सम्बन्धी नीति का त्याग करके ही प्राप्त होती है। मान लो किसी देश में अत्यधिक आर्थिक मंदी और बेकारी की समस्या हल करने के लिए मुद्रा-विस्तार की नीति की परम आवश्यकता हैं, किन्तु स्वर्ण के चक्कें से बँधा हुआ देश स्वतंत्र रूप से कार्य करके, अपने देश में मुद्रा-विस्तार करने में असमर्थ रहेगा, क्योंकि ऐसा करने से इसका प्रभाव बाहरी विनिमय मूल्य पर पड़ना स्वाभाविक है, और एक स्वर्णमान देश को इस बात को ध्यान में रखना ही पड़ेगा। यदि वह देश स्वर्णमान न होता, तो उसको स्वतन्त्रता थी कि चाहे वह अपने देश की भीतर की कीमतों को स्थिर रखे चाहे बाहरी विनिमय दर को। उसके लिए यह आवश्यक नहीं होता था कि यदि संसार में कीमतें बढ़ रही है, तो वह भी अपने देश की कीमतें बढ़ाये और यदि घट रही हैं तो वह भी कीमतों को घटाये।

(४) इसमें एक दोष यह भी है कि यह केवल अच्छे समय में ही काम देता है (It is a fair weather standard)। संकट के समय में विश्वास उठ जाता है और सर्वमान्यता लोप हो जाती है। संकट के समय लोग अपनी मुद्रा को सोने में बदलवाकर सोने को अपने पास रखना अधिक पसन्द करते हैं, और इस प्रकार जब सरकार के कोष में सोना कम रह जाता है तो सरकार इस पद्धति को त्याग देने के लिए मजबूर हो जाती है।

(५) अन्त में स्वर्णमान के पूर्णरूप से कार्य करने के लिए स्वर्ण की आवाजाही (freedom of gold movement) की पूरी सुविधा होनी चाहिए, उसके आयात-निर्यात पर कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। और केन्द्रीय बैंकों को ईमानदारी से स्वर्णमान के दो नियमों का पालन करना चाहिए परन्तु ऐसा हमेशा देखने में नहीं आता। ये स्वर्णमान के नियम क्या हैं इसकी व्याख्या नीचे की जाती है —

The Rules of the Gold Standard Game—स्वर्णमान को सफल बनाने के लिए दो प्रमुख सिद्धान्त व नियम हैं। पहिला नियम यह है कि "जब स्वर्ण देश के अन्दर आये तो साख को बढ़ा दो, जब देश से बाहर जाये तो साख को घटा दो।" "Expand credit when gold flows in and contract credit when gold flows out." दूसरे शब्दों में स्वर्णमान में स्वर्ण की स्वतंत्र गति होनी चाहिए, जिससे मूल्यों पर पूर्ण प्रभाव पड़े। दूसरा नियम यह है कि हर एक राष्ट्र को चाहिए कि वह दूसरे राष्ट्र के साथ क़दम मिलाकर चले "Every nation should be content to march in step with every other." इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक देश की आर्थिक व व्यापारिक नीति इस प्रकार बनी होनी चाहिए कि भुगतानों की बाकी का समाधान हो सके और वास्तविक भुगतान आसानी से किया जा सके। जिन देशों को सोना दूसरे देशों से पाना है उन्हें आयातों को बढ़ने देना चाहिए और टैरिफ द्वारा या और तरीक़ों से उनको रोकने की कोशिश नहीं करनी चाहिए इत्यादि, इत्यादि।

किन्तु पिछले दिनों में देशों ने इन नियमों का पालन नहीं किया। वे इस कोशिश में लगे रहे कि स्वर्ण के देश में आने और देश से बाहर जाने का प्रभाव देश के भीतरी मूल्य-स्तर पर न पड़े। और इसलिए स्वर्णमान सफल नहीं हुआ। जब किसी देश के पास स्वर्ण आ जाता है तो वह contractionist monetary policy द्वारा उसे देश के बाहर नहीं जाने देने का प्रयत्न करता है और जब स्वर्ण बाहर चला जाता है तो वह expansionist monetary policy द्वारा अपने आतरी मूल्य-स्तर को प्रभावित होने से रोकता है। इसी नियम की अवहेलना के कारण आज अमेरिका के पास स्वर्ण का सबसे अधिक स्टाक है, जिसको उसने शक्तिहीन (sterilise) कर रखा है। जिस समय उस देश में स्वर्ण का आयात बढ़ रहा था उसको चाहिए था कि वह अपने घरेलू मूल्य-स्तर को बढ़ने देता परन्तु उसने उस स्थिर रखने के लिए अपने आयातों को बन्द कर दिया और उसके पास जितना सोना आया, उसने उसे अलग रख दिया और मूल्य के स्तर को बढ़ने नहीं दिया। ऐसी दशा में स्वर्ण-मान कैसे काम कर सकता था। इसी तरह लड़ाई से पहले इंगलैंड के पास बहुत-सा सोना आया था और उसने कीमतों को पूरी तरह बढ़ने नहीं दिया और बहुत से सोने को विनिमय समीकरण कोष (Exchange Equalisation Fund) में शक्तिहीन (sterilise) कर दिया; और जब बाद में उसका बहुत-सा सोना बाहर चला गया तो उसको चाहिए था कि वह साख को कम होने देता और मूल्य-स्तर को गिरने देता, परन्तु उसने खुले बाजार में सिक्योरिटीज खरीदी और मूल्य स्तर को गिरने से रोका, क्योंकि उस को यह डर था कि मूल्य-स्तर के गिरने से देश में बेकारी फैलेगी, इत्यादि, इत्यादि।

(ब) स्वर्ण पाटमान

(*Gold Bullion Standard*)

इस व्यवस्था में स्वर्ण-मुद्राओं का प्रचलन नहीं होता और न उनके ढलवाने की स्वतंत्रता होती है। द्रव्य इकाई स्वर्ण-मुद्रा मान के समान सोने का एक निश्चित वजन होती है, पर इसके सिक्के नहीं ढलते और न नोटों को ऐसे सिक्कों में बदले जाने का प्रबन्ध होता है। सरकार सोने के प्रामाणिक पासे या छड़ें रखती है और आवश्यकता पड़ने पर नोटों को इन पांसों से बदला जा सकता है। अर्थात्, यद्यपि अब कागजी मुद्रा सिक्कों में नहीं बदली जा सकती, किन्तु सोने की धातु से इसे बदला जा सकता है और इस प्रकार सोने के साथ एक वास्तविक शृंखला, बिना उसे सिक्कों के रूप में चलन में लाये, स्थापित की जा सकती है। परिणाम यह होता है कि लोगों को यह विश्वास तो बना रहता है कि नोट स्वर्ण में एक निश्चित दर पर बदले जा सकते हैं, पर स्वर्ण के सिक्के सिक्कों के रूप में नहीं चलते और नोटों द्वारा ही काम चलता रहता है, क्योंकि सोने के पांसे इतने अधिक मूल्य के होते हैं कि वे साधारण आदमी की पहुंच से बाहर रहते हैं, तथा मुद्रा का काम भी नहीं कर सकते। सोने के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबंध नहीं होता। सरकार को या केन्द्रीय बैंक को सोना बेचने के लिए अपने पास सोने का एक कोष रखना पड़ता है।

उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में १९२५ में सरकार ने स्वतंत्र सिक्का-ढलाई बन्द कर

दी थी और नोटों के अधिकारियों को अधिकार दे दिया था कि वे उनके बदले सोने के पास (जिनमें ४०० आउंस सोना रहता था) £३ १७ sh १०½d प्रति प्रामाणिक आउंस की दर से दे सकते थे। यह व्यवस्था स्वर्ण पाट मान-पद्धति हुई।

इस व्यवस्था के भी कुछ गुण हैं—(१) इसमें सोने की काफी बचत हो जाती है क्योंकि सोना सिक्कों के रूप में नहीं चलता। इसकी कमी अन्य धातुओं के सिक्कों तथा नोटों से पूरी की जाती है।

(२) इसमें वे सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं जो स्वर्ण मुद्रा मान की विशेषताएँ हैं—विनिमय दर की स्थिरता, मुद्राओं के मान में बदलना तथा अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में प्रतिष्ठा बनना का विश्वास आदि।

(३) सोने का अपव्यय बच जाता है और सिक्कों के घिसने-टूटने से जो धातु कम होती है वह इसमें नहीं होने पाती। साथ ही स्वर्ण-मुद्रा के सभी गुण इसमें प्राप्त हो जाते हैं जैसे आन्तरिक कीमतों में स्थिरता, विनिमय-दर में स्थिरता तथा लेन-देन का बैलेन्स ठीक होना। अस्तु यह स्वर्ण-मुद्रा मान से अधिक सस्ता मान है। इसी पद्धति को स्वर्णमान बिना स्वर्ण-मुद्राओं के (Gold Standard Without Gold Coins) भी कहते हैं।

(४) स्वर्ण-मुद्रा मान की तरह यह पद्धति भी स्वयचालक (automatic) होती है जिसमें सोने के क्रय विक्रय के अनुसार मुद्रा प्रसार और मुद्रा-संकुचन होता रहता है। जब लोग सोना खरीदते हैं तो वे सरकार को बदले में नोट तथा अन्य सिक्के दे देते हैं जिसके परिणामवश मुद्रा-संकुचन हो जाता है। इसी प्रकार जब लोग सोना बेचते हैं और बदले में नोट या अन्य सिक्के लेते हैं तो मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है और मुद्रा प्रसार हो जाता है। इस प्रकार इसमें अपने आप लोच बनी रहती है।

(५) विनिमय के ह्रास के समय चलन में रहनेवाले सोने का मुद्राओं की अपेक्षा केन्द्रीय बैंक अथवा किसी संस्था के कोष में संचित सोने की राशि अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है क्योंकि कोष के सोने को चाहे जब परिस्थिति पर काबू पाने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है।

इसके कुछ दोष भी हैं—(१) स्वर्ण पाट मान को चलाने का प्रबन्ध सरकार या देश की केन्द्रीय बैंक को करना पड़ता है क्योंकि सोने का क्रय विक्रय इन्हीं दोनों में से किसी एक के हाथ में होता है। अतः इस पद्धति में सरकार हस्तक्षेप करती रहती है और कभी-कभी तो यह हस्तक्षेप बहुत अधिक सीमा तक बढ़ जाता है। परिणामवश इस मान में स्वर्ण मुद्रा मान की तरह इतनी लोच और स्वयचालकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त यह मान सस्ता होते हुए भी क़ीमती है। गरीब देश बिना बहुत व्यय के इसको अपना नहीं सकते क्योंकि इसे ठीक तरह चलाने के लिए बहुत सोने की आवश्यकता रहती है।

(२) इस मान में कहने के लिए तो नोटों के बदले सोना मिल सकता है परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाता क्योंकि जिस मात्रा में सरकार से सोना लिया जा सकता है वह इतनी अधिक होती है कि साधारण लोग उतना सोना नहीं बदल सकते—जैसे सरकार

नोटो के बदले कम से कम ४०० आउन्स सोना देती है, तो हर एक के पास इतने नोट कहाँ होते हैं कि वह एकदम इतना सोना प्राप्त कर सके।

(३) इसके अतिरिक्त इस पद्धति में मूल्य स्तर अधिक स्थिर नहीं रहता है। जिससे व्यापारियों आदि को बहुत नुकसान रहता है। इसमें अन्य देशों में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव इस देश के आर्थिक ढाँचे पर पड़ता है इत्यादि, इत्यादि।

(स) स्वर्ण-विनिमय-मान

(*Gold Exchange Standard*)

यह मान प्रथम महायुद्ध से पूर्व कुछ देशों में जैसे भारत, फिलीपाईन्स, आस्ट्रेलिया, डेन्मार्क आदि देशों में प्रचलित था। युद्ध के बाद भी इसको जारी रखने की प्रवृत्ति मध्य यौरप के कुछ देशों में पाई गई। १९३२ की जिनेवा कान्फ्रेंस में इसकी सिफ़ारिश की गई थी। इसके मुख्य लक्षण यह हैं —

(१) इसके अन्तर्गत न तो सोने के सिक्के चलाये जाते हैं और न देश के आन्तरिक कार्यों के लिए सोना ही दिया जाता है इसलिए इसमें सोना खर्च नहीं होता। इस व्यवस्था में आंतरिक-मुद्रा के रूप में क़ाग़ज़ी नोट, चाँदी, ताँबे आदि के सिक्के चलते हैं और इनका विनिमय सोने या सोने पर आधारित विदेशी मुद्रा से केवल विदेशी भुगतान चुकाने के लिए ही हो सकता है। [स्वर्ण-पाट-मान और स्वर्ण-विनिमय-मान में मुख्य भेद यही है कि स्वर्ण-पाट-मान के अन्तर्गत चालू मुद्रा का विनिमय सोने से देशी व विदेशी कैसी भी आवश्यकताओं के लिए हो सकता है, परन्तु स्वर्ण-विनिमय मान के अन्तर्गत चालू मुद्रा का विनिमय सोने में केवल विदेशी भुगतान चुकाने के लिए ही हो सकता है।]

(२) यद्यपि इसमें सोने के सिक्कों की ढलाई नहीं होती, तो भी विदेशी लेन-देन के लिए काग़ज़ी मुद्रा तथा चाँदी के सिक्कों का मूल्य सोने के रूप में एक विशिष्ट दर पर निर्धारित किया जाता है। जैसे पहिली लड़ाई से पहले भारत में रुपये का मूल्य १ शि० ४ पैं० था, और इसी दर पर लन्दन में विदेशी लेन-देन के लिए सोना मिल सकता था, जब कि आंतरिक मुद्रा काग़ज़ी नोट और चाँदी के सिक्कों की ही थी। इस दर को इंगलैंड और भारत दोनों ही जगह रिज़र्व रखकर तथा लन्दन में रुपयों के बिल और भारत में स्टर्लिंग बिल बेचकर बनाये रखा गया था। जब कभी भारत के किसी व्यापारी को इंगलैंड में भुगतान करना होता था तो वह भारत-सरकार से स्टर्लिंग बिल खरीद लेता और बदले में उक्त दर (१रु०=१ शि० ४ पैं०) के हिसाब से रुपया जमा कर दिया करता था। वह इस स्टर्लिंग बिल को इंगलैंड भेज देता और वहाँ भारत-मंत्री उसके बदले में कोष में से पौन्ड चुका दिया करता था। इसके विपरीत यदि कभी इंगलैंड के व्यापारी को भारत में भुगतान चुकाना होता तो वह लन्दन में भारत-मंत्री से रुपये के बिल खरीद कर १ पौंड=१५ रुपये की दर में पौंड जमा कर दिया करता था। वह इस रुपये के बिल को भारत में भेज दिया करता और यहाँ उसके बदले में भारत-सरकार कोष में से रुपये चुका दिया करती थी।

(३) इसमें सोने का आयात-निर्यात नहीं होता, वरन् सरकार की सहायता से विदेशी भुगतान चुकाने का प्रबंध होता है।

स्वर्ण-विनिमय-मान, अगर ठीक-ठीक काम करे तो सोने की बड़ी बचत होती है। सिक्कों की घिसाई आदि से जो धातु का नुकसान होता है, वह नहीं होने पाता, इससे बचे हुए सोने को अन्य उपयोग में ला सकते हैं। इसलिए यह गरीब देशों के लिए बड़े काम का है पर इसमें निम्नलिखित दोष हैं—

(१) इसमें करेंसी और विनिमय पर पर्याप्त नियंत्रण की आवश्यकता रहती है। यह एक स्वयं चालक व्यवस्था नहीं है जिसका होना स्वर्णमान का आवश्यक गुण है। यह तो एक सचालित पद्धति (Managed standard) है।

(२) यह खर्चीला भी है। इसमें स्वयं ही दो रिजर्व्स की आवश्यकता रहती है जिसमें सोना बेकार बद पड़ा रहता है। इसका उपयोग औद्योगिक कामों के लिए भी नहीं हो पाता।

(३) दूसरे देशों के साथ हमेशा एक विनिमय की स्थिर दर रखना कठिन है। जब असाधारण रूप से दर गिरती अथवा चढ़ती है, तो इससे देश को बड़ी हानि पहुँचने की सभावना रहती है। जैसे भारत में रुपये का कृत्रिम दर पर रखने की कोशिश में भारत के कोषों से बहुत सा सोना निकल गया।

(४) इस पद्धति में लोच नहीं होती, साथ ही इसका असाधारण परिस्थितियों में सफल होना कठिन है। हो सकता है कोष का सोना विदेशी लेन-देन की बढ़ी हुई माँग के लिए पर्याप्त न हो।

(५) इसमें अनुचित मुद्रा-स्थिति की सभावना भी रहती है, क्योंकि इस पद्धति का प्रबंध और सचालन सरकार के हाथ में रहता है, और वह मन चाहे जैसी फेर-बदल कर सकती है।

(६) अत में यह एक परतन्त्र मान है। इसकी सत्ता उस देश के स्वर्णमान के सफलतापूर्वक चलने पर निर्भर है, जिसकी करेंसी के साथ स्वर्ण-विनिमय-मान की करेंसी बँधी हुई है। जैसे हमारे देश का रुपया बहुत काल तक स्टर्लिंग की गाड़ी के पहिए से बँधा रहा। जैसे ही १९३१ में ब्रिटेन में स्वर्णमान भग हुआ, वैसे ही हमें भी, बिना अपनी राष्ट्रीय आवश्यकताओं का ध्यान रक्खे, रुपये को स्टर्लिंग से १ शि० ६ पें० की दर पर सम्बन्धित करना पड़ा।

कभी-कभी, किसी देश की मुद्रा विदेशी लेन-देन में सोने में बदली जाने योग्य न होकर दूसरे स्वाधीन देश की करेंसी के साथ बाँध दी जाती है। यह उसी के साथ डूबती-उतराती है। इस व्यवस्था का नाम भी उस करेंसी के नाम के साथ पड जाता है, जिसके साथ इसका गठबधन किया गया है। जैसे यदि यह डालर के साथ बँधी है तो यह डालर विनिमय मान (Dollar Exchange Standard) कहलायेगी और यदि यह स्टर्लिंग के साथ बँधी है तो यह स्टर्लिंग विनियम मान (Sterling Exchange Standard) कहलायेगी।

भारत, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, पुर्तगाल, स्वीडन तथा अन्याय देश स्टर्लिंग-विनिमय-मान को ग्रहण कर चुके हैं जब कि ब्राजील, चिली, मैक्सिको आदि में डालर विनिमय मान है।

इस प्रकार के मान म स्वर्ण-विनिमय-मान के सभी दोष तो हैं ही, इसके अतिरिक्त एक दोष यह है कि इसम एक देश की द्रव्य-व्यवस्था दूसरे देश की करेंसी और कीमतो पर निर्भर रहती है और दूसरे देश की कीमतों की घट-बढ़ म पहिले को लाचारी से हिस्सा बँटाना पड़ता है, जैसा कि रुपए और पौण्ड पावना स्टर्लिंग की दशा में हम देख चुके हैं।

स्वर्ण-मुद्रामान	स्वर्ण-पाटमान	स्वर्ण-विनिमय-मान
१ चलन में सोने के सिक्के चलते थे और उनकी स्वतन्त्र ढलाई होती थी।	१ चलन में सोने के सिक्के नही चलते थे और उनकी स्वतन्त्र ढलाई नही होती थी।	१ चलन मे सोने के सिक्के नही चलते थे। और उनकी स्वतन्त्र ढलाई नही होती थी।
२ सोना विनिमय का माध्यम भी था, और वस्तुओं के मूल्य मापन का कार्य भी करता था।	२ सोना विनिमय का माध्यम तो नही था परन्तु वस्तुओं के मूल्य सोने पर ही निर्भर होते थे (gold standard without gold coins)	२ सोना विनिमय का माध्यम तो न था, परन्तु वस्तुओं के मूल्य सोने पर ही निर्भर रहते थे।
३ कागजी नोट सोने के सिक्कों में परिवर्तित किये जा सकते थे।	३ कागजी नोट सिक्को में नही बदले जा सकते थे परन्तु इनको ४०० औंउन्स वजन के सोने क पाँसों मे बदला जा सकता था।	३ देश के भीतर नोट न सिक्को में बदले जा सकते थे, न पाँसा में बल्कि केवल विदेशी विनिमय या अन्त-र्राष्ट्रीय व्यापार के लिए लोग सोना प्राप्त कर सकते थे।
४ यह आन्तरिक मूल्य के बजाय विदेशी विनिमय दर पर अधिक जोर देता था।	४ यह आन्तरिक पहलू और अन्तर्राष्ट्रीय पहलू दोनो का बराबर ध्यान रखता था।	४ यह विदेशी विनिमय दर के बजाय आंतरिक मूल्य पर अधिक जोर देता था।
५ यह आयात तथा निर्यात को स्वयं ही सन्तुलित कर देता था। सोने का आयात-निर्यात भी स्वतन्त्र था। (automatic)	५ यह एक प्रकार का नियन्त्रित मान था और managed currency standard की ओर बढ़ रहा था।	५ यह पूर्णतया एक नियन्त्रित मान (managed currency system) था।

स्वर्णमान ऐतिहासिक दृष्टि से

(History of the Gold Standard)

स्वर्णमान, सबसे पहिले ग्रेट्ब्रिटेन में १८१६ में अपनाया गया। इसके पश्चात जब द्विधातुवाद जर्मनी, फ्रांस अमरिका आदि से हट गया, तब १९वी शताब्दी के अन्तिम ३० वर्षों में, इंगलैंड की देखा-देखी बहुत से दूसरे देशों ने भी इसे अपना लिया। इस प्रकार यह ससार की सर्वमान्य प्रणाली बन गई और प्रथम महायुद्ध(१९१४) के आरम्भ होने तक इसने बहुत महत्वपूर्ण स्थान पा लिया। इसके तरह-तरह के रूप विभिन्न देशों में प्रचलित हो गये।

युद्ध के मध्य और अंत में इसे बड़ा धक्का लगा। देशों ने स्वर्णमान को छोड़ा फिर अपनाया और फिर हटाया—यह क्रम चलता रहा। कितने ही देशों ने स्वर्णमान को नया रूप दिया। उदाहरण के लिए इंगलैंड ने १९२५ में स्वर्ण-धातु मान को अपनाया और मध्य यूरोप में स्वर्ण-विनिमय-मान अपनाया इत्यादि इत्यादि। इसकी सिफारिश १९२२ की जिनेवा कान्फ्रेंस में भी की गई। १९२८ तक अधिकतर देशों में स्वर्णमान ने स्थान पा लिया था। केवल तीन देशो, मैक्सिको चीन और स्पेन ने १९२९ तक स्वर्णमान को नही अपनाया था। परन्तु १९२९ के सासारिक आर्थिक सकट से इसे बड़ा आघात पहुँचा और धीरे धीरे करके देशों ने स्वर्णमान का फिर त्याग दिया। १९३१ के सितम्बर में इंगलैंड ने, मार्च १९३३ में अमेरिका ने, और १९३६ में फ्रान्स ने और इसी प्रकार अन्य देशों ने इसे छोड़ दिया।

कुछ कारण जिनकी वजह से स्वर्णमान टूटा, (break down of the gold standard) नीचे दिये जाते हैं —

(१) युद्ध के बाद विनिमय दर को स्थिर रखना असम्भव हो गया था। विनिमय दर को तब ही स्थिर रखा जा सकता था जब कि देश में कीमतों को गिरा सकना या बढ़ा सकना सम्भव हो परन्तु युद्ध के बाद देशो में मूल्य स्तरों को नीचे गिराना आसान नहीं था क्योंकि मजदूर सघ मजदूरी को कम नही होने देते थे पूँजीपति मुनाफा कम नही करना चाहते थे आदि आदि। दूसरा रास्ता देश के विदेशी व्यापार को नुकसान से बचाने के लिए था विनिमय दर का बदलना। परन्तु जब विनिमय दर बदल दी जाती है तो देश में स्वर्णमान चल नही सकता है। इसलिए स्वर्णमान का टूटना शुरू हो गया।

(२) देशो में राजनैतिक अशान्ति थी और लोगो में डर बैठ गया था जिसके कारण वे जरा सी बात पर सोना उन देशो को भेज देते थे जिनकी राजनैतिक हालत अच्छी होती थी और स्वर्णमान का चलना कठिन हो गया था। उदाहरण के लिए राजनीतिक अनिश्चितता के कारण कुछ यूरोप के देशो में अल्पकाल के लिए अपना कोष लंदन में जमा कर रखा था। लोगो को हर समय युद्ध, गृहयुद्ध तथा हड़तालो आदि का डर बना रहता था, इस कारण वह डर कर ऐसे देशो में अपना धन लगाते थे, जिनको वह आर्थिक दृष्टि से मजबूत समझते थे। लेकिन जब लड़ाई का डर हुआ तो फ्रांस के लोगो ने सोना वापस लेना शुरू किया। परन्तु इंगलैंड बड़ी मात्रा में, अपने सोने के साधनो को इतने अल्पकालीन समय में जाता देख सहन नही कर सका, अत उसने स्वर्णमान का कोष स्थगित कर दिया।

(३) फ्रांस और अमेरिका चाहते थे कि युद्ध के ऋण और तावान का भुगतान स्वर्ण में ही हो। इससे डालरों की माँग एक साथ बढ़ने लगी और पूँजी की गति एक-मार्गी (one-way traffic) हो गई। परिणामवश दुनिया का सोना, अमेरिका और फ्रांस में ही इकट्ठा हो गया। विशेष रूप से अमेरिका में, जहाँ आज के दिन दुनिया का ८०% सोना है और जहाँ इसके ऊपर से संरक्षण-करों का भी बोलबाला है, जिससे बाहर देशों का माल वहाँ न बिक सके और सोना बाहर न जा सके। अब जो सोना बाकी रह गया था, वह इतना काफी नहीं था कि देश स्वर्णमान को चालू रख सकें।

स्वर्णमान का नियम है "जब सोना आये तो साख बढ़ाओ और जब बाहर जाये तो साख संकुचित करो।" यदि फ्रांस और अमेरिका इसी नियम पर चलते, और इन देशों के केन्द्रीय बैंक जब सोना देश में आता तो साख बढ़ाते, और साख बढ़ने के साथ-साथ इन देशों की कीमतें अन्य देशों की कीमतों की अपेक्षा बढ़ी होतीं जिससे वहाँ का आयात बढ़ जाता, निर्यात घट जाता और कारणवश सोना बाहर जाता। परन्तु इन देशों ने साख को नहीं बढ़ाया, अपितु उन्होंने कीमतों में स्थिरता बनाए रखने के ख्याल से आयात को शक्तिहीन (sterilise) कर दिया।

दूसरी ओर, चूँकि इंगलैंड से सोना घट रहा था, उसे साख को संकुचित करना चाहिए था जिससे कीमतें गिरतीं, परन्तु उसने सिक्योरिटीज खरीदकर ऐसा नहीं होने दिया। उसे बेकारी बढ़ने आदि का डर था।

इस प्रकार फ्रांस, अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन और अन्य कम महत्त्ववाले देशों ने भी स्वर्णमान के नियमों का पालन नहीं किया। ऐसी स्थिति में स्वर्णमान का रहना बड़ा कठिन था। और इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) की योजना सामने आई जिसके बारे में आगे पढ़ेंगे।

इन कारणों के अतिरिक्त भी कुछ और कारण थे जिनसे कि स्वर्णमान न रह सका। युद्ध के पश्चात् सब देशों में से अन्तर्राष्ट्रीय भावना जाती रही, और राष्ट्रीय भावना प्रबल हो गई। उन्होंने अपने राष्ट्रहितों के लिए ही अपनी आर्थिक योजनाएँ बनाईं। इंगलैंड ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति को छोड़ दिया, संयुक्तराष्ट्र ने ऊँचे-ऊँचे आयात कर लगा दिये, और देश-देश में कोटा प्रणाली और विनिमय नियंत्रण से काम लिया जाने लगा इत्यादि, इत्यादि। इन सब बातों के कारण संसार के सारे देशों में भिन्न-भिन्न मूल्य-स्तर हो गये। इन मूल्य-स्तरों को सोने का आयात-निर्यात भी ठीक न कर सकता था।

QUESTIONS

1 Describe fully the working of the Gold Standard. What is the Rule of the Gold Standard? (Agra 1957)

2. Examine the advantages claimed for the Gold Standard. (Agra 1956 s 1955s.)

3. 'The case for the gold standard is a case for a strict *dejure* gold standard, with each country following "the rules" so that no gold currency becomes distrusted.'

Explain and comment. (Agra 1956)

4 Explain the principal features of the Gold Currency Standard and compare it with Gold Bullion Standard, Gold Exchange Standard and with Sterling Exchange Standard (Agra 1956, 1952 Bihar 1058)

5 What is Gold Exchange Standard? Describe its mechanism carefully (Alld. 1950, 1945 Agra 1951s 1950) Under what conditions is it likely to break down? (Agra 1952s 51s)

or

Describe briefly the system of 'Gold Exchange Standard and trace its defects How is it distinguished from the Gold Standard and the Gold Bullion Standard? (Agra 1954, Alld 1950, 1948)

४६

साख, साख-पत्र और बैंक्स

(Credit, Credit Instruments and Banks)

साख का अर्थ

(*What is Credit?*)

रुपये को किसी आगामी तिथि पर वापस देने का वचन देकर रुपया उधार लेना अथवा सामान अब लेना और उसकी कीमत फिर देना, आदि रिवाज मानव-समाज में बहुत काल से चले आ रहे है। एक आदमी को १०० रु० की आवश्यकता है, परन्तु उसके पास रुपया नही है तो वह एक प्रतिज्ञापत्र लिखकर उधार ले लेता है। इसी प्रकार यदि एक दुकानदार को सामान खरीदना है परन्तु उसके पास रुपया नही है तो वह भी रुपया आगामी तारीख को अदा करने की प्रतिज्ञा कर सामान उधार ले लेता है। दोनो उदाहरणो में एक आदमी अपनी पूँजी वर्तमान में दे देता है और दूसरा आदमी उसे यह आश्वासन दिलाता है कि वह आगामी तारीख पर उसे चुका देगा और इसी को साख* कहते है।

साख में दो बातें पाई जाती हैं —

(अ) साख में भविष्यता पाई जाती है जब एक व्यक्ति दूसरे को कुछ उधार देता है तब वह किसी वस्तु, द्रव्य या अन्य सम्पत्ति का हस्तान्तरण वर्तमान में करता है और भुगतान भविष्य में होता है, तो इसका मतलब यह हुआ कि साख में समय या अवधि का होना आवश्यक है और ऋणी एक निश्चित समय के पश्चात् ही रकम चुकाने की प्रतिज्ञा करता है। प्रोफेसर जीड के शब्दों, में "साख एक ऐसा विनिमय है, जो निश्चित समय के पश्चात् ही पूरा होता है।"

(ब) साख में विश्वास (confidence) का होना भी आवश्यक है। साख देनेवाला उधार देने को तभी तैयार होता है, जब उसे विश्वास होता है कि ऋणी समय पर रुपया लौटा देगा, अन्यथा नही। साख का आधार विश्वास है और यह विश्वास दो प्रकार का होता है—एक तो ऋणी की ईमानदारी में, दूसरा उसकी ऋण के लौटा सकने की क्षमता में।

*"Credit may be defined as the transfer of goods in the present for a promise of a certain amount of goods to be paid at a given future date, or the lending of money in the present on condition of payment at some future date."

It may also be defined as "the transfer of somthing valuable to another whether money, goods or services in the confidence that he will be both willing and able, at a future date, to pay its equivalent.

इस तरह हम कह सकते हैं कि साख या उधार में दो बातों का समावेश रहता है—एक तो विश्वास और दूसरा समय (time and confidence are the two elements of credit)। इसके अतिरिक्त साख के सम्बन्ध में एक आवश्यक बात यह है कि कोई व्यक्ति दूसरे को किस परिमाण तक अर्थात् किस रकम तक उधार दे सकता है। सम्भव है कि एक दूकानदार किसी ग्राहक को एक माह के लिए ८०० रु० का माल उधार देने के लिए तैयार हो पर १ हजार का नहीं। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि प्रत्येक साख में तीन बातों का समावेश रहता है (१) विश्वास (२) समय (३) रकम। एक चौथी आवश्यक बात है विनिमय का होना जिसके सम्बन्ध में ही उधार का प्रश्न उठता है।

साख कई प्रकार की होती है। जब हम आय के व्यय से कम होने पर उधार लेकर काम चलाते हैं इसे उपभोग-साख (Consumption Credit) कहते हैं। किन्तु अधिकांश उधार उत्पादन के लिए (Production Credit) होता है, और उत्पादन के जिस कार्य के लिए रुपया उधार लिया जाता है उसी के अनुसार साख का नाम हो जाता है। उद्योगपति उद्योग चलाने के लिए जो रुपया उधार लेते हैं (जैसे मशीन खरीदने, कच्चा माल खरीदने मजदूरी देने के लिए) उसे औद्योगिक साख (Industrial Credit) कहते हैं। व्यापारी उधार माल खरीदते हैं उसे व्यापारिक साख (Commercial Credit) कहते हैं, जैसे हुण्डी और बिल आव एक्सचेंज। किसान खेती के लिए रुपया उधार लेते हैं, उसे कृषि-साख (Agricultural Credit) कहते हैं। सरकारें अपना खर्च चलाने या उत्पादन कार्य के लिए उधार लेती हैं इसे सरकारी साख (Government Credit or Public Credit) कहते हैं। और बैंक जब डिपाजिटस के आधार पर रुपया उधार देते हैं उसे बैंक साख (Bank Credit) कहते हैं जैसे अनेक प्रकार के साख-पत्र।

साख की वृद्धि करनेवाली अवस्थाएँ

(Conditions favourable to the growth of credit)

किसी देश में साख का परिमाण उस देश के व्यापार और उद्योग की दशा पर निर्भर करता है। जब व्यापार बढ़ा चढ़ा होता है लोगों में व्यावसायिक स्फूर्ति और उनके दृष्टिकोण में आशावादिता होती है तब साख का प्रचलन खूब होता है। इसके विपरीत मंदी के समय निराशा के वातावरण में साख का प्रचलन कम हो जाता है। देश में सुख-शान्ति होने पर साख का प्रचलन बढ़ता है, और अशान्ति की स्थिति में तथा युद्ध इत्यादि की सम्भावना होने पर वह घटता है। इसी प्रकार साख के सृजन पर, राष्ट्र की आय और रहन-सहन का स्तर, राजनैतिक परिस्थितियाँ मुद्रा-विस्तार की नीति, और अन्य बातें अपना प्रभाव डालती हैं। सबसे अधिक प्रभाव देश की द्रव्य व्यवस्था का, अर्थात् करेन्सी और बैंकिंग प्रणाली का, पड़ता है। द्रव्य स्थिति के ठीक होने से साख का प्रसार होता है और खराब होने से संकुचन। इसी प्रकार जब देश में स्वर्ण बाहर से आता है तब साख का प्रसार बढ़ता है और जब वह देश से बाहर जाता है, तो साख का प्रसार घटता है। व्यावसायिक नैतिकता, सामान्य

वायदा का पूरा हो जाना, निजी सम्पत्ति की सामान्य सुरक्षा आदि बातें भी साख के प्रसार में सहायक होती हैं। ठीक इसके विपरीत, मंदी, निराशा, बेईमानी, राजनैतिक उथल-पुथल, असुरक्षित वातावरण साख के घटाने म योग देते है।

साख का महत्त्व

(*Importance of Credit*)

आजकल की आर्थिक व्यवस्था में साख का बड़ा महत्त्व है। बड़े पैमाने की उत्पत्ति और विनिमय साख और साख-पत्रों की सहायता से ही सम्भव हो सके है। वस्तुओं का उत्पादक बैंक से रुपया साख पर लेता है कच्चा माल तथा मशीनें आदि साख पर खरीद लेता है और श्रमियों का वेतन भी बैंक से रुपया साख पर लाकर देता है। इसी तरह वह वस्तुओं की उत्पत्ति होने पर इनको थोक विक्रेताओं को साख पर देता है थोक विक्रेता फुटकर विक्रेताओं को वस्तुएँ साख पर देते हैं और ये फुटकर विक्रेता उपभोक्ताओं को वस्तुएँ साख पर देते हैं। खरीज व्यापार से लेकर थोक व्यापार तक और ग्रामीण व्यापार से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तक सभी में साख से लाभ उठाया जाता है। सरकार की साख पर कागजी मुद्रा या नोट चलते हैं। राज्य ऋण-पत्रों द्वारा सरकारों को कर्जे मिलते है और व्यापारियों को तथा व्यक्तियों की साख पर, हुंडी-पर्चा, चेक, बिल्स, ड्राफ्ट आदि चलते हैं तथा बिना हुंडी-पर्चों के बड़े बड़े चालू खाते खोले जाते है और बड़ी बड़ी भरसाल, गोदाम, लेन-देन, माल का क्रय-विक्रय उधार खाता पर होता है। वास्तव में समाज का कुल उत्पादन-कार्य और संसार का अधिकांश व्यापार साख के आधार पर चलता है। बैंकिंग, जिस पर समाज की व्यापारिक, व्यावसायिक तथा औद्यागिक उन्नति बहुत कुछ निर्भर है का भी आधार साख पर ही है।

साख से लाभ

(*Advantages of Credit*)

(१) **साखसे पूंजी की उत्पादन शक्ति बढ़ती है**—साख पूँजी का एक जगह से दूसरी जगह हस्तान्तरित करके और एक आदमी से, जो पूँजीवाला है पर इसका भली भाँति उपयोग नहीं कर सकता, लेकर दूसरे आदमी को, जो इसका लाभदायक उपयोग कर सकता है, देकर इसको अधिक उत्पादक बनाता है तथा उत्पादन में सहयोग देता है। जो आदमी व्यापार की योग्यता रखते हैं, पर उनके पास इसके लिए पर्याप्त पूँजी नहीं है, वे साख-पत्रों की सहायता से अमीर लोगों से फालतू पूंजी को उधार लेकर उत्पादन में योग दे सकते हैं।

[परन्तु यहाँ यह बात स्मरणीय है कि यद्यपि साख से निस्सदेह उत्पत्ति को सहायता मिलती है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि साख स्वयं उत्पत्ति का साधन है। साख और पूँजी के विषय में बड़ा मत-भेद चलता आया है। कुछ लोगों का विश्वास है कि जिस प्रकार भूमि और श्रम सम्पत्ति-उत्पादन के साधन हैं और सम्पत्ति पैदा करने में सहायता करते हैं उसी प्रकार साख भी सम्पत्ति-उत्पादन का एक साधन है। परन्तु उनका यह विश्वास ठीक

की मात्रा में प्रसार कर मुद्रा की माग की पूर्ति आसानी से की जा सकती है और मंदी आने पर साख की मात्रा को कम किया जा सकता है।

(५) साख की सहायता से व्यक्तिगत तथा सरकारी आर्थिक संकट कुछ समय के लिए दूर किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति या सरकार के पास धन न हो तो वह साख पर रुपया या वस्तुए प्राप्त करके अपनी वर्तमान आवश्यकताओ की पूर्ति कर लेता है और इस रुपये या वस्तुओ के मूल्य का भविष्य में भुगतान कर देता है। और इस तरह अपनी आर्थिक कठिनाइयो का सामना कर सकता है। किसी अर्थशास्त्री का कहना है कि यदि साख नहीं होती तो आज के दिन की औद्योगिक व्यवस्था ही समाप्त हो जाती। उत्पादक कृषक तथा उपभोगी सब ही को समय समय पर अपनी कठिनाइयो को दूर करने के लिये क्रय-शक्ति की जरूरत पड़ती है और जब द्रव्य का अभाव होता है तो साख द्वारा ही द्रव्य की कमी पूरी की जाने लगती है।

साख से हानिया

(The Abuses and Dangers of Credit)

साख से जहाँ इतना लाभ पहुँचता है वहा उससे हानि भी बहुत होती है। साख पर मानवीय नियन्त्रण रहता है और यदि इस नियन्त्रण का सदुपयोग न किया गया तो उसका बहुत बुरा परिणाम हो सकता है। साख के अत्यधिक प्रसार से निम्नलिखित हानियाँ होती हैं —

(१) कभी कभी साख का प्रसार आवश्यकता से अधिक हो जाता है। बैंक अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए रुपया अधिकाधिक मात्रा में उधार देते हैं। इसी तरह विक्रेता अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की लालच में वस्तुए उपभोक्ताओ को उधार देते हैं। सट्टेबाजी का बाजार गरम हो जाता है, इत्यादि, इत्यादि। इन सब कारणो से जब उपज आवश्यकता से अधिक हो जाती है तो बाजार में सभ्रान्ति या मंदी आ जाती है और व्यापार तथा व्यवसाय को बहुत धक्का लगता है। यही कारण है कि यह कहा जाता है कि "Credit is a good servant but a bad master when it teaches its misuse " और हर एक देश में साख पर उचित नियन्त्रण रखने के लिए केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाती है।

(२) साख के आधार पर लोग अपनी वास्तविक कमजोरी को छिपाने में सफल होते हैं और अपने व्यवसाय को बढ़ाते रहते हैं। परन्तु इसका परिणाम भी यह होता है कि अंत में किसी न किसी अवस्था के पश्चात उन्हें उस व्यापार या व्यवसाय में असफलता मिलती है जिससे उन्हें तथा साख पर रुपया देनेवालो को भारी हानि उठाना पड़ता है।

(३) साख के कारण अपव्यय बढ़ता है और ऋणकर्ता बजाय उत्पत्ति पर व्यय करने के उपभोग पर व्यय करने लगते हैं। भारत में इतना अधिक मात्रा में ग्रामीण ऋणग्रस्तता का एकमात्र कारण यही है। कृषक उत्पादन कार्य के अतिरिक्त महाजन से उपभोग के लिए रुपया साख पर लेता है और फिर इसका भुगतान नहीं कर पाता। उसकी मितव्ययिता की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और अपव्यय के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

(४) देश के उद्योग धंधों में साख के प्रसार से एकाधिकार संस्थाएँ स्थापित हो जाना है। छोटे छोटे पूँजीपतियों का अंत होने लगता है क्योंकि वह इन बड़ी बड़ी संस्थाओं से प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाते। ये संस्थाएँ (monopolies, trusts and combinations) न केवल वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देने में सफल होती हैं बल्कि श्रमिकों का शोषण भी करती हैं और हर प्रकार के प्रयत्न करके विरोधियों को समाप्त कर देती हैं। फलतः समाज में सम्पत्ति के विभाजन में भारी विषमता आ जाती है।

स्पष्ट है कि प्रत्येक देश में साख पर उचित नियंत्रण रहना चाहिए ताकि उसका दुरुपयोग न हो और देश को भारी आर्थिक संकट का सामना न करना पड़े।

साख-पत्र

(*Credit Instruments*)

भविष्य में रुपया चुकाने के लिए जो आश्वासन-पत्र या प्रतिज्ञा-पत्र दिये जाते हैं उनको अर्थशास्त्र की भाषा में साख पत्र (Credit Instruments) कहते हैं। वह कई प्रकार के होते हैं जिनमें से मुख्य नीचे दिये जाते हैं —

(अ) चैक्स (Cheques)

(ब) बिल्स आफ एक्सचेंज (Foreign Bills of Exchange)

(स) हुंडी (Inland Bills of Exchange)

(द) बैंक के ड्राफ्ट (Bank Drafts)

(इ) प्रामिसरी नोट (Promissory Notes)

इनके अतिरिक्त, सरकारी नोट (Government Notes) व सरकारी ऋण पत्र (Treasury Bills) इत्यादि भी साख-पत्र कहलाते हैं।

यह सब पत्र किसी एक व्यक्ति, संस्था या सरकार की ओर से लिखित वायदे होते हैं कि वह उसमें लिखित रकम को अमुक समय, अमुक व्यक्ति को दे देगा और यह सब आजकल द्रव्य का काम करते हैं। तो भी साख-पत्र और मुद्रा में दो भेद हैं (अ) मुद्रा की तरह साख-पत्र कानूनी नहीं होते—एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मुद्रा स्वीकार करने के लिए कानूनन बाध्य कर सकता है पर साख-पत्रों के लिए ऐसी बात नहीं है (ब) मुद्रा की तरह यह सर्वमान्य भी नहीं होते। इनका स्वीकार किया जाना विश्वास पर निर्भर रहता है। यदि साख-पत्र के लेनेवाले को यह विश्वास नहीं है कि इसके बदले में रुपया मिल सकेगा तो वह उसको अस्वीकार कर देगा इत्यादि इत्यादि।

चेक

(*Cheque*)

चेक एक लिखित आज्ञा है जो बैंक में जमा करनेवाला अपने बैंक के नाम जारी करता है और जिसमें उस बैंक को आज्ञा रहती है कि वह उस व्यक्ति को जिसका नाम

(५) उन चेकों के भुगतान पर जो दूसरे स्थानों के होते है बहुत थोड़ा बैंक कमीशन देना पड़ता है परन्तु मनीआडर पर उससे कही अधिक कमीशन देना होता है।

(६) चेकों के भुगतान पर मुद्रा-परिवर्तन बहुत कम होता है, केवल खातो मे जमा-खर्च हो जाता है। जैसे राम ने १००० रु० का चेक कृष्ण को सेण्ट्रल बैंक आफ इंडिया पर दिया। अब यदि दोनो का हिसाब उस बैंक में है तब राम के खाते में से १००० रु० घट जायेंगे और कृष्ण के हिसाब में बढ़ जायेगे। रुपया इधर से उधर करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी।

(७) बैंक में हिसाब रखने वाले को घर में बड़ी रकम रखने की और चोरो और डाकुओं से खतरा होने की आवश्यकता नहीं।

चेक दो प्रकार के होते हैं—एक बेअरर चेक (bearer cheque) दूसरा आडर चेक (order cheque)। यदि चेक के ऊपर बेअरर शब्द लिखा हो तो चेक का रुपया, बैंक में चेक ले जानेवाले व्यक्ति को चाहे वह कोई भी व्यक्ति हो, दे दिया जायगा पर यदि चेक पर बेअरर शब्द काटकर आडर शब्द लिख दिया गया हो तो जिस व्यक्ति के नाम पर चेक होगा, उसको ही या जिसे वह आदेश करे, उसको बैंक पहचानने के बाद रुपया देगी। रुपया पाने के पूर्व प्रत्येक दशा में पानेवाले को चेक के पीछे सही (हस्ताक्षर) करना पड़ता है—यदि भोक्ता चेक के पीछे यह शब्द लिख दे 'यह रुपया अमुक व्यक्ति को दिया जावे'(Pay to .) और सही कर दे तो उस चेक का रुपया दूसरे व्यक्ति को मिल जायगा। इसी प्रकार कभी-कभी एक चेक द्वारा कई-कई आदमियो के ऋण का भुगतान हो जाता है।

बहुधा लोग जालसाजी और धोखे से बचने के लिए चेक के बायें कोने पर दो तिरछी समानान्तर रेखाएँ खीच देते हैं—इस तरह के चेक को क्रॉस्ड चेक (crossed cheque) कहते हैं—ऐसी हालत में चेक का रुपया नकद नहीं मिल सकेगा। यह चेक किसी न किसी बैंक के द्वारा ही भुनाया जा सकता है। यदि पानेवाले का हिसाब किसी बैंक में है, तो वह बैंक उस चेक का रुपया उसके हिसाब में जमा कर देगा, पर यदि उसका हिसाब किसी बैंक में नहीं है, तो वह उस चेक को किसी अन्य ऐसे व्यक्ति को बेच देगा, जिसका हिसाब बैंक मे है और उसकी सहायता से ही उसको रुपया मिल सकेगा अन्यथा नहीं। क्रासिंग भी दो प्रकार का होता है—(१) साधारण क्रासिंग (general crossing) और (२) विशेष क्रासिंग (special crossing)। साधारण क्रास्ड चेक का रुपया बैंक के द्वारा ही मिलता है और बैंक के हिसाब मे जमा हो जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि किसी एक विशेष बैंक के द्वारा ही रुपया लिया जाय—वह किसी भी बैंक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु विशेष क्रासिंग का अर्थ यह है कि ऐसा क्रास्ड चेक उसी बैंक में चालू खाता रखनेवाले के हिसाब में जमा हो सकता है, जिस बैंक का नाम लाइनो के भीतर लिखा गया है, दूसरे बैंक के द्वारा रुपया नहीं मिल सकता।

साधारण क्रासिंग के उदाहरण

---

or

& Co

---

or

Not Negotiable

---

or

Under Fifty Rupees

विशेष क्रासिंग के उदाहरण

Allahabad Bank 'Ltd'

---

or

Not Negotiable
Allahabad Bank 'Ltd'

---

or

Allahabad Bank 'Ltd'
for account of payee only

बिल आफ एक्सचेंज

(Bill of Exchange)

यह भी एक प्रकार का साख-पत्र है, जिसके भीतर लिखनेवाला एक बन्धन-रहित आज्ञा अपने कर्ज़दार या उधार पर अपनी वस्तुएँ मोल लेनेवाले को एक निश्चित रकम को स्वयं उस अथवा किसी अन्य व्यक्ति को उस अन्य व्यक्ति के आज्ञापत्र या वाहक को मांगने पर या निश्चित अवधि के समाप्त होने पर देने को देता है, जिसको इस साख-पत्र में आज्ञा दी जाती है और जिसे इस आज्ञा को स्वीकार करना होता है।*

---

*A bill of exchange is an instrument in writing, containing an unconditional order, signed by the maker, directing a certain person, to pay a certain sum of money only to, or to the order of a certain person. It is drawn by the creditor on his debtor, requesting him to pay the amount of the debt to a third person, mentioned in the bill. The creditor is known as the 'drawer' of the bill and the debtor as the 'drawee'. The person to whom the money is to be paid is known as the 'payee'.

SPECIMEN OF A BILL OF EXCHANGE

Rs 500/- Kanpur 15th May, 1957

STAMP

Three months after sight pay to Nand Kishore or order the sum of five hundred rupees only, for value received

ACCEPTED RAM KISHORE

Satyanand

To,

Sri Ram Kishore, Gupta,
81 Chauk Lucknow

ऊपर के बिल में सत्यानन्द बिल लिखनेवाले हैं जो ऋणदाता या माल-विक्रेता हो सकते हैं। रामकिशोर के ऊपर बिल लिखा गया है, जो ऋणकर्ता अथवा माल-क्रेता हैं। उनको आज्ञा है कि ५००) तीन महीने के बाद नन्दकिशोर को दे द। इस आज्ञा को रामकिशोर ने लाल स्याही से स्वीकार किया है।

बिल आफ एक्सचेंज देशी और विदेशी दो प्रकार के होते हैं, जिनके उदाहरण आगे दिये हैं।

देशी बिल (Inland Bills) वे होते हैं, जिनके लिखनेवाले, पानेवाले और स्वीकार करनेवाले एक देश में ही रहते हैं, परन्तु जब उनमें से सभी अथवा कोई एक विदेश में हो तब वे विदेशी बिल (Foreign Bills) कहलाते है। और यह दोनो तरह के बिल भी दो प्रकार के होते हैं (१) दर्शनी (Sight Bills), (२) मुद्दती या सामयिक (Time Bills or Usance Bills)। मुद्दती बिल की अदायगी के लिए निश्चित समय से तीन दिन अधिक दिये जाते है जिनको रियायत के दिन (days of grace) कहते हैं।

INLAND BILL

Rs 2,500/- Agra,
17 Jan 1958

Stamp

Three months after date pay to Sri Dau Dayal or order the sum of two thousand and five hundred rupees only, value received

Ram Das Agrawal

To

Sri Kishan Lal Sharma,
Indore

FOREIGN BILL

(First of Exchange)

J 56/8/9 Birmingham,
20th May, 1958

Stamp

Sixty days after date of this first of Exchange (Second and Third of the same tenor and date unpaid) pay to the order of the Llyod's Bank Ltd, the sum of fifty six pounds eight shillings and nine pence only, value received

For the B S A Ltd,
John Smith
Secretary

To
Messrs Friend & Co Ltd,
32, Chandni Chowk,
Delhi

(Second of Exchange)

J 56/8/9 Birmingham,
20th May, 1958

Stamp

Sixty days after date of this Second of Exchange (First and Third of the same tenor and date unpaid) pay to the order of the Llyod's Bank Ltd, the sum of fifty six pounds eight shillings and nine pence only, value received

For the B S A Ltd,
John Smith
Secretary

To
Messrs Friend & Co Ltd,
32, Chandni Chowk,
Delhi

जैसा हम चैक के सम्बन्ध में बता चुके हैं वैसे ही बिल के व्यवहार से मुद्रा के उपभोग में बचत होती है और व्यापार में वृद्धि होती है। चैक का व्यवहार तो एक देश के भीतर ही होता है, परन्तु बिल का व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी

होता है जिसके कारण माल की कीमत के भुगतान के लिए प्रामाणिक सिक्कों और रजत और स्वर्ण की सिल्ली को एक देश से दूसरे देश को भेजने की आवश्यकता नहीं होती।

मान लीजिए कि एक व्यापारी क १५००० रु० का माल भारतवर्ष से ख व्यापारी के पास इंगलैंड को भेजता है। ग एक दूसरा भारत का व्यापारी इंगलैंड से १००० पौंड का माल घ से मँगाता है। क को ख से १५००० रु० पाना है और घ को ग से १००० पौंड पाना है। यदि ऐसा हो जाय कि ख व्यापारी १५००० रु० इंगलैंड में घ को दे दे और भारतवर्ष में ग १००० पौंड का भुगतान क को कर दे तब सबकी देनदारी का भुगतान हो सकता है, शर्त यह है कि १००० पौंड बराबर १५००० रु० के हों। यह तब हो सकता है जब निम्न प्रकार से बिल का व्यवहार हो —क, भारत में रहनेवाला, एक बिल ख, जो इंगलैंड में रहता है, पर १५००० रु० का लिखे। वह उस बिल को ग के हाथ बेच दे जो कि भारतवर्ष में रहता है। अब ग जो रुपए का भुगतान क को कर देता है बिल को इंगलैंड के रहनेवाले अपने ऋणदाता घ के पास भेज दे और घ उस बिल को लेकर अपने ऋणी ख के पास इंगलैंड में जाय और उससे अपनी रकम का भुगतान पौंडों में करा ले। इस प्रकार से ग को रुपया देने में आसानी होगी और ख को पौंड देने में और क और घ भी सन्तुष्ट रहेंगे, क्योंकि उनको भुगतान स्वयं अपने देश की मुद्रा में प्राप्त हो जायगा और इस प्रकार केवल एक ही बिल से चारों का काम बन जायगा, रुपया या पौंड इधर से उधर भेजने की आवश्यकता नहीं होगी। "Bills of Exchange are not so much a means of making international payment, as of rendering international payments unnecessary."—Crowther.



इँगलैंड म

ऊपर के उदाहरण में रकम एक ही है, परन्तु रकम और बिल की अवधि दोनो पक्षों के लिए अनुपयुक्त हो सकती है। ऐसी दशा मे दुहरा सयाग प्राप्त करने के लिए ढूंढना बडा कठिन हो सकता है। इसलिए व्यावहारिक जगत् में सभी पक्ष बैंक का सहारा लेते है। बैंक सभी रकमो और सभी अवधियो के बिल मोल लेने और बेचने को तैयार रहते है। अपनी देनदारी को चुकाने के लिए ऋणी व्यापारी बैंको से अपनी सुविधानुसार बिलो को मोल लेकर अपने ऋणदाता के पास भेज देते हैं। [इस प्रकार के बिल बैंकर्स ड्राफ्ट (Banker's Drafts) या बैंको की हुडियाँ कहलाते है और ऐसे ड्राफ्ट देनवाली बैंको की या तो विदेशी शाखाएँ होती हैं अथवा उनसे सम्बन्धित बैंक होते हैं, जो उनके ड्राफ्टो का भुगतान करते हैं।] इसी तरह ऋणदाता या बिल लिखनेवाले व्यापारी अपने बिलो को बट्टे पर बैंको के हाथ बेच देते हैं और रुपया ले लेते हैं, जो बैंक बाद में ऋणी से वसूल करते हैं।

हुडियाँ

यह भारतीय ढग के बिल आफ एक्सचेंज (Bill of Exchange) हैं जिनका प्रयोग देश में ही होता है (Inland), विदेश में नहीं। यह प्राय हिन्दी, मुडी, महाजनी या किसी अन्य भारतीय भाषा में ही लिखी जाती हैं और सर्राफो, बैंको और महाजनो को बट्टे पर बेची जाती हैं।

हुंडियों के नमूने

(*Specimen Forms of a Hundi*)

(१) दर्शनी हुंडी

श्रीगणेशाय नम

सिद्धि श्री अलीगढ सुभस्थान श्री पत्री भाई नरसिंह ज्वालाप्रसाद जोग लिखी चन्दौसी सेती सेठ नरायनदास डोरीलाल की जय गोपाल बचना। अपरच हुण्डी किता नग एक आपके ऊपर करी। रुपैया २०००, अकन रुपैया दो हजार नीमे रुपैया एक हजार के दून पूरे देना। यहाँ रखा भाई ईश्वरदास लछमनदास के मिती फागुन सुदी नौमी, तुरन्त शाह जोग रुपया चलन बाजार हुडी की रीति ठिकाने लगाय चोकस कर दाम देना। हुडी लिखी मिति फागुन सुदी नौमी सवत् २००५

हस्ताक्षर नरायनदास डोरीलाल

[उपर्युक्त हुडी के पक्ष निम्न प्रकार हैं—
हुडी लिखनेवाला (drawer)—नरायनदास डोरीलाल, चन्दौसी
जिसके ऊपर हुडी लिखी गई (drawee)—नरसिंह ज्वालाप्रसाद, अलीगढ
रकम पानेवाला (payee)—ईश्वरदास लछमनदास, अलीगढ़]

मितीदार हुंडी

ओ३म्

सिद्धि श्री कानपुर शुभस्थान श्री पत्री भाई उत्तमचन्द प्रेमचन्द जोग लिखी अलीगढ से ज्वालाप्रसाद केदारीमल की राम राम बचना। अपरंच हुंडी किता एक आपके ऊपर करी। रुपैया २००० नीमे रुपैया एक हजार के दूना पूरा यहाँ रखा बद्रीदास करोडीमल पास। मिती चैत सुदी १२ से ६१ दिन पीछे नामे धनी जोग हुंडी चलन दीजे। हुंडी लिखी चैत सुदी १२ संवत् २००५

(हुंडी के पीछे लिखा होगा
नीमे का रुपैया पांच सौ का चौगुना पूरा रुपैया दो हजार कर दीजें।
२००० रु०
श्रीपत्री भाई उत्तमचन्द प्रेमचन्द, कानपुर।)

[इसमें पक्ष निम्न प्रकार है —
हुंडी लिखनेवाला (drawer)—ज्वालाप्रसाद केदारीमल अलीगढ
जिस पर हुंडी लिखी गई (drawee)—उत्तमचन्द, प्रेमचन्द, कानपुर
रुपया पानेवाला (payee)—बद्रीप्रसाद करोडीमल, अलीगढ]
हुंडियाँ भी कई प्रकार की होती हैं—

(१) **शाह जोग हुंडी**—केवल शाह या साहू को ही उसका भुगतान मिल सकता है। हुंडी का पानेवाला यदि साहू नही है तो उसका रुपया उसको नहीं मिल सकता।

(२) **धनी जोग हुंडी**—जिसकी अदायगी केवल उसी व्यक्ति को हो सकती है जिसका नाम रुपया पानेवाले के स्थान पर लिखा है। इसका बेचान नहीं हो सकता।

(३) **देखनहार हुंडी**—जिसका भुगतान वाहक (bearer) को मिल सकता है इसमें ऋणकर्त्ता की जिम्मेदारी बहुत कम रह जाती है।

(४) **फरमान जोग हुंडी**—इसका बेचान हो सकता है और जिसको रकम प्राप्त करनेवाला अनुमति (order) दे उसको रुपया मिल सकता है।

बैंक ड्राफ्ट
(Bank Draft)

बैंक ड्राफ्ट भी एक तरह का साख-पत्र होता है जो एक बैंक दूसरे बैंक के नाम या अपनी दूसरी शहर की शाखा के नाम जारी करता है, दूसरे शब्दो मे यह बिल आफ एक्सचेंज होता है, जिसमें एक बैंक दूसरे बैंक को या अपने दूसरे शहर की शाखा को आदेश देता है कि वह अमुक व्यक्ति को अमुक रकम दे दे।*

*A bank draft is a bill of exchange, drawn by one bank on an another bank, or on its own branch at a different place, asking it to pay a certain amount, specified in the instrument to the person named or his order, on demand, for value received.

जो मनुष्य किसी दूसरे स्थान को रुपया भेजना चाहते हैं, वे बहुधा रुपया ड्राफ्ट द्वारा ही भेजते हैं। रुपया भेजनेवाला भेजी जानेवाली रकम को बैंक के पास ले जायगा और उसे वहाँ जमा कर देगा, उसके बदले में बैंक उसको एक ड्राफ्ट देगा (कुछ कमीशन या डिस्काउन्ट लेने के बाद)। वह इस ड्राफ्ट को जिसे रुपया भेजना है, उसके पास डाक द्वारा भेज देगा। रुपया पाने वाला इस ड्राफ्ट को उस पर लिखित बैंक में ले जायगा और ड्राफ्ट के बदले रुपया प्राप्त कर लेगा।

ड्राफ्ट का एक नमूना

(SPECIMEN FORM OF A DRAFT)

THE STATE BANK OF INDIA

Aligarh 1958

No. ..

Rs . .

On Demand Pay to, ...

. . . . or order Rupees . . . .

. . . value received

For State Bank of India

. . . . ..Agent.

To

The State Bank of India, Bombay.

[बैंक ड्राफ्ट भी दो प्रकार का होता है —(१) देशी, जिसकी सहायता से एक स्थान का रुपया देश के अंदर किसी भी दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है। (२) विदेशी—जिसकी सहायता से रुपया विदेश भेजा जा सकता है।]

प्रतिज्ञा या प्रोनोट

(*Promissory Note*)

यह भी एक प्रकार का साख-पत्र होता है जिसके भीतर इसका लिखनेवाला अपने हस्ताक्षर के अन्तर्गत एक निश्चित रकम को किसी निश्चित व्यक्ति को अथवा उसके आज्ञा-पात्र को अथवा वाहक को देने की एक शर्तरहित प्रतिज्ञा करता है।*

प्रत्येक प्रॉमिसरी नोट में दो पक्ष होते हैं, एक तो वह जो प्रोनोट लिखता है, दूसरा वह जिसके नाम प्रोनोट लिखा जाता है। पहले को लिखनेवाला या कर्ता और दूसरे को पानेवाला या भोक्ता कहते हैं।

*A promissory note is an instrument in writing containing an unconditional undertaking signed by the maker to pay a certain sum of money only to, or to the order of, a certain person, or the bearer of the instrument.

प्रॉमिसरी नोट दो प्रकार का होता है—एक दर्शनी, दूसरा मुद्दती। जब लिखनेवाला तुरत भुगतान का वादा करता है, तो उसे दर्शनी और जब कुछ समय बाद भुगतान का वादा करता है, तो उसे मुद्दती नोट कहते हैं। प्रत्येक प्रॉमिसरी नोट पर रकम के अनुसार टिकट लगा होता है और टिकट पर लिखनेवाले के हस्ताक्षर रहते हैं। यदि रकम पर कुछ ब्याज ठहरता है, तो वह भी उसमें लिखा होता है।

प्रॉमिसरी नोट का एक नमूना नीचे दिया जाता है —

(Specimen Form of a Promissory Note).

Bombay
April 5th, 1955

Rs. 500/-

On demand I promise to pay Sri Raj Nath ji, or order, the Sum of Rupees Five Hundred only, with interest at 6 per cent per annum, for value received

Shyamlal

[Stamp]

साख संस्थाएँ
(Credit Institutions)

आधुनिक जगत में साख के भरोसे पर ही पूँजी विभिन्न साख संस्थाओं द्वारा सृजन की जाती है और उधार बाँटी जाती है जिससे कि व्यापार की वृद्धि हो और उद्योग-धंधों की उन्नति हो। इस प्रकार से पूँजी का एकत्रित और वितरण होना विभिन्न व्यक्तियों, संस्थाओं और राष्ट्रों के बीच में होता है। यदि बचत, लागत और पूँजी का बहाव साख संस्थाओं के अभाव में बंद हो जाय तो राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा नाना प्रकार के औद्योगिक व्यवहार कुंठित हो जावेंगे और संसार फिर पीछे चला जावेगा। मुख्य साख संस्थाएँ निम्न प्रकार हैं—बैंक, बीमा कम्पनियाँ, स्टाक एक्सचेंज, सरकारें इत्यादि। इनमें से बैंक सबसे अधिक प्रसिद्ध है और किसी भी देश की आर्थिक उन्नति में इस आधुनिक काल में बैंकों का प्रमुख हाथ होता है।

बैंक की परिभाषा
(Definition of Bank)

एक बैंक को हम साख में व्यापार करनेवाली संस्था कह सकते हैं जिसका काम साख का सृजन करना और साख की वृद्धि करना है ("Any institution dealing in credit is a *bank*")। बैंक मुद्रा को धरोहर के रूप में स्वीकार करती हैं उस मुद्रा को फिर रखनेवालों को देती हैं और उधार चाहनेवालों को उधार देती हैं। वे हुंडियों और

बिल्स आफ एक्सचेंजों को मोल लेती हैं और बेचती हैं तथा नाना प्रकार के साख-सम्बन्धी व्यवहारों को करती हैं। बैंक की परिभाषा इस प्रकार की जाती है "an establishment where money is received on deposit, to be repaid, and where loans are negotiated, bills discounted and other financial business conducted," और उसका मुख्य कार्य होता है "pooling together of the savings of the masses into a central reservoir and the directing of that through small streams and rivulets into productive channels of agriculture, commerce and industries" इन कार्यों का विवरण हम विस्तारपूर्वक आगामी अध्याय में करेंगे।

Questions

1. Discuss the effect of credit on production. Can credit be regarded as an independent factor of production? (Agra 1949)

2 What are the advantages of credit to modern commerce and industry? (Agra B Com 1958) What are the factors on which its expansion or contraction depends?

3. Write short notes on —

   Bill of Exchange (Agra 1953, 51s., Rajputana 1955)
   Banker's Drafts.

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(INTERNATIONAL TRADE)

५२

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त

(The Theory of International Trade)

आन्तरिक व्यापार (Internal Trade) या घरेलू व्यापार (domestic trade) का तात्पर्य उस व्यापार से है जो देश के भीतर होता है, जैसे देहली और बम्बई के बीच होनेवाला व्यापार। अतर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade) अथवा विदेशी व्यापार (foreign trade) का तात्पर्य उस व्यापार से है जो दो अथवा अधिक देशो के बीच होता है, जैसे भारत और इंगलैंड के बीच होनेवाला व्यापार।

ससार अनेक देशो में बँटा हुआ है और प्रत्येक देश अपनी सब आवश्यकताओ को एक साथ पूरा नही कर पाता, अत सब देश एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए भारत अमेरिका से मशीन तथा अन्न मँगाता है और बदले में कपडा भेजता है। भारत और अमेरिका के बीच होनेवाले इस व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहा जाता है। (यहाँ हमको यह नहीं समझना चाहिए कि यह व्यापार दो सरकारो के बीच में ही होता है। हमारा यहाँ मतलब उस व्यापार से है जो अलग अलग सरकारो के अधीन दो देशो की जनता के बीच होता है।)

अन्तर्प्रदेशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(*Inter-Regional and Internatı**o**nl Trade*)

सभी व्यापार अतस्थानीय (Inter-local) होता है अर्थात् अलग अलग स्थानों के रहनेवाले व्यक्तियो के बीच। जब इन स्थानो की दूरी काफी होती है, तो हम इसे अतर्प्रदेशीय (Inter-regional) व्यापार कहते हैं और जो व्यापार विभिन्न राज्यो में रहनेवाले दो व्यक्तियों के या पक्षों के बीच में होता है उसे अतर्राष्ट्रीय (Inter-national) व्यापार कहते हैं। इस प्रकार अतर्राष्ट्रीय व्यापार अतर्प्रदेशीय व्यापार का ही आगे बढा हुआ रूप है। दूसरे शब्दो में दोनों एक ही हैं—सिवाय इस अतर के कि अतर्राष्ट्रीय व्यापार जिन दो पक्षो के बीच होता है, वे दो अलग अलग सरकारो के अधीन होते हैं। उदाहरण के लिए, बगाल करांची को कोयला और लोहा भेजता है। जब यह दोनो प्रान्त—बगाल और करांची विभाजन से पूर्व एक ही देश में थे अथवा यो कहिए कि एक ही सरकार के अधीन थे, तब यह व्यापार अंतर्प्रदेशीय ही था। पर जब से देश का विभाजन हो गया अर्थात् बगाल भारत में गया, करांची पाकिस्तान में, और दोनों प्रदेश अलग अलग राजनीतिक सरकारो के अधीन हो गये, तब से यह व्यापार अतर्राष्ट्रीय माना जाता है।

आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(*Internal and International Trade*)

हम कह चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और अन्तर्प्रदेशीय व्यापार में कोई सिद्धांतो का अन्तर नहीं है। अर्थशास्त्र के जो नियम भारत में काम करते हैं, वही पाकिस्तान के लिए लागू हैं—वही फ्रास के लिए भी, वही जापान के लिए भी, और वही अन्य देशों के लिए भी। उदाहरण के लिए घटती उपज का नियम सभी जगह लागू होता है। इसी प्रकार श्रम-विभाजन का नियम दोनों ही प्रकार के व्यापारो में लागू होता है—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, श्रम विभाजन का बढ़ा हुआ रूप है (International trade is an extension of the principle of specialisation and division of labour)। दर्जी स्वय अपने जूते नही बनाता उन्हें चमार से ही खरीदता है, चमार अपने कपड़े स्वय न बनाकर दर्जी से बनवाता है। इजीनीयर अपना पखा स्वय नही बनाता, डाक्टर अपना नुस्खा आप ही नही तैयार करता। किसी कालेज का प्रिंसिपल चाहे अपन क्लर्क से अच्छा ही टाइप कर सकता हो, पर खुद टाइप नही करता, वह उसे क्लर्क से कराता है और अपना समय प्रबन्ध कार्य में ही लगाना ठीक समझता है। कहने का तात्पर्य है कि लोग उसी कार्य को करते हैं जिसे कि वे और सब कार्यों की अपेक्षा अधिक अच्छा कर सकते हैं। इसी प्रकार एक देश भी उसी कार्य में विशेषता प्राप्त करता है, जिसे वह सबसे अच्छा कर सकता है। इंगलैंड डेन्मार्क की अपेक्षा मक्खन और कपड़ा दोनों ही अधिक तैयार कर सकता है, फिर भी वह कपड़ा ही तैयार करता है, क्योंकि वह मक्खन की अपेक्षा कपड़ा अधिक अच्छा तैयार कर सकता है। और डेन्मार्क केवल मक्खन ही तैयार करता है (क्योंकि वह कपड़े की अपेक्षा मक्खन अधिक अच्छा तैयार कर सकता है)।

तो भी इन दोनों प्रकार के व्यापारो में कुछ अन्तर है। हम उसे संक्षेप में नीचे देते हैं —

(१) पूंजी और श्रम देश के अन्दर एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से आ-जा सकते हैं, पर विभिन्न देशों के बीच अनेक कारणों—राष्ट्रीय सरकारो के प्रतिबन्ध, भाषा व रहन-सहन, जलवायु की विभिन्नता आदि आदि—से ऐसा नहीं हो पाता। श्रमिक एक देश को छोड़कर दूसरे देश में इसलिए नहीं जाना चाहते कि अलग अलग जगह पर अलग अलग भाषाएँ, रहन-सहन के ढग, रीति-रिवाज आदि होते हैं, और आने-जाने में भी व्यय करना पड़ता है। यही कारण है कि एक अँगरेज अपने ही देश में रहना अधिक पसन्द करता है और एक भारतीय भारत में ही। इसी तरह पूँजीपति अपनी पूँजी अपने देश में ही लगाना उचित समझता है क्योंकि बाहर की अपेक्षा वह वहाँ सुरक्षित रहती है, उसकी देखभाल की जा सकती है। और फिर दूसरे देश के नियम आदि भी अलग अलग होते हैं। इसके अतिरिक्त राजनैतिक कारणों से भी कई बार सरकारें श्रम और पूँजी के आने-जाने में बाधा डालती हैं। और इन सब बातो का परिणाम यह होता है कि प्रतियोगिता रुकती है और सब देशो में एक सी वस्तुओं की लागत एक सी नहीं हो पाती।

(२) भिन्न-भिन्न देशों में, प्राकृतिक साधन भिन्न-भिन्न होते है। उदाहरण के लिए कोई देश खनिज पदार्थ जैसे कोयला और लोहे में धनी है, तो किसी देश की जलवायु किसी विशेष फल के लिए उपयुक्त है। ऐसी स्थितियाँ बदली नहीं जा सकती।

(३) किसी एक देश के भीतर न तो कोई आयात-निर्यात कर की रुकावट रहती है और न व्यापार पर ही प्रतिबन्ध लगता है, फलत व्यापार स्वतंत्रता से चलता है। परन्तु जब एक देश बाहरी देश से व्यापार करता है, तो उसमें बहुत सी रुकावटें पडती हैं, क्योंकि हर एक देश अपने अपने कानून बनाता है, तरह तरह के कर लगाता है और वस्तुओं के इधर से उधर जाने में तरह तरह की बाधा डालता है। उदाहरण के लिए, पाकिस्तान अपने कच्चे पटसन के बदले में भारत से पटसन मँगाने को तैयार नही है।

(४) प्रत्येक देश की द्रव्य-पद्धति अलग-अलग होती है, और जब देशो के बीच में वस्तुओ का विनिमय होगा, तब अन्य समस्याओ के साथ दर की समस्या भी उठेगी। अर्थात् यह सोचना पडेगा कि एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा से किस दर पर विनिमित होगी। उदाहरण के लिए, भारत ने स्टर्लिंग में अपने रुपये की कीमत कम कर दी, परन्तु पाकिस्तान ने नही की—और स तरह दोनो देशों के व्यापार में नई उलझन आ गई।

(५) एक देश में रहनेवाले किसी दूसरे देस की आर्थिक दशा का ठीक ठीक अनुमान नही लगा पाते। इसका भी परिणाम यह होता है कि देशो के व्यापारियों के बीच प्रतिस्पर्धा कम हो जाती है।

यही सब कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अलग विवेचन करने की आवश्यकता होती है। [परन्तु आधुनिक विचारधारा इसके विपरीत है। उनका कहना है कि "The fundamental principle of international trade is to be found in the general theory of value and there is basically no difference between internal and foreign trade"]

अतर्राष्ट्रीय व्यापार क्यो होता है ?

(Why International Trade takes place? How it Arises?)

अतर्राष्ट्रीय व्यापार के होने का प्रमुख कारण यह है कि उत्पत्ति के साधन जगह जगह असमान अनुपात से बँटे हुए हैं। उदाहरण के लिए, कुछ जगह की जलवायु किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त होती है और किन्ही जगहो पर खनिज पदार्थ होते हैं जो और कही नही पाए जाते। इसी प्रकार कुछ जगहो पर श्रम और पूजी की बहुतायत है और दूसरी जगह पर नही, इत्यादि, इत्यादि।

यदि जलवायु और साधन सब जगह एक जैसे होते और यदि चीजो की लागत सब जगह एक सी होती, तो भौगोलिक श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण से व्यापार में कोई

लाभ न होता। परन्तु चूंकि इन सबमें विभिन्नता पाई जाती है, इसी कारण देश-देश में व्यापार होता है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार निम्नलिखित तीन परिस्थितियों में हो सकता है —

(१) निरपेक्ष लाभ (Absolute Advantage) के कारण—निरपेक्ष लाभ उस स्थिति में होता है, जब एक देश एक वस्तु का उत्पादन कर सकता है दूसरा नहीं कर सकता, और पहला देश दूसरे देशों से इसलिए व्यापार करता है कि कुछ वस्तुएँ जो उसके यहाँ बहुतायत से होती हैं और जिनका वह उपयोग नहीं कर सकता, उनको देकर वह उन वस्तुओं को ले सके, जिनका उसके यहाँ अभाव रहता है। उदाहरण के लिए, भारत को पटसन में, पूर्वी भारत को रबर में, दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया को सोने में एकाधिकारिता प्राप्त है, परन्तु ये चीजें दूसरे देशों में नहीं पाई जाती, इसलिए इनका निर्यात उन जगहों पर होना, जहाँ वे नहीं पाई जाती, स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि भारत में पेट्रोल बाहर से मँगाया जाता है और पाकिस्तान कोयला भारत व अन्य देशों से मँगाता है।

(२) सापेक्ष लाभ (Relative Advantage) के कारण—सापेक्ष लाभ उस स्थिति में होता है, जब कोई देश वस्तुओं का उत्पादन तो कर सकता है, परन्तु उतने सस्ते दामों पर नहीं जितने पर कि कोई और देश कुछ कारणों से कर सकता है। उदाहरण के लिए ताँबा अमेरिका में भी खानों से निकाला जा सकता है, परन्तु उतने कम खर्च पर नहीं, जितने पर कि चिली में। इसी प्रकार अमेरिका में चिली की अपेक्षा कम दामों में कपास पैदा की जा सकती है। ऐसी अवस्था में यह अमेरिका के आर्थिक हित में होगा कि वह केवल कपास पैदा करे और इसके बदले में चिली से ताँबा ले ले। और चिली के लिए यह अधिक हितकर होगा कि वह ताँबे के उत्पादन तथा बिक्री में विशेषता प्राप्त करे और उसके बदले में कपास ले ले। इस प्रकार दोनों ही देशों में ताँबा और कपास अधिक मात्रा में और अपेक्षाकृत सस्ते दामों में प्राप्त किया जाता है।

(३) तुलनात्मक लाभ (Comparative Advantage) के कारण—तुलनात्मक लाभ उस स्थिति में होता है जिसमें कि एक देश दो (या दो से अधिक) वस्तुएँ दूसरे देश की अपेक्षा कम लागत व्यय पर उत्पन्न करता है, परन्तु फिर भी केवल एक वस्तु का उत्पादन करता है और दूसरी वस्तु का दूसरे देश से आयात करता है, क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से ऐसा करने में ही अधिक लाभ मिल सकता है।

यह विश्वास करना कठिन है कि कैसे एक देश जो दोनों वस्तुएँ दूसरे देश की अपेक्षा सस्ती बनाता है, उन दोनों को न बनाकर एक को ही उत्पन्न करेगा और दूसरी वस्तु दूसरे देश से मँगायेगा जहाँ कि वह अधिक लागत पर उत्पन्न होती है। परन्तु बात ऐसी ही है और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार प्राय ऐसी दशा में ही होता है। उदाहरण के लिए इंगलैंड डेन्मार्क की अपेक्षा कपड़ा और मक्खन दोनों ही सस्ता तैयार कर सकता है, पर वह कपड़ा ही तैयार करता है और मक्खन डेन्मार्क से मँगाता है। इसका कारण यह है कि,

यद्यपि इंगलैंड को दोनो वस्तुओं में डेन्मार्क की तुलना में लाभ है, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से यह लाभ कपडे में मक्खन से अधिक है, कपडा मक्खन से अधिक सस्ता पडता है। डेन्मार्क में कपडा और मक्खन दोनो ही मँहगे बनते हैं, इसे दोनो में घाटा है किन्तु मक्खन कपडे की अपेक्षा कम मँहगा पडता है, तुलनात्मक दृष्टि से इसमें कम घाटा है। अत: इंगलैंड अधिक सस्ती वस्तु अपने यहाँ बनाकर कम सस्ती वस्तु को डेन्मार्क से मँगाता है और डेन्मार्क कम मँहगी वस्तु को अपने यहाँ बनाकर अधिक महँगी वस्तु को इंगलैंड से मँगाता है और इससे दोनो देशो को लाभ होता है। इसे ही तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त कहते है, जिसका विवरण नीचे विस्तार-पूर्वक किया गया है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धात
(*Principle of Comparative Costs*)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तह में सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि हरएक देश उन चीजो को उत्पन्न करता है जिन्हें वह सबसे सस्ती उत्पन्न कर सकता है और उन चीजो को दूसरे देशो से लेता है जिन्हें दूसरे देश सबसे सस्ता उत्पन्न कर सकते है—दूसरे शब्दो में हर देश उन्ही चीजो को उत्पन्न करता है, जिनमें उन्हें सबसे अधिक तुलनात्मक लाभ (Comparative Advantage) होता है। इसी को सिद्धान्त रूप मे तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (Theory of Comparative Costs)* कहते है, जो इस प्रकार व्यक्त किया जाता है—हर एक देश उन वस्तुओ को ही बनायेगा जो वह और वस्तुओ की अपेक्षा सस्ती बनाता है और इनके बदले में दूसरे देशो से उन वस्तुओ को लेगा जिन्हें वे दूसरे देश और वस्तुओ की अपेक्षा सस्ती बनाते हैं।

[यहाँ यह बात याद रखने की है कि हम वस्तुओ की एक देश की लागत की तुलना उन वस्तुओ की दूसरे देश की लागत से नही करते, बल्कि इस बात की तुलना करते हैं कि एक देश मे भिन्न-भिन्न वस्तुओ की लागत, किस अनुपात मे है और दूसरे देश में इनकी लागत किस अनुपात में है। मान लीजिए कि x और y दो वस्तुओ का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भारत और इंगलैंड के बीच होता है, तो हम x या y वस्तु की भारत और इंगलैंड की लागत की तुलना नही करते, बल्कि इस बात की कि भारत में x और y की लागत मे क्या अनुपात है और इंगलैंड में x और y की लागत में क्या अनुपात है। दूसरे शब्दो मे, हम यह देखते है कि भारत x और y में से कौन सी वस्तु सस्ती बनाता है और इंगलैंड x और y में से कौन सी वस्तु सस्ती बनाता है।]†

*In words of Benham—

"This principle states that a country will gain by specialising in the production of those commodities in which its comparative cost advantage is greater (or in which its comparative disadvantage is less), exporting these commodities in exchange for commodities in which its comparative cost advantage is less (or its comparative disadvantage is greater)."

†We compare here not the cost of production of any one commodity in one country with its cost in the other, but the ratios between the cost

इस सिद्धान्त के अनुसार कोई देश उन वस्तुओं का जिनमें उसे तुलनात्मक लागत की सुविधा सबसे अधिक है (अथवा तुलनात्मक लागत की असुविधा सबसे कम है) उत्पादन और फिर उनका निर्यात करके उनके विनिमय में वे वस्तुएँ, जिनके उत्पादन में उसके तुलनात्मक लागत की सुविधाएँ कम हैं (अथवा तुलनात्मक लागत की असुविधाएँ अधिक हैं) मँगाकर लाभ उठा सकता है। मान लीजिए दो देश हैं, इँगलैंड और भारत और दो वस्तुएँ हैं x और y। भारत और इँगलैंड x और y दोनों को पैदा करते हैं किन्तु उनकी तुलनात्मक कुशलता दोनों में भिन्न है। मान लीजिए कि भारत जिस लागत पर १० मन x पैदा करता है, उसी लागत पर वह १५ मन y पैदा करता है और इसी तरह मान लीजिए कि इँगलैंड जिस लागत पर १० मन x पैदा करता है, उसी लागत पर वह २० मन y पैदा करता है।

अब यदि यह देश दोनों वस्तुओं को पैदा करने में लगें तो दो इकाई साधन (2 units of labour and capital) लगाकर भारत १०x + १५y पैदा करेगा और इँगलैंड १० x + २० y, और कुल उत्पादन का जोड़ होगा २०x + ३५y लेकिन अगर भारत खाली x पैदा करे (क्योंकि x और y के बीच वह x अच्छा पैदा करता है) और इँगलैंड खाली y पैदा करे (क्योंकि x और y के बीच वह y अच्छा पैदा कर सकता है।) तो दो इकाई साधनों से अब पैदावार इस प्रकार होगी —

भारत १०x × २ = २०x

इँगलैंड २०y × २ = ४०y

= २०x + ४०y

इस प्रकार पहले की अपेक्षा पैदावार में ५y यानी (२०x + ४०y) − (२०x + ३५y) का लाभ हुआ।

ये ५y दोनों देशों में लाभ रूप में बँट जायेंगे। और इसलिए दोनों देशों के हित में यही है कि भारत x पैदा करे और इँगलैंड y।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि व्यापार तब ही तक होगा जब तक की भारत और इँगलैंड में x और y की लागतों के अनुपात में अंतर बना रहेगा। जैसे ही यह अंतर मिटा, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार भी बंद हो जायगा। नीचे हम इस उदाहरण द्वारा समझाने की चेष्टा करेंगे —

तुलनात्मक लागत—समान

(Comparative Costs—Same)

माना कि भारत पैदा करता है ५x या १०y

इँगलैंड " " १०x या २०y

of production of two or more commodities in one country, with the ratios between the cost of production of those commodities in another country.

स्पष्ट है कि दोनो देशो में x की अपेक्षा y का पैदा करना सरल है और ठीक एक अनुपात में सरल है ५ १० या १० २०। दूसरे शब्दो में, दोनो देशों में उत्पादन की तुलनात्मक लागत समान है। फलस्वरूप स्थायी रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार इन देशो में नही हो सकता। कैसे? आइए देखें।

साधनो की दो इकाई मात्रा से भारत और इंगलैंड पैदा करेंगे—

भारत	५x+१०y
इँगलैंड	१०x+२०y

किन्तु यदि भारत ने सिर्फ x पैदा किया और इंगलैण्ड ने सिर्फ y (दो इकाई साधनो का प्रयोग करके) तो वे दोनो देश इस प्रकार पैदा करेंगे —

भारत	५x×२=१०x
इँगलैण्ड	२०y×२=४०y

अब चूंकि भारत खाली x पैदा करता है, इसलिए y की आवश्यकता पूर्ति के लिए, वह उसे इँगलैण्ड से खरीदेगा। माना कि वह अपने ५x को इँगलैण्ड के y से बदलने को है तो वह y वस्तु की कितनी मात्रा इँगलैंड से ले सकेगा? १०y से अधिक नहीं, क्योंकि दोनो देशो में १x=२y। लेकिन भारत स्वयं इतनी y को इतनी ही लागत (५x के बराबर) लगाकर पैदा करता है। इससे उसे कोई लाभ नही हुआ। इसी प्रकार, वह १०y के बदले अधिक से अधिक ५x ही इँगलैण्ड को दे सकेगा और इससे इँगलैंड को कोई लाभ नही है। अस्तु यह बात स्पष्ट हो गई कि लागत की समान अनुपातिक दशाओ में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार चल नही सकता।

तुलनात्मक लागत—असमान

(*Comparative Costs—Different*)

अब फिर पहले उदाहरण को लीजिए और कल्पना कीजिए कि दोनो देशो में तुलनात्मक लागत अलग अलग है

जैसे कि भारत पैदा करता है १०x या १५y

इँगलैण्ड ,, ,, १०x या २०y

यदि दोनो देश दोनो वस्तुओ को बनाते है तो २ इकाई साधनो का उपयोग करके इस प्रकार उत्पादन करेंगे —

भारत पैदा करेगा ,,	१०x+१५y
इँगलैण्ड ,, ,,	१०x+२०y
कुल	२०x+३५y

लेकिन अगर भारत खाली x पैदा करता है (क्योकि x और y के बीच वह x अच्छा पैदा कर सकता है) और इँगलैण्ड खाली y पैदा करता है (क्योंकि वह y अच्छी पैदा कर सकता है) तो दो इकाई साधनो से इस प्रकार पैदा करने का परिणाम निम्न होगा.—

भारत	१०x×२=२०x
इंगलैण्ड	२०y×२=४०y
कुल	२०x+४०y
लाभ	=५ y

इस प्रकार पहिले की अपेक्षा (२०x+४०y)–(२०x+३५y) यानी ५y का लाभ हुआ। इस ५ y के लाभ को दोनो देश आपस में बाँट लेंगे। जब तक यह लाभ बना रहेगा (अर्थात् लागत के अनुपातो में अतर रहेगा) तब तक अतर्राष्ट्रीय व्यापार होता रहेगा।

यद्यपि यह बात सच है कि यहाँ हमने अतर्राष्ट्रीय व्यापार का एक सरल उदाहरण लिया है—केवल दो देशो के बीच और केवल दो वस्तुओ में ही रखा है। साथ ही हमने यातायात के खर्चे, चुगी-कर आदि के व्यय की भी उपेक्षा की है, जब कि वास्तविक जीवन में बहुत सी वस्तुएँ होती हैं, व्यापार करनेवाले अनेक देश होते हैं, इत्यादि, इत्यादि। किन्तु फिर भी चाहे कितनी ही दशा उलझी क्यो न हो, कितने ही देश हो, कितनी ही वस्तुएँ हो यह सिद्धान्त अपना कार्य करेगा।

सिद्धात का आधुनिक सुधरा रूप

(*Modern Refinements of the Theory*)

(१) तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त जिसका अभी हमने वर्णन किया है, सबसे पहिली बार प्राचीन अर्थशास्त्रियो द्वारा मजदूरी के दिनो के रूप में वर्णित किया गया था। इसका कारण यह था कि वे मूल्य के सिद्धान्त का आधार श्रम ही मानते थे। पर अब यह सिद्धान्त नही माना जाता, कारण कि मजदूरो के अलावा उत्पादन के अन्य साधन भी हैं जो निष्क्रिय नही होते। इसलिये इस सिद्धान्त का वर्णन श्रम के दिनो में न करके कीमतो में किया जाता है और इसके अनुसार अब तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को सामान्य साम्य के सिद्धान्त (general equilibrium theory) के ही समकक्ष रखते हैं और इसका वर्णन नई प्रकार से कीमतो के रूप में, अर्थात् उत्पादन की सीमात लागत के रूप में, करते हैं।

उदाहरणार्थ अब हम तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त करेंगे—

'अ' { गहूँ की सीमात लागत २ रु० सेर
 { कपडे " " " २ रु० गज

'ब' { गेहूँ की सीमात लागत ३ रु० सेर
 { कपडे " " " ४½रु० गज

गहूँ और कपडे का लागत अनुपात अ और ब में क्रमश १:१ और १:१½ है। 'अ' में एक गज कपडे के बदले १ सेर गेहूँ आयेगा, 'ब' में एक गज कपडे के बदले १½ सेर गेहूँ व १ सेर गेहूँ के बदले २/३ गज कपडा मिलेगा। 'अ' एक गज कपड़ा देकर 'ब' से एक सेर से अधिक गेहूँ प्राप्त कर सके अथवा एक गज से कम कपडा देकर एक सेर गहूँ प्राप्त

कर सके तो उसे लाभ होगा, वह केवल कपड़ा बनायेगा। 'ब' एक सेर गेहूँ के बदले 'अ' से २/३ गज से अधिक कपड़ा प्राप्त कर सके या १ सेर गेहूँ से कम देकर २/३ गज कपड़ा प्राप्त कर सके तो वह केवल गेहूँ उगाएगा। दोनों देशों को लाभ होगा। यही है तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त।

(२) दूसरी कमी प्राचीन अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त में यह थी कि इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में उन्होंने स्थिर लागतों की धारणा बना रखी थी। किन्तु उत्पादन वास्तव में घटती उपज और बढ़ती उपज दोनों ही दशाओं में होता है। घटती उपज के नियम (law of diminishing returns) का परिणाम अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों को कम करना हो सकता है और बढ़ती उपज (law of increasing returns) का परिणाम इन लाभों को बढ़ाना भी हो सकता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का दूसरा सुधार इसमें उपज के सिद्धान्तों (laws of returns) का समावेश है।

मान लीजिए कि ऊपर के उदाहरण में 'अ' देश गेहूँ छोड़कर कपड़ा बनाता है और 'ब' देश वाले कपड़े को छोड़कर गेहूँ उगाते हैं। 'ब' में गेहूँ अधिक उगने पर इसकी सीमांत लागत अधिक होगी, 'अ' में गेहूँ का उत्पादन कम होनेपर इसकी सीमांत लागत कम हो जायगी। दोनों देशों में कपड़े और गेहूँ की लागत अनुपात में अंतर पड़ जायेगा। 'अ' को अब 'ब' का (और मँहगा) गेहूँ मँगाने के स्थान पर अपने यहाँ (कम मँहगा) गेहूँ उगाने में लाभ होगा। वह अपने यहाँ केवल बढ़िया जमीन पर, जहाँ गेहूँ की सीमांत लागत कम है, गेहूँ उगाएगा। 'ब' अपने साधनों से केवल (अधिक लागत का) गेहूँ न उगाकर अपने यहाँ कुछ कपड़ा बनाएगा। फिर यदि 'अ' में कपड़े का उत्पादन अधिक होने पर उसकी क्रमागत लागत में वृद्धि होने लगेगी तो यह कपड़े का उत्पादन और कम कर देगा और 'ब' को अपने यहाँ अधिक कपड़ा बनाने में लाभ होगा। 'अ' और 'ब' दोनों में कपड़े की लागत व मूल्य बढ़ने से लागत अनुपात में चारों ओर से अंतर पड़ने पर गेहूँ के बदले कपड़े या कपड़े के बदले गेहूँ का उत्पादन शीघ्र बंद हो जायगा। दोनों देशों में दोनों ही वस्तुएँ बनेंगी और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कम हो जायगा। इसके विपरीत यदि वस्तु का उत्पादन बढ़ने से उसकी लागत कम हो जाती है, तो लागत-अनुपात का अंतर अधिक होने पर विशिष्टीकरण अधिक होगा, तुलनात्मक लागत अधिक कम होने से व्यापार का क्षेत्र बढ़ेगा और वस्तुओं का विनिमय अधिक होगा। परन्तु इसकी भी एक सीमा होगी क्योंकि अन्ततः यहाँ भी घटती उपज का नियम काम करने लगेगा।

(३) तीसरी कमी पुराने अर्थशास्त्रियों के इस सिद्धान्त में यह थी कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों के विभाजन का आधार क्या हो, इसकी व्याख्या नहीं की गई थी। आजकल के विवेचन के अनुसार यह लाभ 'व्यापार की शर्तों' (terms of trade) के आधार पर तय होता है और अलग अलग देशों में वितरित होता है। यह 'व्यापार की शर्तें' वस्तुओं की पारस्परिक माँगों पर निर्भर रहती हैं, अर्थात् इस बात पर कि 'अ' देश में 'ब' की वस्तु की माँग की लोच कितनी है अथवा 'ब' में 'अ' देश की वस्तु की माँग की लोच कितनी है। देश के लिए वस्तुओं की पारस्परिक माँग की लोच (elasticity of

demand) का भारी आर्थिक महत्त्व होता है, क्योंकि यही उस देश के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में प्राप्त होनेवाले लाभ को निश्चित करती है।

ऊपर के उदाहरण को पुनः लीजिए। 'अ' में गेहूँ और कपड़े की लागत २ रु० सेर व २ रु० गज होने पर एक गज कपड़े के बदले एक सेर गेहूँ मिलेगा। 'ब' में गेहूँ ३ रु० सेर और कपड़ा ४$\frac{1}{2}$ रु० गज होने पर यहाँ एक गज कपड़े के बदले १$\frac{1}{2}$ सेर गेहूँ देना पड़ेगा। 'अ' एक गज कपड़े के बदले कम से कम १ सेर गेहूँ लेगा, 'ब' एक गज कपड़े के बदले अधिक से अधिक १$\frac{1}{2}$ सेर गेहूँ देगा, और विनिमय दर १ गज कपड़ा=१ सेर और १$\frac{1}{2}$ सेर गेहूँ के बीच, होगी। वास्तविक दर 'अ' और 'ब' की गेहूँ और कपड़े की माँग की लोच के अनुसार होगी, जिसकी माँग जितनी अधिक तीव्र होगी, विनिमय-दर उसके उतनी ही प्रतिकूल होगी। 'अ' की गेहूँ की माँग 'ब' की कपड़े की माँग से अधिक तीव्र होने पर 'अ' को एक गज कपड़े के बदले १ सेर से कुछ अधिक गेहूँ मिलेगा, 'ब' को १$\frac{1}{2}$ सेर से काफी कम गेहूँ देकर एक गज कपड़ा मिल जायगा। मान लो दर एक गज कपड़ा=१$\frac{1}{4}$ सेर गेहूँ है। इस दर पर 'अ' की माँग की लोच अधिक होने पर यह अधिक गेहूँ प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा, 'ब' की कपड़े की माँग कम लोचदार होने पर यह अधिक कपड़ा नहीं लेगा। 'ब' से अधिक गेहूँ लेने के लिए 'अ' मूल्य कम करेगा, वह १$\frac{1}{4}$ सेर से कम गेहूँ लेकर एक गज कपड़ा देगा और सभवतः दर १ गज कपड़ा=१$\frac{1}{8}$ सेर गेहूँ हो जायगी। 'ब' की कपड़े की माँग 'अ' की गेहूँ की माँग से अधिक तीव्र होने पर दर 'अ' के अनुकूल होकर १ गज कपड़ा=१$\frac{3}{8}$ सेर गेहूँ होगी। संक्षेप में विनिमय दर वह होगी कि संतुलन की स्थिति में दोनों देशों की निर्यात और आयात के मूल्य समान हों।

(४) एक और संशोधन जो हाल ही में इस सिद्धान्त में किया गया है वह है अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को अवसर लागत के सिद्धान्त के साथ मिलाने का। तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त जिस लागत के विषय में कहता है, वह द्रव्य-लागत नहीं होती। वह तो x या y की इकाई के उत्पादन में जिन साधनों के प्रयोग की आवश्यकता होती है उनकी मात्रा से संबंध रखता है। हर एक देश को यह मालूम करना पड़ता है कि वह अपने प्राप्त उत्पत्ति के साधनों से किन चीजों को किस मात्रा में उत्पादित कर सकता है। यदि वह x वस्तु को अधिक उत्पन्न करना ठीक समझता है तो उसे उत्पत्ति के साधनों को उसी उद्योग में हस्तान्तरित करना पड़ेगा और फलतः y वस्तु का उत्पादन कम करना पड़ेगा। और वह अवसर लागत (opportunity cost) या प्रतिस्थापन लागत (substitution cost) के अनुपात का अंतर ही है जिसके कारण कि देश किसी वस्तु में विशिष्टीकरण कर लाभ उठा सकते हैं और परस्पर व्यापार करते हैं—उदाहरण के लिए अ देश में एक पाउन्ड चाय की उत्पत्ति की अवसर लागत एक गज कपड़े के बराबर है और ब देश में एक गज कपड़े की अवसर लागत आधी इकाई चाय के बराबर है, तो ऐसी परिस्थितियों में 'अ' और 'ब' देश में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार होने से लाभ होगा, इत्यादि, इत्यादि।

नीचे हम Meade की पुस्तक "Economic Analysis and Policy" में से उद्धरण देते हैं जिसमें इन संशोधनों का प्रभाव और भी स्पष्ट हो जाता है —"आइए,

हम देख कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से कोई देश कसे अधिकतम लाभ प्राप्त करता है। मान लीजिए कि इंगलण्ड में एक डबलरोटी उत्पादित करने की सीमांत लागत ६ पैस है और एक पौंड चाय उत्पादित करने की सीमान्त लागत २ शिलिंग है। इसका मतलब यह हुआ कि इंगलैण्ड यदि १ पौंड चाय कम उत्पादित करे तो २ शिलिंग की कीमत भर के उत्पादन के साधन खाली हो जायेंगे जिनसे ४ डबलरोटी अधिक उत्पन्न की जा सकती हैं। मान लो कि फ्रांस में एक डबलरोटी ४ फ्रैंक में बिकती है और एक पौंड चाय भी ४ फ्रैंक में बिकती है तो मतलब यह हुआ कि फ्रांस में एक रोटी बेचकर इतना द्रव्य प्राप्त हो सकता है कि जिससे १ पौंड चाय खरीदी जा सके। अत यदि इंगलण्ड एक पौंड चाय का उत्पादन छोड़कर ४ डबलरोटी का उत्पादन करे तो वह इन चार रोटियों को फ्रांस में बेच सकता है और इनके बदले इतना द्रव्य पा सकता है जिससे कि वह ४ पौंड चाय खरीद सके। इस तरह इंगलण्ड ३ पौंड चाय अधिक पा सकता है—और ऐसी परिस्थिति में इंगलण्ड डबलडबलरोटी के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा उसी का निर्यात करेगा और उसके बदले फ्रांस से चाय का आयात करेगा—क्योंकि ऐसा करने में वह अधिक चाय प्राप्त कर सकता है अपेक्षा इसके कि वह अपने देश के कुछ उत्पादन के साधनों को रोटी के बदले चाय बनाने में लगाये।

यह आवश्यक नहीं है कि इंगलण्ड चाय के उत्पादन को बिलकुल ही त्याग दे—कारण कि ज्यों ज्यों वह अधिक रोटी और कम चाय उत्पादित करेगा रोटी के उत्पादन में सीमांत लागत बढ़ जायगी और चाय के उत्पादन में कम हो जायगी। यदि रोटी बनाने की सीमांत लागत बढ़कर १ शिलिंग हो गई हो और चाय के उत्पादन की सीमांत लागत घट कर १ शि० हो गई हो तो इंगलण्ड १ पौंड चाय कम उत्पादित करने पर केवल एक डबल रोटी ही अधिक उत्पादित कर सकता है। और यदि फ्रांस में चाय और रोटी दोनों की कीमत ४ फ्रैंक है तो अब इंगलण्ड प्रत्येक डबल रोटी के निर्यात पर १ पौंड चाय ही प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में उत्पादन के साधनों को चाय के बदले रोटी बनाने में हस्तान्तरित करने में कोई लाभ नहीं होगा। इंगलण्ड के लिए रोटी का निर्यात और चाय का आयात तभी तक लाभकर होगा जब तक कि इंगलण्ड की चाय की लागत और रोटी की लागत का अनुपात फ्रांस की चाय और रोटी की लागत की अनुपात से अधिक होगा।

अब यह प्रश्न उठता है कि कौन सा देश अधिक लाभ प्राप्त करेगा। इंगलण्ड और फ्रांस के बीच व्यापार का जो लाभ होगा उसका विभाजन दोनों देशों की पारस्परिक व्यापार की शर्तों (terms of trade) के अनुसार ही तय किया जा सकता है अर्थात इस पर कि इंगलण्ड अपनी प्रत्येक इकाई के निर्यात के बदले में कितनी आयात प्राप्त कर सकता है। व्यापार शुरू होने से पहले फ्रांस में १ पौंड चाय की लागत १ डबलरोटी की लागत के बराबर थी—जब कि इंगलण्ड में १ पौंड चाय की लागत ४ डबलरोटी की लागत के बराबर थी। जब इंगलण्ड रोटी का निर्यात और चाय का आयात करने लगता है तो वह तब तक लाभ कमायेगा जब तक कि उसे प्रत्येक पौंड चाय के आयात में ४ रोटी से कम देना पड़ता है। और फ्रांस को तब तक लाभ होगा जब तक कि वह १ पौंड चाय के बदले

में १ रोटी से अधिक प्राप्त करता है। व्यापार की शर्तें जिनके आधार पर दोनों देशों को लाभ प्राप्त होगा, दो सीमाओं के बीच ही होगी—१ रोटी के बदले १ पौंड चाय और ४ रोटी के बदले १ पौंड चाय। यदि १ पौंड चाय के बदले १$\frac{1}{2}$ रोटी मिल सकती है तो इँगलैंड को अधिक और फ्रांस को कम लाभ प्राप्त होगा। दूसरी ओर यदि व्यापार की शर्त इस प्रकार है कि १ पौंड चाय के बदले ३$\frac{1}{2}$ डबलरोटी मिल सकती है तो फ्रांस को अधिक और इँगलैंड को कम लाभ प्राप्त होगा।

"व्यापार के आरम्भ होने पर इँगलैंड फ्रांस को डबलरोटी बेचेगा और फ्रांस इँगलैंड को चाय बेचेगा। जैसे जैसे इँगलैंड के लोगों के पास अधिक चाय होगी, इँगलैंड में चाय की कीमत गिरेगी और इसी प्रकार फ्रांस में रोटी के दाम गिरेंगे जैसे जैसे फ्रांस के लोगों के पास रोटी अधिक होगी। व्यापार की शर्त इँगलैंड के पक्ष में होगी, जैसे जैसे फ्रेंच लोगों के पास अधिक रोटी होती जाती है, वे रोटी के लिए थोड़ी ही कम कीमत देने को तैयार रहते हैं, और यदि जैसे जैसे अँगरेजों के पास चाय अधिक होती जाती है वे चाय के लिए बहुत कम कीमत देने को तैयार रहते हैं —कारण, यदि फ्रांस में रोटी की कीमत बहुत धीरे से कम होती हो और इँगलैंड में चाय की कीमत बहुत तेजी से गिरती हो तो इँगलैंड प्रत्येक रोटी के फ्रांस में निर्यात करने के बदले अधिक मात्रा में चाय प्राप्त कर सकेगा।" इत्यादि, इत्यादि।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ

(*Advantages of Foreign Trade*)

(१) जैसा कि हमने तुलनात्मक लागत पर विवेचना करते समय देखा, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके द्वारा विभिन्न देशों में श्रम-विभाजन का सिद्धान्त लागू होता है, और प्रत्येक देश के लिए यह सभव हो जाता है कि वह उसी चीज को पैदा करे जिसमें उसे सबसे अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है। परिणाम यह होता है कि ससार का कुल उत्पादन बढ़ जाता है (इस सम्बन्ध में यहाँ तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त को समझिए) और वस्तुओं की कीमत घट जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि चीजों के दाम गिर जाते हैं और लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊपर उठता है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पादन को बढ़ाता है, मूल्य गिरते हैं, स्तर ऊँचा होता है, और ससार की सुख-समृद्धि बढ़ती है।

(२) विदेशी व्यापार से उन चीजों की जिनकी देश में कमी होती है, पूर्ति हो जाती है। कोई भी देश अपनी जरूरत की सब चीजें पूरी नहीं कर सकता, परन्तु वह उन्हें विदेशों से व्यापार कर सस्ते से सस्ते बाजार से पा सकता है। और साथ ही साथ एक देश अपनी फालतू चीजों को अच्छे दामों पर बाहर भेज भी सकता है।

(३) क्योंकि दूसरे देशों से पूर्ति हो सकती है, अत अकाल और कमी को दूर किया जा सकता है और बाहर से अन्न आदि मँगाकर देश के लोगों का जीवन और स्वास्थ्य

बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए अगर विदेशों से अन्न न आ सकता, तो आज भारत में अन्न की कमी कहीं अधिक भयकर रूप लिये होती।

(४) विदेशी व्यापार के होने से एक लाभ यह है कि जिन देशों में कच्चे पदार्थों का अभाव है, वे उन्हें दूसरे देशों से आयात कर सकते है और इस तरह कच्चे पदार्थ का उपयोग ठीक तरह से हो जाता है। विदेशी व्यापार के द्वारा ही तैयार माल बेचा भी जा सकता है।

(५) बाहरी प्रतियोगिता के डर से घरेलू उत्पादन-कर्ता अपने उत्पादन के तरीकों को बिलकुल सही रखते है—और इस तरह उत्पादन की कला हमेशा उन्नति के पथ पर रहती है।

(६) किसी देश में एकाधिकारी सस्थाओं के बनने में यह रोक लगाती है क्योंकि देशवालों को विदेशी प्रतियोगिता का हमेशा डर बना रहता है। फलत चीजों के दाम नीचे ही रहते है। और उपभोक्ताओं को इससे लाभ होता है।

(७) इससे एक सास्कृतिक लाभ भी है—वस्तुओं के विनिमय के साथ साथ विचारों का भी विनिमय हो जाता है। भिन्न भिन्न देशों के लोगों में घनिष्ठता के सम्बन्ध बढते है और यह सभी के लिए हितकर है। हम दूसरे लोगों से बहुत कुछ सीख सकते है और उनको सिखा भी सकते हैं।

(८) पारस्परिक आर्थिक निर्भरता से ससार में शांति और सद्भावना फैलती है।

विदेशी व्यापार से हानियाँ

(*Disadvantages of Foreign Trade*)

(१) विदेशी व्यापार होने से देश के खनिज पदार्थ आदि जल्दी खत्म हो जाते है—जिसकी जगह दुबारा नही भरी जा सकती। उदाहरण के लिए मगनीज और माइका का भारत से निर्यात हो जाता है और इनके बदले में कुछ खास चीज नही आती। इसी प्रकार एक देश की कोयले की खान खाली हो सकती है या लोहे का कोष खतम हो सकता है या कृषि में घटती उपज का नियम लागू होना आरम्भ हो सकता है।

(२) विदेशी प्रतियोगिता कुछ देशों के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। जैसे भारत के घरेलू धधों को विदेशी प्रतियोगिता से बड़ा धक्का पहुँचा है—और यही प्रतियोगिता अब भी औद्योगिक विकास में बाधा डाल रही है।

(३) विदेशी व्यापार कई बार हानिकारक चीजों का निर्यात कर दूसरे देश के लोगों की आदतों को बिगाड़ता है जैसे कि चीन को अफीम के आयात करने से बहुत नुकसान उठाना पड़ा था।

(४) विदेशी व्यापार ही देशों को सदव के लिए दो श्रेणियों—कच्चे पदार्थ उत्पन्न करनेवालों और तैयार माल बनानेवालों—में विभाजित कर देता है। इससे ससार में बजाय अतर्राष्ट्रीय शांति के अशांति ही फैलती है।

(५) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार झगड़ों को बढ़ाता है क्योंकि देशों में पक्षवादिता आनी आवश्यक सी हो जाती है। अंतर्राष्ट्रीय द्वेष के कारण ही आधुनिक लड़ाइयाँ हुई थीं।

(६) अंतिम हानि यह है कि विदेशी व्यापार के कारण ही एक देश की आर्थिक दशा दूसरे देशों पर अवलम्बित हो जाती है। इससे एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों पर आश्रित हो जाते हैं जिनका कि पूर्ण रूप से विश्वास नहीं किया जा सकता। यदि लड़ाई या अन्य किसी कारण से माल का स्वतन्त्रतापूर्वक आवागमन नहीं हो सकता हो तो देश की आर्थिक दशा एक दम बिगड़ सकती है। इसके अतिरिक्त एक देश में हुई औद्योगिक या वित्त सम्बन्धी गड़बड़ का दूसरे देशों पर भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए सन् १९२९ से १९३२ का आर्थिक संघर्ष इसी कारण सारे संसार में फैल गया था।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अदल बदल का एक रूप है

(International Trade a kind of Barter ?)

आन्तरिक या घरेलू व्यापार में हम क्रय विक्रय के लिए द्रव्य का प्रयोग करते हैं। अदल-बदल (अर्थात वस्तु के बदले वस्तु देना) का प्रचलन साधारणतः आजकल नहीं होता। यह दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है और अब कुछ दूर स्थित गावों में ही प्रचलित है। किन्तु अंतराष्ट्रीय व्यापार एक तरह का अदल-बदल ही है। एक देश की मुद्रा दूसरे के लिए बेकार है। हम अपने देश की मुद्रा से दूसरे देश की चीजें नहीं खरीद सकते। जब बाहर से कोई आयात होता है या उनकी कीमत चुकानी पड़ती है तो व्यापारी विनिमय बैंक को जाता है, और देशी मुद्राओं से विदेशी मुद्राएं बदल कर विदेशी ऋण को चुकता करता है। इस प्रकार व्यक्ति और संस्थाओं के बीच में ऋणों को चुकाया जाता है। अब यदि हम इसी बात का सार देश की दृष्टिगत रखके मानें तो हम देखेंगे कि इंगलैण्ड से कपड़ा खरीदनेवाले हमारे देश में बहुत से हैं और बहुत से हमारे देश में ऐसे हैं जिन्होंने इंगलैण्ड को कपास भेजी है। आयात करनेवालों को रुपये का भुगतान करना है और निर्यात करने वालों को रुपया वसूल करना है। होगा यह कि आयातकर्त्ता विनिमय-बैंक को इस रुपये का भुगतान करेंगे और बैंक इसको निर्यातकर्ताओं को दे देगा। यही क्रिया इंगलैण्ड में होती है। इस तरह हम देखते हैं कि रुपया एक देश से दूसरे देश को नहीं जाता। कोई भी देश अपने यहाँ की हुई आयात के भुगतान में सोना चाँदी नहीं भेजता बल्कि निर्यात द्वारा आयात का भुगतान करता है। वस्तु का ही आवागमन होता है। एक प्रकार का सामान देश में आता है और दूसरे प्रकार का सामान जाता है। यह वस्तु विनिमय या अदल बदल नहीं हुआ तो और क्या हुआ ?

अभी हाल में यह बात और भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई है कि अंतराष्ट्रीय व्यापार में वस्तु विनिमय का अंश है। दोतरफा व्यापारिक समझौता (bilateral trade agreements) के अनुसार एक देश दूसरे देश को माल देता है और इसके बदले में दूसरी तरह का माल लेता है। उदाहरण के लिए १९३४ में भारत और जापान में समझौता हुआ था, जिसके अनुसार भारत ने जापान से कपड़ा लेना और जापान ने भारत से कपास

ैना तय किया था। ऐसे समझौते सदा ही दो देशों के बीच होते रहते है। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी ने अदल-बदल करके इस रूप का बहुत विकास किया और आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सिद्धान्त का यह एक महत्त्वपूर्ण अंग हो गया है।

तो भी क्लैसिकल अर्थशास्त्रीयों की यह विचार धारा आजकल ठीक नहीं मानी जाती —कनन के इन शब्दों पर ध्यान दीजिए "We want an entire abandonment of the stupid insistence on international trade being virtually barter, of course all trade is virtually barter when you drop intervening money out of the picture and think only of persons producing one set of goods for other people and receiving another set from them in exchange It is the intervention of money which turns barter into selling and buying and far from money international trade usually involves the intervention of not only one money, but two different moneys"

Question

1 International trade is due to Nature's partiality in the distribution of her gifts among various nations Comment on the above statement (Alld 1947)

2 Comment on the following statement —

The principle of comparative costs gives us a fundamental explanation of why international trade takes place (Agra 1950)

3 State and explain the law of comparative costs and show how the existence of a difference in comparative costs is necessary for international trade to arise (Alld 1955 52 Agra 1947 46)

Does the law hold good in modern times? (Agra 1946)

4 Discuss the principle of comparative costs State how a country may gain by importing goods which it could produce itself (Agra 1958 195 1955s 1954s and 1953 Rajputana 1956 1954 Bihar 1958)

5 Explain the conditions under which permanent international trade is possible In what respects does inter national trade differ from home trade? (Agra 1957s 1951s)

6 If international trade is based on the principle of territorial division of labour it should be complementary How do you explain the competitive character of international trade? (Agra 1957)

7 Discuss the main factors that give rise to a separate theory of international trade and describe briefly the advantages and disadvantages of foreign trade. (Agra 1954)

8 (a) Why does not each country concentrate on the production of one article only and secure all other articles in exchange

(b) Why does not a country altogether give up the production of an article that she imports from other countries?

9 What are the advantages and disadvantages of international trade? Discuss (Agra 1953)

10 International trade is a kind of barter Discuss

५३

अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन—भुगतान की बाकी

(Balance of Payments)

यदि कोई देश आयात से अधिक निर्यात करता है, तो व्यापार की बाकी (Balance of Trade) उसके अनुकूल (Favourable) कही जाती है, जब इसके विपरीत निर्यात से आयात अधिक हो जाती है, तो यह बाकी उसके प्रतिकूल (Unfavourable) कही जाती है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि हम केवल वस्तुओं का ही आयात-निर्यात नहीं करते, वरन् सेवाओं का भी आयात-निर्यात करते हैं। इनके लिए भी कीमत लेनी या देनी पड़ती है। इसलिए भुगतान की बाकी (Balance of Payments) को जानने के लिए विदेशों से आने या जानेवाली चीजों की कीमतें ही लेना काफी नहीं है। दो देशों की सच्ची भुगतान की बाकी जानने के लिए इन दृश्य (visible) मदों के अतिरिक्त अदृश्य (invisible) मदों को भी सम्मिलित करना आवश्यक है और उनके सम्मिलित करने के बाद जो दो देशों का हिसाब बनता है और जिससे पता चलता है कि एक देश को दूसरे देशों से क्या लेना या देना है, उसी को भुगतान की बाकी (Balance of Payments) या ऋणों का समीकरण (Equation of Indebtedness) कहते हैं।

दृश्य (Visible) आयात और निर्यात से हमारा तात्पर्य उन वस्तुओं और धातु राशि के चलन से है जिनका पूरा लेखा-जोखा रखा जाता है, और अदृश्य (Invisible) आयात-निर्यात से मतलब उन मदों से है जिनका कोई लेखा-जोखा नहीं रखा जाता, जो trade returns में नहीं दिखाये जाते और जो लोगों की आँखों से बचकर होते रहते हैं। उदाहरण के लिए दो देशों की भुगतान की बाकी (balance of payments) को जानने के लिए हमको केवल दृश्य आयात-निर्यात के आंकड़े ही नहीं जानने चाहिए, बल्कि हमें यह भी देखना पड़ेगा कि निम्न बातों पर इन देशों को कितना लेना-देना है —

(१) जहाजों का किराया।
(२) बैंकों का कमीशन।
(३) पूंजी पर ब्याज।
(४) द्रव्य रूप में ऋण।
(५) दूसरे देश में लगी पूंजी से व्यापारिक लाभ।
(६) विद्यार्थियों और यात्रियों के खर्चे जो विदेशों में पढ़ने या घूमने जाते हैं।

(७) दान और चन्दे की रकम।

(८) ऋण-पत्रों की बिक्री से प्राप्त रकम, आदि आदि।

इस प्रकार भारत की 'भुगतान की बाकी' कुछ इस तरह से बनाई जायगी —

Credit side (भारत को पावना है)	Debit side (भारत को देना है।)
१—निर्यातों का मूल्य (जिसमें सोना-चाँदी सम्मिलित है।)	१—आयातों का मूल्य (जिसमें सोना-चाँदी सम्मिलित है।)
२—लन्दन में पड़ा हुआ भारत का पौंड पावना।	२—विदेशी ऋण तथा पूँजी का भुगतान—मूलधन, ब्याज व लाभ।
३—सरकारी या प्राइवेट विदेशी ऋण तथा पूँजी से प्राप्त आय—मूलधन व ब्याज व लाभ।	३—विदेशी जहाजों का किराया।
४—भारत में आये विदेशी यात्रियों और दूतावास इत्यादि का उनके देश की सरकार का भुगतान।	४—विदेशी बैंकों अथवा बीमा कम्पनियों को कमीशन।
	५—ब्रिटिश अफसरों (भारत में नौकरी करनेवाले अँगरेज अफसरों) का वेतन, पेन्शन आदि।
	६—भारतीय यात्रियों, विद्यार्थियों, और अधिकारियों के खर्चे का भुगतान, जो विदेश में हैं।

आयात और निर्यात समानता की ओर अग्रसर होते हैं

(Exports and Imports tend to be equal)

इस तरह यदि हम आयातों और निर्यातों को विस्तृत रूप में लें (अर्थात् सभी दृश्य और अदृश्य मदों को जो देश के बाहर जाती और विदेश से आती हैं सामने रखें, तो हम देखेंगे कि 'निर्यात आयात का मूल्य चुकाते हैं" (Exports pay for Imports, i.e., the money value of exports and imports, both visible and invisible, must ultimately balance) और "आयात और निर्यात समानता की ओर अग्रसर होते हैं" (Imports and Exports tend to be equal), क्योंकि दीर्घ काल में कोई भी देश अपने निर्यातों से अधिक आयात नहीं कर सकता और न आयात से अधिक निर्यात ही कर सकता है। अल्पकाल के लिए अवश्य आयात निर्यातों से अधिक हो सकते हैं या इसका विपरीत हो सकता है। वास्तव में यह प्रायः कम या अधिक हो होते हैं। पर अधिक काल तक यदि ऐसा होता है, तो ऐसी दशा में ऋणों का समीकरण करने के लिए एक देश दूसरे से देश को सोना-चाँदी या

आना जाना आवश्यक हो जाता है। परिणाम यह होता है कि जहाँ पर सोना चांदी पहुँचता है, वहाँ सामान्य मूल्य स्तर ऊंचा होने लगता है (यानी कीमत बढने लगती है) और जहाँ से सोना चांदी निकल जाता है वहाँ सामान्य मूल्य-स्तर नीचा होने लगता है (यानी कीमत गिरने लगती है) और अन्त में आयात निर्यात के बराबर होने की प्रवृत्ति देखने में आती है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि अमेरिका के निर्यात इँगलैण्ड के साथ आयात की अपेक्षा अधिक है तो स्वर्ण का गमन इँगलैंड से अमरिका की ओर होगा अमरिका में कीमतें बढ जायगी तब इँगलैण्ड के लोगों के लिए अमेरिका में बेचने में अच्छा मुनाफा होगा दूसरी तरफ इंगलैंड में स्वर्ण कम रह जाने से वहाँ के दाम गिरेंगे और अमरिका को इँगलैंड से माल खरीदने में लाभ रहेगा। परिणाम यह होगा कि अमेरिका के आयात घट जायगें और निर्यात बढ जायगे। दूसरे शब्दों में इंगलैण्ड के आयात घट जायगे और निर्यात बढ जायगे। ऐसी दशा में सोना अमेरिका से इंगलैण्ड को आना शुरू हो जायगा इंगलैंड में कीमत स्वर्ण के आ जाने से बढ जायगी अमेरिका में वहां से स्वर्ण चले जाने से कीमत घट जायगी और फिर अमेरिका के निर्यात बढेंगे इँगलैंड के कम। टॉसिग के मतानुसार किसी देश के व्यापार की धारा ज्वार भाटे की तरह है। वह बहुत काल तक एक ही दिशा में नहीं रह सकती—जल्दी या देर में उसे बदलना पड़ेगा। एक देश से धात्विक द्रव्य दूसरे देश को चला जायगा तो आर्थिक शक्तियाँ इस तरह काम करने लगेगी कि व्यापार पुनः पूर्वस्थिति को वापस होने लगेगा।*

[यहा इसका अर्थ यह नही है कि किन्ही दो विशेष देशो के आपस के आयात निर्यात आवश्यक रूप से बराबर होगे। जो कुछ आवश्यक है वह यह कि किसी देश के निर्यातो का आयात पर आधिक्य दूसरे सब देशो के निर्यात का आयातो पर जो कुछ आधिक्य होगा उसके बराबर होगा—एक देश का देन दूसरे देश के लेन द्वारा पूरा हो जायगा।]

व्यापार की बाकी और भुगतान की बाकी में अन्तर

(Balance of Trade and Balance of Payments)

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि व्यापार की बाकी (Balance of Trade) के अनुकूल होने का यह अर्थ नहीं है कि देश की भुगतान की बाकी (Balance of Payments) भी अनुकूल होगी। लड़ाई से पहले भारत की व्यापार की बाकी इंगलैंड के साथ अनुकूल थी परन्तु फिर भी इसकी भुगतान की बाकी प्रतिकूल थी क्योंकि इसे बहुत अधिक रुपया ब्रिटेन को उसकी सेवाओं के बदले में भेजना पड़ता था। अतः किसी देश की आर्थिक स्थिति जानने के लिए हम उस देश की केवल व्यापार की ही बाकी नहीं देखनी चाहिए वरन् हम उसकी भुगतान की बाकी भी देखनी चाहिए और किसी देश की

* The current of trade can not for ever continue in one direction any more than the tide of the sea sooner or later it must change and after metallic money has been taken out of a country, there are natural forces which tend to bring it back again. [*Taussig*]

(२) अवमूल्यन* (Devaluation)—मुद्रा के मूल्य में विनिमय दर की घटती से मूल्य घटने पर भी यदि लेन-देन की बाकी में प्रतिकूलता बनी रहती है तो इसके लिए एक और सशक्त उपाय का आश्रय लेते हैं और वह है अवमूल्यन जो कि विनिमय पात से अधिक दृढ और कम अस्थायी उपाय है।

मुद्रा के अवमूल्यन का मतलब देश की करसी के बाह्य मूल्य को कम कर देना है। यह देश के प्रामाणिक सिक्के के धात्विक तत्वों में कटौती करके किया जा सकता है। यह देश की करेंसी की दर सोने में घटाकर नियत कर देने में भी हो जाता है। ऐसा करने से देश के निर्यात बढ जाते हैं आयात घट जाते हैं और भुगतान की बाकी साम्य की स्थिति पर आ जाती है। उदाहरण के लिए गत सितम्बर १९४९ को ब्रिटेन ने जब यह देखा कि अमेरिका के साथ उसकी विदेशी व्यापार की स्थिति ठीक नहीं है तो उसने अमेरिका के डालर के अनुपात में स्टर्लिंग का ३० प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया (पहले £ या पाउंड बराबर था ४ ०३ डालर के, अब यह बराबर रह गया २ ८० डालर के)। परिणाम यह हुआ कि इँगलैंड के निर्यातों में वृद्धि हो गई। यद्यपि यह ठीक है कि इसका पूरा श्रेय अवमूल्यन को ही नहीं दिया जा सकता है, परन्तु फिर भी अवमूल्यन उसका एक मुख्य कारण अवश्य सिद्ध हुआ निस्सन्देह, अवमूल्यन में आन्तरिक कीमतों में वृद्धि हो जाती है, और इसलिए इसके साथ कीमतों के नियन्त्रण की भी आवश्यकता पड जाती है, तो भी निर्यात के बढाने का यह एक बड़ा सबल उपाय है इसीलिए कहा जाता है कि जब युद्धकाल में कच्चे व पक्के माल का आयात बढाना हो, तो अधिमूल्यन करो जिससे आयात सस्ते हो जायें और बढने लगे, परन्तु जब अवसाद के समय निर्यात को बढाना हो तो अवमूल्यन करो ("The rough rule of the thumb is in times of war and scarcity over-value your currency, in times of slump and surfeit under-value your currency" Crowther)

(३) मुद्रा सकुचन† (Deflation)—(अध्याय ३ को विशेष रूप से पढ़िए) देश में ज्यों-ज्यों मुद्रा की सख्या कम होती जायेगी, त्यों त्यों वस्तुओं की कीमतें गिरती

*अवमूल्यन तथा विनिमयपात मे अन्तर—इन दोनों में बहुत कम अन्तर है। वास्तव में, अवमूल्यन विनिमय पात से जरा आगे की बढी हुई स्थिति है। यहा पर सिक्के का मूल्य विनिमय-पात की अपेक्षा अधिक गिरा दिया जाता है। तो भी इन दोनों में यह अन्तर है कि अवमूल्यन सरकार द्वारा किया जाता है जब कि विनिमय पात आर्थिक शक्तियों के परिणामवश अपने आप होता है। दूसरा अन्तर यह भी है कि विनिमय पात में विनिमय की प्राकृत दर (normal rate of exchange) वही रहती है सिर्फ दैनिक दर (day to day rate of exchange) गिर जाती है, जबकि अवमूल्यन में प्राकृत दर को ही बदल दिया जाता है—प्राकृत दर पहिले से कम कर दी जाती है।

†मुद्रा सकुचन और अवमूल्यन या विनिमय पात में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि मुद्रा सकुचन में विदेशी विनिमय की दर वही रहती है, पर देश में वस्तुओं की कीमत गिर जाती है। इसके विपरीत, अवमूल्यन तथा विनिमय पात में सिक्के की कीमत, विदेशी मुद्रा में गिर जाती है, परन्तु देश में वस्तुओं की कीमतें वही रहती हैं

जायगा और कीमतो क गिरने से देश के निर्यात बढने लगगे और आयात घटने लगगे यद्यपि इससे देश म मन्दी और बकारी भी फल सकती है जो देश के हित म नही है।

(४) निर्यात कर म कमी (Reduction in Export Duty)—जब देश में निर्यात-कर म सरकार कमी कर देती है तब भी देश के निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है क्योकि निर्यात कर म कमी होने के कारण भी उनको निर्यात पहले का अपेक्षा सस्ता पडने लगता है जसे फरवरी १९५२ म भारतीय सरकार ने जूट निर्यात कर में ५०% की कमी कर दी जिसस इसके निर्यात का प्रोत्साहन मिला।

(५) सरकारी आर्थिक सहायता देकर (Granting of Bounties)—कभी-कभी सरकार देश के निर्यात करनेवालो को आर्थिक सहायता (Bounty) भी देता है जिसस दूसर देशो के बाजारो में उनको वस्तुएँ सस्ती दर पर बची जा सक। और इस प्रकार उनके निर्यातो म वद्धि की जा सके। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि भारतीय चानी का मूल्य २५ रु० प्रति मन है और जावा की चीनी का १७ रु० प्रति मन। यदि भारतीय सरकार चानी के निर्यात करनेवालो को १० रु० प्रति मन के हिसाब म आर्थिक सहायता दे द तो चानी का मूल्य गिरकर १५ रु० प्रति मन रह जायगा। अब भारत की चानी जावा की चानी की तुलना म दूसरे देशो म भी बची जा सकगी।

इस प्रकार की सरकारी सहायता से देश के उत्पादको को तो कोई हानि नही होती हाँ जनता को अवश्य अतिरिक्त कर देना पडता है। क्योकि इस प्रकार की सहायता देन स सरकार के व्यय बढ जाते हैं जिनकी पूर्ति जनता म करो को वसूली स ही की जाती है।

(ब) आयातो का घटना

(*Curtailment of Imports*)

आयात म कमी नीच लिख तरीको स की जा सकती है —

(१) आयात-कर लगाकर (Levying of Import Duties or Tariffs)—सरकार बाहर स आने वाली वस्तुओ पर आयात कर लगाकर उनकी कीमत बढा सकती है। वस्तुओ की कीमत बढन स उनकी माँग गिर जायगी तथा देश क आयात में कमी आ जायगी। जस भारत-सरकार विदेशो से आनेवाली कारो पर यदि १००० रु० प्रति कार कर लगा द तब कारो की कीमत १००० रु० की कार बढ जायगी। कीमत बढन पर लोग कम कार खरीदग तथा विदेश स कम कारें आयगी। इस प्रकार आयात कर द्वारा देश का आयात कम की जा सकता है।

(२) कोटा प्रणाली (Quota System)—आयात कोटा क द्वारा भी देश अपना आयात कम कर सकता है। आयात कोटा में सरकार बाहर स मगाई जानवाली वस्तुओ की मात्रा निश्चित कर देती है। इस मात्रा स अधिक देश में वह चीज नही मगाई जा सकती। यदि भारत-सरकार आज मोटरो का आयात कोटा १००० कार प्रति वर्ष बाध द तब भारत म सिफ १००० मोटरें ही बाहर स मगाई जा सकगी। अगर कोई १

मोटर भी अधिक मँगाना चाहेगा तो वह ऐसा नही कर सकेगा। हाँ सरकार बाहर से मँगाई जानेवाली वस्तुओ के कोटे आवश्यकतानुसार घटा-बढा अवश्य सकती है।

[आयात कोटा प्रणाली के अन्तर्गत किसी देश की सरकार आयात करने का लाइसेन्स देश के कुछ चुने हुए व्यापारियो को ही देती है, और वे ही व्यापारी, वही माल उसी मात्रा में मँगा सकते हैं जैसा वहाँ की सरकार देश की आर्थिक आवश्यकताओ के कारण उचित समझती है। इसीलिए इस प्रणाली को लाइसेन्स प्रणाली (Licensing System) भी कहते हैं।]

आयात कोटे कई प्रकार के होते हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित है—

(अ) **एकतरफा आयात कोटा** (Unilateral Import Quota)—जब किसी देश की सरकार किसी वस्तु की आयात की मात्रा को जो एक समय में मँगाई जा सकती है बिना उन देशो से समझौता किए निश्चित कर देती है, तब ऐसे प्रतिबन्ध को एकतरफा आयात कोटा कहते है। (एकतरफा इसे इसलिए कहते हैं कि यह प्रतिबन्ध सरकार बिना दूसरी विदेशी सरकार से पूर्व समझौता किए लागू करती है।)

यह एकतरफा कोटा भी दो प्रकार का हो सकता है —

(१) **ग्लोबल कोटा** (Global Quota)—यहाँ पर सरकार आयात की मात्रा (maximum quota) निश्चित कर देती हैं। यह मात्रा किसी भी कीमत पर किसी भी देश से मँगाई जा सकती है। यहाँ पर आयातकर्त्ताओं को यह छूट रहती है कि वह उस निश्चित मात्रा तक कही से माल मँगा ले।

(२) **विभाजित कोटा** (Allocated Quota)—इसके अतर्गत देश की सरकार प्रत्येक आयात की केवल अधिक से अधिक मात्रा ही निश्चित नहीं करती बल्कि यह भी निश्चित करती है कि कौन-सी वस्तु कितनी और किस देश से मँगाई जा सकती है। विभिन्न निर्यातक देशो के बीच कोटे का विभाजन कर दिया जाता है और देश मे एक वर्ष के भीतर जितनी आयात होने वाली वस्तु की मात्रा है, उसे इनमे परस्पर वितरित कर देते है। कोटे को इस प्रकार वितरित करना मनमाना-सा होता है। किन्तु कोटा निर्धारण करते समय किसी देश द्वारा गत वर्षों मे भेजी गई वस्तु की मात्रा का सरकार को ध्यान रखना पड़ता है।

(ब) **दो तरफा कोटा** (Bi-lateral Quota)—इससे उस व्यापारिक रोक से मतलब है जो दो देशो मे समझौते के पश्चात् तय होता है जैसे १९३४ में भारत और जापान के बीच Indo-Japanese Agreement हुआ और यह तय हुआ कि भारत अपनी कपास की एक निश्चित मात्रा जापान को निर्यात करेगा और बदले में जापान से एक निश्चित कपड़े की मात्रा का आयात करेगा। [जब देश की सरकार केवल एक निश्चित मात्रा तक ही किसी विशेष देश से रियायती (concessional) आयात-कर देकर मँगवाने की आज्ञा देती है और यदि देश के व्यापारी इस निश्चित मात्रा से अधिक माल मँगवाना

चाहते हैं तो मँगवा तो सकते हैं परन्तु उस अधिक आयात पर उनको दण्ड के रूप में अधिक आयात-कर देना पड़ता है तो इस को टरिफ कोटा (Tariff Quota) कहते हैं।]

आयात-कर और आयात कोटा दोनों का काम आयात को कम करना है। कोटे का तरीका आयात-कर से अधिक प्रभावकारी है। इसमें सन्देह नहीं कि आयात कर से विदेशी प्रतियोगिता कम हो जाती है किन्तु इसमें उसको का विदेशी वस्तु मँगाने से रोका नहीं जा सकता। यदि लोग पहले से अधिक कीमत देने को तैयार हों तो वे जितनी चाहें उतनी ही विदेशी वस्तु मँगा सकते हैं। पर कोटा प्रणाली में निर्धारित की गई मात्रा से अधिक वस्तु किसी भी हालत में नहीं मँगाई जा सकती। कोटा पद्धति की एक दूसरी विशेषता यह भी है कि कोई भी देश आयात कर न लगाने के व्यावसायिक समझौते में बंधा होने पर भी संरक्षित नीति को अपना सकता है। और यही कारण है कि कोटा-पद्धति आजकल अधिकतर अपनाई जाती है। परन्तु कोटा-पद्धति से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बड़ी गड़बड़ी मच जाती है। दूसरे देश भी इस देश की वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने लगते हैं फलतः निर्यात घट जाता है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि कोटा प्रणाली अधिक लोचदार (flexible) है अर्थात माँग के अनुरूप इसमें घटा-बढ़ी हो सकती है, तो भी इससे कभी-कभी बड़ी हानि होती है। जब विभिन्न देशों में कोटे का वितरण कर दिया गया तो इसका मतलब यह हुआ कि देश बिना कोटेवाले देशों के बाजारों से वंचित हो जाता है और यदि इसमें किसी भी देश की कीमत गिरती है तो इससे इस देश को लाभ नहीं हो सकता। साथ ही जब आयात कोटा एक बार नियत हो जाता है तो इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता चाहे आयात की आवश्यकता ही कम क्यों न हो जाय अथवा दूसरे देशों में आयात वस्तु की कीमत ही क्यों न गिर जाय। और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सरकार भी उस आय से वंचित रह जाती है जो आयात कर लगाने से प्राप्त हो सकती थी।

(३) सरकारी आर्थिक सहायता देकर (Granting of Bounties and Subsidies)—जैसा कि हम अभी देख चुके हैं कभी कभी सरकार देश के उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर स्वदेशी वस्तु का मूल्य कम कर देती है जिससे वे विदेशी वस्तुओं की प्रतियोगिता के सामने ठहर सकें। ऐसा करने से न केवल निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है वरन आयात भी घटते हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिए एक बाहर से आई हुई बाईसिकिल १०० रु० में पड़ती है और देश में बनी हुई बाइसिकिल की लागत १२० रु० है। अब यह मान लीजिए कि भारत सरकार देश की बनी बाईसिकिलों पर २८ रु० प्रति बाइसिकिल की आर्थिक सहायता देती है तो देश की बनी हुई बाईसिकिल केवल ९८ रु० में पड़ेगी। इसलिए वह अधिक मात्रा में बनेगी और बिकेगी। फलतः बाहर से कम बाइसिकिल मँगाई जायगी और आयात घटेगा।

इस प्रकार की सरकारी सहायता से उपभोक्ताओं को लाभ रहता है, क्योंकि उन्हें कम कीमत पर बाईसिकिल मिल जाती है। परन्तु सरकार का व्यय बढ़ जाता है और परिणामवश जनता को कर अधिक देना पड़ता है।

(४) विनिमय नियंत्रण (Exchange Control)—एक और तरीका आयात घटाने और निर्यात बढ़ाने का विनिमय नियंत्रण है। अवमूल्यन से देश की प्रतिष्ठा को हानि होती है, ऐसा समझा जाता है। मूल्य पात से भी लाभ नहीं होता क्योंकि दूसरा देश भी मूल्यपात कर देता है। मुद्रा सकुचन का परिणाम भी बुरा होता है, क्योंकि इससे देश में मंदी और बेकारी होती है। इसलिए Exchange Control की विधि निकाली गई है। इसमें विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर एकाधिकार कर दिया जाता है और स्वतन्त्र बाजार बंद कर दिया जाता है। (इस सम्बन्ध में विदेशी विनिमय अध्याय को पढ़िए।)

QUESTIONS

1. What is meant by Balance of Payments?
   How would you correct an adverse Balance of Payments? (Agra 1950)

2. Distinguish between Balance of Trade and Balance of Payments. (Agra 1957, 1954S.) What are the principal items to be taken into account in estimating a country's balance of payments? (Agra 1951s, Alld. 1947, Rajputana 1958, Sagar 1957

or

'In any event, the balance of trade does not tell the whole story'. Examine this statement from the point of view of the position of India and England. (Agra 1956)

3. What is 'balance of payments'? How may disequilibrium arise in a country's balance of payments and how may such disequilibrium be corrected? *(Alld. 1953, Agra 1956s, 1954)*

4. Explain how
   "Our imports are paid for by our exports.' (Agra 1958)
   "Imports and Exports tend to be equal."

5. Write short notes on —
   (a) Import Quotas and Export Quotas (Agra 1957s, 1955, 1954
   (b) Economic Controls (Agra 1945)
   (c) Global Quotas (Agra 1958)
   (d) Equation of Indebtedness (Agra 1948)
   (e) Invisible exports and imports (Agra 1951)

५४

व्यापार-नीति

(Commercial Policy)

उन्मुक्त व्यापार और संरक्षण

(Free Trade vs Protection)

जब दो देशों में बिना किसी रोक-थाम के व्यापार होता है तो इस उन्मुक्त व्यापार या स्वतन्त्र व्यापार कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि भारत इँगलैंड को और इँगलैंड भारत को बिना किसी प्रतिबन्ध के और बिना कुछ लिये हुए (सिवाय कीमत और मार्ग-व्यय के) सामान भेजता है, तो ऐसी स्थिति में हम इस भारत और इँगलैंड के मध्य हुए व्यापार को उन्मुक्त या स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) कहेंगे। ऐसी स्थिति में आयात या निर्यात पर कर नहीं लगाये जाते और न कोई और ही प्रतिबंध लगाये जाते हैं, अत दो देशों में व्यापार बिना किसी रुकावट के होता है,। किन्तु यदि भारत का माल इँगलैंड और इँगलैंड का माल भारत में बिना किसी कर के दिये हुए न पहुँच सके तब हम इसे उन्मुक्त व्यापार नहीं कह सकते। ऐसा व्यापार संरक्षण का व्यापार कहा जायेगा। संरक्षण (Protection) में दो देशों के बीच होनेवाले व्यापार पर प्रतिबंध लगता है। यह प्रतिबंध अधिकतर उस समय लगाये जाते हैं जब कि विदेशी प्रतियोगिता के कारण स्वदेशी उद्योग-धंधे ठप्प होने लगते हैं ऐसी दशा में इनको प्रोत्साहन देना सरकार का कर्तव्य हो जाता है। वस्तुओं के आयात रोक कर अपने उद्योग-धंधा को बढ़ावा दिया जाता है। इस प्रकार की रुकावटें प्राय आयात करों के रूप में डाली जाती हैं अर्थात देश में बाहर से आनेवाले विदेशी माल पर कर लगाये जाने लगते हैं। यह कर दो उद्देश्यों से लगाये जाते हैं —

(१) अपने देशी उद्योग धंधों की सुरक्षा करने के लिए—आयात कर लगाकर विदेशी माल की कीमत बाजार में बढ़ा दी जाती है और विदेशी वस्तुओं की कीमत बढ़ जाने से देश के लोग उन्हें न खरीदकर स्वदेशी वस्तुएँ खरीदने लगते हैं। इस प्रकार देशी उद्योग-धंधों को विदेशी प्रतियोगिता से बचा लिया जाता है। ऐसे आयात करों को संरक्षण कर (protective duties) कहते हैं और जिस देश में यह लगाये जाते हैं उसे संरक्षित देश (protectionist country) कहा जाता है।

(२) राज्य के व्यय को पूरा करने के लिए—कभी कभी सरकार अपने व्यय को पूरा करने के लिए ही, न कि देशी धंधों की सुरक्षा के लिए, विदेशी वस्तुओं पर आयात-कर लगाती है। ऐसे करों (taxes and duties) को (revenue duties) कहते हैं। यह कर देश के उद्योग-धंधों को लाभ पहुँचाने अथवा विदेशी धंधों को हानि पहुँचाने के

कारण नहीं लगाए जाते हैं। इनका उद्देश्य तो सिर्फ राज्य के लिए कुछ आय इकट्ठा करने का होता है।

संरक्षण और उन्मुक्त व्यापार के बीच की भी कई एक स्थितियां होती हैं जिन्हें हम अलग-अलग नाम से पुकारते हैं —

उचित-व्यापार-नीति (Policy of Fair Trade)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत देशी तथा विदेशी वस्तुओं के उत्पादन की लागत को समान किया जाता है। इसका ध्येय देशी और विदेशी दोनों उत्पादकों को समान रूप से अवसर देना है। उदाहरण के लिए मान लो कोई 'अ' देश 'ब' देश को निर्यात की जानेवाली वस्तुओं पर आर्थिक सहायता (bounties) देता है जिससे वे वस्तुएँ सस्ती होकर 'ब' देश के बाजार में भली भांति अधिकार जमा लें ऐसी स्थिति में 'ब' देश को अपने स्वदेशी धंधों की रक्षा करना आवश्यक हो जाता है यह रक्षा 'अ' देश की वस्तु पर आयात कर (import duty) लगाकर की जा सकती है और यदि यह आयात कर आर्थिक सहायता के बराबर होगा तो दोनों देशों की वस्तुओं की कीमत एक-सी हो जायगी। इसी प्रकार यदि आय प्राप्ति के उद्देश्य से देश में बाहर से आनेवाले सामान पर आयात कर लगा दिया जाता है तो कभी कभी दोनों देशों की वस्तुओं की कीमत बराबर करने के लिए देश के उद्योग धंधों पर प्रतिकर (counter vailing duty) लगा दिया जाता है जिससे कि दोनों देश के उत्पादकों की स्थिति एक-सी हो जाती है। उदाहरण के लिए, जब भारत में विलायती कपड़े पर आयात-कर बड़ी मात्रा में लगा दिया था तो विलायतवालों ने शोर मचाया कि ऐसा होने से उनका माल भारत में नहीं बिक सकेगा, और उनके उद्योग को धक्का पहुँचेगा। तो दोनों देशों की स्थिति को एक-सा करने के लिए भारत ने एक कर ऐसे कपड़े पर भी लगा दिया जो भारत में ही बना हो और इसे (counter-vailing excise duty) कहते थे। इस तरह से जब कभी सरकार दोनों देशों के उद्योग धंधों को समान स्थिति में रखने के लिए आयात कर तथा प्रतिकर लगाती है तो इस अवस्था को सम-व्यापार की अवस्था कहते हैं।

पारस्परिक-व्यापार-नीति (Policy of Reciprocity)—इस अवस्था के अन्तर्गत परस्पर विशेष सुविधाओं का आदान प्रदान होता है अर्थात् एक देश किसी एक विशेष दूसरे देश के साथ कोई रियायत करता है और दूसरा देश भी उसके बदले में पहले देश के साथ रियायत करता है। जैसे 'अ' देश 'ब' देश की कुछ वस्तुओं पर से आयात कर उठा लेता है, तो 'ब' देश भी 'अ' देश की कुछ वस्तुओं पर से आयात कर उठा लेगा, और यह नीति पारस्परिक व्यापार नीति कहलाएगी।

प्रतिकार-नीति (Policy of Retaliation)—दो देशों में परस्पर जब आयात-निर्यात सम्बन्धी संघर्ष होता है, तो इसे प्रतिकार कहते हैं। जैसे यदि 'अ' 'ब' की कुछ वस्तुओं पर आयात-कर लगा दे, 'ब' इसका बदला लेने के लिए 'अ' की वस्तुओं पर आयात कर लगा दे जब कि वह अन्य देशों से स्वतन्त्र व्यापार कर रहा हो तो इस नीति को प्रतिकार कहेंगे। मान लीजिए कि जापान चीन के माल पर १०% आयात-कर लगा दे तो सम्भव है कि चीन जापान के माल पर २०% आयात कर लगा दे जिसको देखकर जापान चीन के माल

पर आयात कर १०% से बढाकर ३०% कर दे और एक दूषित चक्र चलने लगे। इस नीति को प्रतिकार नीति कहेंगे।

साम्राज्यकीय रियायत (Imperial Preference)—इस अवस्था के अन्तर्गत बहुत से राष्ट्रो का एक समूह बन जाता है, जो यह तय कर लेते हैं कि अपने समूह के राष्ट्रों से आनेवाली वस्तुओ पर कम कर लगायेंगे, अपेक्षाकृत उन वस्तुओं के जो दूसरे देशो से आती है। ऐतिहासिक रूप से इम्पीरियल-प्रिफरेंस से तात्पर्य उस समूह से है जो ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन देशो ने आपस में समझौता करके बनाया था और जिसके अनुसार इन देशों की वस्तुओ पर लगे आयात-करों में कमी तथा समूह के बाहरी देशो की वस्तुओ पर लगे आयात-करो में वृद्धि कर दी गई थी। इस समझौते का ध्येय बाकी दुनिया के मुकाबले साम्राजीय देशो की वस्तुओ को प्रोत्साहन देना था। उदाहरण के लिए, इस नीति के अनुसार जो माल इगलैंड से अथवा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशो से इस देश में आता था, उस पर भारत सरकार कम कर लगाती थी, परन्तु इन देशों के सिवाय अन्य देशो से आए हुए विदेशी माल पर अधिक कर लगाती थी और इसके बदले में इंगलैंड तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देश भी भारत वर्ष को यही सुविधा देते थे।

ब्रिटेन तो सदा से स्वतन्त्र व्यापारी रहा है, क्योंकि औद्योगिक रूप से प्रगतिशील होने के नाते, उसका हित भी उसी में था, किंतु ब्रिटेन के बाद और देश जो औद्योगिक क्षेत्र में उतरे, वे ऐसा करने में असमर्थ थे। हर देश ने बाहरी देशो की प्रतियोगिता से, अपने नवजात धधो को बचाने के लिए प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक समझा। सरक्षण के पक्ष में जिन देशो में प्रतिक्रिया उठी उनम से अमरिका जर्मनी, फ्रास आदि प्रमुख थे। हाल ही में इंगलैंड ने भी उन्मुक्त व्यापार की स्थिति में महत्वपूर्ण संशोधन किये हैं। सरक्षण वास्तव में आज की व्यापारिक दशा की जान है। अच्छी या बुरी जैसी भी है, पर आज इसकी नीव पक्की हो गई है। हम नीचे उन दलीलो का वर्णन करेंगे जो इसके पक्ष में दी जाती हैं।

सरक्षण के पक्ष में दलीलें

(Arguments in favour of Protection)

(१) शिशु उद्योग दलील (Infant Industry argument)—इस दलील के अनुसार जिस प्रकार एक बड़े आदमी के सामने प्रतियोगिता में एक बच्चा नही टिक सकता है, इसी प्रकार दूसरे राष्ट्रो के विकसित उद्योगो के सामने स्वदेशी उद्योग-धधे (जो हाल ही में शुरू किए गए हो) नही टिक सकते। वे वस्तुओ को इतना सस्ता नही बना सकते जितना कि दूसरे देशो के विकसित उद्योग-धधे बना सकते हैं। अतएव जब तक उद्योग-धधे शिशु-रूप में रहते हैं, तब तक यह आवश्यक है कि उनकी सहायता की जावे, तथा उन्हे विदेशी प्रतियोगिता से बचाया जाये।

जैसे छोटे बच्चो को माँ-बाप की अधिक सहायता की आवश्यकता रहती है, वैसे ही नये धधो को भी कमजोरी की हालत तक सहायता (सरक्षण) की आवश्यकता रहती है। सरक्षण ऐसी अवस्था में नये धधो के लिए बैसाखी का काम देता है, जिसके सहारे वह चलने

लगते हैं। पर जैसे ही यह कमजोरी दूर हो जाये और उद्योग-धंधे सबल हो जायें वैसेही उन्हें स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए, ताकि वे स्वतन्त्र रूप से प्रतियोगिता में भाग ले सकें। लिस्ट का कहना है—"बच्चे का पालन पोषण होना चाहिए, किशोर की रक्षा होनी चाहिए, और जवान को स्वतन्त्रता दे देनी चाहिए" (nurse the baby, protect the child and free the adult)।

जहाँ तक सिद्धान्तो की बात है—वहाँ तक तो यह सब ठीक लगता है और अर्थशास्त्रियो ने इस को स्वीकार भी किया है। पर इसको व्यवहार में लाने में कुछ कठिनाइयाँ हैं पहली कठिनाई तो यही तय करने की होती है कि कौन से धधो को सरक्षण देना चाहिए। यदि इसका भी चुनाव किसी उद्योग विशेष के लिए सही रूप से हो जाये तो दूसरे धधे भी अपने लिए सरक्षण या रियायत मांगेंगे और सरकार के लिए परेशानी पैदा कर देंगे।

दूसरे, यदि किसी उद्योग को अस्थायी रूप से सरक्षण दे भी दिया जाये तो उसका फिर समाप्त करना कठिन है। प्राय यही होता है कि जब मियाद का समय खतम होता है तो उस उद्योग के प्रभावशाली व्यक्ति अपने प्रयत्न द्वारा ऐसा नहीं होने देते। इसके अतिरिक्त सरक्षण कब तक रहे, इसे भी निश्चित करना आसान नहीं है। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों का कहना है कि जब किसी शिशु-धंधे को सरक्षण दिया जाता है, तो वह कभी जवान नहीं हो सकता, हमेशा ही शिशु बना रहता है, और वह कभी अपने पैरों पर नहीं खड़ा हो सकता। "The infant industries never feel themselves grown up—if they grow up at all, they devote their manly strength to fighting for bigger and longer protection"—*Beveridge* अस्तु, उचित यही है कि सरक्षण न प्रदान किया जाये और यदि किया जाये तो केवल उन देशों में जो अभी आर्थिक विकास की अवस्था से गुजर रहे हैं। जो देश उन्नतिशील है, जिनके व्यापार-धंधे बढ़े-चढ़े हैं, उन्हें कृत्रिम रूप से साँस लेकर जीने की आवश्यकता नहीं।

(२) **तरह-तरह के उद्योगों की स्थापना की दलील** (Diversification of Industry argument)—यदि बहुत से अंडो को एक ही टोकरी में रख दिया जाये तो उनके टूटने का डर रहता है, इसी तरह कहा जाता है कि यदि देश में एक ही प्रमुख धंधा है और उसमें कुछ गड़बड़ी हो जाती है तो उसका प्रभाव सारे देश पर बहुत बड़ा पड़ेगा। अत यह आवश्यक है कि देश में उद्योग तरह-तरह के हो। यह तभी हो सकता है जब कि हम नये उद्योगों को सरक्षण दें, ताकि देश की निर्भरता एक ही उद्योग पर न रहे और अनेक उद्योग देश में पनप सकें। जैसे, भारत में कृषि का उद्योग प्रधान है—अन्य उद्योग कम है। देश-हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि केवल कृषि पर ही निर्भरता न रहे, अन्य उद्योग-धंधों का भी विकास हो जिससे देश में "balanced economy" रहे।

(३) **बुनियादी उद्योग-धधो की दलील** (Key Industries argument) इसके अनुसार किसी उन्नतशील देश की समृद्धि उसके बुनियादी धधो के विकास पर ही अवलम्बित है। बुनियादी धधे ही देश की औद्योगिक शक्ति के स्रोत हैं। इसलिए इनकी सुरक्षा एव विकास अत्यन्त आवश्यक है और गहरी प्रतियोगिता से तथा अन्य कठिनाइयों के प्रभाव

से, ऐसे धंधों (जैसे, जहाजी उद्योग, लोहे के कारखाने, रासायनिक, मोटर-निर्माण के धंधे इत्यादि) को संरक्षण देकर इनकी रक्षा करनी चाहिए। और आजकल के लड़ाई के युग में तो यह और भी आवश्यक है, क्योंकि 'defence is more important than opulence' इसी से मिलती-जुलती दलील प्राकृतिक साधनों के सुरक्षित रखने की (Conservation of National Resources argument) है। यह कहा जाता है कि स्वतन्त्र व्यापार ने ब्रिटेन के कोयल की खानों को खाली कर दिया। इसी प्रकार भारत की अबरक, मैंगनीज आदि का अमूल्य भंडार भी इसी के कारण काफी खतम सा हो गया। जब कोई देश ऐसी प्राकृतिक उपज को कच्चे माल के रूप में बाहर भेजता है, तब निश्चय ही इस दलील में बल है क्योंकि इसमें न केवल भविष्य के लिए उन साधनों में देश निर्धन हो जाता है बल्कि 'तैयार माल' बनाने के लाभ भी वह खो देता है, अतः प्राकृतिक साधनों का इस प्रकार स्वतन्त्र निर्यात रोककर उनका संचय तथा संरक्षण करना चाहिए, ताकि इनसे देश की आर्थिक उन्नति हो सके।

(४) **स्वदेशी बाजार की दलील** (Home Market argument)—इसके अनुसार जब देश में आयात-कर लगाये जाते हैं तो बाहरी देशों से माल आना कम हो जाता है और देश के धंधे बढ़ने लगते हैं और इस तरह स्वदेशी वस्तुओं का बाजार विस्तृत हो जाता है क्योंकि जब हम बाहर से माल नहीं खरीदेंगे, तो अपने देश में ही खरीदेंगे, परन्तु इस सम्बन्ध में हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि जब हम बाहर से माल मँगाने में कमी करेंगे, तो हम बाहर अपना माल भी उतना नहीं भेज सकेंगे, जितना कि पहले भेजते थे, "To cut off imports means to cut off exports, it means simply the substitution of exchange within the country for exchange between countries" और इस तरह जहाँ हमारी आयात की वस्तुओं के धंधों में लाभ होगा, वहाँ हमारी निर्यात की वस्तुओं में नुकसान होगा और परिणामस्वरूप देश के कुछ धंधों में बेकारी बढ़ेगी और समृद्धि में कमी आयेगी। दूसरी बात यह है कि संरक्षण से कुल रोजगार में वृद्धि नहीं होती। यदि संरक्षित उद्योगों में बढ़ती होती है, तो पुराने उद्योगों में कमी होती है, और इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि संरक्षण से बाजार का विस्तार होता है। तो भी जब बाहर से आने-वाली वस्तुएँ देश में बनने लगती हैं तो कुछ श्रम और पूँजी अधिक काम में लग जाती है और देशी उद्योगों को लाभ होता है। यहाँ तक कि यदि कुछ बाहर के देशों के लोग देश में कारखाने खोल लेते हैं, जैसा कि बाटा शू-कम्पनी, सनलाईट सोप कंपनी ने भारत में किया है, तो कुछ न कुछ काम श्रमिकों को अधिक मिलने लगता है।

(५) **ऊँची मजदूरी की दलील** (High Wages argument)—कहा जाता है कि जिस देश में मजदूरी की दर ऊँची होती है, वह कम मजदूरी की दर वाले देश का मुकाबिला नहीं कर सकता, इसलिए पहले प्रकार के देश को दूसरे प्रकार के देश से संरक्षण मिलना चाहिए। यह दलील अमेरिकावालों ने सबसे पहले दी थी। उनका कहना था कि अमेरिका में जापान की अपेक्षा मजदूरी अधिक है, परन्तु अमेरिका की वस्तुओं का मूल्य भी जापानी वस्तुओं से अधिक है, और अमेरिका जापान से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता।

परन्तु यह दलील ठीक नही है। यदि यह बात ठीक होती तो आज एशिया और अफ्रीका की आर्थिक वृद्धि होती और उन्ही का माल बाजारो में विकता और ब्रिटेन और अमेरिका को कोई नही पूछता, परन्तु वास्तविकता कुछ औरही है। इसके अतिरिक्त दलील करनेवाले दलील करते समय यह भूल जाते है कि मजदूरी की दर, मजदूर के कार्य करने की कुशलता के अनुसार होती है। अधिक कुशल मजदूर को मजदूरी अधिक मिलेगी, तथा कम कुशल मजदूर को कुछ कम। और यदि अमेरिका और ब्रिटेन के मजदूरो की मजदूरी अधिक है, तो उनकी कार्यकुशलता भी तो अधिक है।

इसी से मिलती-जुलती दलील उत्पादन की लागत म समता (Equalising the Cost of Production argument) की है। मान लो कि स्वदेशी लागत खर्च विदेशी लागत खर्च से १० प्रतिशत अधिक है, तो लोगो का कहना है कि विदेशी आयातो पर १०% कर लगा देना चाहिए जिससे कि दोनो लागतें बराबर हो जायें। यह दलीलें देखने में तो बडी ठीक मालूम देती है, परन्तु ऐसा करने का अर्थ यह होगा कि सब व्यवसाय ही समाप्त हो जायेगा, क्योंकि अतर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार तो लागतों का तुलनात्मक अंतर ही है। इस दलील के अनुसार, देश में जितना ही ऊँचा लागत व्यय होगा, उतना ही अधिक आयात-कर होना चाहिए और जो उद्योग सबसे कम योग्य हो, उसे सबसे अधिक सरक्षण मिलना चाहिए, जो बिलकुल ही गलत होगा।

(६) घर का पैसा, घर में रखने की दलील (argument of Keeping Money at Home)—कहा जाता है कि जब हम विदेशो की बनी हुई वस्तुएँ खरीदते है, तब वस्तुऐं तो हमें मिलती हैं, पर पैसा विदेशियों को मिलता है। जब हम स्वदेश में बनी हुई वस्तुएँ खरीदते हैं, तब हमे पैसा और वस्तुऐं दोनो मिलते है। परन्तु यह धारणा बिलकुल गलत है। पैसा तो केवल विनिमय का माध्यम है, यदि कुछ पैसा देश के भीतर रख लिया जाय, और कुल आयात बद कर दिया जाय, तो उपभोक्ता को स्वदेशी वस्तुओ के बहुत अधिक दाम देने होगे। वास्तविक सतोष तो उसे तभी मिल सकता है, जब बाहर से सस्ता माल देश में आ सकता हो। इसके अतिरिक्त इस दलील के मान लेने का अर्थ यह हुआ कि अतर्राष्ट्रीय श्रमविभाजन से जो लाभ बताये जाते हैं वे सब निरर्थक है।

(७) बदला लेने की दलील (argument based on Retaliation and Bargaining)—सरक्षण के पक्ष में एक दलील यह दी जाती है कि यदि कोई दूसरा देश हमारे व्यापार में बाधा डालता है, तो हमें उससे बदला लेना चाहिए और सरक्षण की शरण लेनी चाहिए। परन्तु ऐसा सोचना भी गलत है। जो भी देश अपने आयात का कम करते हैं, वे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण के लाभ से स्वय अपने को ही वञ्चित रखते हैं। बेवरिज का कहना है कि "If one country has good harbours, while all the rest have bad ones, it will not realise the advantages of its good harbours so fully as if all the rest had good ones also But it will realise some advantage; it will be better off than if it, too, sank rocks all round its coast." ऐसे

देशो की नकल करना इसी भाँति है जैसे कि दूसरे की असगुनी के लिए अपनी नाक काट लेना।

(८) अश्लील प्रतियोगिता से बचने की दलील (Dumping argument) यदि विदेशी उद्योगपति यह अनुभव करता है कि वह अपने फर्म के आकार को बढ़ाकर वस्तु की लागत कम कर सकता है, तो वह वस्तु को बहुत अधिक मात्रा में उत्पन्न करता है, और जितनी वस्तु ज्यादा बन जाती है, उसको दूसरे देशो में बहुत कम दामो में बेच देता है। [जब वह ऐसा करता है—यानी अपने देश में वस्तु की कीमत अधिक वसूल करता है तथा दूसरे देश में उसी वस्तु को कम कीमत पर बेच देता है—तब इसे राशिपातन (Dumping) कहा जाता है।]

राशिपातन द्वारा दूसरे देश के उद्योगो को चौपट किया जा सकता है। इसलिए यदि कोई देश यह देखता है कि अन्य देश राशिपातन का सहारा लेकर माल को उस देश में बहुत कम मूल्य पर बेच रहा है, तब उस देश को अपने देश के धधों को बचाने के लिए आयात कर लगाना आवश्यक हो जाता है। आयात कर से विदेशी वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है तथा देशी उद्योग-धधो की रक्षा हो जाती है, अत अर्थशास्त्रियों का कहना है कि देश के उद्योग-धधो को विदेश के राशिपातन से बचाने के लिए आयात कर लगाना उचित है और यह ठीक भी है।

सरक्षण के विपक्ष मे (अथवा स्वतत्र व्यापार के पक्ष मे) दलीले
Arguments against Protection (or in favour of Free Trade)

(१) सरक्षण के विरुद्ध सबसे बड़ी दलील यह है कि यह तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त (principle of comparative cost) के विरुद्ध है। और इस तरह किसी देश के प्राकृतिक साधनो के सम्पूर्ण उपयोग करने के रास्ते में यह एक रोडा है। स्वतत्र व्यापार का आधार श्रम की विभाजनशीलता (division of labour) है। जितना अधिक श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण (specialisation) होगा, उतनी ही आर्थिक समृद्धि होगी, इसलिए व्यापार स्वतत्र होना चाहिए और सरक्षण द्वारा उस पर कोई रोक नही लगनी चाहिए। आज कल जब कि जनसख्या इतनी बढ़ गई है और मनुष्यों के जीवन-स्तर को उठाने की इतनी आवश्यकता है, ससार का उत्पादन हर सभव उपाय से बढ़ना चाहिए और आयात-निर्यात बे-रोक-टोक होने चाहिए। इससे वस्तुओ की लागत और कीमत भी कम होगी, जो उपभोक्ता के बडे हित में है। हमको यह बात नही भूलनी चाहिए कि आयात करो का भार विदेशी उपभोक्ताओं पर नही पडता, बल्कि अपने देश के उपभोक्ताओ पर ही पडता है, क्योकि आयात कर लगाने के कारण उन्हे पहले से ऊँचे दाम देने पडते हैं। अत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन और विशिष्टीकरण के लाभ उठाने के लिए स्वतत्र व्यापार का होना जरूरी है।

(२) दूसरी बात यह है कि सरक्षण से उत्पादन की लागत बढ़ती है और इस प्रकार रहन-सहन की भी लागत बढ़ जाती है। सरक्षित उद्योग उत्पादन की लागत घटाने के लिए

कुशलता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करते और विदेशी प्रतियोगिता का कोई भय न होने के कारण आलस्य में आ जाते हैं और जनता के सरक्षण पर पनपने लगते हैं, जो राष्ट्र के हित मे नही है। इसके विपरीत स्वतत्र व्यापार में उपभोक्ता और उत्पादक दोनो को ही लाभ होता है। उपभोक्ता कीमत की कमी से लाभ उठाते है, क्योकि स्वतत्र व्यापार में आयात के कारण सस्ती कीमत रहती है। उत्पादक इसलिए लाभ में रहते है कि उनके उत्पादन के उपकरण उस व्यवस्था के लिए काम करने लगते है जिसके वह अनुकूल है और इस प्रकार सही दिशा मे अपने साधनो को लगा देने से वे अधिकाधिक उत्पत्ति कर सकते है।

(३) एक और बात यह है कि आयात करो से एकाधिकारी सघो (monopolies) आदि का जोर बढता है। सरक्षण एकाधिकार की जननी है (protection is the mother of trusts)। जब व्यापार बेरोक और स्वतत्र होता है, तब प्रतियोगिता के कारण, एकाधिकार सघो के बनने की कम सभावना होती है।

(४) अन्त में यह बडा प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि वस्तुएँ ही वस्तुओ का मूल्य देती है (goods must pay for goods)। दूसरे शब्दो में किसी भी देश का निर्यात उसके आयात के बराबर है (exports and imports tend to be equal) और यदि कोई देश सरक्षण द्वारा अपनी आयातो को रोकता है, तो वह केवल अपने निर्यातो को विदेशो को उधार देकर ही बनाए रख सकता है, किन्तु इस तरह उधार देने की भी एक सीमा होती है। इसलिए परिणाम सामान्यत यही होता है कि आयात की कमी से निर्यातों में भी कमी आ जाती है। प्राय यह भी होता है कि आयात की कमी से विदेशो में बदला लेने की प्रतिक्रिया होती है और उनका भी रुख दूसरे देश की आयात को कम कर देना होता है। इस सबका परिणाम यह होता है कि घर के बाजार बढ जाने से जो लाभ घर के उद्योग-धधो को होता है, वह दूसरे देश के निर्यातो के ऊपर ही होता है। और यह कहना कठिन है कि घर के धधो को हुआ लाभ विदेशी व्यापार की इस हानि की पूर्ति कर सकता है।

इन बातो के अतिरिक्त, सरक्षण के पक्ष में जो दलीलें ऊपर दी गई हैं, वे भ्रम पैदा करनेवाली हैं, और आलोचना के सामने ठहर नही सकती। इनमें कौन-सा अच्छा है कौन-सा बुरा, सरक्षण अथवा स्वतत्र व्यापार, इसकी सही जाँच का हमारा पैमाना है, सामाजिक उत्पादन की अधिकाधिक वृद्धि। जिस किसी भी तरीके से सामाजिक उत्पादन अधिक से अधिक बढे वही उचित है और हम कह सकते है कि सामान्यत किसी राष्ट्र या समाज की आय उसके विशिष्टीकरण और श्रम विभाजन की कुशलता पर निर्भर करती है। इसलिए अधिक से अधिक व्यापारिक स्वाधीनता अपेक्षित है यद्यपि किसी विशेष काल या स्थान पर सरक्षण की भी उपयोगिता होती है।

सरक्षण के खतरे और दोष (dangers and draw-backs) कुछ यह भी है —

(१) सरक्षित करो से वस्तुओ के दाम बढ जाते है, इसमे उपभोक्ता को हानि होती है।

(२) धनी उत्पादकों को लाभ रहता है पर साधारण लोगों की हानि रहती है। इससे धन के वितरण की असमानता और बढ़ भी जाती है। पूँजीवादी शोषण की जड़ें मजबूत हो जाती हैं।

(३) असरक्षित उद्योगों की दशा पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(४) राजनैतिक भ्रष्टाचार का भी डर रहता है।

(५) सरक्षण से एकाधिकारी सघों की स्थापना होती है।

इत्यादि इत्यादि।

तो भी सावधानी से तैयार की गई सरक्षण की योजना से ये खतरे कम से कम किये जा सकते हैं—और उचित परिस्थितियों में लगाये गये सरक्षण से देश को जो लाभ होते हैं उनके सामने यह हानि कुछ भी नहीं है। [जब कोई देश केवल कुछ उद्योगों का ही यानी उन उद्योगों का ही जिनमें विकसित होने की शक्ति तो है किन्तु अब तक बाहरी देशों की प्रतियोगिता के कारण उन्नति नहीं हो सकी है सरक्षण द्वारा प्रोत्साहन देता है जैसा कि भारत में पहिली बार १९२३ में किया गया था तो उसे Discriminating Protection कहते हैं। इसका मतलब यह है कि सभी उद्योगों को बिना जाँच-पड़ताल किए सरक्षण नहीं दिया जाता अपितु कुछ थोड़े से होनहार उद्योगों को ही दिया जाता है और वह भी कुछ शर्तों के साथ।]

सरक्षण देने के विभिन्न तरीके

(Different Methods of Protection)

(अ) सरक्षण टैरिफ (Protective Tariff)—यह तरीका सबसे अधिक प्रचलित है। इसमें आयातों को कम करने के लिए उन पर आयात कर लगा देते हैं। (विशेष विवरण के लिए पिछले अध्याय में शीर्षक How disequilibrium may be corrected" पढ़िए।)

(ब) आयात कोटा (Import Quota)—इसके द्वारा एक सरकार देश में बाहर से आनेवाली वस्तुओं की मात्रा निश्चित कर देती है। देश के आयात कर्त्ता इस मात्रा से अधिक वस्तु बाहर से नहीं मँगा सकते। कभी कभी किन देशों से कितना माल मँगाया जाय यह भी निश्चित कर दिया जाता है। (विशेष विवरण के लिए पिछले अध्याय में शीर्षक How disequilibrium may be corrected देखिए।)

(स) सरकारी आर्थिक सहायताएँ (Bounties and Subsidies)—यह सरकार द्वारा व्यापारियों और औद्योगिकों को दी गई रियायतें और सहायताएँ होती हैं। इनका ध्येय आयात कम करना और निर्यात बढ़ाना होता है। (विशेष विवरण के लिए पिछले अध्याय में शीर्षक "How disequilibrium may be corrected" देखिए।

(द) विनिमय नियंत्रण (Exchange Control)—इसके द्वारा लोगों की आयात करने की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। (विशेष विवरण के लिए पिछले अध्याय में शीर्षक "How disequilibrium may be corrected" पढ़िए।

Questions

1 State and examine the chief arguments generally advanced in favour of Protection. (Agra 1954s 52, 52s. Alld 1955, Rajputana 1958)

2. Summarise the arguments for and against Protection (Alld. 1946, Agra 1944)

3. Indicate the dangers of a policy of protection. How would you prevent or minimise them? (Agra 1952s, 51s)

4 In what different forms can protection be given? (Agra 1944) Discuss the relative merits of, (a) import duties, (b) bounties and (c) import quotas as methods of protection How do you account for the increasing use of import quotas in recent years? (Agra 1953)

5. Examine the relative usefulness of the following as methods of protection to industries —

(a) Tariffs, (b) Quantitative restrictions, (c) Subsidies, (d) Tariff quotas. (Agra 1956)

6 Under what conditions is tariff protection justified? Show how it helps the economic development of a country. Give examples in support of your answer (Agra 1958)

7 Write short notes on —

(a) Free Trade and Fair Trade (Agra 1948)
(b) Imperial Preference (Alld & Agra 1956,)
(c) Reciprocity (Agra 1949)
(d) Counter vailing Duties (Agra 1950)
(e) Discriminating Protection (Agra 1952

विदेशी विनिमय
(FOREIGN EXCHANGE)

५५

विदेशी विनिमय

(Foreign Exchange)

द्रव्य का मूल्य दो तरह का होता है। पहला आन्तरिक, दूसरा बाहरी। आन्तरिक मूल्य इस बात का पता देता है कि मुद्रा का मूल्य देश के अन्दर क्या है। इस मूल्य को हम देश में वस्तुओं की कीमत द्वारा द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की सहायता से ज्ञात करते हैं। बाहरी मूल्य इस बात का पता देता है कि देश की मुद्रा का दूसरे देशों की मुद्राओं में क्या मूल्य है। इस बाहरी मूल्य को हम विदेशी विनिमय की दर (Foreign Rates of Exchange) द्वारा ज्ञात करते हैं (यानी उन दरों के द्वारा जिन पर एक देश की करेंसी दूसरे देश की करेंसी मे बदली जाती हैं)। इस अध्याय में हम इस दूसरे मूल्य के विषय में ही अध्ययन करेंगे।

हमें अपने देश की मुद्रा की दर दूसरे देशों की मुद्रा मे जानने की आवश्यकता क्यों पड़ती है। इसका कारण यह है कि आज के युग में कोई देश दुनिया के अन्य देशों से अलग नहीं रह सकता। हर एक देश दूसरे देशों से व्यापार करता है, अत उसे बाहर के देशों से लेन-देन भी करना पड़ता है। पर एक देश दूसरे देश की मुद्रा स्वीकार नहीं करता। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि मैं १००० रुपये की किताबें इंगलैंड से खरीदता हूँ। भारतीय मुद्रा का तो इंगलैंड के किताबवाले के लिए कोई मूल्य है नहीं, अत. मुझे उसी मुद्रा में हिसाब चुकाना चाहिए जो कि इंगलैंड में चल सकता हो—क्योंकि इंगलैंड की मुद्रा स्टर्लिंग है, अत मुझे अपने १००० रु० स्टर्लिंग में बदलवाने पड़ेंगे। इसी तरह मान लीजिए कि इंगलैंडवाले ने भारतीय निर्यातकर्ता से गेहूँ मँगवाये। तब उसे अपने पौंड स्टर्लिङ्ग को रुपये मे बदलवाना आवश्यक हो जायेगा। ऐसा करना इसलिए आवश्यक हो जाता है, क्योंकि रुपया इंगलैंड में और पौंड भारत में कानून साध्य नहीं माने जाते। यदि एक ऐसा द्रव्य होता जो कि संसार के प्रत्येक देश में कानून साध्य मान लिया जाता, तो इस प्रकार के विनिमय की कोई आवश्यकता न रह जाती। अमेरिका ने एक बार यह प्रस्ताव रखा था कि सब देश एक अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य इकाई जिसे 'यूनिटास' (Unitas) कहा जाय (और जो कि १३७ ग्रेन्स अच्छे सोने के बराबर हो) को व्यवहार में लायें। और इसी तरह इंगलैंड ने यह प्रस्ताव रखा था कि सब देश एक ही करेंसी बैंकोर (Bancor) को मान लें। परन्तु इन दोनों प्रस्तावों में से कोई भी प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं हो पाया। और एक देश की करेंसी को दूसरे देश की करेंसी में, हिसाब का भुगतान करते समय, बदलना ही एक उपाय रह गया।

अब प्रश्न यह उठता है कि विदेशी विनिमय की दर अर्थात् देशी मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में मूल्य ज्ञात करने की क्या विधि है। इस विषय को हम चार प्रकार की मुद्रा-व्यवस्थाओं में अलग अलग अध्ययन करेंगे—

(अ) जब दोनों देश स्वणमानवाले हों (when both countries are on gold standard)।

(ब) जब एक देश स्वणमान पर और दूसरा रजतमान पर हो (when one country is on gold standard, and the other is on silver standard)।

(स) जब एक देश स्वर्ण-मान पर तथा दूसरा देश कागज़ी मान पर हो। (when one country is on gold standard and the other is on paper standard)।

(द) जब दोनों देश कागज़ी मान वाले हों (when both countries are on paper standard)।

(ई) जब इन देशों की सरकारें अपनी आवश्यकतानुसार विनिमय दर निश्चित करें (when there is exchange control)

(अ) जब दोनों देश स्वणमान पर हों —

जब देश स्वणमान पर आधारित होते हैं तब वे सोने के सिक्कों का (जिनकी स्वतंत्र मुद्रा-ढलाई होती है) प्रयोग करते हैं, और सोने को देश में आसानी से बिना सरकार की आज्ञा लिये मँगाया भी जा सकता है तथा देश के बाहर भेजा भी जा सकता है। ऐसी दशा में एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा में ज्ञात करने के लिए हमको पहिले यह जानने की आवश्यकता है कि दोनों देशों के सिक्कों की स्वर्णमात्रा का अनुपात (Mint Par of Exchange) क्या है। यह वह अनुपात है जो देशों की प्रामाणिक मुद्राओं की वैधानिक धातु मात्रा की तुलना करने से व्यक्त हो (The mint par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of the standard monetary units of two countries on the same metallic standard)। उदाहरण के लिए यदि हमें इंगलैंड के पौंड का मूल्य अमरिका के डालर में मालूम करना है तो हमें दोनों सिक्कों के सोने की मात्रा का अनुपात मालूम करना पड़ेगा। यदि एक पौंड में सोने की मात्रा उतनी ही है जितनी कि ४.८६६ अमेरिकन डालर में, तो एक पौंड का मूल्य ४.८६६ डालर होगा। [इसी तरह यदि एक पौंड में उतना ही सोना है जितना कि २५.२२१५ फ्रैंक (फ्रांस का प्रमुख सिक्का) में तो इंगलैंड के एक पौंड का मूल्य २५.२२१५ फ्रैंक होगा।] और यदि कोई अमरिकन व्यापारी इंगलैंड को एक पौंड देना चाहता है, तो यदि वह चाहे तो वह ऐसा कर सकता है कि ४.८६६ डालर लेकर उन्हें पिघलाकर उनके सोने को इंगलैंड भेजकर और वहां टकसाल में इसके बदले एक पौंड लेकर भुगतान कर दे। (इसी प्रकार अँगरेज व्यापारी भी अमेरिकन व्यापारी को डालर में भुगतान कर

सकता है) और इस तरह विनिमय की टकसाली दर (mint par of exchange) £१=४ ८६६ हुई। यदि इससे ऊँची या नीची दर होगी तो पाउड पिघलाकर डालर और डालर पिघलाकर पाउँड में बदले जाने लगेंगे और एक देश से दूसरे देश को भेजे जाने लगेंगे।

परन्तु स्वर्ण को एक देश से दूसरे देश को भेजने में कुछ खर्चा बैठता है जैसे किराया, बीमा, कमीशन आदि। मानलो, इँगलैंड और अमेरिका के बीच यह खर्चा ०२४ डालर होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक पौंड के भुगतान के लिए अब एक अमेरिकन केवल ४ ८६६ डालर ही नहीं भेजेगा, बल्कि उनके साथ ०२४ डालर खर्च भी करेगा, अत कुल मिलाकर उसका खर्चा ४ ८९(४ ८६६+ ०२४) डालर पड़ेगा। इसलिए वास्तव मे ४·८९ डालर का मूल्य £१ के बराबर हुआ। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति इँगलैंड से एक पौंड अमेरिका भेजता है, तो अमेरिकन को ४ ८६६ डालर न मिलकर केवल ४ ८४२ डालर मिलेंगे, क्योंकि उसे ४ ८६६ डालर में से ०२४ डालर खर्चे का भी देना पड़ेगा। इस तरह हम देखते है कि £१ का मूल्य अधिक से अधिक ४ ८९ डालर और कम से कम ४ ८४२ डालर होगा। यही क्रमश स्वर्ण बिन्दु की उच्च सीमा (upper limit or upper specie point) तथा निम्न सीमा (lower limit or lower specie point) कहलायेगी।* [यहाँ यह स्मरणीय है कि अमेरिका के लिए जो स्वर्ण निर्यात बिन्दु (gold export point) है, वही इँगलैंड के लिए स्वर्ण-आयात बिन्दु (gold import point) है और जो अमेरिका का स्वर्ण-आयात बिन्दु है, वह इँगलैंड का स्वर्ण-निर्यात बिन्दु है।]

अब प्रश्न उठता है कि दो देशो के बीच विनिमय की दर किस समय ठीक कितनी होगी। इसके उत्तर मे हम यह कह सकते हैं कि इसका घटना और बढ़ना देश की आयात और निर्यात पर, या यो कहिए कि उसके बिलो की पूर्ति और माँग पर, निर्भर करता है, जिनके द्वारा अधिकाश अतर्राष्ट्रीय व्यापार आजकल होते हैं। जब देश निर्यात करता है, तब वह बिलो को चलाता है तथा उनकी पूर्ति करता है और जब वह आयात करता है तब बिलो को खरीदता है और उनकी माग होती है। और इन बिलो की दैनिक विनिमय दर (day-to-day rate of exchange) उनकी माँग और पूर्ति पर निभर रहती है। जब बिलो की पूर्ति, उनकी माँग से अधिक होती है (अर्थात् देश आयात से निर्यात अधिक करता है) तो विनिमय की दर बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए यदि इँगलैंड का निर्यात आयात से अधिक होता है, तो पौंड की कीमत अमेरिका के डालर में बढ़ जावेगी। अब एक पौंड की कीमत ४ ८६६ डालर से अधिक होगी। इसके विपरीत जब बिलो की पूर्ति उनकी माँग से कम होती है (अर्थात् निर्यात आयात से कम होतो है) तो विनिमय

*The export specie point from a country is the rate of exchange obtained by purchasing gold at home and selling abroad while the import specie point to a country is the rate of exchange obtained by purchasing gold abroad and selling at home"—Thomas

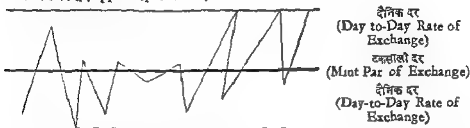
की दर गिर जाती है। उदाहरण के लिए, यदि इंगलैंड का निर्यात आयात से कम हो जाता है, तो पौंड की कीमत अमेरिका के डालर में गिर जावेगी। अब एक पौंड की कीमत ४·८६६ डालर से कम होगी। अतः हम कह सकते हैं कि मुद्रा की दैनिक दर टकसाली दर से गिर या बढ़ सकती है और यह गिरना और बढ़ना बिलों की पूर्ति और माँग पर निर्भर करता है। जब बिलों की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक होती है, अर्थात् द्रव्य भेजनेवालों की अपेक्षा द्रव्य मँगानेवालों की मात्रा अधिक होती है तो विनिमय की दर बढ़ जाती है, और विनिमय दर देश के पक्ष में कही जाती है, क्योंकि उतनी ही स्थानीय मुद्रा में अधिक विदेशी मुद्रा की मात्रा प्राप्त हो सकती है, अथवा विदेशी वस्तु की उतनी ही मात्रा के लिए अब थोड़ी स्थानीय मुद्रा दी जाती है। इसके विपरीत जब बिलों की माँग, पूर्ति की अपेक्षा बढ़ जाती है, तो विनिमय दर गिर जाती है, और विनिमय दर देश के विपक्ष में हो जाता है। विदेशी मुद्रा के बदले अब अधिक स्थानीय मुद्रा देनी पड़ती है। उदाहरण के लिए जब इंगलैंड और अमेरिका के बीच विनिमय दर £१= $४·८९ है तो हम कह सकते हैं कि विनिमय दर इंगलैंड के पक्ष में है, और जब यह दर £१=$४·८५ है तो हम कहेंगे कि यह उसके विपक्ष में है। (जब कि Mint Par of Exchange £१= $४·८६६ है)।

[यहाँ पर यह स्पष्ट करना असंगत न होगा कि यह विनिमय दर के पक्ष और विपक्ष की शब्दावली भ्रमपूर्ण (mis-leading) है। उदाहरण के लिए जब विनिमय दर किसी आयात करनेवाले देश के पक्ष में होती है, तो यही दर निर्यात करने वाले देश के विपक्ष में होती है। इसके अतिरिक्त जब किसी देश के लिए विनिमय की दर पक्ष में हो जाती है तो निर्यात की मात्रा में कमी आने लगती है, आयात बढ़ने लगते हैं, और विनिमय दर के विपक्ष में होने की प्रवृत्ति देखने में आती है। इसके विपरीत जब विनिमय की दर किसी देश के विपक्ष में हो जाती है, तो आयात घटने लगते हैं, निर्यात बढ़ने लगते हैं, और विनिमय दर के पक्ष में होने की प्रवृत्ति देखने में आती है। उदाहरण के लिए यदि इंगलैंड की £१ की कीमत अमेरिका के $४·८६६ से बढ़कर $४·८९ हो जाती है, तब इसका मतलब है कि अमेरिकन व्यापारी को १ की वस्तु खरीदने के लिए $४·८९ डालर देने पड़ेंगे। अतः अमेरिका में इंगलैंड की वस्तुओं की कीमत बढ़ जावेगी और कीमत बढ़ते ही, इन वस्तुओं की माँग घटेगी तथा इंगलैंड का निर्यात गिर जायेगा। और दूसरी ओर इंगलैंड के व्यापारी को £१ में $४·८९ का माल मिलने लगेगा, अतः इंगलैंड में अमेरिका की वस्तुओं की कीमत घट जावेगी और कीमत के घटते ही वस्तुओं की माँग बढ़ जावेगी तथा इंगलैंड का आयात बढ़ जायेगा। सारांश यह है कि आयात और निर्यात विदेशी विनिमय दर को निश्चित करते हैं और स्वयं उनसे प्रभावित होते हैं, और न तो अनुकूल विनिमय दर हित में है, न प्रतिकूल विनिमय दर ही—हमें तो स्थिर विनिमय दर चाहिए।]

निष्कर्ष यह है कि विनिमय की दर टकसाली समता (Mint Par of Exchange) के आस-पास उच्च और निम्न सीमाओं के मध्य घूमती रहती है। यदि किसी समय यह दर उच्च सीमा के बाहर या निम्न सीमा से कम हो भी जायेगी, तो सोना एक देश

से दूसरे देश को जाने लगेगा, बिलों की मांग कम हो जायेगी और उनकी दरें फिर टकसाली समता (Mint Par) के आस-पास चक्कर काटने लगेंगी।

दैनिक विनिमय की दर (day-to-day rate of exchange) का टकसाली की दर (Mint par of Exchange) से क्या सम्बन्ध है, यह नीचे के चित्र से स्पष्ट हो जायेगा —



टकसाली दर के सहारे दैनिक दर ऊपर-नीचे घूमा करती है, और उसकी उच्च और निम्न सीमाओं को साधारणतया पार नहीं करती।

ऐसा भी कभी-कभी हो जाता है कि विनिमय दर इन सीमाओं को पार कर जावे, पर यह अपवाद स्वरूप ही होता है। उदाहरण के लिए, विनिमय की दर उच्च सीमा के बाहर जा सकती है, यदि स्वर्ण के निर्यात में असाधारण कठिनाइयां हों, ऐसी दशा में आयातकर्त्ता विवश होकर ऊँची दर पर बिलों को खरीदेगा। यही बात तब देखने में आती है कि जब देश की मुद्रा में कागजी मुद्रा और अ-परिवर्तनीय मूल्यपात सिक्कों का ही समावेश हो और सोने का भाव बहुत तेजी पर हो। दूसरी ओर विनिमय दर निम्न सीमा के बाहर भी जा सकती है, यदि सहसा नकदी की मांग आ पड़े और निर्यातकर्त्ता विदेशी व्यापारी द्वारा भेजे गये सोने की प्रतीक्षा करने में असमर्थ हो, जैसे प्राय युद्ध में तरह की अफवाह फैलने के अवसर पर देखने में आता है, तो ऐसी दशा में हानि भी यह सह सकता है। पर ऐसा आपत्ति काल में ही प्राय देखने में आता है।

(ब) जब एक देश स्वर्णमान पर है, और दूसरा रजतमान पर—

यहाँ पर एक देश में सोने का सिक्का होता है और दूसरे में चांदी का, परन्तु दोनों देशों में चांदी और सोने का आयात-निर्यात स्वतंत्र रूप से हो सकता है। अत ऐसी स्थिति में भी दो देशों के बीच प्राकृत विनिमय दर (normal rate of exchange) मालूम करने का वही तरीका होता है, जो तब होता है कि जब दोनों देश स्वर्णमान पर हों। अन्तर यह है कि यहाँ पर सोने और चांदी के आपस के मूल्य को ध्यान में रखने की समस्या और रहती है। मान लो दो देश हैं, भारत और इंगलैंड। भारत रजतमान पर है, इंगलैंड स्वर्णमान पर और इन दोनों देशों के बीच विनिमय की दर को ज्ञात करना है।

कल्पना कीजिए कि

१ रु० में १० ग्रेन चांदी के होते हैं।

१ पौंड में १ ग्रेन सोने का होता है।

और दोनों देशों में १ ग्रेन सोना १५० ग्रेन चाँदी में बदला जा सकता है, तो इँगलैंड और भारत की प्राकृतिक विनिमय दर हुई १५ रु० = £ १, कारण कि १५ रु० में १५० ग्रेन चाँदी है, और इस १५० ग्रेन चाँदी से १ ग्रेन स्वर्ण खरीदा जा सकता है और इस १ ग्रेन स्वर्ण के बदले में £ १ प्राप्त किया जा सकता है। दैनिक विनिमय दर (day-to day rate) इसी दर के आस-पास रहेगी और उच्च तथा निम्न सीमाएँ एक देश से दूसरे देश को सोना या चाँदी के भेजने के खर्चे पर निर्भर करेंगी।

(स) जब एक देश स्वर्णमान पर तथा दूसरा कागजी मान पर हो—

जब दो देशों में से एक देश स्वर्ण पर आधारित होता है तथा दूसरा कागजी मुद्रा पर, तब विनिमय-दर की समता इससे निश्चित की जाती है कि दोनों देशों की मुद्राएँ अपेक्षाकृत कितना स्वर्ण खरीद सकती हैं। जो देश स्वर्णमान पर है, उसकी मुद्रा का स्वर्ण-मूल्य तो निश्चित है ही, किन्तु कागजी मुद्रा का मूल्य, इसपर निर्भर रहता है कि स्वर्ण में उसका क्या मूल्य है। ऐसी दशा में विनिमय दर कितनी गिरेगी अथवा कितनी बढ़ेगी, इसके लिए कोई भी निश्चित बिन्दु नहीं होते जैसे दो उपर्युक्त परिस्थितियों में होते हैं। हाँ, स्वर्ण पर आधारित देश के लिए एक उच्चतम बिन्दु अथवा स्वर्ण-निर्यात बिन्दु होता है क्योंकि वहाँ निर्यात के लिए स्वर्ण उपलब्ध होने से विनिमय की दर स्वर्ण भेजने के व्यय से भी अधिक हो जाती है तो उस देश के लिए स्वर्ण भेजना लाभदायक होने लगता है, जब कि स्वर्ण का आयात दूसरे देश से न हो सकने के कारण, क्योंकि दूसरा देश केवल कागजी मुद्रा पर आधारित होता है, विनिमय दर के गिरने के लिए कोई भी मर्यादा नहीं होती।

(द) जब दोनों देश कागजी मुद्रा पर हों—

जब दोनों देश कागजी मुद्रा पर होते हैं तो देश में सोने और चाँदी के सिक्के नहीं चलते हैं और सोना या चाँदी को बिना सरकारी आज्ञा के देश से बाहर भेजा या मँगाया नहीं जा सकता है। ऐसी स्थिति में एक देश की मुद्रा का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा में किस प्रकार ज्ञात किया जा सकता है? इसका उत्तर स्वीडन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० कैसल ने दिया है। उनका कथन है कि कागजी मान पर आधारित दो देशों के विनिमय की दर, उन देशों की वस्तुओं की कीमतों की तुलना (Purchasing Power Parity) से जानी जा सकती है।

उनका कहना है कि जब संसार के देश अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा पर होते हैं तब उनके बीच विनिमय दर निर्धारित करने के लिए कागजी मुद्राओं की क्रय-शक्ति उनके अपने अपने देशों में मालूम करना चाहिए और इसके पश्चात् भिन्न-भिन्न मुद्राओं में दर स्थापित करनी चाहिए। पर ऐसा क्यों? उनका कहना है कि हम किसी दूसरे देश की मुद्रा को अपने ऋणों के भुगतान में इसलिए ग्रहण करते हैं कि हम जानते हैं कि उस मुद्रा में अपने देश में सामान अथवा सेवाएँ खरीदने की क्षमता है। इसी प्रकार जब हम अपने देश की मुद्रा किसी बाहर के देशवालों को देते हैं तो हम उनको अपने देश के सामान तथा सेवाओं

को खरीदने के लिए क्रय-शक्ति देत है। इस तरह हमारे लिए किसी बाहरी देश की मुद्रा का मूल्य इस बात पर निर्भर करेगा कि हमारी तथा बाहरी देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति अपने अपने देश मे क्या है। मान लीजिए कि हम २५ फ्रैंक्स खर्च करके फ्रास मे उतनी ही वस्तुएँ खरीद सकते है, जितनी कि इँगलैंड मे १ पौ० खर्च करके, तो फ्रास और इँगलैंड म विनिमय की दर २५ फ्रैंक के बदले १ पौ० अर्थात् £१ के बदले २५ फ्रैंक होगी।

तो भी दो देशो के बीच विनिमय की दर ज्ञात करते समय केवल एक वस्तु को लेकर उसकी क्रय-शक्ति की तुलना करना ठीक नही होगा, क्योकि यह सभव हो सकता है कि अन्य वस्तुओ की कीमतें उसी अनुपात मे न हो। उदाहरण के लिए इँगलैंड में १ मन गेहूँ की कीमत १ पौंड है और फ्रास म २० फ्रैंक। पर यह हो सकता है कि १ थान लट्ठे की कीमत इँगलैंड म १ पौंड हो और फ्रास मे ३० फ्रैंक। ऐसी दशा में गेहूँ की विनिमय दर १ २० हुई और लट्ठे की १ ३०। ऐसी स्थिति मे हम किस अनुपात को मानें? इसलिए ज्यादा अच्छा यह होगा कि हम विनिमय दर ज्ञात करने के लिए किसी एक वस्तु की ही कीमत की तुलना करने के बदले दो देशों के सामान्य मूल्य-स्तरो (general price-level) की तुलना करें।

मान लीजिए दो देश हैं, इँगलैंड और फ्रास। इन दोनों के सूचक अक १९२० में १०० थे, अत १९२० में विनिमय की दर होगी १ पौ० = २५ फ्रैंक, क्योकि १ पौंड उतनी ही वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीद सकता है जितनी कि २५ फ्रैंक। अब यदि मान लिया जाये कि इँगलैंड में मुद्रा दूनी हो जाती है और फ्रास मे चौगुनी, तब इँगलैंड का इन्डेक्स नम्बर १९२० के साल के आधार पर २०० होगा, और फ्रास का ४००, और अब दोनो देशो की विनिमय दर इस नवीन इन्डेक्स नम्बर के आधार पर निर्धारित होगी, यानी £१=५० फ्रैंक्स (या $£1 = \frac{२५ \times ४००}{२००}$ फ्रैंक) होगी। £1=50

सही रूप में यह सिद्धान्त इस प्रकार है "दो देशो की मुद्राओ के बीच क्रय शक्ति की समता उस देश की (जिसकी मुद्रा में संख्या प्रकट करनी है) कीमतो के प्रचलित सूचक अको को पिछले विनिमय दर की समता से गुणा करने से (ताकि दोनो सूचक अको की तुलना हो सके) तथा इस गुणनफल को दूसरे देश के प्रचलित सूचक अको से भाग देने से मालूम की जा सकती है।*

मान लो इँगलैंड और अमरिका के बीच विनिमय समता पहले १ पौंड=४ ८६६ डालर थी। और अब स्वर्णमान छोडने के पश्चात् इँगलैंड का मूल्य-स्तर २५० हो जाता

*The purchasing power parity between two countries is obtained by multiplying the current index number of prices in the country, in whose currency the figure is to be expressed, by the former par of exchange in order to make the two index numbers of prices comparable and dividing the result by the current index number of the second country.

दूसरे शब्दों में "When two currencies in two countries have been inflated the new normal rate of exchange will be equal to the old rate multiplied by the quotient between the degrees of inflation of both countries" —Gustav Cassel.

है जब कि अमरिका में १२५ रहता है। तो हमारी यह समता (purchasing power parity) होगी—

$$£१ = \frac{१२५}{२५०} \times ४·८६६ \text{ डालर}$$

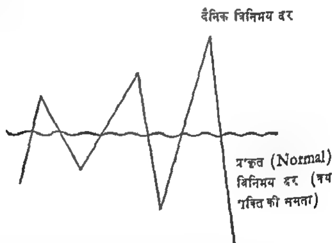
$$= २·४३३ \text{ डालर}$$

इसी प्रकार मान लीजिए कि भारत और इंगलैंड दोनों अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा पर आधारित हैं। भारत में १ रुपया उतनी ही वस्तुएँ खरीदता है जितनी कि इंगलैंड में १८ पेंस में खरीदते हैं। अब मान लीजिए कि मुद्रा प्रसार होने के कारण भारत में सूचक अंक १०० से बढ़कर २०० हो जाता है और इंगलैंड में १५० तो विनिमय दर इस प्रकार होगा —

$$१ \text{ रु०} = \frac{१८ \times १५०}{२००} = १३\tfrac{१}{२} \text{ पेंस}$$

दैनिक विनिमय की दर इस क्रय-शक्ति समता दर के आसपास घूमती रहेगी और यह क्रय शक्ति समता दर स्वयं, सूचकांकों के घटने-बढ़ने के साथ कारण बढ़ती घटती रहेगी (इसीलिए इसे तो चलने वाली समता (Moving Par) भी कहते हैं।)

नीचे के चित्र को देखिए—



दैनिक विनिमय दर

कैसल की यह व्याख्या बड़ी सन्तोषजनक लगती है किन्तु बहुधा हम देखते हैं कि इस प्रकार से मालूम की हुई विनिमय-दर बिलकुल ठीक नहीं बैठती। इसके अतिरिक्त जब विनिमय-दर और आन्तरिक मूल्य-स्तर में भिन्नता होती है तब विश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि आन्तरिक मूल्य-स्तर का विनिमय दर पर प्रभाव पड़ेगा अथवा विनिमय दर का आन्तरिक मूल्य-स्तर पर प्रभाव पड़ेगा। प्रायः दोनों बातें देखने में आती हैं। परन्तु इस सिद्धान्त के समर्थक इस बात को नहीं मानते कि विनिमय दर का मूल्य-स्तर पर प्रभाव

दरों को प्रभावित करते है। तो भी यह सिद्धान्त एक मार्गदर्शक की तरह यह बताता है कि दो कागजी मान के देशों में विनिमय दर का स्थान किस प्रकार से होता है।

इसके अतिरिक्त यही एक सिद्धान्त है जो सब प्रकार की चलन-पद्धतियों में तथा सब प्रकार की विनिमय परिस्थितियों में लागू हो सकता है—यही एक सिद्धान्त है जो स्वर्ण-मान पर आधारित मुद्राओं के पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्त कर सकता है और अ-परिवर्तनीय पत्र-मुद्राओं के असाधारण प्रसार के कारण अवमूलित मुद्राओं का सम्बन्ध भी व्यक्त कर सकता है। व्यापार की दिशा किस समय किस देश में क्या होगी यह बात इस सिद्धान्त के द्वारा मालूम हो सकती है। ससार में मुद्राओं के अवमूल्यन तथा बहुमूल्यन से विदेशी व्यापार पर क्या प्रभाव हो रहा है—इसको हम इस सिद्धान्त द्वारा जान सकते हैं। यह सिद्धान्त ससार के देशों में पारस्परिक व्यापाराधिक्य जानने की एक विधि भी है। इत्यादि, इत्यादि।

(ई) जब सरकार अपनी आवश्यकतानुसार विनिमय दर निश्चित करे

इस स्थिति मे विनिमय दर आर्थिक परिस्थितियां द्वारा निश्चित नहीं होती वरन् सरकार अपनी आवश्यकतानुसार विनिमय दर को निश्चित करती रहती है जैसे पिछले महायुद्ध में भारत-सरकार ने रिजर्व बैंक की देख-रेख में एक विनिमय नियंत्रण विभाग (Exchange Control Department) स्थापित किया जिससे कि रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पें० पर स्थिर रहे। विनिमय नियंत्रण के लिए कैनाडा इत्यादि को छोड़कर समस्त ब्रिटिश साम्राज्य एक मुद्रा इकाई में सगठित किया गया जो स्टर्लिंग क्षेत्र के नाम से पुकारा जाने लगा। इस क्षेत्र में मुद्रा-विनिमय स्वतंत्रता-पूर्वक किया जा सकता था, परन्तु अन्य राष्ट्रों की मुद्रा का व्यापार आवश्यक लेन-देन, यात्रा व्यय तथा कुछ मात्रा में व्यक्तिगत रूप से बाहर धन भेजने तक ही सीमित था, और दुर्लभ मुद्रावाले देशों को माल भेजने की आज्ञा तब ही मिलती थी जब कि माल भेजनेवाला उसको सरकार को देने के लिये तैयार होता था। विदेशी विनिमय पर नियंत्रण आजकल भी है और अभी कुछ दिनों तक रहेगा।

विदेशी विनिमय दर किन किन बातों से प्रभावित होती है

(Factors influencing the Rate of Exchange)

हमने ऊपर देखा कि विदेशी विनिमय दर से मतलब एक देश की करेंसी का मूल्य दूसरे देश की करेंसी में होता है जो बाजार के बिलों की माँग और पूर्ति से निश्चित होता है। अब हमें यह देखना है कि कौन कौन सी बातों का प्रभाव स्वयं बिल्स (Bills) की माँग और पूर्ति पर पड़ता है।

(१) व्यापारिक प्रभाव (Trade Influences)—बिलों की माँग और पूर्ति मुख्यतः देश के आयात-निर्यात के व्यापार पर निर्भर रहती है। यदि किसी देश के आयात निर्यात से अधिक होंगे तो विनिमय की दर उस देश के विपक्ष में होगी। यदि इसके निर्यात आयात से अधिक होंगे तो इसके पक्ष में होगी। उदाहरण के लिए, अगर इंगलैंड अमेरिका को निर्यात कम करता है और वहाँ से आयात अधिक करता है, तो इसका मतलब यह हुआ कि इंगलैंड में डालर भेजनेवाले अधिक होंगे और पानेवाले कम, फलतः अमेरिका

की करेंसी की माँग अधिक होगी और डालर के दाम स्टर्लिंग में बढ़ेंगे। इसमें उल्टी परिस्थिति में इसका उल्टा होगा। यहाँ हमें यह याद रखना चाहिए कि आयात और निर्यात के साथ-साथ अदृश्य आयात और निर्यात (invisible imports and exports) भी सम्मिलित कर लेने चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि हमें केवल व्यापार की बाकी नहीं देखनी है, बल्कि कुल भुगतान की बाकी। ("अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन—भुगतान की बाकी" अध्याय को पढ़िए।)

(२) स्टाक एक्सचेंज का प्रभाव (Stock Exchange Influences)—मान लीजिए एक अंगरेज पेरिस स्टाक एक्सचेंज से सिक्योरिटीज खरीदता है—जिसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य इंगलैंड से फ्रांस को जायगा। यह बिलकुल ऐसे हुआ जैसे यदि इंगलैंड फ्रांस से आयात करे और दाम भेजे। यहाँ पर माल नहीं बल्कि शेयर्स और सिक्योरिटीज खरीदी जाती हैं। कुछ भी हो लन्दन में बिल की माँग बढ़ जायेगी और अंगरेजी मुद्रा की कीमत फ्रांस की मुद्रा में घट जायेगी। परन्तु जब इन सिक्यारिटीज पर अंगरेजों को सालाना डिविडेण्ड देना होगा, तो इंगलैंड के स्टर्लिंग की माँग फ्रांस में बढ़ जायगी, और इस कारण फ्रांस की करेंसी का मूल्य अंगरेजी करेंसी से गिर जायगा। और इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सिक्यौरिटीज में रुपया लगाने का, विदेशी बाजार में ऋण लेने का, डिविडेण्ड और ब्याज के भुगतान करने का, आदि सब ही का प्रभाव बिलों की माँग और पूर्ति तथा विनिमय की दर पर पड़ेगा।

कुछ लोग ऐसे भी होते है जो विदेशी करेंसी का क्रय-विक्रय केवल सट्टा करने के विचार से करते हैं। जब सट्टेबाज विनिमय दर में बढ़ती की आशा रखते है, तो वे विदेशी विनिमय को खरीदने लगते है—और इस प्रकार उनकी माँग बढ़ा कर विनिमय की दर को बढ़ा देते हैं। जब एक्सचेंज में गिरती शुरू होने लगती है, तो सट्टेबाज विदेशी एक्सचेंज को बेचने लगते हैं और विनिमय की दर को घटा देते है। इस प्रकार विनिमय की दर में वह बहुत ही अधिक घट-बढ़ का कारण बन जाते है, विशेषकर, जब राजनैतिक दशा अनिश्चित हो, और युद्ध की अफवाहें उड़ रही हो, अथवा जब सरकार का मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकुचन करने का विचार हो रहा हो। इसी प्रकार जब लोग विदेशी करेंसी को उनके दो जगह अलग-अलग दरों के अंतर का लाभ उठाने के लिए खरीदते या बेचते हैं, तो इसका भी विनिमय की दर पर प्रभाव पड़ता है। [कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ही स्टाक या सिक्यारिटी की कीमत भिन्न-भिन्न जगह भिन्न-भिन्न होती है। मान लो लन्दन के विनिमय बाजार में डालर स्टर्लिंग की दर ४८६६ डालर=१ पौंड स्टर्लिंग है। अगर किसी कारणवश न्यूयार्क में दर ४८८ डालर=१ पौंड स्टर्लिंग हो जाती है, तो दोनों जगहों के इस अंतर का लाभ उठाया जा सकता है। तार द्वारा न्यूयार्क में १ पौंड स्टर्लिंग के बदले ४८८ डालर खरीदे जा सकते है और फिर उनको ४८६ डालर के भाव से बदला जा सकता है। इस तरह प्रत्येक पौंड पर ०२ डालर का लाभ बच रहता है। बहुत से लोगों का यह पेशा होता है कि वह इस अंतर से लाभ उठाने के लिए

बिलों को खरीदते-बेचते रहते है। इसी को लाभार्जन क्रियायें (arbitrage operations) कहते हैं जिसका वर्णन आगे भी किया गया है।]

(३) बैंकिंग प्रभाव (Banking Influences)—बैंको के लेन-देन का भी प्रभाव विनिमय दर पर पड़ता है। जब बैंकर्स अपने रुपये को दूसरे देशों में लगाते हैं और साख के पत्र का प्रतिपादन करते हैं तो रुपया बाहर भेजा जाता है, बिल की माँग बढ़ती है और विनिमय दर उन देशों के विरुद्ध हो जाती है, जहाँ यह बैंक होती हैं। बहुधा विभिन्न देशों की सरकारें भी दूसरे देशों से ऋण लेती हैं या उनको देती हैं, जैसे कि इँगलैंड ने १९४६ में अमेरिका से ऋण लिया। ऐसे लेन-देन का भी विनिमय दर पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

(४) मुद्रा-सम्बन्धी परिस्थितियाँ (Currency Conditions)—इनके परिवर्तनों से विभिन्न देशों की क्रय-शक्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और इससे विनिमय दर भी अछूती नहीं रहती। आन्तरिक द्रव्य के मूल्य में परिवर्तन से, चलन में विनिमय के साधन की घटती-बढ़ती से, बाहरी मूल्यों पर भी प्रभाव पड़ता है। मुद्रा प्रसार से देश के मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है—और देश का बाजार बेचने के लिए अच्छा और खरीदने के लिए बुरा बन जाता है। इससे निर्यात घट जाते हैं, आयात बढ़ जाते है, जिससे कि व्यापार की बाकी देश के विपक्ष में हो जाती है। इसके विपरीत, मुद्रा-संकुचन के समय कीमतें घट जाती हैं और विनिमय दर बढ़ जाती है। इसी प्रकार मुद्रा के अवमूल्यन से विनिमय की दर बदल जाती है। उदाहरण के लिए, १९४९ के, अवमूल्यन से पहले इँगलैंड और अमेरिका की विनिमय दर \$४·०३=£१ थी। परन्तु बाद में वह \$२·८०=१£ ही रह गई।

(५) बैंक की दर (Bank Rate)—देश के केन्द्रीय बैंक की बैंक दर भी विनिमय दर को प्रभावित करती है। पहले तो बैंक दर के बदलने के साथ बाजार में साख के क्षेत्र में भी बदलाव आता है, जिसका परोक्ष रूप से मूल्य-स्तर पर और फिर द्रव्य के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। अगर बैंक की दर घटती है तो अन्य बैंकों की ब्याज की दर भी घटती है और इस कारण लोगों की उधार लेने की प्रवृत्ति बढ़ती है—कम बचाया जाता है और कम ही बैंक में जोड़ा जाता है, विनिमय के माध्यम की चलन में बढ़ती होती है, कीमतें बढ़ती हैं और विनिमय दर घटती है। दूसरी बात यह है कि जब बैंक की डिस्काउण्ट की दर गिरती है, तब जमा पर ब्याज की दर भी गिरती है, फलतः विदेशी लोग अपना रुपया वहाँ से खींचने लगते हैं और पूँजी दूसरे देशों को जाने लगती है, दूसरे देशी द्रव्य की पूर्ति बढ़ती है और विनिमय की दर घट जाती है। बैंक दर में बढ़ती होने से बाहरी जगहों से भी रुपया अंदर आता है और विनिमय दर बढ़ जाती है। जब कीमतें गिरती हैं तो उसका विनिमय दर पर भी इसी तरह प्रभाव पड़ता है।

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि जो भी स्थिति या घटना देश में रुपये के आने को प्रोत्साहन देती है, वह विनिमय दर को देश के पक्ष में करती है और जो भी स्थिति या घटना रुपये के देश के बाहर जाने को प्रोत्साहन देती है वह विनिमय दर को देश के विपक्ष में कर देती है। When funds flow into the country, the rate

of exchange becomes favourable to the country, when funds flow out of the country the rate becomes unfavourable to the country.

विनिमय-नियंत्रण

(Exchange Control)

प्रथम महायुद्ध ने यूरोप के देशों की अर्थव्यवस्था में बड़ी उथल-पुथल कर दी। एक बात यह हुई कि मुद्रा प्रसार के कारण वस्तुओं की कीमतें बहुत बढ़ गईं और इन देशों के आयात बढ़ गये तथा निर्यात घट गये और यह देश ऋण लेने पर बाध्य हो गये। पर ऋणों का प्राप्त करना सुगम कार्य नहीं है। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय ऋणों की समस्या को सुलझाने, आयात निर्यात को बराबर करने तथा आन्तरिक व्यापार पर नियंत्रण करने के लिए अनेक तरीके निकाले गये। विनिमय नियंत्रण भी ऐसे ही खोजे गए उपायों में से एक है। सबसे पहले १९३१ में जर्मनी ने इसका प्रतिपादन किया और अगस्त १९३९ के बाद से बहुत से अन्य देशों ने भी इसको अपनाया और आज के दिन तो यह सभी देशों में, जिनमें भारत भी सम्मिलित है पाया जाता है और यह सरकारी नीति का एक प्रमुख अंग बन गया है। आज शायद ही कोई ऐसा देश होगा जहाँ किसी न किसी प्रकार का विनिमय नियंत्रण न हो।

विनिमय नियंत्रण का अर्थ है विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति को घटा-बढ़ा कर अपनी मुद्रा की विदेशी मुद्रा की विनिमय दर में आवश्यक तथा इच्छानुसार फेर-बदल करना। अर्थात् विनिमय को इस प्रकार नियंत्रित कर लेना कि देश की आयात निर्यात की नीति बहुत कुछ सरकार के हाथ में आ जाय। इसके अन्तर्गत जनता की विदेशी मुद्रा के क्रय विक्रय की स्वतंत्रता छीन ली जाती है और उन पर भाँति भाँति के प्रतिबंध लगा दिए जाते हैं जैसा कि हम नीचे देखेंगे।

विनिमय नियंत्रण के कार्य करने की विधि

(Method of working of Exchange Control)

जब विनिमय नियंत्रण किसी देश में लागू किया जाता है तो उस देश के जितने भी निर्यातकर्ता हैं वे सरकार की आज्ञानुसार अपनी अर्जित विदेशी मुद्रा को देश के केन्द्रीय बैंक को सौंप देते हैं। केन्द्रीय बैंक इस अर्जित विदेशी मुद्रा को देश के आयातकर्त्ताओं में कोटा, लायसेंस आदि प्रणालियों द्वारा बाँट देता है ताकि वे विदेश से उपयुक्त वस्तुओं का आयात कर सकें। उदाहरण के लिए—मान लीजिए कि भारत अमरिका को १०० करोड़ रु० की वस्तु का निर्यात करता है अर्थात् वह अमरिका से १०० करोड़ रु० की विदेशी मुद्राओं का अर्जन करता है तो विनिमय नियंत्रण लागू होने के बाद भारत के व्यापारी केन्द्रीय बैंक को अपनी यह १०० करोड़ रु० की अर्जित मुद्रा का दावा सौंप देंगे। और बदले में केन्द्रीय बैंक इनको १०० करोड़ रु० की देशी मुद्रा देगा और तत्पश्चात केन्द्रीय बैंक इस

अर्जित मुद्रा को देश के आयातकर्त्ताओं में वितरित कर देगा जिसमें कि वह अमरीका से माल मँगा सकें। यह वितरण आयात नियंत्रण के अनुसार होता है। हर किसी मनुष्य का, हर किसी वस्तु को हर किसी जगह से मँगाने की आज्ञा नहीं दी जाती (विशेष कर राष्ट्रीय संकट के समय इसका कठोरता से प्रयोग होता है)। आयात नियंत्रण के द्वारा सरकार उन्हीं चीजों के आयात को प्रोत्साहन देती है जो व्यापक रूप से देश के लिए उपयोगी हैं। इस प्रकार विनिमय नियंत्रण द्वारा देश के आयात और निर्यात पर सम्पूर्ण रूप से नियंत्रण कर लिया जाता है तथा देश हित के अनुसार विदेशी विनिमय की उचित दिशा निर्धारित की जाती है। इसके अतिरिक्त कभी कभी सरकार Exchange Equalisation Fund, Exchange Pegging आदि उपायों की भी शरण लेती है जिनका वर्णन आगे किया गया है।

विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य

(*Objects of Exchange Control*)

विनिमय नियंत्रण निम्नलिखित उद्देश्यों में से एक अथवा सभी की पूर्ति के लिए काम में लाया जाता है —

(१) भुगतान की बाकी में होनेवाली उथल-पुथल को ठीक करना (to set right a disequilibrium in the balance of payments) अर्थात् भुगतान की बाकी को यथासंभव देश के पक्ष में बनाये रखना।

यदि किसी देश की बाकी लगातार इसके विपक्ष में जा रही है तो ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि इसको ठीक किया जाय। इसके लिए अनेक उपाय काम में लाये जाते हैं, जैसे अवमूल्यन, विनिमय पात, मुद्रा-संकुचन आदि। ("अंतर्राष्ट्रीय लेन देन-भुगतान की बाकी" अध्याय पढ़िए।) किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं इनमें से कोई भी उपाय संतोषजनक नहीं है। अवमूल्यन तथा विनिमयपात से देश की प्रतिष्ठा गिरती है तथा यह भय रहता है कि कहीं दूसरे देश भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन अथवा विनिमय पात न कर दें, ऐसी दशा में किसी भी देश को अवमूल्यन तथा विनिमयपात से कोई लाभ न होगा। मुद्रा-संकुचन से बेकारी तथा मंदी फैलती है, इसलिए मुद्रा-संकुचन भी देश के हित में नहीं है। ऐसी दशा में विनिमय नियंत्रण का तरीका ही सर्वोत्तम है।

जर्मनी में १९३२ में इसी उद्देश्य से विनिमय नियंत्रण किया गया था जिन लोगों के पास विदेशी करेंसी या विदेशी सिक्यूरिटीज थीं, उन्हें इनका एक निश्चित दर से सरकार के हाथ बेच देना पड़ा। उसमें से सरकार ने जितनी उसको बाहरी करेन्सी की आवश्यकता थी, ले ली, बाकी उन लोगों में नीलाम कर दी गई जिन्हें बाहरी करेंसी की आवश्यकता थी। आयात बन्द कर दिया गया और उनका लाइसेंस द्वारा राशनिंग कर दिया गया। साथ ही साथ विदेशियों के पास जितनी करेंसी, सीक्यारिटीज, जायदाद या बैंक डिपाजिट जर्मनी में थे उनकी घेरा बन्दी कर दी गई अर्थात् उनका एक बन्द खाता (Blocked Accounts) में बन्द कर दिया गया जिससे कि वे उन्हें जर्मनी के बाहर न ले जा सकें। और जर्मनी के

(३) एक्सचेंज कण्ट्रोल विनिमय दर की अति घट-बढ़ को रोकने में भी सहायता करता है। जब लोग बाहर के देशों की करेंसी को सट्टा करने की नियत से खरीदने बेचने लगते हैं और उनकी दरों में अति घट-बढ़ की सम्भावना रहती है, जिससे देश के व्यापार को हानि पहुँचती है, तो भी सरकार इस उपाय को काम में लाती है।

इसी उद्देश्य से इंगलैण्ड में १९३२ में विनिमय समानीकरण कोष [Exchange Equalisation Fund (or Account)] का निर्माण किया गया था। जब उस देश में कागज़ी मुद्रा का चलन हो गया और विदेशी विनिमय दर बहुत घटने-बढ़ने लगी, तो इस घट-बढ़ को कम करने के लिए ब्रिटेन ने जनता से ऋण लेकर १५० मिलियन पौंड से यह अधिकोष खोल दिया था। १९३३ में यह रकम ३५० मिलियन पौंड और १९३७ में ५५० मिलियन पौंड कर दी गई थी। इस कोष में सोना जमा रहता था और किसी भी समय स्टर्लिंग की माग-पूर्ति की अपेक्षा अधिक होने से जब स्टर्लिंग की विनिमय दर बढ़ने लगती तो इस कोष द्वारा विदेशों में विदेशी मुद्रा खरीद ली जाती थी जिससे विनिमय दर बढ़ने से रोक दी जाती थी और जो विदेशी मुद्रा खरीदी जाती थी उसे विदेशी कोषों में रिजर्व के रूप में जमा कर दिया जाता था। इसके विपरीत जब स्टर्लिंग की पूर्ति अधिक होती थी एवं माग कम और स्टर्लिंग दर गिरने लगती थी उस समय विदेशी कोष में से स्टर्लिंग खरीदा जाता था जिससे स्टर्लिंग की मांग बढ़ जाती थी और विनिमय दर गिरने से रोक दी जाती थी। इस तरह इस अधिकोष की कार्यपद्धति द्वारा विनिमय दर की ऊँच-नीच सीमित की जाती थी। इस प्रकार के अधिकोष अमरिका फ्रास आदि देशों में भी इंगलैण्ड की देखा-देखी खोले गये थे। और आज के दिन तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा अधिकोष (International Monetary Fund) की स्थापना से विनिमय दर की स्थिरता का कार्य और भी सरल हो गया है। (इसका पूर्ण विवेचन आगामी अध्याय में विस्तारपूर्वक किया गया है।)

अस्तु, हम देखते हैं आज की दशा में विनिमय नियंत्रण का किसी देश के लिए बड़ा महत्त्व है, इसके द्वारा देश को अनेक लाभ हैं जिनमें से प्रमुख यह हैं

(१) इसके द्वारा विनिमय दर के अस्थायी परिवर्तन को रोककर इसे स्थिर रख सकते हैं। (२) इसके द्वारा आयात और निर्यात बराबर किये जाते हैं और देश के आन्तरिक व्यापार के नियंत्रण करने में सहायता मिलती है। (३) इसके द्वारा व्यापार की दिशा ठीक की जाती है। देश के लाभ को सामने रखते हुए ही दूसरे देशों का माल भेजा जाता है तथा उनसे खरीदा जाता है। (४) इसके द्वारा व्यापारिक मंदी के समय की परिस्थितियों को सुधारा जा सकता है जैसे कि विश्वव्यापी महान व्यावसायिक मंदी के समय विनिमय नियंत्रण की सहायता से देशों के आयात और निर्यात में सामजस्य करने तथा उसके द्वारा विदेशी व्यवसाय बढ़ाने में काफी सहायता मिली थी। (५) इससे आर्थिक योजनाओं के कार्यान्वित करने में काफी सहायता मिलती है, इत्यादि, इत्यादि।

परन्तु विनिमय नियंत्रण के कुछ दोष भी हैं। जब सरकार द्वारा वस्तुओं का नियंत्रण होता है तो साथ-साथ चोरबाजारी भी कहीं न कहीं से इसमें घुस पड़ती है। जैसे ही नियंत्रण लगा, चीज बाजार से गायब हुई, इसी तरह जब विनिमय पर नियंत्रण होता है तो विदेशी

मुद्राओं में भी चोरबाजारी का होना स्वाभाविक परिणाम है। इसमें मुद्राएँ सरकार द्वारा नियत दर के अतिरिक्त अधिक दर पर बेची जाती हैं, मुद्रा बदलने के लिए उत्सुक लोग इस हानि की चिंता नहीं करते। इसके अतिरिक्त बहुत सी सरकारें विनिमय नियंत्रण का दुरुपयोग करती हैं। बहुधा देश मुद्रा के अवमूल्यन द्वारा अन्य देशों को हानि करके लाभ प्राप्त करने के लिए ही विनिमय नियंत्रण करते हैं जो बहुत बुरा है। प्राय कुछ देश विनिमय नियंत्रण करके अपना ऋण नहीं चुकाते, विदेशियों का रुपया रोक लेते हैं, उन्हें वह रुपया निकालने नहीं देते, देश की पूंजी विदेश में लगाने नहीं देते, इत्यादि, इत्यादि। फिर विदेशी विनिमय की इस पद्धति से 'बंधे हुए खाते' (Blocked Accounts) की समस्या उत्पन्न हो जाती है जिसके लिए शोधन समझौते (Clearing Agreements) करने पड़ते हैं, पारस्परिक धमकी देने का वातावरण उत्पन्न हो जाता है, एक देश दूसरे देश के व्यवसाय के मार्ग में बाधाएँ लगाना चाहता है और सब तरफ पक्षपातपूर्ण व्यवहार होने लगता है, जो बहुत बुरा है। इसीलिए यह कहा जाता है कि विनिमय-नियंत्रण के शस्त्र केवल उस समय काम में लाने चाहिए जब उनकी बहुत ही अनिवार्य आवश्यकता हो और इसके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय विधान बनाने की आवश्यकता है जो समय समय पर इस बात का निर्णय करता रहे कि विनिमय नियंत्रण में किस समय कौन से उपाय काम में लाये जायें और कौन से नहीं।

विनिमय उद्बन्धन (Exchange Pegging)—यह विधि साधारणतया युद्ध के समय में विनिमय की दरों के उतार-चढ़ाव को न्यून करने के लिए काम में लाई जाती है। यह विधि इंगलैण्ड के द्वारा प्रथम महायुद्ध में और फिर दूसरे महायुद्ध में काम में लाई गई थी। सन् १९१६ और १९१९ के बीच स्टर्लिंग कृत्रिम रूप से ४.७६५ डालर—एक मूल्य जो कि स्टर्लिंग के उस समय के असली मूल्य से ऊँचा था—पर उद्बन्धित (pegged) रखा गया था। यह अमेरिका से ऋण लेकर और उससे ऊपर दी हुई दर के अनुसार लंदन में विनिमय खरीद करके किया गया था। ऐसे ही तरीको से दूसरे महायुद्ध के काल में यह विनिमय-दर £1=$ ४.०३ रक्खी गई थी। और इसी तरह भारत और इंगलैण्ड के बीच सरकार ने विनिमय दर रु० १=१ शि० ६ पें० पर बहुत दिनों तक बाँध रक्खी थी और इसलिए कि दर इससे ऊपर या नीचे न जाये वह बराबर आवश्यकता के अनुसार बिल्स बेचती रहती थी। उसने एक खूँटा सा गाड़ दिया था जिसमें विनिमय दर को बांध दिया था। इसे ही Exchange Pegging कहते है।

इस सम्बन्ध मे यह याद रखना चाहिए कि कोई देश इस नीति को तब ही अपना सकता है जब उसके पास विदेशी मुद्रा तथा देशी मुद्रा का स्टाक पर्याप्त मात्रा मे हो। अगर ऐसा न हुआ तो यह नीति सफल न होगी। सिद्धान्त यह है कि जब सरकार अपनी मुद्रा की दर ऊँची टाँकना (Pegging up) चाहे तो अपनी मुद्रा की माँग बढ़ाकर विदेशी मुद्राएँ देने के लिए उसके पास विदेशी मुद्राओं का भरपूर कोष हो, और जब सरकार अपनी मुद्रा में दर नीची अटकाना (Pegging down) चाहे तो विदेशी मुद्राएँ लेकर अपनी मुद्रा देने के लिए उसके पास अपनी मुद्रा की भरपूर मात्रा हो। दर नीची अटकाने

की अपेक्षा ऊँची टाकने में अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि विदेशी मुद्राओं का पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होना आसान नहीं है।

अंतपरण (Arbitrage)—बहुत से लोग विदेशी मुद्राओं का क्रय विक्रय केवल लाभ कमाने के लिए ही करते हैं। ये लोग एक समय एक स्थान पर विदेशी मुद्रा खरीद लेते हैं और अवसर आने पर उसी या अन्य स्थानों पर उन्हें बेच देते हैं और इस प्रकार जो विनिमय के दरों में अन्तर होता है उससे लाभ कमा लेते हैं। ऐसे कार्य को ही Arbitrage कहते हैं। मान लीजिए कि दिल्ली में विनिमय दर १ रु०=१८ पेन्स हो और लन्दन में उसी समय दर १ रु०=१९ पेन्स हो तो तार द्वारा लन्दन में १९ पेन्स प्रति रुपया की दर से स्टर्लिंग खरीदकर और १८ पेन्स की दर से बम्बई में बेचकर इन दोनों दरों के अन्तर से १ पेंस प्रति रुपया लाभ उठाया जा सकता है। इसी प्रकार मान लीजिए कि एक येन (yen) ५ रु० खरीद सकता है या ⅓ पौंड खरीद सकता है लेकिन एक पौंड १७ रु० खरीद सकता है तो इसका फल यह होगा कि येनों को पौंडों में बदला जाने लगेगा और फिर उन पौंडों को रुपयों में।

ये लाभाजन क्रियायें प्रायः उस स्थिति में ही सम्भव होती हैं जब भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न अनेक मुद्राओं का क्रय विक्रय किया जाता है और उनकी दरों में अन्तर होता है और इस प्रकार के व्यापार का परिणाम यह होता है कि विनिमय दरों में अन्तर नहीं रह पाता और भिन्न भिन्न मुद्राओं के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य सब केन्द्रों में एक समान हो जाने की प्रवृत्ति रहती है।

अग्र विनिमय (Forward Exchange)—प्रथम महायुद्ध काल में तथा इसके पश्चात् भी संसार के अनेक देशों में बड़ी मात्रा में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा का प्रसार हुआ और इन देशों की मौद्रिक राजनैतिक तथा बैंकिंग परिस्थितियों में तरह तरह के परिवर्तन होने के कारण विनिमय दरों में भी उतार-चढ़ाव होने लगे और इन दरों में एक प्रकार की अस्थिरता और अनिश्चितता आती गई। इससे होनेवाली हानियों से अपने आप को बचाने के लिए व्यापारियों ने अग्र विनिमय (Forward Exchange) की प्रणाली अपनाई अर्थात् उन्होंने पहले ही से विदेशी मुद्राओं का क्रय विक्रय करने के समझौते करना आरम्भ किया जिनसे भविष्य में होने वाले उतार-चढ़ावों से कोई हानि न उठानी पड़े। मान लीजिए भारत के एक व्यापारी ने इंगलैण्ड के किसी व्यापारी से ५०० पौंड का माल मंगाया जिसका मूल्य उसे तीन महीने पश्चात् चुकता करना है। विनिमय दर में अनिश्चितता होने के कारण वह नहीं जानता कि तीन महीने पश्चात् उसे ५०० पौंड अदा करने के लिए कितने रुपये देने होंगे और इस अनिश्चितता के कारण वह अपने आयात किए हुए माल की कीमत भी निर्धारित नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में भारतीय व्यापारी तीन माह पहले ही किसी निश्चित दर पर किसी विनिमय बैंक से ५०० पौंड खरीदने का वचन दे देगा जिसका भुगतान उसे इस निश्चित दर पर तीन महीने बाद करना होगा। इस प्रकार दर निश्चित हो जायगी और व्यापारी को कितने रुपये चुकाने हैं, यह भी निश्चित हो जायगा तथा व्यापारी को दर में उच्चावचन होने के कारण चिन्तित भी नहीं होना पड़ेगा।

अग्र विनिमय के लेन-देन प्राय चालू दर पर ही निश्चित होते हैं। कभी-कभी ऐसे लेन-देन चालू दर से ऊँची या नीची दर पर भी होते हैं। यदि अग्र-विनिमय में देशी मुद्रा के बदले में कम विदेशी मुद्रा मिले तो कहते हैं कि विदेशी मुद्रा तेजी पर है अर्थात् (Foreign Currency is at Premium) यदि देशी मुद्रा के बदले में अधिक विदेशी मुद्राएँ मिलें तो कहते हैं कि विदेशी मुद्रा कटौती पर है अर्थात् (Foreign Currency is at Discount)। अग्र-विनिमय के लेन-देन में विदेशी मुद्रा की तेजी (Premium) तथा कटौती (Discount) बहुत सी बातों पर निर्भर होती है, तो भी हम मोटे तौर से कह सकते हैं कि अग्र विनिमय (Forward Exchange) के लेन-देन से विनिमय दरों के उतार-चढ़ाव कम होते रहते हैं। ये लेन-देन व्यापारिक लेन-देन के लिए होते हैं, परन्तु कुछ व्यापारी इनमें सट्टा भी करते हैं। जब ऐसा होता है तब विनिमय दरों के उतार-चढ़ाव कम होने के बदले बढ़ भी जाते हैं।

QUESTIONS

1. Explain how the rate of exchange between two countries is determined. (Rajputana 1958; Alld 1956)

Explain carefully the part played by bills of exchange in the determination of the value of the currency of one country in terms of foreign currencies. (Agra 1953)

2. Explain what is meant by 'Mint Par of Exchange.' Examine carefully the factors which bring about fluctuations in the rate of exchange. (Agra 1952, Alld 1956)

3. What are specie points? On what do these points depend? Can exchanges go beyond these points? If so, when and how? (Agra 1952s.)

4. "It is often inexact and misleading to speak of favourable and unfavourable foreign exchange rates." Discuss (Agra 1957s, 1951)

5. What factors influence fluctuations in the exchange rates? How are these fluctuations usually controlled? (Alld. 1954s., Agra 1956, Rajputana 1955)

6. Explain the Purchasing Power Parity Theory, and bring out its limitations. (Alld. 1954, 1948, Agra 1958, 1956, 55s, 1951, Sagar 1958, Rajputana 1954)

or

"The rate of exchange between two currencies will always tend to vary with their respective purchasing powers.' Explain and elucidate

(Alld. 1950, 1949 Rajputana 1958, 1957)

7. Write a brief explanatory note on the object and working of Exchange Control in any country with which you may be familiar. (1952s.) What are the motives of Exchange Control? (Agra, 1958, 1957, 1956 s 1955s,; Rajputana 1957; Bihar 1957, Patna 1957)

8. Write short notes on —
   (a) Mint Par of Exchange and Specie Points (Agra 1956, 54s., 54, 51s)
   (b) Exchange Equalisation Account (Agra 1956, 1955, Alld. 1948)
   (c) Exchange Pegging (Agra 1951)
   (d) Arbitrage Dealings (Rajputana 1955)
   (e) Compensatory action of foreign exchanges (Agra 1953)

५६

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष

(International Monetary Fund)

प्रथम महायुद्ध का प्रभाव योरप के देशों पर बहुत बुरा पड़ा। युद्ध के कारण देशों के उद्योगों की काफी क्षति हुई। इनके आयात बढ़ गये, निर्यात घट गये। अतः इन देशों से स्वर्ण अमेरिका जाने लगा जो कि युद्ध सामग्री का प्रमुख विक्रेता था। इसलिए स्वर्णमान को स्थापित रखना, इन देशों के लिए कठिन हो गया। युद्ध के पश्चात् समस्याएँ यह थी कि कैसे देश के उद्योग-धन्धों का पुनर्निर्माण हो, वस्तुओं की कीमतें कैसे कम हों, निर्यात कैसे बढ़े, आयात कैसे घटे जिससे व्यापार की बाक़ी पक्ष में हो सके। इन सब समस्याओं का हल जर्मनी के अर्थशास्त्री डा० शॉप्ट ने निकाला। उन्होंने कोटा-प्रणाली, विनिमय-नियंत्रण, अवमूल्यन, द्विदेशी समझौते (Bilateral Trade Agreements), आदि अनेक उपाय निकाले, जिनके कारण जर्मनी कुछ बरसों के अन्दर पुनः एक सुसंगठित राज्य बन सका। परन्तु इन नवीन योजनाओं के देश में अपनाये जाने का परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में काफी कमी हो गई एवं व्यापार वस्तु विनिमय सरीखा हो गया और दो देशों के आपस के समझौते में ही सीमित रह गया और अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन भी रुक गया।

द्वितीय महायुद्ध के समय पुनः इन समस्याओं का उदय हुआ। हर देश में मुद्रा का आकार बढ़ जाने के कारण कीमतें बढ़ गईं तथा व्यापार वस्तु विनिमय सरीका हो गया युद्ध से उद्योगों का काफी विनाश हुआ तथा युद्धग्रस्त देशों की आयात बढ़ गये और निर्यात घट गये। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा काफी गिर गई और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक वातावरण बहुत दूषित हो गया। फलस्वरूप आर्थिक सयोग का स्थान आर्थिक विद्वेष ने ले लिया। सब देशों में काग़ज़ी द्रव्य बढ़ने के साथ साथ विनिमय पात* की एक दौड़ सी होने लगी। प्रत्येक देश की अन्य देशों से पृथक पृथक विनिमय दरें तै होने लगी, प्रत्येक देश भारी आयात कर लगाकर अपने देश के उद्योगों की रक्षा करने लगा, और इसके परिणामस्वरूप कुल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कमी आने लगी। प्रश्न उठा, कैसे पूर्वस्थिति पर पहुँचा जाय? देशों के बीच विनिमय की दर कैसे तय हो? और किस तरह द्विदेशी व्यापार (bilateral

*"Under-valuation is a game that any one can play, but if ever one plays at it and currencies enter upon a competition to see which can be pushed further below is real value, it quickly develops into a race to render all currencies worthless."—Crowther

trade) को बहुदेशीय व्यापार (multi-lateral trade) में बदला जाय कि जिससे प्रत्येक देश संसार के किसी भी अन्य देश से व्यापार कर सके।

इसके लिए दो योजनाएँ बनीं एक योजना जो 'कीन्स' योजना कहलाती है इँगलैण्ड के विद्वानों ने बनायी और दूसरी व्हाइट योजना अमरिका के विशेषज्ञों ने बनाई। प्रत्येक योजना के अंतर्गत इस प्रकार के प्रस्ताव रखे गये जिनसे अंतर्राष्ट्रीय कमियाँ दूर की जा सकें। इन दोनों योजनाओं के कुछ प्रस्ताव एक दूसरे से मिलते जुलते थे और कुछ भिन्न भी थे अतएव इन दोनों योजनाओं के आधार पर एक सम्मिलित योजना बनाई गई। यह सम्मिलित योजना जुलाई १९४४ में Bretton-woods नामक स्थान पर एक अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्मेलन के सामने रखी गई जिसमें ४४ मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। विचार विमर्श के पश्चात् सम्मेलन ने एक अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष (International Monetary Fund) और एक विश्व-बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) की स्थापना के लिए स्वीकृत धाराएँ लिखीं और उनको सम्मेलन में भाग लेनेवाले राज्यों के पास हस्ताक्षर के लिए भेजा। २७ दिसम्बर १९४५ के दिन जब तक २८ ऐसी स्वीकृतियाँ प्राप्त हो जिनका चन्दा कोष के कुछ परिमाण का ८० प्रतिशत के लगभग था ये स्वीकृत धाराएँ कार्यरूप में परिणत हो गई और अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष की स्थापना कर दी गई। कोष ने मार्च १९४७ ई० से अपना कार्य आरम्भ कर दिया जो अब भी चल रहा है। आज के दिन ६६ देश इसके सदस्य हैं।

अंतर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष के निम्नलिखित उद्देश्य (objects) हैं —

(१) संसार के देशों में मुद्रा सम्बन्धी सहयोग पैदा करना और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना जिससे सदस्य देशों को विनिमय-सम्बन्धी सुविधाएँ मिलें, हर एक देश अपना अधिक से अधिक आर्थिक विकास कर सके और बहुदेशीय व्यापार की उन्नति हो।

(२) समस्त देशों की मुद्राओं की आपस की विनिमय-दर का प्रबन्ध करना और विनिमय दरों को स्थिर बनाने का प्रयत्न करना जिससे उसमें जल्दी-जल्दी और भारी भारी उतार चढ़ाव न हो।

(३) सदस्य-देशों की भुगतान विषमताओं को दूर करने के लिए विदेशी मुद्राएँ देकर सदस्य-देशों की सहायता करना।

(४) किसी भी सदस्य-देश में लगाये गये विदेशी विनिमय सम्बन्धी नियन्त्रणों को दूर करने का प्रयत्न करना जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई अड़चन न हो।

इस कोष का संगठन (constitution) इस प्रकार है—सब सदस्य-देशों का कोटा ८८० करोड़ डालर है जिसका प्रमुख भाग सदस्य देशों के द्रव्य के रूप में और शेष भाग सोने के रूप में रखने का प्रबन्ध है। प्रत्येक सदस्य का हिस्सा (quota) निर्धारित कर दिया गया है। प्रत्येक सदस्य ने अपने भाग का २५ प्रतिशत (अथवा अपने सोने और डालर के संचय का १० प्रतिशत, जो भी कम था) सोने के रूप में जमा कर दिया है और शेष भाग अपनी मुद्रा के रूप में जमा कर दिया है। सदस्यों में से पाँच

बड़े हिस्सेवाले सदस्यों में संयुक्त राज्य का २७५ करोड़, इंगलैंड का १३० करोड़, रूस का १२० करोड़, चीन का ५५ करोड़, फ्रांस का ८५ करोड़ और कनाडा का ३० करोड़ डालर है। (भारत का छठा नम्बर है और इसका हिस्सा ४० करोड़ डालर है। रूस अभी तक इस कोष का सदस्य नहीं बना है, अतएव इस समय भारत पाँचवा बड़ा सदस्य है।) इस कोटा में समय समय पर सदस्यों की इच्छा से तथा सदस्यों के ⅘ बहुमत से परिवर्तन किया जा सकता है। जैसे फ्रांस का कोटा सितम्बर १९४६ में ८५ करोड़ से बढ़ाकर ५२.५ करोड़ डालर कर दिया गया।

मुद्रा-कोष का प्रबन्ध (Management) करने के लिए एक बोर्ड आव गवर्नर्स (Board of Governors) होता है जिसमें प्रत्येक सदस्य-देश द्वारा चुने हुए एक गवर्नर तथा एक स्थानापन्न गवर्नर होते हैं जो पाँच वर्ष के लिए चुने जाते हैं, परन्तु अवधि समाप्त होने पर इनका फिर चुनाव किया जा सकता है। इनको कोटे के अनुसार ही राय देने का अधिकार होता है। कोष के नित्य कार्य का सचालन करने के लिए एक संचालन समिति (Executive Committee) होती है जिसमें १२ सचालक होते हैं, जिनमें ५ उन देशों के होते हैं जो सब से अधिक कोटे वाले होते है, २ अमेरिकन रिपब्लिक्स द्वारा चुने हुए होते हैं और ५ अन्य दूसरे सदस्य-देशों द्वारा चुने हुए होते है। यह समिति एक प्रबन्ध सचालक (Managing Director) चुनती है जो कोष के दिन-प्रतिदिन के काम की देख-भाल करता है और जो कोष का सभापति (Chairman) भी होता है।

कोष का प्रधान कार्यालय अमेरिका में है। कोष का ५० प्रतिशत सोना अमरिका में रखा गया है तथा ४० प्रतिशत सोना बड़े कोटा वाले चार देशों में रखा गया है और शेष सोना अन्य देशों में रखा गया है।

कोष के सदस्यों के हिस्से का बहुत महत्त्व है। एक तो यह कि कोष के गवर्नरों की सभा में, जिसमें प्रत्येक सदस्य देश को प्रतिनिधित्व प्राप्त है, अपने हिस्से के परिमाण के आधार पर मत देने का अधिकार होता है—प्रत्येक सदस्य देश को २५० वोट और उसके ऊपर प्रत्येक एक लाख डालर के हिस्से के पीछे एक वोट देने का अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भ के पाँच बड़े हिस्सेदारों को कोष की १२ सदस्यों की कार्यकारिणी सभा में स्थायी स्थान प्राप्त है। हिस्से का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि प्रत्येक सदस्य, कोष से किसी भी १२ महीने की अवधि में अपने हिस्से के २५ प्रतिशत परिमाण तक ही अपने द्रव्य के बदले दूसरे देशों का द्रव्य प्राप्त कर सकता है। उदाहरण के लिए, भारत का हिस्सा ४० करोड़ डालर है—यह कोष में ३० करोड़ डालर की मुद्रा व १० करोड़ डालर का सोना जमा करता है—तो भारतवर्ष किसी भी १२ महीने की अवधि के अन्दर इस कोष से, पर्याप्त मात्रा में रुपया जमा करके, १० करोड़ डालर तक प्राप्त कर सकता है (और ५ वर्ष तक यह कुल ५० करोड़ डालर प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक नहीं, क्योंकि एक दूसरा नियम यह है कि जब कोष में किसी सदस्य देश का अपना द्रव्य अपने हिस्से के परिमाण से दुगना जमा हो जाता है तो इसके बाद उस देश को कोष से विदेशी विनिमय मोल लेने का अधिकार नहीं रह जाता। अर्थात् कोष के पास किसी भी

ममय में किसी मदस्य दश क हिस्से के २०० प्रतिशत से अधिक द्रव्य जमा न होना चाहिए। भारत का कोटा ४० करोड है। अब चूकि फड में २०० प्रतिशत स अधिक रुपय नही रखे जा सकते इसका मतलब यह हुआ कि किसी ममय अधिक स अधिक ८० करोड रुपये रह सकत हैं यानी ३० करोड क अतिरिक्त केवल ५० करोड रुपये और रखे जा सकत हैं, और उसी रकम की दूमरे दश की करेंसी खरीदी जा सकती है।)

इस काप का काय सचालन (working) इस प्रकार है—(१) यदि किसी सदस्य दश को किसी दूसरे दश की करैंसी की आवश्यकता है तो वह अपनी करैंसी के विनिमय में काप स दूसरे दश की करसी प्राप्त कर सकता है।

जहाँ तक विदेशी विनिमय दरा का अर्थात् सदस्य देशा की करैंसियो के सम मूल्य (par value) का सम्बन्ध है यह स्वण अथवा अमरिकन डालर में निश्चित होता है। इसके नियत करन के लिए प्रत्यक सदस्य कोष का सदस्य बनने पर सोने या डालर में अपना मुद्रा का विनिमय दर निश्चित करता है कोप क आरभ होन से ६० दिन पहिले की जो दर होती है वही कोप को स्वीकृत होती है। और अब इस दश का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने दश के अन्दर कोई भी सौदा इस निश्चित विनिमय दर स १ प्रतिशत स कम या अधिक विनिमय दर पर न होन दे। पर यह दर सदा क लिए नियत नही होती। एक सदस्य दश दूसरे सदस्य देशा स अनुमति लकर १० प्रतिशत दर का स्वय बदल सकता है और दूसरे १० प्रतिशत तक काप की आज्ञा लकर बदल सकता है। इसका ज्वलत उदाहरण सितम्बर १९४९ का विदेशी विनियम का अवमूल्यन है जिसके अन्तगत इंगलैंड, भारत आदि देशा न भिन्न भिन्न परिमाण में ३०५ प्रतिशत तक अपन द्रव्या के विदशी विनिमय की दर म कमी कर दी। स्टर्लिंग और डालर की विनिमय की दर ४०३ डालर स गिरकर २ ८० डालर रह गई रुपय का मूल्य ३० २२५ सेण्ट से गिरकर २१ सण्ट रह गया अर्थात् एक डालर का मूल्य ४ ७६ रुपया हो गया।

जहाँ तक देश क भीतर मुद्रा का सम्बन्ध है कोप को दखल दन का अधिकार नहीं है। सदस्या को अपन दश के अन्दर चलन स निकाले हुए नय स्वण का बचन की भी पूर्ण स्वतत्रता है। हाँ यदि आयात और निर्यात का सतुलन बिगड जाय तो उसका सुधारन में यह सहायता अवश्य कर देता है।

(२) यदि किसी सदस्य दश को अपना अस्थायी भुगतान विषमता को दूर करन के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता है तो वह काप क पास जमा किये हुए सोने का या मुद्राओं का काम में ला सकता है और उनक आधार पर काप स उधार ले सकता है। यदि कभी किन्हीं सदस्य दशा क बीच स्थायी रूप स भुगतान विषमता होती है तो उन देशा की विनिमय दरा में आवश्यक समायोजन भी कर दिया जा सकता है, जैसा कि सितम्बर १९४९ में अवमूल्य (Sterling Devaluation) द्वारा किया गया था।

(३) कोष विदेशी विनिमय क स्वतत्र लेन-देन में विश्वास करता है और नियत्रण क पक्ष में नही है। इसने सदस्या क अन्तर्राष्ट्रीय चालू सौदा क भुगतान और पूँजी के हस्तान्तरण क आरम्भ में कुछ समय के लिए बधन लगाने की अनुमति अवश्य दे दी थी। परन्तु

सदस्यो को यह बधन धीरे-धीरे तोडने पडे, नही तो वे कोप की सदस्यता से वचित हो जाने। इसमें कोई सदेह नही कि असाधारण परिस्थितियो के कारण अनेक देशो ने अभी तक प्रतिबधनो को उठाया नही है, परन्तु कोप की अपील यही है कि नियत्रण दूर हो और अन्तर्राष्ट्रीय सतुलन की स्थापना हो।

अतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोप म स्वर्ण का स्थान

(Place of Gold under the Fund)

यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि यद्यपि यह कोप स्वणमान के समान नही है तो भी इस योजना में स्वर्ण को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस कोप का उद्देश्य स्वर्ण को बिल्कुल हटा देने का नही है, ऐसा करने से तो अमेरिका और इंगलैंड दोनो को ही बड़ा नुकसान होता—अमेरिका के पास दुनिया के सोने का सबसे अधिक भाग है और ब्रिटिश कामन्वेल्थ में सोने का उत्पादन अधिक होता है, इसलिए दोनो ही देशों को सोने के दाम गिर जाने से नुकसान होता। इस कोप का उद्देश्य तो केवल एक ऐसी पद्धति की स्थापना करना है कि जिससे सोने का मूल्य भी न गिरे, सोने के सिक्के भी न चलाने पडे और साथ साथ विदेशी विनिमय-दर में स्थिरता और लोच भी रहे। यही कारण है कि प्रत्येक देश के लिए कोप में अपने भाग की पूँजी का २५% सोने के रूप में देना अनिवार्य है। और इसी कारण प्रत्येक देश की मुद्रा का मूल्य सोने में या अमेरिकन डालर में घोषित किया है। साथ ही जब कोप को किसी मुद्रा की कमी अनुभव होती है तो वह उस मुद्रा को सोना देकर खरीद भी सकता है। इन सब बातो से स्पष्ट है कि कोप के प्रबंध में सोने को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, परन्तु इससे यह परिणाम निकालना ठीक नही होगा कि कोप के बनने से ससार में वही स्वर्ण मान (Gold Standard) आ गया है जो १९३२ से पहिले अनेक देशो मे था। कोप तो एक नया ही रूप है। इसमें सोने का सिक्का नही चलता, सोने के सिक्को की स्वतत्र मुद्रा ढलाई नही होती, नोटो को सोने में नही बदला जा सकता और यह स्वर्ण प्रमाप की तरह स्वय चालक नही है। तो भी कोप के सदस्य देशो की पारस्परिक विनिमय दर कोप द्वारा निश्चित की हुई सीमाओं से अधिक ऊँची नीची नही हो सकती। स्वर्ण-प्रमाप के अन्तर्गत विनिमय दर स्वर्ण बिन्दुओ (Gold export and Gold import points) के बीच मे बदलती रहती थी, और अब यह दर कोप के द्वारा निर्धारित सीमाओ के बीच बदल सकती है। तात्पर्य यह है कि जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप ने एक बार स्वर्ण प्रमाप की स्थायी और पुरातन पद्धति का नवीन स्वरूप स्थापित किया है वहाँ दूसरी ओर पुरातन सरल और लोचदार मौद्रिक व्यवस्था को पुनर्जन्म दिया है ("The fund is the happy synthesis of orthodox and rigid system of gold standard on the one hand and an orthodox and more conveniently flexible system of monetary management on the other hand") कुछ अर्थों में यह स्वर्णमान से अच्छा है। इसकी सहायता से प्रत्येक देश अपने बाहरी हिसाब का भुगतान ससार के देशो के साथ एक साथ ही कर सकता है जब कि स्वर्णमान के अतर्गत ऐसे हिसाबो का निपटारा प्रत्येक देश के साथ

अलग ही किया जा सकता था। इसमें प्रत्येक देश का कोटा उसके प्रतिकूल व्यापारिक सतुलन को पूरा करने के काम आता है परन्तु स्वर्णमान प्रणाली में व्यापारिक विषमता देश के बाहर स्वर्ण भेज कर ही ठीक की जाती थी। दूसरे, कोष योजना के अतर्गत लाच है और वह दोष नहीं है जिसके कारण मान का "एक मार्गी आना जाना" (one-way traffic) होकर स्वर्णमाप चूर चूर हो गया। प्राचीन स्वर्ण प्रमाप का सबसे बडा दोष यह निकला कि ससार भर का सोना कुछ इने गिने देशों के पास इकट्ठा हो गया। परन्तु वर्तमान स्वर्ण प्रमाप में यह दोष भी नहीं दीख पडता।

अतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सफलता

(*Success of the Fund*)

अतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के स्थापित होने के समय सभी यह मानते थे तथा इस बात की आशा करते थे कि अतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना करेंसी के क्षेत्र में होनेवाले बहुत से दोषों को दूर कर देगी, अतर्राष्ट्रीय लेन-देन में वृद्धि होगी और अतर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र रूप से शीघ्र ही होने लगेगा। परन्तु यह सब आशाएँ कि व्यापार तथा करेंसी नियत्रण से मुक्त हो जायेंगे, लगभग व्यर्थ ही सिद्ध हुई हैं। महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन ने स्टर्लिंग की परिवर्तनीयता (convertibility) का प्रयत्न किया परन्तु वह सकट में फँस गया और अमेरिका की सहायता से ही अपने आपको बचा सका। यद्यपि युद्ध के पश्चात् निर्यात बढे, परन्तु यह भी १९४९ में कम हो गये फिर पौंड का अवमूल्यन हुआ, कोरिया युद्ध के कारण फिर नियत्रणों का समय आया, इसके पश्चात फिर मदी आई मतलब यह है कि अभी दशा सुधरी नहीं है और न कोई स्थिरता ही आ पाई है। सभी देश आयात पर नियत्रण लगाते हैं, इत्यादि, इत्यादि। इन्हीं कारणों से अतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने साहूकार देशों से अपील की है कि वह नियत्रण को दूर कर अतर्राष्ट्रीय सतुलन की स्थापना में कोष की सहायता करें। कुछ लोग तो इस विचार के हो चले हैं कि इस कोष की उपस्थिति व्यर्थ है और कोष समाप्त कर देने योग्य है। तो भी हमारा ख्याल है कि समय के साथ कोष की कमियाँ दूर हो सकती हैं और यदि ससार के सभी देश कोशिश करें तो यह कोष सफलतापूर्वक अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है। जहाँ तक कि भारत का सबध है उसे इस कोष का सदस्य बनने से कई लाभ हुए हैं। पहिले उसके रुपये का सबध अन्य देशों की मुद्राओं से स्टर्लिंग के द्वारा ही हुआ करता था जो बुरा था, अब उसका सबध सीधे रुपये से हो गया है और वह किसी भी देश की मुद्रा खरीद भी सकता है और उधार भी ले सकता है। भारत में कोष के अनेक कमीशन आए हैं जिन्होंने समय समय पर भारत की आर्थिक और मुद्रा-सबधी बातों पर सुझाव दिए हैं। इत्यादि, इत्यादि।

अंतर्राष्ट्रीय बैंक

(*World Bank*)

(*The International Bank for Reconstruction and Development*)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ साथ अतर्राष्ट्रीय बैंक (World Bank) का भी निर्माण हुआ था, जो अपना काम कर रहा है। इसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य देशों के उद्योग-धंधों

को विकसित तथा उन्नतिशील बनाने का है। कारण कि विगत महायुद्ध के अनुभवों ने बता दिया कि जब तक समस्त संसार में पूर्ण रूप से औद्योगीकरण नहीं होता, तब तक विश्व-शान्ति की आशा करना स्वप्न होगा।

[अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्यों में अन्तर यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष विनिमय-दरों की अल्पकालीन घट-बढ़ को ही सन्तुलित करता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का उद्देश्य सदस्य देशों को दीर्घकालीन पूँजी के लगाने में सहायता देना है, जिससे पिछड़े हुए देश जैसे, फ्रांस, हालैंड, डेनमार्क, इंगलैंड या भारत, पाकिस्तान, चीन, बरमा आदि का आर्थिक विकास किया जा सके। यह बैंक मुद्रा-कोष के कार्य में सहायता प्रदान करता है, उसके कार्य में रुकावट नहीं डालता।]

संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं —

(१) पुनर्निर्माण (Reconstruction)—युद्ध ने देशों की मिलों और कारखानों को नष्ट कर दिया। इसलिए युद्ध के पश्चात् इनका पुनर्निर्माण करना परम आवश्यक था। पुरानी घिसी जर्जर मशीनों को हटाकर नई मशीनें लगाने में अधिक धन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार बैंक का एक कार्य धन देकर ऐसे देशों की सहायता करना रहा है।

(२) विकास (Development)—संसार में अनेकों पिछड़े कृषि-प्रधान देश हैं। यहाँ के मनुष्यों का जीवन-स्तर बहुत नीचा है। ये देश पिछड़ेपन के कारण विदेशियों द्वारा शोषित किये जाते हैं। इसी कारण से संसार में दो महायुद्ध हुए। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक इन पिछड़े हुए कृषिप्रधान देशों (Undeveloped and Under-developed Countries) को मिलें तथा कारखाने खोलने में सहायता देकर इन देशों की जनता के जीवन-स्तर को उठाता है। यह उसका दूसरा कार्य है।*

इस बैंक का कार्य संचालन (working) इस प्रकार होता है—बैंक के संचालन के लिए एक बोर्ड ऑव गवर्नर्स (Board of Governors) होता है। इस बोर्ड में प्रत्येक सदस्य-देश द्वारा भेजा हुआ एक सदस्य और एक स्थानापन्न सदस्य होते हैं। इस बोर्ड की वर्ष में एक बैठक होती है। प्रबन्ध के लिए १२ कार्य संचालक हैं जिनमें से ५ उन सदस्य देशों के हैं जिनको बैंक की पूँजी में बड़ी-बड़ी राशि के कोटे दिये गए हैं। बैंक का प्रधान कार्यालय अमेरिका में है।

बैंक की अधिकृत पूँजी १००० करोड़ डालर है और बैंक चाहे तो इसको बढ़ा भी सकता है। सदस्य देश इसके हिस्सेदार हैं। ये हिस्से देशों की हैसियत के अनुसार, ठीक उसी तरह जैसे कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष में, निश्चित किये गये थे। प्रत्येक देश अपने हिस्से का २०% धन तो बैंक को दे चुका है तथा ८०% अभी उनके पास ही है, परन्तु यह ८०% भी

*The charter obligation of thespecialised agency of the United Nations —often called "the World Bank"—is "to assist in the reconstruction and development of territories of members by facilitating the investment of capital for productive purposes", and to do so particularly for "the encouragement of the development of productive facilities and resources in less developed countries."

बैंक द्वारा कभी भी लिया जा सकता है। इस प्रकार बैंक का कोष १००० करोड़ डालर है, जिसमें से केवल २०० करोड़ डालर (२०%) ही बैंक के पास नकद रूप में है, शेष ८०० करोड़ डालर (८०%) वह सदस्य राष्ट्रों से कभी भी वसूल कर सकता है।

बैंक का कार्य यह है कि उपर्युक्त उद्देश्यों के लिए सदस्य-राष्ट्रों को स्वयं ऋण दे तथा अन्य शक्तिशाली देशों से जमानत (guarantee) देकर ऋण दिलवाने में सहायक हो और आवश्यकता पड़ने पर भिन्न देशों की योजनाओं को पूरा करने के लिये उनको विशेषज्ञों की सेवाओं को भी उधार दे। जब कोई देश निर्माण कार्य के लिए रुपया उधार चाहता है, तो वह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से रुपया उधार देने या दिलाने की प्रार्थना करता है। वह बैंक को सूचित करता है कि वह उधार लिया हुआ रुपया किस बात में व्यय करेगा तथा उसके देश को इससे कितना लाभ होगा। इसके बाद बैंक कर्जा देने से पहिले, उस देश को अपना एक मिशन भेजती है, जो यह देखता है कि देश की आर्थिक स्थिति कैसी है, जिस योजना के लिए ऋण माँगा जा रहा है वह योजना कैसी है, और उसके लिए देश को ऋण मिलना चाहिए या नहीं। और फिर यह रुपया उधार दिया जाता है। ऋण ५ वर्ष या उससे अधिक अवधि के लिये होता है। उधार लेनेवाला देश इसको अपने देश की मुद्रा में नहीं ले सकता। ऐसा, इसलिए किया जाता है कि उधार लिया हुआ रुपया सिर्फ निर्माणकार्य पर ही व्यय हो, और कहीं इसका उपयोग न किया जाये। और बैंक द्वारा दिए गए ऋण की रकम तथा उसकी गारंटी पर निजी रूप से उधार देने वाले के ऋण की रकम का योग बैंक की प्राप्त पूँजी तथा रक्षित कोष की रकम के योग से अधिक नहीं हो सकता। **अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से सहायता लेने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य होना आवश्यक है।**

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का आदर्श बहुत सराहनीय है। यदि यह अपने आदर्श को सुचारु रूप से प्राप्त कर ले, तो विश्व-शान्ति की स्थापना सहज हो जाय। परन्तु इस बैंक की कार्य प्रणाली में कुछ दोष भी है, जिनका उल्लेख आवश्यक है, वे निम्नलिखित हैं —

(१) कहते हैं कि ऐसा देखा गया है कि बैंक निष्पक्ष कार्य नहीं कर रहा है। रुपया देते समय यह विचार सामने रखा जाता है कि यह देश कम्यूनिस्ट अथवा रूस का पक्षपाती तो नहीं है और यदि ऐसा है, तो ऋण नहीं दिया जाता है। (परन्तु भारत को बराबर सहायता मिलती रही है और उसके अनुभव में ऐसी कोई बात नहीं आई जैसी कही जाती है।)

(२) बैंक की पूँजी बहुत कम है। इसके पास तो केवल २०० करोड़ डालर ही है, शेष तो सदस्य राष्ट्रों से लिया ही नहीं गया है। पिछड़े राष्ट्रों की आवश्यकता को देखते हुए यह रकम बहुत कम है। अभी २६ अगस्त १९५८ को प्रेसिडेंट आइसेनहावर ने प्रस्ताव रक्खा है कि बैंक की पूँजी बढ़ाई जाय और प्रत्येक सदस्य-देश के हिस्से में वृद्धि की जाय।

(३) बैंक की ब्याज की दर बहुत ऊँची होती है।

किन्तु इन कमियों के होते हुए भी बैंक का विगत वर्षों का कार्य सराहनीय है। अब तक अपने ५८ सदस्य देशों में से ४० को वह लगभग १५० ऋण लगभग २५०० मिलियन डालर की रकम के कर्ज दे चुका है। इसमें से कुछ पुनर्निर्माण (फ्रांस, नेदरलैंड्स, डनमार्क

और लक्जम्बर्ग) के लिएऔर अधिकतर विकास के लिए दिया गया है। प्रतिसाल वह लगभग ४०० मिलियन डालर का ऋण जरूर दे देता है।

तात्पर्य यह है कि विश्व बैंक संसार के अनेक देशों को बड़ी सहायता पहुंचा रहा है और इसके बिना युद्ध के पश्चात् की कठिनाइयों का सामना करना बड़ा मुश्किल होता। भारत इन दोनों ही संस्थाओं का सदस्य है और इनमें कई बार करके ३०० मिलियन डालर के लगभग कर्ज ले चुका है—रेलों की उन्नति के लिए बिजली पैदा करने के लिए लोहा और स्टील बनाने के लिए इण्डस्ट्रियल कारपोरेशन को स्थापित करने के लिए कृषि का सुधार करने के लिए दामोदर घाटी योजना पूरा करने के लिए इत्यादि इत्यादि। जिसमें से वह लगभग १०० मिलियन डालर जो उसने शुरू में लिये थे वापस भी कर चुका है। इनका ब्योरा निम्न प्रकार है —

१९४९ में	३४ मिलियन डालर का ऋण—रेलों की उन्नति के लिए	
१९५०	१०	कृषि विकास के लिए
१९५०	१८५	दामोदरघाटी योजना के लिए
१९५३	३१५	इण्डियन आयरन और स्टील कम्पनी के लिए
१९५३	१९५	दामोदर घाटी योजना के लिए (दोबारा)
१९५४	१६२	ताता बिजली कम्पनी बम्बई के लिए
१९५५	१०	इण्डस्ट्रियल क्रेडिट एण्ड इन्वेस्टमेन्ट कारपोरेशन के लिए
१९५७	३०	ताता स्टील वर्क्स के लिए
१९५७	९०	रेलों की उन्नति के लिए (दोबारा)
१९५८	३०	बन्दरगाहों के सुधार के लिए

इसी तरह फ्रांस नदरलैण्ड्स डेनमार्क लक्जम्बर्ग चिलि मेक्सिको सीलोन इत्यादि समय-समय पर उधार लेकर लाभ उठाते रहे है। यही नहीं कि बैंक केवल रुपये के रूप में ही सदस्य देशों को सहायता देता हो। यह टेकनिकल सहायता भी देता है। और यदि इस संस्था को गुट-बन्धन और दलबन्दी से दूर रक्खा जाय तो यह संसार का बड़ा भला कर सकती है।

Questions

1 Describe briefly the constitution and functions of the International Monetary Fund. Discuss the place of gold under the Fund. (Alld. 1955 51 Agra 1958 1957 1957s 1956 1956s 1954s 1951 Rajputana 1958 1957)

2. What are the principal objectives of the I M F and h w does the Fund seek to accomplish them? (Agra 1955s Alld 1955)

3 Give the constitution and functions of the Bank for International Development and Reconstruction (Agra 1957 1955 1954 1952 Alld 1951)

4 Write a short note on multilateralism in Trade (Agra 1957, 1956)

५७

व्यापार-चक्र

(Trade Cycles or Business Cycles)

आजकल की आर्थिक व्यवस्था में एक बात विशेष रूप से देखने में आती है, वह यह कि उत्पादन कार्यों की गति एक समान कभी नहीं चलती। उसमें उतार चढाव आते रहते हैं। चढाव (upswing) या तेजी (Boom) के बाद उतार (downswing) या मदी (Slump) का समय आता है और मदी के बाद फिर तेजी का समय आता है। प्राय यह देखा गया है कि हर दस या ग्यारह वर्ष बाद व्यवसाय को एक धक्का सा लगता है, जिससे कई वर्षों के लिए प्रगति रुक जाती है और सकट काल (Period of Depression or Crisis) के दिन आते हैं जब कि व्यवसायो मे कठिनाइयां उपस्थित होने लगती हैं अथवा अड़चनें पडने लगती हैं। [जब यह कठिनाइयां केवल व्यापारियों तक ही सीमित रहती हैं, तो सकटकाल व्यावसायिक (Trade Crisis) कहलाता है और जब यह आगे बढ़ जाती हैं और बैंक आदि बन्द होने लगते हैं, तो सकटकाल आर्थिक (Economic Crisis) कहलाता है।] इसके थोड़े समय बाद आशा की झलक फिर दिखाई देने लगती है, अवसाद के दिन समाप्त हो जाते हैं और समृद्धि-काल (Period of Prosperity) शुरू हो जाता है और अवसाद की भाँति यह भी कई वर्षों तक चलता है। इसी चक्र को व्यापार-चक्र कहते हैं।

व्यापार-चक्र (Trade Cycle) में दो प्रवृत्तियां विशेष रूप से देखने में आती हैं— एक तो उत्पादन कार्यों मे परिवर्तन होते हैं (और बेकारी की सख्या में घट-बढ हो जाती



है), दूसरे मूल्य स्तर मे परिवर्तन होते है। जब व्यापार में प्रगति होती है, तब उत्पादन कार्यों का विस्तार बढ़ता है, बेकारी घटती है और कीमतें ऊपर जाती है, और जब व्यापार में अवनति आती है, तब उत्पादन कार्यों में कमी होती है, बेकारी बढ़ती है, और कीमतें नीचे जाती है।

साधारण रूप से व्यापार चक्र को चार भागों में बाँटा जाता है—

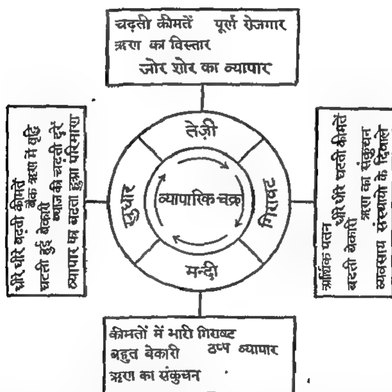
(१) उत्थान (Recovery)

(२) उत्कर्ष (Prosperity or Boom)

(३) अपकर्ष या संक्रान्ति (Crisis or Recession)

(४) गर्त (Depression)

व्यापार-चक्र गर्त से निकल कर उत्थान के पथ पर आरूढ़ होता है। उत्थान में प्रगति उत्पन्न होने लगती है और आर्थिक क्रियाओं में उत्साह व्याप्त हो जाता है। कुछ समय बाद



उत्कर्ष का अंत हो जाता है और अपकर्ष आरम्भ हो जाता है जो कि बढ़ते बढ़ते आर्थिक व्यवस्था को गर्त में पटक देता है। फिर धीरे-धीरे व्यापार-चक्र गर्त से निकल कर उत्थान की ओर अग्रसर होता है और फिर पूर्ववत् वही क्रम चलता रहता है।*

*Lord Overstone के शब्दों में "First we find a state of quiescence—next improvement—growing confidence—prosperity—excitement—over trading—convulsion—pressure—stagnation—distress—ending again in quiescence."

व्यापार-चक्र की प्रवृत्ति

(*Characteristics of a Trade cycle*)

व्यापार चक्र की दो विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) इसका चक्रात्मक रूप (cyclic nature)—यह देखा गया है कि व्यापार-चक्र लगभग निश्चित मध्यान्तर के उपरान्त प्रकट होते रहते हैं। लोगों का विचार है कि यह मध्यान्तर लगभग सात से ग्यारह वर्ष तक का होता है। तो भी इसके विषय में किसी निश्चित अवधि को स्थिर नहीं किया जा सकता केवल इतना कहा जा सकता है कि जिस प्रकार रात के बाद दिन होता है इसी प्रकार अवसाद के बाद समृद्धि का होना आवश्यक है। इन गतियों की तुलना घड़ी के पेंडुलम की गतियों से की जाती है। जब एक दिशा में गति होती है तो अपने आप विरुद्ध दिशा में गति होगी, और उतनी ही उत्तेजनापूर्ण गति।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि इस विषय पर कुछ अर्थ शास्त्रियों में मतभेद हैं। आल्ट और एवरिंग के अनुसार व्यापार-चक्र अनिश्चित समय पर होते हैं—और हो सकता है कि व्यापार में मंदा कई सालों तक चलता रहे या कुछ महीनों में समाप्त हो जाय। इसी प्रकार उत्कर्ष अल्पकालीन भी हो सकता है और दीर्घकालीन भी। इसके अतिरिक्त श्राऊयर का कहना है कि आर्थिक संघर्ष की शक्तियाँ व्यापार चक्र की सामयिक प्रवृत्ति के विपरीत भी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए प्रथम महायुद्ध के छिड़ने से पहले कीमतें ऊँची चढ़ी थीं और १९१४ या १९१५ में व्यापार चक्र की गति के अनुसार कीमतें गिरनी चाहिए थीं परन्तु युद्ध के कारण कीमतें और भी बढ़ गईं। इसी प्रकार दूसरे महायुद्ध के होने से एक दो साल पहले ही कीमतें घटनी शुरू हुई थीं और उन्हें मामूली ढंग से कुछ साल तक घटनी चाहिए थीं परन्तु लड़ाई के कारण इससे उल्टा दृश्य देखने में आया। तो भी आजकल के अर्थशास्त्री व्यापार चक्र को अर्थशास्त्र के अध्ययन में एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। और इस विषय की खोज में बड़े जोर से लगे हुए हैं।

(२) इसका समन्वयात्मक (synchronic) अथवा व्यापक होना—व्यापार चक्र के बारे में दूसरी बात यह देखी गई है कि तेजी और मंदी की गतियाँ एक ही समय सब उद्योगों में प्रकट होती हैं।

when someone stops		buying,	some one	stops		selling
,,	,,	selling,	,,	,,		making
,,	,,	making	,,	,,		earning
,,	,,	earning,	,,	,,		buying

व्यापारिक जगत एक सम्पूर्ण आर्थिक इकाई है जिसके किसी भाग पर धक्का लगने से सम्पूर्ण व्यापार को धक्का लगता है। यदि किसी एक उद्योग में बुराइयाँ पैदा हो जायें तो वह सारे उद्योग जिनका उससे सम्बन्ध है, प्रभावित होंगे। इस प्रकार अवसाद एक उद्योग से दूसरे उद्योग में फैलता है। व्यवसाय जगत में किसी एक उद्योग के बंद होने से अन्य बहुत

से उद्योग बंद होने लगते है। बहुत कम व्यवसाय ऐसे हैं, जो अवसाद अथवा समृद्धि की परिस्थितियों में अलग रह सकें। यहाँ तक कि व्यापार-चक्र की गतियाँ व्यापकता में अन्तर्राष्ट्रीय होती है। एक देश में उन्नति होने से उसका अच्छा प्रभाव दूसरे देशों पर पड़ता है और समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रभावित होने लगते हैं।*

(३) इनकी गति का समान होना—व्यापार-चक्रों की तीसरी विशेषता यह है कि उनकी गति समुद्र की लहर के समान होती है और प्रत्येक व्यापार-चक्र एक दूसरे से मिलता जुलता होता है, केवल उनमें थोड़ा-बहुत भेद अवश्य होता है।

व्यापार-चक्र के सिद्धान्त

(Theories of Trade Cycles)

(१) अत्यधिक-बचत अथवा कम-उपभोग-सम्बन्धी सिद्धान्त (Under-consumption Theory)—व्यापार-चक्र के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हाब्सन ने किया है। उनका कहना है कि व्यावसायिक मंदी अत्यधिक बचत करने और साधारण जनता की क्रय-शक्ति कम होने के कारण होती है। वर्तमान समाज में आय में अत्यधिक अन्तर होता है और कुल सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग एक छोटे से वर्ग के हाथ में होता है। जब व्यवसाय में तेजी रहती है तब इस वर्ग की आय में वृद्धि होती है और उसका अधिकांश बचा लिया जाता है। और फिर इस बचत को पूँजी-उत्पादन-व्यवसायों में लगाया जाता है और अधिक मशीन औजार इत्यादि का उत्पादन होता है। साथ ही साथ उपभोक्ता की वस्तुओं के खरीदने की शक्ति में कमी पड़ जाती है क्योंकि मजदूरों की मजदूरी उसी अनुपात में नहीं बढ़ती। फल यह होता है कि बाजार वस्तुओं से भर जाता है और उन्हें लाभ पर बेचना सम्भव नहीं होता। और इस तरह व्यावसायिक मंदी का समय शुरू हो जाता है।

इस सिद्धान्त की आलोचना में यह कहा जाता है कि कोई कारण नहीं है कि व्यवसायी वर्ग लगातार बचत करता रहे। यह वर्ग अपने आराम की और विलास की वस्तुओं पर भी खर्च बढ़ा सकता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि जो धन बचाया जायेगा उसका उपयोग पूँजी के रूप में उत्पादन कार्यों में होगा, जो गलत है। एक बात और यह है कि जब बचत अधिक होगी तो ब्याज-दर घटनी चाहिए और जब ब्याज-दर घटेगी तो लागत खर्च भी घटना चाहिए और इस तरह वस्तुओं का उत्पादन उनकी माँग की कीमत से कम लागत पर होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि वास्तव में पूँजी की माँग न होती तो ब्याज दर शून्य हो जानी चाहिए थी परन्तु ऐसा

*This tendency, writes S E Thomas, applies not only to the industries within one country but also to those throughout the world So interdependent are the various nations that depressed conditions in one tend to bring depressed conditions in others and good times in one country tend to influence business conditions in other countries in the direction of prosperity.'

कभी नहीं होता। कुछ भी सही यह तो मानना ही पड़ेगा कि पूंजीवाद में उत्पादकों की बचत करने की शक्ति तेजी से बढ़ती है जब कि लोगों की क्रय करने की शक्ति इतनी नहीं बढ़ती। मालदार और भी मालदार होते जाते हैं और गरीब और भी गरीब। और चूंकि मालदारों की बनाई हुई वस्तुओं के खरीदार यही गरीब आदमी होते हैं इसलिये कुछ वस्तुएँ बिक नहीं पातीं और बाजार में मंदी का दृश्य देखने में आता है।

(२) प्रतियोगिता सिद्धान्त अथवा अत्यधिक उत्पादन सिद्धान्त (Over-production Theory)—समाजवादियों का यह भी कहना है कि पूंजीवादिता में अनेकों उत्पादन-अंगों में कोई सहयोग नहीं होता और परस्पर आन्तरिक प्रतियोगिता होती रहती है। प्रत्येक उत्पादक की यही चाह रहती है कि सारे बाजार में उसका आधिपत्य हो अतः अत्यधिक उत्पादन होना स्वाभाविक ही है। इसका परिणाम यह होता है कि एक तरफ पूर्ति के बढ़ने से उनकी कीमत घटती हैं और दूसरी ओर उनकी उत्पादन लागत बढ़ती है क्योंकि हर तरफ अधिक पूंजी अधिक मजदूर और अन्य साधनों की माँग होती है। इस तरह व्यापार का लाभ समाप्त हो जाता है छोटी-छोटी फर्म बन्द होने लगती हैं। यह भी होता है कि कुछ उद्योगों में जितनी वस्तुयें लाभ से बिक सकती हैं उससे अधिक उत्पादन हो जाता है तब वे उद्योग उत्पादन को कम करने की चेष्टा करते हैं जिसका फल यह होता है कि मशीनों और कच्चे माल इत्यादि की माँग घट जाती है, मजदूर बेकार हो जाते हैं, उनकी आय घटती है जिसके कारण अन्य उद्योगों में भी मंदी आने लगती है। इसलिये कहा जाता है कि प्रतियोगिता ही अत्यधिक उत्पादन अपकर्ष और अवसाद का कारण होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अतिशय प्रतियोगिता ही अतिशय उत्पादन का कारण होता है परन्तु केवल इसी को अवसाद का एकमात्र कारण कहना अनुचित होगा। इस कारण के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण होते हैं जिनका कि अपकर्ष के घटने में भाग होता है। इसके अतिरिक्त अत्युत्पादन व्यापारिक मन्दी का एक लक्षण है और उसका कारण नहीं हो सकता। फिर इस सिद्धान्त से व्यापार-चक्र का चक्रात्मक रूप भी तो नहीं स्पष्ट होता।

(३) मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory)—यह सिद्धान्त प्रो० पीगू का है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवसाय में विश्वास घटने-बढ़ने से व्यापार-चक्र उत्पन्न होते हैं। जब व्यवसाय तेजी पर होता है तो लोग अच्छे लाभ की आशा करते हैं और भविष्य के बारे में ऊँची ऊँची आशाएँ लगाये रहते हैं। जब व्यवसायों के एक वर्ग में विश्वास उत्पन्न होता है, तो वह अन्य वर्गों में फैलता है। इस आशा-पूर्ण विश्वास से भूलें होती हैं और लाभ पर जितनी बिक्री हो सकती है, उससे कहीं अधिक उत्पादन हो जाता है। जब यह स्थिति काफी सीमा तक रहती है तो व्यवसायियों को हानि होने लगती है। वे व्यवसाय के भविष्य के बारे में निराश होने लगते हैं और उत्पादन-व्यय कम कर देते हैं। इस प्रकार व्यवसायी लोग आशा और निराशा की गलतियों के बीच भटकते रहते हैं और उनके कार्यों में लहरों की तरह क्रियाएँ होती रहती हैं।

इस सिद्धान्त में काफी सच्चाई मालूम होती है। व्यवसाय की परिस्थितियों पर विश्वास का प्रभाव पड़ता रहता है, इस बात को सभी अर्थशास्त्रियों ने माना है, पर यह सिद्धान्त इस बात को नही समझाता कि तेजी किस प्रकार शुरू होती है और विश्वास किस प्रकार उत्पन्न होता है। इस बात को भी यह सिद्धान्त नही समझाता कि विश्वास अथवा आशा मे निराशा किस प्रकार उत्पन्न होती है।

(४) द्रव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त (Monetary Theory)—कुछ अर्थशास्त्री जिनमें हॉट्री का नाम प्रसिद्ध है, द्रव्य के प्रसार और सकुचन मे उत्कर्ष का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जब बैंक साख का विस्तार करते हैं, तब व्यवसाय-चक्र में तेजी आती है। व्यवसायी इस अतिरिक्त साख को बैंकों से ऋण के रूप में लेते हैं और अपने व्यापार का विस्तार करते हैं। किंतु एक समय आता है जब बैंक यह समझने लगती है कि और अधिक साख का होना ठीक नहीं है। ऐसे अवसरों पर वह और अधिक उधार देना बन्द कर देते है। इससे व्यवसाय को बड़ा धक्का लगता है बाजार में अवसाद हो जाता है और काम बद होने लगते हैं और आर्थिक सकट की स्थिति आ जाती है।

इस सिद्धान्त में कुछ सच्चाई है। हम इस बात से इनकार नही कर सकते कि व्यापारिक क्षेत्र में बैंकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु यह कहना कि सकट का निर्माण बैंक करता है, ठीक नही है। यह अवश्य है कि बैंक सकट को अधिक भयकर बना देते हैं। पहले तो यह खूब उधार देकर समृद्धि का निर्माण करते हैं और फिर उधार की सुविधाएँ बन्द करके अवसाद कर देते हैं किन्तु अवसाद या समृद्धि का जन्म बैंकों के कारण नही होता। इसके तो अनेक कारण होते हैं। हम अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि बैंकों की गलतियाँ भी उन कारणो में से एक है। [इसी से मिलता हुआ सिद्धान्त प्रो० हायक का है जिसे Theory of monetary over-investment कहते है। इसी प्रकार जे० आर० हिक्स ने भी अपना एक सिद्धान्त बताया है परन्तु आजकल तो केवल लार्ड कीन्स के सिद्धान्त की ओर ही सब का ध्यान है और व्यापार-चक्र के आधुनिक सिद्धान्त उसी के इर्द गिर्द घूमते हैं और अब हम उसी का वर्णन करके इस विषय की समाप्त करेंगे।]

(५) बचत और विनियोग सिद्धान्त (Savings and Investment Theory)—व्यापार-चक्र के विवेचन और विश्लेषण में आधुनिक काल में एक नये और महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण का विकास हुआ है। यह दृष्टिकोण बचत की मात्रा और पूँजी के लगाव की मात्रा के सामजस्य से सम्बन्धित है। इस दृष्टिकोण का व्यापार-चक्र में समावेश करने का विशेष श्रेय इँगलैंड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री लार्ड कीन्स को दिया जाता है। यद्यपि कीन्स ने कोई निजी सिद्धान्त व्यापार-चक्र को पूर्ण रूप से समझने के लिए प्रतिपादित नहीं किया है तो भी कीन्स का मत है कि विनियोग की मात्रा में परिवर्तन ही व्यापार-चक्र का सार है। मुद्रा-आय और रोज़गारी की मात्रा में होनेवाले परिवर्तनो पर इन दो बातों का बहुत बडा प्रभाव पड़ता है। (इस सबध मे आगामी अध्याय को पढ़िये।)

इन सब सिद्धान्तों को पढने के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन सिद्धान्तों म से कोई भी व्यापार चकों के सब अगों और कार्यों की व्याख्या नही करता। प्रत्येक सिद्धान्त

उतार चढ़ाव के केवल एक कारण का ही वर्णन करता है। सम्भवतः व्यापार-चक्रों का कोई एक अकेला कारण नहीं है और इसीलिए कोई एक अकेला सिद्धान्त इनकी पूरी व्याख्या नहीं कर पाता। हाँ, इनमें लार्ड कीन्स का सिद्धान्त सर्वोपरि है और उसी के आधार पर आधुनिक अर्थशास्त्री व्यापार-चक्र का विश्लेषण करते हैं अथवा इनको दूर करने की चेष्टा करते हैं। सच तो यह है कि व्यापार-चक्र किसी एक कारण से नहीं होता वरन् उसके बहुत से कारण हैं। उनमें से कोई कारण कभी प्रबल हो जाता है और दूसरे समय दूसरा कारण प्रबल हो जाता है। हाँ, इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि व्यापार-चक्र का आरम्भ पूँजीवाद (capitalistic system of economic organisation) के साथ-साथ हुआ। पूँजीवाद में उत्पादन और उपभोग या माँग और पूर्ति में सामंजस्य होना बड़ा कठिन हो जाता है, कारण माँग और पूर्ति की स्थितियाँ, प्राकृतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारणों से बदलती रहती हैं। उत्पादन वस्तुओं के बाजार में पहुँचने से पहले किया जाता है और इस अवधि के बीच कितने ही कारण हो सकते हैं, जैसे कि जलवायु अथवा टिड्डियों आदि के कारण कच्चे पदार्थ की पूर्ति में कमी हो जाय अथवा मजदूरों की हड़ताल आदि से उत्पादन में कमी हो जाय, या लोगों की इच्छाएँ बदल जायें, टैक्स आदि की पद्धति बदल जाय, इत्यादि, इत्यादि। इससे उत्पादन और उपभोग में सामंजस्य नहीं हो पाता और परिणाम यह होता है कि औद्योगिक स्थितियों में घट-बढ़ होती रहती है, जिससे समाज को बड़ी हानि होती है। एक ओर तो बेकारी बहुत बढ़ जाती है लोगों की क्रय-शक्ति घट जाती है और उनका जीवन-स्तर नीचा हो जाता है, दूसरी ओर श्रम और पूँजी का अपव्यय होता है। इत्यादि, इत्यादि।

आर्थिक संकट को दूर करने के उपाय

(*Remedial Measures to fight Economic Crisis*)

व्यापार-चक्र से, अर्थात् मंदी से बचने के लिए जो उपाय बतलाये जाते हैं, वे अलग अलग प्रकार के हैं। जो अर्थशास्त्री 'चक्र' के कारण मुद्रा-सम्बन्धी बतलाते हैं, उनका विश्वास है कि मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण रखने से (Sound Monetary Policy) ये बुरे परिणाम दूर हो सकते हैं। उनका मत है कि बैंक अपनी दर को नियंत्रित करके व्यवसाय-चक्र के परिवर्तनों के घेरे को बहुत कम कर सकते हैं। जब व्यवसायों के बहुत अधिक विस्तृत होने के चिन्ह दिखाई देते हैं तब केन्द्रीय बैंक-दर बढ़ा देता है तथा बाजार में ऋण-पत्र बेचने लगता है। इसी प्रकार जब मंदी के चिह्न दिखाई देते हैं तब वह बैंक-दर कम कर देता है और ऋण-पत्रों को खरीदने लगता है, इत्यादि, इत्यादि।

जो अर्थशास्त्री उपभोग की कमी के सिद्धान्त के समर्थक हैं, वे बैंक दर के नियंत्रण और परिचालन तथा खुले बाजार की नीति से संतुष्ट नहीं हैं। उनका मत है कि उपभोग कम करने की प्रवृत्ति को रोक कर अधिक उपयोग करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना चाहिए। कर-प्रणाली इस प्रकार होनी चाहिए जिससे आय-वितरण में अधिक असमानता न हो (Proper Tax System)। जब आय में अधिक समानता होगी तब अत्यधिक बचत करने की प्रवृत्ति का मूल कारण हट जायगा।

जिन अर्थशास्त्रियो का मत है कि व्यापार-चक्र उत्पादन वस्तुओ की मात्राओ म परिवर्तन के कारण होत हैं। उनका कहना है कि तेजी क समय म उत्पादन में पूंजी कम और मदी के समय अधिक लगानी चाहिये (State Control of Investments)। इसी तरह एक उपाय यह है कि सरकार अपने सार्वजनिक निर्माण कार्यों की योजना (Public Spending or Public Works Policy) इस प्रकार बनाये कि मदी के समय म अधिक रुपया खर्च हो और तेजी के समय में कम। उदाहरण के लिए मदी के समय मे अधिक नहरें खुदवानी चाहिए, अधिक इमारतें सड़कें, रेलें आदि बनवानी चाहिए जिससे बेकारी कम हो, आय में वृद्धि हो और उपभोग बढ़। मदी के समय म करों में कमी की जा सकती है और सरकार आयात-निर्यात-करों की नीति भी बदल सकती है। तेजी के समय में सार्वजनिक निर्माण-कार्य कम किए जा सकते है ऊँचे कर लगाये जा सकत है आदि आदि।

इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय ढग पर व्यापार चक्र को रोकने के लिए कुछ उपायो का सुझाव रखा गया है जैसे अन्तर्राष्ट्रीय उत्पत्ति नियत्रण, अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग नियत्रण आदि आदि। पर ये उपाय अभी तक सफल नही हुए हैं। वास्तव मे अभी तक व्यापारिक सकट की कोई अचूक दवा नही खोजी जा सकी है। यही कारण है कि पूँजीवाद को बुरा समझा जाने लगा है और आये दिन समस्त आर्थिक ढाँचे को बदल देने के सुझाव निकलत रहते हैं, जैसे समाजवाद (Socialism), साम्यवाद (Communism), आर्थिक नियोजन (Economic Planning) इत्यादि। (इस सम्बन्ध में इस पुस्तक के पहिले खण्ड से अध्याय २३ को पढ़िए।)

QUESTIONS

1. What do you understand by a trade cycle? What in your judgment, is the most satisfactory explanation of trade cycles? Give reasons for your answer. (P. 1952)

2. Explain briefly the causes of booms and depressions in industrial activities. (Alld. 1948)

3 What is a crisis? How is it brought about? Suggest measures to fight an economic crisis

५८

वचत, विनियोग तथा वृत्ति (रोज़गारी)

(Savings, Investment and Employment)

इस पुस्तक के प्रथम खड में अर्थ-शास्त्र के विषय से परिचय कराते समय हमने यह कहा था कि अर्थशास्त्र की आधुनिक पुस्तकें अर्थशास्त्र का विभाजन उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय और वितरण में न करके अन्य दो भागो में करते हैं। स्टोनियर और हेग ने अर्थ-शास्त्र का अध्ययन दो सिद्धान्त—मूल्य सिद्धान्त (Price Theory) तथा वृत्ति सिद्धान्त (Employment Theory) के अन्तर्गत किया है, वोल्डिग ने उस Micro-Economics और Macro-Economics* में बाटा है, इत्यादि, इत्यादि। साराश यह है कि आधुनिक विश्लेषण में अर्थशास्त्र का अध्ययन एक तो व्यक्तिगत रूप में होता है, जैसे वस्तुओ और सेवाओं अथवा साधनो के मूल्य क्यों और कैसे अधिक या कम होते हैं; और दूसरे सामूहिक रूप में, जैसे कुल सामाजिक आय और उत्पत्ति क्यों और कैसे घटती-बढती हैं और देश की रोजगारी की स्थिति का इससे क्या सबध है।

इस पिछले प्रकार के विश्लेषण के सबध में स्वर्गीय लार्ड कीन्स का नाम सर्वोपरि है। जब १९३० की महान मदी के पश्चात् अर्थ-शास्त्रियो के सामने बेरोजगारी की समस्या एक भयानक रूप धारण करके आई तो लार्ड कीन्स ने एक नया सिद्धान्त "वृत्ति, ब्याज तथा द्रव्य का सामान्य सिद्धान्त" (The General Theory of Employment, Interest and Money) प्रतिपादित किया जो कि वृत्ति के विषय का विश्लेषण करने का एक बडा सुन्दर ढाचा प्रस्तुत करता है, और आय तथा बचत, बचत तथा विनियोग, और विनियोग तथा वृत्ति के पारस्परिक सबधो द्वारा हमें इस योग्य बनाता है कि हम आर्थिक क्षेत्र में ठीक-ठीक नीति का पालन कर सकें। उनके इस सिद्धान्त ने आर्थिक विचारो की प्रगति में एक महान् योग दिया है, और उसी के आधार पर चलकर आज

*"There are two main branches of modern economic analysis, to which the names 'micro-economics' and 'macro-economics' may conveniently be given. The former is the study of particular firms, particular households, individual prices, wages, incomes, individual industries, particular commodities, The latter is that part of the subject which deals with the great aggregates and averages of the system rather than with particular items in it—not with the price of cheese, but with the price of everything, or the "general level" of prices, not with the output of butter, but with the general level of output as a whole, not with individual firms but with the whole economic system—, and attempts to define these aggregates in a useful manner and to examine how they are related and determined."

BOULDINGS.

देश-देश में पूर्ण-रोजगारी (Full Employment) की स्थिति लाने की चेष्टा की जा रही है अर्थात् यह कोशिश की जा रही है कि देश में बेरोजगारी का अंत हो जाय और कोई भी बिना रोजगार न रहे। वास्तव में इस नवीन सिद्धान्त के पश्चात से अर्थशास्त्र का ढाचा ही बदल गया है और हर अर्थशास्त्र की आधुनिक पुस्तक में इसको बडी महानता दी जाती है। हम भी इस सिद्धान्त का ही यहाँ अध्ययन करने जा रहे है।

बचत और विनियोग सिद्धान्त

(*Savings and Investment Theory*)

लार्ड कीन्स की आधारभूत मान्यता यह है कि वृत्ति या रोजगारी आय के साथ-साथ चलती है (Employment is a function of income)। यदि समाज की आय अधिक है तो वहाँ रोजगारी की सतह ऊँची होगी; यदि उसकी आय कम है तो रोजगारी की सतह नीची होगी। और यदि पूर्ण रोजगारी लानी है तो आय को काफी ऊँचा करना होगा, जिससे कि जो व्यक्ति रोजगार मांगे उसे रोजगार मिल जाय, और देश में बेकारी न रहने पावे।

परन्तु इसके आशय को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम कुछ आधारभूत धारणाओ को जान ले। प्रथम यह कि जिस प्रकार एक आदमी का व्यय दूसरे आदमी की आय होती है, उसी प्रकार एक समाज की कुल आय वही होती है जो उसका कुल-व्यय होता है। यदि अ ब से अपनी कमीज बनवाकर उसे कुछ मेहनताना देता है तो वह भुगतान अ का तो व्यय हुआ और ब की आय हुई। इसी प्रकार राष्ट्रीय आय की धारणा को दो विपरीत दिशाओं मे देखा जा सकता है। एक ओर तो, समाज जो उपभोग तथा विनियोग पर व्यय करता है वह उस समाज का कुल राष्ट्रीय व्यय (total national expenditure) हुआ। और दूसरी ओर उसी को कुल राष्ट्रीय आय (total national income) माना जा सकता है, क्योकि इसी को तो साहसी उपभोग तथा उत्पादक पदार्थों की पूर्ति करके कीमतो के रूप में प्राप्त करता है और यह ही लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ के रूप मे समाज में बट जाता है। दूसरे शब्दो में, जो द्रव्य प्राप्त किया जाता है वह ही द्रव्य भुगतान किया जाता है, और हम कह सकते है कि एक समाज मे जितनी आय होती है और उस समाज मे जितना व्यय होता है दोनो का बराबर होना स्वाभाविक है।

$Y=O$, जहाँ $Y=$राष्ट्रीय आय (National Income)
और $O=$राष्ट्रीय उत्पत्ति (National Output)

दूसरी बात यह है कि समाज के कुल व्यय में दो तत्वो का समावेश होता है, उपभोग की वस्तुओ पर व्यय (expenditure on consumers' goods) तथा विनियोग पर व्यय (expenditure on investments)। दोनो मिलकर ही कुल-व्यय (total spending) बनते है, और कुल-व्यय ही कुल आय (total income) होती है।

$Y=C+I$, जहाँ Y=कुल व्यय या आय (total spending or income)

C=उपभोग की वस्तुओं पर व्यय (expenditure on consumers' goods)

I=विनियोग पर व्यय (expenditure on investments)

तीसरी बात यह है कि समाज की कुल आय में भी दो तत्वों का समावेश है, उपभोग (Consumption) तथा बचत (Savings)* और जो खर्च किया जाता है वह उपभोग की वस्तुओं पर खर्च किया जाता है जो बचाया जाता है वह उत्पादक वस्तुओं पर खर्च किया जाता है। और इस प्रकार

$Y=C+S$, जहाँ Y=कुल आय (total income)

C उपभोग की वस्तुओं पर व्यय (expenditure on consumers' goods)

S=बचत (Savings)

अब चूंकि $Y=C+I$

$(\text{or } Y-C=I)$

और चूंकि $S=Y-C$

इसलिए $S=I$

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बचत तथा विनियोग हमेशा बराबर होते हैं:

$S=I$ जहाँ S=बचत (Savings)

I=विनियोग (Investment)

जिस प्रकार मूल्य के सिद्धान्त में पूर्ति की मात्रा माँग के बराबर होती है, इसी प्रकार साम्य की स्थिति में **बचत तथा विनियोग सदैव बराबर रहते हैं** (Savings and Investments are always equal)† बचत और विनियोग में समता इस तथ्य से की

---

*कीन्स के अनुसार, द्रव्य के रूप में जो आय खर्च करने के लिये प्राप्त हो किन्तु जिसे उपयोग की वस्तुओं पर खर्च न किया जाए, वही बचत है। (Saving is the failure to spend money income for consumption goods in the period in which it becomes available for spending) और इस प्रकार

बचत=(एक समय की कमाई हुई आय)—

(उस समय का उपभोग की वस्तुओं पर किया गया व्यय)

यह परिभाषा कीन्स की अपनी ही विचित्रता है। उन्होंने इसे इसलिए चुना क्योंकि साम्य का विश्लेषण करना उनका ध्येय था, और साम्य की दशाओं में बचत तथा विनियोग का एक समान होना इस परिभाषा द्वारा भली भाँति दर्शाया जा सकता है। कीन्स का यह कहना ठीक है कि साम्य की स्थिति में बचत को विनियोग के बराबर होना चाहिए, परन्तु यह समझ बैठना कि साम्य के अतिरिक्त अन्य स्थितियों में भी ऐसा होना आवश्यक है, ठीक नहीं होगा।

†यह बात कुछ समझ में कम आती है क्योंकि ऐसा कोई यंत्र देखने में नहीं आता जिससे कि किसी मनुष्य के बचत करने के निश्चय से ही कोई और मनुष्य बिल्कुल

गई है कि एक ओर तो किसी साल की निर्धारित आय या तो उपभोग पर खर्च होनी चाहिए, या बचनी चाहिए, और दूसरी ओर, उसी साल में प्राप्त हुई आय या तो उपभोग की वस्तुओं को बेचने से मिलनी चाहिए या उत्पादक वस्तुओं को बेचने से।

चौथी बात यह है कि उत्पादक वस्तुओं पर जो भी खर्च किया जाता है वह या तो व्यक्तियों द्वारा या सरकार द्वारा खर्च होता है।

अब हम कीन्स के मौलिक सिद्धान्त पर आते हैं। उनका कहना है कि किसी देश की आय उपभोग तथा विनियोग पर किए गए उस कुल व्यय के बराबर होती है, जो व्यक्तियों या फर्मों या सरकार द्वारा किया जाता है।

$$Y = C + I + G$$

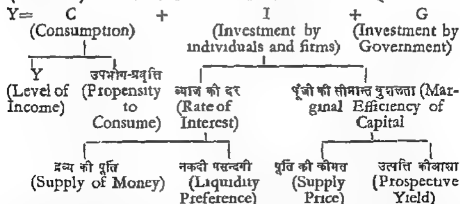
जहाँ Y=आय का स्तर (level of income)

C=उपभोग पर व्यय (expenditure on consumption)

I=व्यक्तियों तथा फर्मों द्वारा विनियोग पर व्यय (expenditure on investment by individuals and firms)

G=सरकार द्वारा विनियोग पर व्यय (expenditure on investment by the Government)

और यह बताने के लिये कि क्यों आय (और इसलिए वृत्ति) ऊँची या नीची है, विशेष बात यह देखनी होती है कि इन तीनों मदों—उपभोग, विनियोग तथा सरकारी व्यय—की मात्रा कितनी है, क्योंकि यही मदें हैं जिनपर आय निर्भर है। परन्तु उपभोग, विनियोग तथा सरकारी व्यय स्वयं ही कई अन्य तथ्यों पर निर्भर हैं, और इस प्रकार यह अनेक कारण ही आय के स्तर के तथा वृत्ति के अन्तिम निर्धारक हुए। इन सब परावर्तनीय साधनों (variables) का पारस्परिक सम्बन्ध निम्न तालिका में दिखाया गया है —



उतने ही द्रव्य का विनियोग करे। परन्तु यदि हम यह समझ लें कि यह सिद्धान्त समाज की कुल बचत तथा कुल विनियोग के बारे में ही बताता है, (और व्यक्तिगत बचत तथा विनियोग के विषय में नहीं) तो यह पहेली तुरन्त सुलझ जाती है। This proposition relates only to aggregate savings and investments.

उपभोग आय के स्तर y पर तथा उपभोग-प्रवृत्ति पर निर्भर है, विनियोग एक ओर तो पूँजी की सीमान्त कुशलता पर निर्भर है और दूसरी ओर ब्याज की दर पर। पूँजी की सीमान्त कुशलता उत्पत्ति की आशा और पूर्ति की कीमत पर निर्भर है, जबकि ब्याज की दर द्रव्य की मांग नकदी पसन्दगी पर और द्रव्य की पूर्ति पर। अन्त में सरकारी व्यय साधारण-तया आर्थिक शक्तियों पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर नहीं है, बल्कि सरकार की उन दिनों की नीति पर तथा विचारशील राजनीतिज्ञों और प्रभावशाली समूहों के मूड पर निर्भर है। हाँ, केवल कुछ अवसरों पर जैसे जब देश की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो तो काफी सीमा तक सरकार अपने व्यय को आर्थिक शक्तियों के अनुसार ढाल सकती है।

आइए, अब हम इन्हें बारी-बारी से एक एक को देखें।

उपभोग (Consumption)—उपभोग पर व्यय दो साधनों पर निर्भर है, कुल-आय तथा उपभोग-प्रवृत्ति। उपभोग-प्रवृत्ति (propensity to cosume) वह अनुपात है जो आय तथा उपभोग का सम्बन्ध मापती है। यह कुल उपभोग कुल आय के बराबर हुई। कुछ सीमा तक यह आय के बँटवारे (distribution of income) पर भी निर्भर रहती है। नीची आय वाले व्यक्ति के लिए यह ऊँची होगी और अमीर आदमियों के लिये नीची। यदि आय का बँटवारा आज कल के बँटवारे की अपेक्षा अधिक समान होगा, तो उपभोग-प्रवृत्ति ऊँची होगी। जितनी अधिक बँटवारे की असमानता होगी, उपभोग-प्रवृत्ति उतनी ही नीची होगी। दूसरे यह व्यक्ति के मितव्ययिता की ओर झुकाव (attitude to thrift) पर भी निर्भर है। एक अन्य निर्धारक है मूल्यों में अन्तर (changes in prices) की आशा। यदि उपभोक्ता भविष्य में कीमतों के बढ़ने की आशा करते हैं तो तीव्र मुद्रा-प्रसार के दिनों में ऐसा विशेष रूप से होगा। कर की दरें (rates of taxes) भी उपभोग-प्रवृत्ति पर विशेष प्रभाव डालती हैं। कर आय को कम कर देते हैं, पर इस कटौती की मात्रा कर के रूप पर भी निर्भर है। बिक्री-कर या उत्पादन-कर जैसे कर जो कि साधारणतया कम आय वालों पर अधिक भार डालते हैं, उपभोग का अधिक मात्रा में घटा देते देते हैं बनिस्बत आय कर के जो कि अमीरों की बचत को कम कर देते हैं, न कि उनके उपभोग को।

विनियोग (Investment)—राज्य द्वारा विनियोग (G) की मात्रा राज्य की सरकार की नीति पर निर्भर है। यह पूर्णतः राजनीतिज्ञों के अधिकार में होती है और आर्थिक शक्तियों से कम ही प्रभावित होती है। निजी विनियोग की मात्रा निर्भर है (अ) पूँजी की सीमान्त कुशलता पर, जो स्वयं ही अनेक बातों पर निर्भर है—जैसे माँग की आशा की स्थिति, जनसंख्या के बढ़ने की दर, अनुसंधान तथा शिल्प-विज्ञान में प्रगति की दर, वर्तमान स्टाक, व्यापारिक जाति के दृष्टिकोण, व्यापार में विश्वास की स्थिति उद्योग में चालू विनियोग की दर तथा कर की दरें, और (ब) ब्याज की दर जो द्रव्य की मात्रा तथा नकदी-पसन्दगी सूची से निर्धारित होती है। और हम कह सकते हैं कि ये तीनों—पूँजी की सीमान्त कुशलता (marginal efficiency of capital), नकदी पसन्दगी सूची (liquidity preference schedule) तथा द्रव्य की मात्रा (quantity of money)—

मिलकर ही विनियोग की मात्रा निर्धारित करते हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध निम्नलिखित ढंग से ज्ञात हो सकता है। ब्याज की दर ऐसी होगी जो द्रव्य की मात्रा को नकदी पसन्दगी की सूची के समान कर दे। यदि एक बार इस प्रकार से ब्याज की दर निश्चित हो गई, तो विनियोग की मात्रा ऐसी हो जायेगी, जो पूँजी की सीमान्त कुशलता को ब्याज की दर के साम्य में ला देगी—यह बराबर घटती या बढती रहेगी, जब तक कि पूँजी की सीमान्त कुशलता ब्याज की दर के बराबर नहीं आ जाती।

अब चूँकि उपभोग तथा विनिमय दो ही साधन है जिन पर आय (या वृत्ति) निर्भर है और चूंकि उपभोग आदत पर निर्भर होने के कारण करीब एक स्थिर साधन हुआ—यह धीरे-धीरे ही बढ़ता या घटता है—जबकि विनियोग बदलती हुई उम्मीदो के कारण परिवर्त्तनीय रहता है—, हम कह सकते है कि आय (या वृत्ति) के स्तर के निर्धारित करने का सबसे अधिक गतिशील साधन विनियोग ही है। (The most dynamic factor to determine the level of income, or employment, is investment) विनयोग की मात्रा के घटने या बढ़ने के साथ-साथ ही आय (या वृत्ति) के स्तर घटते बढते हैं और यदि विनियोग सक्रिय है तो चाहे इच्छा से या विवशता* से, बचत भी उसके बराबर ही बढेगी। दूसरी ओर, यदि विनियोग निष्क्रिय है तो बचत भी नही बढ पाएगी। साहसियो

*विवशता की बचत (Forced Savings)—बचत दो प्रकार की हो सकती है—एक एच्छित (voluntary) और दूसरी विवशता की (forced)। यदि आप आय को इच्छा से बचाते हैं तो आप आय को उपभोग की वस्तुओ पर खर्च न करके ही बचाते है। और इस प्रकार द्रव्य तथा वस्तु, दोनो की बचत हो जाती है। अपने लिए तो आपने द्रव्य की बचत की जिसे आपने खर्च नही किया और समाज के लिए आपने वस्तुओ की बचत की जिन्हें आपने खरीदा नही। और इस कारण उपभोग की वस्तुओ के मूल्यों के बढने की ओर कोई प्रवृत्ति नही होगी। इसमें कोई सन्देह नही कि उपभोग की वस्तुओ को बनाने वाले उत्पादक वस्तुओ को बनाने लगेंगे और इस प्रकार उपभोग की वस्तुओ की पूर्ति घट जाएगी, परन्तु इस तथ्य का कि आप अपनी इच्छा से ही उपभोग की वस्तुओ को कम खरीदते हैं, और एक परिणाम यह भी तो होगा कि उपभोग की वस्तुओ की द्रव्य के रूप मे मांग घट जाएगी और इसलिए कीमते नही बढेगी।

अब देखना यह है कि विवशता की बचत में परिस्थितियाँ कैसी रहती हैं? बैंकिंग प्रणाली सृजित-साख उधार देती है जिससे कि उत्पादक वस्तुओ को उत्पन्न किया जाए या खरीदा जाए। उपभोग की वस्तुओ को बनाने वाले उद्योगो से मजदूर हटा लिये जाते है और उपभोग की वस्तुओ की पूर्ति पहिले की अपेक्षा घट जाती है। परन्तु क्योंकि आप अपनी इच्छा से बचत नही कर रहे हैं, आपकी उपभोग की वस्तुओ के लिए माँग नही घटती दूसरी ओर, बैंक के द्रव्य की बढी हुई मात्रा जो मजदूरो के हाथ में आती है, उनकी उपभोग की माँग को द्रव्य के रूप में बढ़ा देती है, और उस सीमा तक जिस सीमा तक आपकी या और दूसरे लोगो की आय बधी हुई होती है, वस्तुओ के ऊँचे दाम होने के कारण आप उनसे वंचित रह जाते है। इसी को 'विवशता की बचत' कहते हैं। आप द्रव्य नही बचाते, परन्तु वस्तुओ की ऊँची कीमतें होने के कारण आप उतनी वस्तुओ का उपभोग नही कर पाते, जितना पहिले किया करते थे, यद्यपि आप खर्च उतना ही करते हैं। विवशता की बचत (forced savings) और मुद्रा-स्फीति (inflation) दोनो से एकही अभिप्राय है।

के रोककार्यों से समाज की आय घट जाएगी और आय के घटने के कारण बचत भी घट कर विनियोग के स्तर पर आ जाएगी।

तो अब यह स्पष्ट है कि विनियोग के घटने बढ़ने के परिणाम स्वरूप ही आय घटती बढ़ती है। परन्तु प्रश्न अभी भी बाकी है कि विनियोग के परिवर्तन का आय के परिवर्तन की दर से ठीक-ठीक क्या सम्बन्ध है। यदि विनियोग एक करोड़ रु० का बढ़ता है तो क्या आय का स्तर भी १ करोड़ रु० से बढ़ता है? या यह अधिक या कम प्रतिशत के हिसाब से बढ़ता है? अर्थात् क्या कोई ऐसा नियम है जिससे यह बात निर्धारित हो सके कि विनियोग के बढ़ने पर आय किस सीमा तक बढ़ती है?

हम देख ही चुके है कि सिद्धान्त की आधार-शिला यह है कि विनियोग और बचत सदैव बराबर होते हैं। यदि विनियोग १ करोड़ रु० से बढ़ता है तो बचत को भी १ करोड़ रु० से बढ़ना चाहिए। लेकिन इससे आय कितनी बढ़ेगी? आरम्भ में १ करोड़ रु० के विनियोग के बढ़ने से राष्ट्रीय आय भी १ करोड़ रु० से बढ़ेगी। परन्तु यह तो समस्या का अंत नहीं होगा। जब १ करोड़ रुपया विनियोग पर खर्च अधिक होगा, तब उत्पादक वस्तुओं के उद्योग में काम करने वाले अपने इस द्रव्य को उपभोग की वस्तुओं पर व्यय करेंगे; उनके ऐसा करने से उपभोग की वस्तुओं का काम करने वालों की आय बढ़ेगी, और वे लोग फिर अपना द्रव्य और अधिक उपभोग की वस्तुओं पर खर्च करेंगे। यह क्रम चलता ही रहेगा जब तक कि शुरू में लगाए गए वह १ करोड़ रु० बढ़कर समाज की आय को कितने ही करोड़ रुपये तक नहीं बढ़ा देते। [यही कारण है कि जब बेरोजगारी होती है और सरकार सार्वजनिक कार्य हाथ में लेती है तो राष्ट्रीय आय की कुल-वृद्धि जो कि सार्वजनिक कार्यों पर व्यय के कारण हुई, सार्वजनिक कार्यों पर किए गए व्यय की अपेक्षा कहीं अधिक होती है, और यही कारण है कि रोजगारी में कुल वृद्धि, जो कि सार्वजनिक कार्यों के कारण हुई, यानी काम करने वालों की संख्या में वृद्धि उन काम करने वालों की संख्या की अपेक्षा जो कि मूल योजना में काम करते थे, कहीं अधिक होती है।]

आय (या वृत्ति) में जो मूल वृद्धि हुई और जो अंतिम कुल वृद्धि हुई, उनका निश्चित संख्या सम्बन्ध 'गुणक' (multiplier) द्वारा ज्ञात होता है जो यह बताता है कि विनियोग में थोड़े से परिवर्तन से ही कैसे आय पर और फिर उस कारण वृत्ति (रोजगारी) तथा उपभोग पर, महत्वशाली प्रभाव पड़ सकता है। आइए, इसे हम सोदाहरण समझें। मान लीजिए विनियोग १करोड़ रु० से बढ़ता है और आय भी १ करोड़ रु० से बढ़ती है। अब मान लीजिए कि उपभोग की सीमान्त-प्रवृत्ति (marginal propensity) $\frac{2}{3}$ के बराबर है (और इस प्रकार लोग अपनी बढ़ी हुई आय का केवल $\frac{1}{3}$ भाग बचाते हैं, अर्थात् बचत की सीमान्त-प्रवृत्ति $\frac{1}{3}$ हुई।) तब बचत १ करोड़ रु० से ही बढ़ेगी जबकि आय ३ करोड़ रु० से बढ़ जायगी। इसी तरह, यदि उपभोग की सीमान्त-प्रवृत्ति $\frac{3}{4}$ है (और इस प्रकार लोग अपनी बढ़ी हुई आय का केवल $\frac{1}{4}$ भाग बचाते हैं, अर्थात् बचत की सीमान्त-प्रवृत्ति $\frac{1}{4}$ है), तो बचत केवल १ करोड़ रु० से बढ़ेगी जबकि आय ४ करोड़ रु० से बढ़ेगी। अब हम इस स्थिति में हैं कि यह कह सकें कि आय में परिवर्तन बचत की सीमान्त-प्रवृत्ति के हिसाब से ही [अर्थात् उसके

परस्पर बोधक (reciprocal) के अनुसार] होता है, अर्थात् $\frac{१}{३}$ यानी ३ गुनी या $\frac{१}{४}$ यानी ४ गुनी। इस परस्पर बोधक—३ या ४—को ही गुणक (या कुल आय मे वृद्धि तथा विनियोग में वृद्धि के अनुपात) के नाम से पुकारते है।

एक दूसरी बात और है। आय पर बढ़े हुए विनियोग का कुल प्रभाव जानने के लिए हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना भी आवश्यक है कि विनियोग मे वृद्धि के कारण आय मे जो वृद्धि हुई है वह निजी विनियोग को ओर भी प्रोत्साहन देगी और इस प्रकार आय के बढने की क्रिया को और भी प्रगति देगी और एक दूसरा आय के बढने का क्रम शुरू हो जाएगा। इस प्रगति को गति-वृद्धि प्रभाव (Acceleration Effect) कहते है।

और हम कह सकते हैं कि आय जिस स्तर पर बढेगी या घटेगी, वह दो बातो के प्रभाव का ही परिणाम होगा—गुणक प्रभाव का तथा गति-वृद्धि प्रभाव का।

उपसंहार

निष्कर्ष यह है कि कीन्स के समीकरण से हमें पता लगता है कि आय (और इसलिए वृत्ति) का बढना या घटना बहुत-सी बातो पर निर्भर है, और वह बहुत से परावर्तनीय साधनो जैसे व्यय तथा बचत, बचत तथा विनियोग, विनियोग, आय तथा वृत्ति आदि के पारस्परिक सम्बन्धो पर भी प्रकाश डालता है। यह सब ऊपर के तालिका मे दिखाए गए है। इस तालिका के आधार पर, जो कि हमें कीन्स के मूल सिद्धान्त को बताती है, हम यह पता लगा सकते हैं कि किसी एक परावर्तनीय साधन के बदलने से आर्थिक प्रणाली पर क्या प्रभाव पडेगा, और इससे हम मूल्य-स्तर, आय, रोजगारी आदि के विषय में महत्त्व-पूर्ण निर्णय निकाल सकते है। कीन्स ने अपने सिद्धान्त को सामान्य सिद्धान्त (General Theory) कहा है क्योकि यह केवल मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-स्फीति, अत्यधिक उत्पादन तथा बेरोजगारी के बारे में ही नही बताता, बल्कि और भी बहुत सी बातो पर जैसे मदी तथा व्यापार-चक्र के होने के कारणो आदि, पर प्रकाश डालता है। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त विश्लेषण से हम बडी आसानी से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते है —

(१) चूँकि बचत और विनियोग का द्रव्य-आय और रोजगार पर गहरा प्रभाव पडता है, इसलिए हम कह सकते है कि किसी समाज मे आय तथा रोजगारी को सर्वोत्तम स्तर पर रखने के लिए सरकार को चाहिए कि वह ऐसे प्रयत्न करे जिससे कि समाज उपभोग तथा विनिमय पर अधिक मात्रा में खर्च करे जिससे कि वस्तुओ तथा सेवाओ की प्रभाव-शाली माँग रहे। दूसरे शब्दो में पूजीवादी समाज मे बे-रोजगारी उत्पन्न होने के कारण हैं—प्रथम, गिरता हुआ उपभोग तथा द्वितीय, विनियोग का कम मात्रा में होना, और यदि हमको इस बे-रोजगारी की समस्या को हल करना है तो हमको उपभोग और विनियोगो को प्रोत्साहन देना चाहिए। पूर्णवृत्ति के ध्येय को पूरा करने के लिए सरकार को राज्य-कर-सम्बन्धी तथा अर्थ-सम्बन्धी मिली-जुली नीति अपनानी चाहिए—एक ओर तो वह करो को घटाकर बचत और आय (और रोजगारी) को प्रोत्साहन दे सकती है, दूसरी ओर वह अपने व्यय को बढाकर और लोगो की आय में वृद्धि करके उपभोक्ताओ के व्यय में वृद्धि कर सकती है जिससे कि रोजगारी भी बढे। कैसे भी सही लार्ड कीन्स के समीकरण द्वारा हम रोजगारी

के हर स्तर (over-employment, under-employment, full employment) का विश्लेषण कर सकते हैं, उसके कारणो को जान सकते हैं, और उसके लाने या दूर करने के उपायो की खोज कर सकते हैं।

(२) साथ ही साथ सरकार को सार्वजनिक विनियोग की उचित नीति के द्वारा बार-बार आने वाली मदी को दूर करने के उपाय भी हम सोच सकते हैं। कीन्स का कहना है कि मदी के समय जब समाज का व्यय बहुत नीचे स्तर पर हो, सरकार को सुविधापूर्ण द्रव्यनीति अपनानी चाहिए, और बैंक-दर नीची कर देनी चाहिए जिससे कि उपभोग तथा विनियोग को प्रोत्साहन मिले, और यदि मदी बहुत ही अधिक शोचनीय स्तर पर हो गई हो तो सरकार को सावजनिक व्याय तथा सावजनिक विनियोग आरम्भ कर देना चाहिए। यहाँ तक कि वह घाटे की नीति (deficit financing) को भी अपना सकती है।

बेरोजगारी और पूर्ण रोजगारी

(*Unemployment and Full employment*)

उक्त विचार विनिमय के आधार पर हम पूर्ण रोजगारी के विचार पर पहुँचते हैं। पूर्ण-रोजगार की स्थिति तब कही जाती है कि जब किसी को काम की आवश्यकता हो तो उसे वह मिल सके। निःसदेह किसी भी प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में कुछ लोग ऐसे होगे जो किसी कारण बेकार रहना ही पसन्द करते हो और उन्हे चाहे जितना भी प्रलोभन क्यो न हो, वे काम करने की प्रेरणा नही करते। कुछ लोग ऐसे भी होते है जो एक कार्य को छोडकर दूसरे की खोज मे लगे हैं और उन्हे एक कार्य को छोडकर दूसरे तक पहुँचने के मध्यकाल तक बेकार रहना पडता है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होने अपने पुराने काय को छोड दिया होता है, और उन्हे नया काम सीखने में कुछ समय देना पडता है। इन सब प्रकार के लोगो की सख्या बहुधा ३ % से ५ % तक पाई जाती है, और इसलिए जब तक ९५ % से ९७ % तक आदमी रोजगार में लगे हुए हैं, हम उसे पूर्ण रोजगार की स्थिति ही कहगे। और आज के दिन आर्थिक नीति का यही लक्ष्य माना जाता है कि रोजगारी ऊँची से ऊँची सतह पर हो और बेरोजगारी नीची से नीची सतह पर। सब आधुनिक राज्यो ने यह ध्येय बना लिया है कि रोजगारी ऊँचे स्तर पर रहे और तीव्र बेरोजगारी समाप्त हो जाए। वास्तव में लार्ड कीन्स ने पूर्ण रोजगार से दूर होने के कारण और उसके प्राप्त करने के सम्भावित उपाय बता कर बडा महत्वपूर्ण काय किया है। हर जगह विनियोग और आय के बढाने के उपाय काम में लाए जा रहे हैं, जिससे पूर्ण रोजगार की स्थिति देखने में आवे। नियोजन (Economic planning) का भी ध्येय मुख्यत यही होता है।

लार्ड कीन्स के ऊपर दिये हुए समीकरण के अनुसार पूर्ण-रोजगार के लक्ष्य को हम दो प्रकार से प्राप्त कर सकते हैं, या तो उपभोग को प्रोत्साहित करके या विनियोग को प्रोत्साहित करके। उपभोग को हम निम्न ढग से प्रोत्साहित कर सकते हैं आय के बँटवारे को ठीक करके (re-distribution of income)—अर्थात् अमीरो की आय कम करके हम उनकी उपभोग-प्रवृत्ति नीची कर सकते हैं और गरीबो की आय बढाकर हम उनकी

उपभोग प्रवृत्ति ऊँची कर सकते हैं। अमीरों की आय प्रत्यक्ष करों की दरें बढ़ाकर कम कर सकते हैं और गरीबों की आय परोक्ष करों को कम करके या उन्हें परिवार एलाउन्स आदि देकर बढ़ा सकते हैं। परन्तु ऐसा करने में मुख्य कठिनाई यह है कि यदि आय-कर को आवश्यकता से अधिक बढ़ा दिया गया तो कहीं ऊँची दरें निजी विनियोग को इस सीमा तक निरुत्साहित न कर दें कि बड़ी मात्रा में बेरोजगारी फैल जाए। दूसरा तरीका है, विनियोग निजी तथा सार्वजनिक को प्रोत्साहित करना। यह निम्न प्रकार से हो सकता है—(अ) सस्ती द्रव्य नीति को अपना कर और ब्याज की दर को घटा कर (ब) आयकर की दरों को उस सीमा तक घटा कर, जिस सीमा तक कि पूर्ण-वृत्ति को लाने के लिये निजी विनियोग को बढ़ावा देना उपयुक्त हो। परन्तु यहाँ भी एक कठिनाई यह आती है कि हो सकता है साहसी इतने अधिक निराशावादी हो गए हों कि इन प्रोत्साहनों से प्रभावित ही न हों, और इसलिए यह तरीका अकेला ही काम नहीं देगा—यह तो केवल अन्य तरीकों के साथ में ही प्रयुक्त हो सकता है। अन्त में सार्वजनिक विनियोग पर सरकारी व्यय के द्वारा और **घाटे की नीति को अपनाने से, पूर्ण-वृत्ति लाई जा सकती है।** यदि सरकार पोस्ट आफिसों, सड़कों, नहरों और अन्य सार्वजनिक कार्यों के बनवाने पर मंदी के समय बड़ी मात्रा में रुपया खर्च करे तो पूर्ण-वृत्ति स्थापित की जा सकती है। परन्तु सब बेकार मजदूरों को रोजगार मिल जाए, इसके लिए यह आवश्यक है कि श्रम की पूर्ण गतिशीलता हो, पर श्रम की गतिशीलता बहुत कम ही देखने में आती है। अतः श्रम को गतिशील बनाने के लिये यह भी आवश्यक है कि अन्य सहायक तरीकों को भी प्रयोग में लाया जाय। प्रथम तो यह कि श्रम को काम दिलाऊ दफ्तर (labour exchange) तथा पुनः प्रशिक्षण की सुविधाएँ (re-training facilities) आदि प्राप्त होनी चाहिए। दूसरी बात यह कि उद्योगों का स्थानीयकरण ऐसा होना चाहिए जिससे कि बहुत से बेरोजगार पुरुष व स्त्रियाँ उन पिछड़े हुए इलाकों में रोजगार पा सकें जहाँ वे रहते हों (policy of taking the work to the workers)। ऐसी ही नीति के द्वारा काम को काम करनेवालों के पास ले जाया जा सकता है। तीसरी बात यह, कि सरकार को उचित व्यापारिक नीति के द्वारा निर्यात को तथा गृह-उद्योगों को सहायता देनी चाहिए। लेकिन यह घाटे की नीति भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। ऐसा करने से बहुधा मुद्रा प्रसार होता है और राज्य ऋण की मात्रा भी बढ़ जाती है। कुछ भी हो, सरकार को बेरोजगारी को कम से कम करने के जितने भी उत्तम तरीके मिल सकते हैं उन सबको प्रयोग में लाना चाहिए और भारत जैसे अविकसित देशों (under-developed countries) के लिये तो यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है। अपने बुनियादी उद्योग धंधों जैसे लोहा, इस्पात, सीमेन्ट, कोयला तथा रसायनों आदि के विकास के लिये यह आवश्यक है कि सरकार सक्रिय पथ-प्रदर्शन करे।

बेरोजगारी के रूप
(*Kinds of Unemployment*)

हमने अभी देखा कि नियोजित विनियोग के नियोजित बचत के बराबर न होने के कारण ही राष्ट्रीय आय में घटौती होती है और बेरोजगारी बढ़ती है। ऐसी बेरोजगारी

को हम "माँग के गिरने के कारण हुई बेरोजगारी" या "साहस" की कमी के कारण बेरोजगारी ("deficiency of enterprise unemployment) कह सकते हैं इसे ही अनैच्छिक बेरोजगारी (involuntary unemployment) भी कह सकते हैं। इसका मतलब उस बेकारी से है जो उस समय होती है जब श्रमिक मजदूरी की प्रचलित दर पर काम करने के लिए तैयार होते हैं और उनके चाहने और प्रयत्न करने पर भी उन्हे काम नही मिलता। इस प्रकार की बेरोजगारी को दूर करने का उपाय यह है कि कुल माग या कुल व्यय को बढाने का प्रयत्न किया जाए, जैसे सरकारी व्यय के बढाने की नीति द्वारा या घाटे की नीति द्वारा।

इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार की बेरोजगारी भी होती हैं जैसे बेरोजगारी संघर्षात्मक बेरोजगारी (frictional unemployment) हो सकती है, जिसमें लोग अपने रोजगार बदलने में लगे हो। वह ढांचे की बेरोजगारी (structural unemployment) भी हो सकती है जिसमें एक या अधिक उद्योग घाटे में चल रहे हो, और इस प्रकार उन उद्योगो में तीव्र बेरोजगारी हो गई हो, और वह ऐच्छिक बेरोजगारी (voluntary unemployment)) भी हो सकती है जिसमें कुछ मजदूर कार्य करने को बिल्कुल तैय्यार ही न हों।

पूर्ण-रोजगार और भारत

(Full Employment and India)

भारत की राष्ट्रीय आय बहुत कम है, रहन सहन का स्तर बहुत नीचा है, और बेरोजगारी (unemployment) तथा आंशिक रोजगारी (under-employment) अधिकांश जनता के जीवन का स्थाई अंग बन गए हैं। देश की जनसंख्या १½ प्रतिशत प्रति वर्ष बढ़ जाती है और प्रति वर्ष एक बहुत बडी संख्या को बेकारी का सामना करना पडता है। इस समस्या को हल करने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं की शरण ली गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना में योजना आयोग का अनुमान था कि सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों दोनों में मिलकर लगभग १ करोड़ व्यक्तियो को और अधिक रोजगार के अवसर उपलब्ध हो जायेंगे। परन्तु ऐसा न हो सका और बेरोजगारी बढ़ती ही गई। इसका एक मात्र कारण यह रहा कि रोजगार के नए नए अवसरों की तुलना में जन संख्या में बहुत तेजी से वृद्धि हुई है। अतः द्वितीय पंचवर्षीय योजना में बेकारी की समस्या को हल करने के और भी अधिक प्रयत्न किए गए हैं, परन्तु हम अधिक से अधिक यह आशा कर सकते हैं कि द्वितीय योजना काल में जितने नए नए बेरोजगार होंगे, उन्हे काम मिल जाएगा। हां, तीसरी योजना के अन्त तक यह हो सकता है कि देश में पूर्ण-रोजगार की स्थिति उत्पन्न हो जाए और यही हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य है। वास्तव में एक कल्याणकारी राज्य (welfare state) की स्थापना तब ही होती है जब कि देश में समस्त नागरिकों के लिए समुचित रोजगार की व्यवस्था हो।

कभी-कभी इसमें सन्देह होता है कि भारत में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न भी की जा सकती है, क्योंकि यहाँ की जनसंख्या बहुत है। परन्तु जहाँ जन संख्या इतनी अधिक

है वहाँ दूसरी ओर भारत में प्राकृतिक साधनो की भी प्रचुरता है। कृषि-विकास, उद्योग धन्धो का विकास और यातायात के विकास के कार्य-क्रम द्वारा, द्रव्य-बाजार और विदेशी व्यापार की उचित व्यवस्था द्वारा, इत्यादि, न केवल यह आदर्श प्राप्त किया जा सकता है वरन् इसे स्थाई भी रक्खा जा सकता है।

राष्ट्रीय आय
(*National Income*)

इस सम्बन्ध में पुस्तक के प्रथम खड के अध्याय ३१ में, जिसका शीर्षक "वितरण का सिद्धान्त" है, पृष्ठ ३४७-३५३ को पढिये। राष्ट्रीय आय का क्या अर्थ है, उसकी गणना कैसे की जाती है और भारत की राष्ट्रीय आय के आँकडे क्या हैं यह सब वहाँ दिया जा चुका है। भारत की राष्ट्रीय आय को बढाना और इसके सहारे पूर्ण-रोजगार की स्थिति लाना ही हमारी पचवर्षीय योजनाओ का लक्ष्य है।

QUESTIONS

1. Define Full Employment. What policy should the State follow to bring about full employment?

   (Agra 1958)

2. Write a short note on Savings and Investment Theory. Do you think it provides a satisfactory explanation of the changes in income and the changes in price-level?

3. Write a short note on :—
   Forced Savings. (Agra 1956)

परिशिष्ट १

भारतीय मुद्रा-व्यवस्था

(Indian Currency System)

भारतीय मुद्रा व्यवस्था का भली भाँति ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय करंसी के इतिहास पर एक दृष्टि डाली जाय।

इतिहास

(*History*)

१९२७ से पहले स्वर्ण-विनिमय-मान (*Gold Exchange Standard*)*—सन् १९२७ से पहिले तक भारतवर्ष स्वर्ण विनिमय मान पर था। आन्तरिक करेंसी में रुपये तथा कागजी नोट थे। रुपए को बाहरी कामों के लिये स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता था जिसकी दर १ शि० ४ पेंस प्रति रुपया थी। और इस मान को क्रियाशील करने के लिए दो सुरक्षित कोष एक इंगलैण्ड में तथा दूसरा भारत में रखे गए थे, जिनके द्वारा कौंसिल बिल्स (Council Bills) और रिवर्स कौंसिल बिल्स (Resverse Council Bills) का चलन होता था और दर को १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पें० और १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पें० के बीच स्थिर रक्खा जाता था। इंगलैण्ड को माल मँगाने वाले कौंसिल बिल्स १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पें० प्रति रुपए की दर से सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया से लन्दन में खरीद सकते थे, और फिर इनको डाक या तार द्वारा अपने भारतीय निर्यात करनेवालो का भेज दिया करते थे जो इनका मूल्य रुपयो में भारत सरकार से प्राप्त कर लिया करते थे। दूसरी ओर भारतीय आयात करने वाले भारत सरकार से रिवर्स कौंसिल बिल्स १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पें० प्रति रुपए की दर से प्राप्त कर सकते थे, और फिर, इनको डाक या तार द्वारा अपने इंगलैंड से निर्यात करने वालो को भेज देते थे, जो इनका मूल्य लन्दन में स्टर्लिंग अथवा सोने में, क्योंकि उस समय स्टर्लिंग और सोने के मूल्यो में कोई अन्तर नही रहता था, सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया से प्राप्त कर लिया करते थे।

१९२७ से १९३१ तक स्वर्ण-पाट-मान (*Gold Bullion Standard*)*—इसके बाद १९२७ में हिल्टन-यंग आयोग (Hilton Young Commission) ने स्वर्ण धातु-मान की सिफारिश की। कमीशन ने कहा कि यह एक ऐसा सच्चा मान है जिसमें सोने के सिक्के चलाने की कोई आवश्यकता नही पडती, फिर भी स्वर्णमान के सभी लाभ प्राप्त हैं।

*स्वर्ण विनिमय व स्वर्ण पाटमान क्या है इसको समझने के लिए इस पुस्तक के अध्याय ६ को, जिसका शीर्षक "स्वर्ण मान" है ध्यानपूर्वक पढ़िये।

यद्यपि सरकार ने इनकी सिफारिश को पूर्ण रूप से तो नही माना, फिर भी १९२७ में सरकार ने एक करेंसी ऐक्ट पास किया और एक प्रकार का स्वर्ण पाटमान (Gold Bullion Standard) चलाया।

हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशें इस प्रकार थी —

(१) कि देश में चांदी के रुपये और कागज के नोट ही चलते रहे। नोट और रुपए के रोकटोक सोने मे बदले जायँ, परन्तु सोने के सिक्के देश में न चलाए जायँ।

(२) कि केंद्रीय बैंक (अर्थात रिजर्व बैंक आफ इंडिया जिसे स्थापित करने की सिफारिश कमीशन ने की थी—नीचे पढिए) निश्चित दर पर जनता से सोना खरीदे और जनता को सोना बेचा करे।

(३) कि जनता किसी भी मतलब के लिए सोना खरीद सके। चाहे तो वह उसे विदेशो में भुगतान करने के लिए काम में लावे और चाहे वह उसे अपने सामाजिक या व्यक्तिगत कामों मे लगाए। सरकार को इसमे कोई सरोकार नहीं होना चाहिए।

इन्ही सिफारिशों के आधार पर सरकार ने १९२७ में भारत में एक करेंसी ऐक्ट लागू किया और उसके द्वारा यह पास किया गया कि—

(१) सरकार जनता से २१रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोले की दर पर कम से कम ४० तोला या उससे ऊपर असीमित मात्रा में सोने के पाट खरीदे। और

(२) कोई भी व्यक्ति लन्दन में तुरन्त भुगतान करने के लिए रुपयो के बदले २१ रु० ३ आ० १० पाई प्रति तोला के भाव पर सरकार से इच्छानुसार कम से कम ४०० ट्रॉय आउन्स (१०६५ तोला) सोना अथवा स्टर्लिंग माँग सके। इसका मतलब यह हुआ कि सरकार ने रुपये के मूल्य को सोने में रु० १=१ शि० ६ पें० के दर पर निश्चित कर दिया, जो उस समय सोने का भाव था, परन्तु यह आवश्यक नही समझा कि सोने के सिक्के चलाये जायँ। हा रुपये के भाव को १ शि० ६ पें० के भाव पर बनाए रखने के लिए सरकार बाध्य हो गई कि वह निश्चित दर पर जनता को सोना या स्टर्लिंग बेचे और उससे सोना खरीदे।

इस प्रकार हम देखते है कि भारत में एक ऐसी मुद्रा प्रणाली का जन्म हुआ जिसके अन्तर्गत सोने का प्रमाप तो था, परन्तु सोने के सिक्के नही थे (Gold Standard without Gold Currency)। इस प्रणाली का सबसे बडा लाभ यह था कि यह सस्ती और लोचदार दोनो ही थी। यह सस्ती इस प्रकार थी कि सोना केवल कोष म रक्खा रहता था और सोने के सिक्के नहीं चलते थे, वरन् जनता को रुपए और नोटों के बदले में सोना खरीदने का अधिकार था जिससे उनको देश की मुद्रा व्यवस्था में पूर्ण विश्वास बना हुआ था, यह लोचदार इस प्रकार थी कि नोट व रुपयो के बदले में सोना बेचकर मुद्रा मडी में मुद्रा की कमी की जा सकती थी और इसके विपरीत सोना खरीदकर नोट और रुपये देकर मुद्रा प्रसार भी किया जा सकता था। इस प्रणाली में एक कमी भी थी। चूँकि सरकार को यह अधिकार था कि रुपयों के बदले में चाहे सोना दे चाहे विलायत में स्टर्लिंग दे, और चूकि सरकार प्राय स्टर्लिंग ही दिया करती थी, इसलिए यह पूर्ण रूप

से स्वर्ण मुद्रामान नहीं था, और लोगों को इसमें विश्वास नहीं था (इसका अर्थ यह हुआ कि यह पद्धति पूर्ण रूप से स्वर्णमान की पद्धति नहीं थी, बल्कि केवल स्टर्लिंग विनिमय मान का एक रूप, जिसका वर्णन हम आगे करते हैं।)

१९३१ से १९४६ तक स्टर्लिंग विनिमय मान (*Sterling Exchange Standard*)–यह मान १९३१ तक चलता रहा परन्तु २१ सितम्बर १९३१ को इंगलैण्ड ने स्वर्ण-मान छोड दिया और उसके परिणामस्वरूप उसी समय भारत सरकार को भी घोषणा करनी पड़ी कि अब सरकार सोना नहीं बेचेगी परन्तु १ शि० ६ पेंस की दर से केवल स्टर्लिंग बेचा करेगी। इसका मतलब यह हुआ कि भारत ने स्वर्ण पाटमान छोड़ दिया, रुपया सोने के बदले स्टर्लिंग के साथ बँध गया, उसकी विनिमय दर स्टर्लिंग के रूप में १रु०=१शि० ६ पेंस पर स्थिर हो गई और देश में स्टर्लिंग विनिमय मान स्थापित हो गया।

इस प्रणाली में आन्तरिक मुद्रा के रूप में कागजी नोट और सिक्के चलते रहते थे और विदेशी लेन-देन के लिए इनको एक निश्चित दर से लन्दन में स्टर्लिंग में (यानी पाउन्ड के नोटों में) १रु०=१ शि० ६ पेंस के भाव पर, बदला जा सकता था, परन्तु सोने में नहीं। दूसरे शब्दों में देश की मुद्रा इंगलैंड की मुद्रा के साथ बाँध दी गई थी और रुपए का कोई अस्तित्व नहीं था—वह स्टर्लिंग का गुलाम बन गया था।

रुपये को स्टर्लिंग के साथ बाँध देने से स्टर्लिंग के मूल्य में होनेवाले परिवर्त्तनों का प्रभाव रुपए के मूल्य पर पड़ना स्वाभाविक था। जब इंगलैण्ड में स्वर्णमान टूट जाने के पश्चात् सोने के रूप में स्टर्लिंग का मूल्य उत्तरोत्तर गिरने लगा, तो रुपये का मूल्य भी सोने के रूप में गिरने लगा। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि रुपए के मूल्य में सोने का मूल्य बढ़ गया। बाजार में जहाँ अगस्त १९३१ के अंत में सोने का भाव प्रति तोला २१ रु० ३ आ० १० पाई था वहाँ दिसम्बर १९३१ में २९रु० २ आ० प्रति तोला हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्थिक संकट से पीडित जनता ने रुपए के लालच में अपने पास जमा सोना बेचना प्रारम्भ कर दिया और इससे सोने के निर्यात को भारी प्रोत्साहन मिला।

सन् १९२९ में मंदी के समय देश में वस्तुओं के भाव बुरी तरह से गिरे और किसानों की दशा बिगड़ने लगी। देश के वैदेशिक व्यापार की दशा भी बिगड़ने लगी। ऐसी स्थिति में भारत सरकार के सामने अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई। प्रान्तों के सरकारी बजट में प्रतिवर्ष घाटा होने लगा। सरकार की आय कम होती गई। रेलों, जिला बोर्डों तथा म्युनिसिपल बोर्डों के बजटों में भी घाटा होने लगा। देश में दरिद्रता और बेकारी का साम्राज्य छा गया। किसान के पास लगान आदि के भुगतान के लिए पैसा न रहा। ऐसी दशा में जैसा कि ऊपर बताया गया है, उसने अपने पूर्व संचित सोने को बाजार में बेचना प्रारम्भ कर दिया। होम चार्जेज के भुगतान के लिए भी भारत सरकार ने बाहर को सोना भेजना ही आसान समझा। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि करोड़ों रुपये का सोना विदेशों में चला गया और यह सोने का निर्यात (Export of Gold) बाद में भी बराबर जारी रहा।

इस प्रकार भारत के स्टर्लिंग विनिमय मान स्वीकार कर लेने और स्टर्लिंग के साथ रुपए का सम्बन्ध स्थापित कर देने के परिणामस्वरूप भारत से करोड़ो रुपए के सोने का निर्यात हुआ। लगभग ३७६ करोड़ रुपए का सोना बाहर चला गया और सोना चले जाने से भारत की सम्पत्ति कम हो गई तथा भारत के लोगो की युगो की इकट्ठी की हुई बचत राशि समाप्त हो गई। कहा जाता है कि यदि सरकार चाहती तो इस सोने को बाहर जाने से रोक सकती थी। सरकार इस सोने को स्वय खरीद सकती थी जिससे सोना देश से बाहर न जा पाता, या सरकार सोने के निर्यात पर निर्यात-कर लगा सकती थी, परन्तु उस समय की सरकार विदेशी थी इसलिए उसने देश की इस सम्पत्ति की रक्षा नही की। सरकार ने कहा कि सोना बेचने से कोई हानि नही थी बल्कि इससे लाभ था, क्योकि सोने के बढे भावो पर सोना बेचने के बाद फिर सोने के भाव आगे चलकर गिरने पर सोना मँगाकर लोग मुनाफा उठा सकते थे और सोना भी वापस आ सकता था। कुछ भी सही, भारत का सोना देश से बाहर निकल गया (और फिर वापस नही आया)। यह इसी बात का परिणाम था कि रुपए के मूल्य को स्टर्लिंग से बाँध दिया गया था।

दूसरा बुरा परिणाम रुपये के मूल्य को स्टर्लिंग के साथ १ शि० ६ पेंस की ऊँची विनिमय दर पर रखने का यह हुआ कि भारत के आयात बढ गए निर्यात में कमी आ गई और व्यापार सतुलन प्रतिकूल होने लगा। इसीलिए देश में मुद्रा अवमूल्यन की माँग हुई और विनिमय दर पर वाद विवाद शुरू हो गया (Ratio Controversy)। रुपए की विनिमय दर १ शि० ६ पेंस निर्धारित होने के समय से ही यह माँग बराबर जारी रही। जनता १ शि० ४ पेंस की दर चाहती थी, किन्तु सरकार का कहना था कि १ शि० ४ पेंस की दर रखने से देश को हानि होती, क्योकि एक तरफ तो देश म वस्तुओ के भाव बढ़ जाते, कारण कि आयात महँगे पडने लगते, दूसरी ओर होम चार्जेज चुकाने मे अधिक रुपए देने पडते। सच बात तो यह है कि १ शि० ४ पेंस की दर रखने से भारत सरकार को लन्दन में भारत मत्री के लिए होम चार्जेज भेजने में हानि अवश्य होती, परन्तु इसस भारत के निर्यात को प्रोत्साहन मिलता और यह ज्यादा जरूरी था, क्योकि इसमें ही देश का हित था।

द्वितीय महायुद्ध काल से १९४६ तक—युद्धकाल म भी हमारे देश में यही मान रहा। यह मान १९४६ तक चलता रहा।

१९४७ से अब तक (*International Monetary Fund*)*—इसके पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हुई जिसके फलस्वरूप और देशो की भाँति भारत में भी मौद्रिक पद्धति में एक भारी परिवर्तन हुआ। एक प्रकार से स्वर्णमान फिर स्थापित हो गया, जिसमें सोना अधिकाश मुद्राओ का मूल्य मापक हो गया और एक प्रकार की बहु-

*इस सबध में इस पुस्तक के अध्याय १४ को, जिसका शीर्षक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष है, पुन पढिये।

मुद्रामान पद्धति (Multiple Currency Standard) देखने में आई जिसे भारत ने भी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य बनकर ८ अप्रैल १९४७ को अपनाया। अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्राकोष एक ऐसी संस्था है जिसके द्वारा संसार भर की मुद्राओं की विनिमय दर को स्थायी रखने का प्रयत्न किया जाता है। यह एक ऐसा साधन है जिसमें संसार के अनेक देशों की मुद्राएँ जमा रहती हैं जिससे देनदार देश अपने लेनदार देश की मुद्राएँ खरीद कर उसका भुगतान कर सके और उसको इधर-उधर न भटकना पड़े।

इस कोष का सदस्य बनने के बाद से भारत इँगलैंड के आधीन नहीं रहा है आज उसको केवल स्टर्लिंग ही नहीं प्राप्त है वरन कोई भी विदेशी मुद्रा स्टर्लिंग की सहायता बगैर, भारत की मुद्रा के बदले अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित मूल्य पर सीधा प्राप्त हो सकती है। मतलब यह है कि भारत की मुद्रा अब स्वतन्त्र है (Free Rupee) और उसकी मुद्रानीति पर कोई बंधन नहीं है। वह अब स्टर्लिंग का गुलाम नहीं रहा है। यद्यपि १रु०=१ शि० ६ पेंस की दर अब भी है किंतु रिजर्व बैंक इस दर को स्थिर रखने के लिए बाध्य नहीं है। १९४९ में पाउंड का अवमूल्यन किए जाने पर भारत रुपये के अवमूल्यन करने या इतना ही अवमूल्यन करने के लिए बाध्य नहीं था। वह चाहता तो रुपए का अवमूल्यन ही न करता या पौंड से कम या अधिक अवमूल्यन कर देता। पाउंड के साथ ही रुपये का अवमूल्यन केवल इसलिए किया गया कि यह भारत के हित में समझा गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का सदस्य बनते समय भारत सरकार ने कोष को बताया कि रुपये की विनिमय दर प्रति १०० डालर ३३० ८५२ रु० होगी जो कोष ने स्वीकार कर लिया था। यह दर १रु०=१ शि० ६ पेंस की दर पर आधारित थी। १९४९ में रुपये का अवमूल्यन होने पर एक रुपया ३० सेन्ट की जगह २१ सेन्ट के बराबर हो गया और यह ही विनिमय दर निश्चित कर दी गई और इसी के अनुसार रिजर्व बैंक के नियम में संशोधन कर दिया गया जिसमें वह इसी दर पर केन्द्रीय सरकार की आज्ञानुसार विदेशी मुद्रा खरीदे या बेचे।

(यही है आजकल की भारत की द्रव्य पद्धति। स्वर्णमान इत्यादि तो अब कोरी इतिहास की बातें हैं। स्वर्णमान का अब कोई भी रूप देखने में कहीं भी नहीं आता। हाँ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की पद्धति को ही कभी कभी स्वर्ण समता मुद्राकोष पद्धति (Gold Parity Standard) कह देते हैं।)

रिजर्व बैंक आफ इंडिया (*Reserve Bank of India*)—इस सम्बन्ध में यह वर्णन कर देना भी आवश्यक है कि १९२७ में हिल्टन-यंग आयोग की एक सिफारिश यह भी थी कि एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाय और देश की नोट व्यवस्था उसके सुपुर्द कर दी जाय। इस सिफारिश के अनुसार १९३५ में भारत सरकार ने रिजर्व बैंक आफ इण्डिया स्थापित किया और देश की नोटों की व्यवस्था (Indian Paper Currency System) उसके सुपुर्द कर दी। अब यही बैंक नोट चलाता है। अब हमारे देश में परिवर्त्तनीय और अपरिवर्त्तनीय दोनों प्रकार के नोट चलते हैं—२), ५), १०), १००), १,०००), ५,०००) व १०,०००), के नोट परिवर्तनीय नोट हैं जिनके बदले में रिजर्व बैंक

सिक्के (या १ रु० के नोट) देने का वचन देता है और १) रु० के नोट अपरिवर्त्तनीय नोट हैं जिन्हे भारत सरकार का वित्त विभाग चलाता है और जो रुपये के सिक्के के सरी माने जाते हैं। ये १ रु० के नोट द्वितीय महायुद्ध काल मे चलाए गए थे और अब भी चलते हैं। इन नोटो के वदले सरकार सिक्के देने का वचन नही देती।

रिजर्व बैंक के बनने से पहले देश मे करेंसी सिद्धान्त का पालन किया जाता था और उसी के अनुसार सरकार नोट चलाती थी परन्तु अब रिजर्व बैंक आफ इण्डिया "आनुपातिक कोष" प्रणाली के अनुसार नोट चलाती है। इस प्रणाली के अनुसार नोट चलाने से पहले रिजर्व बैंक को नोटो के बदले मे एक सचित कोष रखना पडता है जिसमें सोना, सोने के सिक्के, विदेशी सिक्योरिटीज रुपया तथा रुपए की सिक्योरिटीज रक्खी जाती हैं। चलाए जानेवाले कुल नोटो के मूल्य के बदले में सचित कोष का कम से कम ४० प्रतिशत भाग सोना, सोने के सिक्के या विदेशी सिक्योरिटीज मे रखना पडता है। इसमें भी हर समय कम से कम ४० करोड रुपए के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के रखना अनिवार्य है। सचित कोष का शेष ६० प्रतिशत भाग रुपए, सरकारी सिक्योरिटीज या देशी बिलों और प्रतिज्ञापत्रों के रूप मे रखा जाता है। (परन्तु अब इसमें कुछ सशोधन हो गया है। अब बैंक कम से कम कुल ४०० करोड रु० की विदेशी सिक्योरिटीज तथा ११५ करोड रु० का सोना अपने पास रखता है चाहे प्रचलित नोट कितने भी मूल्य के हो।)

१९४७ से पहले जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का सदस्य नही बना था, रिजर्व बैंक को, जैसा कि ऊपर कहा गया है, अपने सचित कोष मे स्टर्लिंग सिक्योरिटीज रखकर उसके बल पर नोट चलाने का अधिकार था। परन्तु जब से भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का सदस्य हो गया है, तब से रिजर्व बैंक केवल स्टर्लिंग सिक्योरिटीज के बल पर ही नही, वरन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के सब सदस्य देशो की सिक्योरिटीज के बल पर भी नोट चला सकता है, अत हमारी नोट व्यवस्था अब बहुत लोचदार बन गई है। और चूँकि १ जनवरी १९४९ से रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण हो गया है, इसलिए नोट चलाने का उत्तरदायित्व अब सरकार का भी उत्तरदायित्व बन गया है।

यह है भारतीय करेन्सी का पिछले वर्षों का इतिहास, और यह है आज की भारतीय मुद्रा-व्यवस्था। अगले कुछ पृष्ठो मे हम यह देखेंगे कि भारतीय मुद्रा-व्यवस्था पर द्वितीय विश्व युद्ध के और उसके पश्चात् के क्या क्या परिणाम हुए।

भारतीय मुद्रा पर द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव

(Effects of the Second World War on Indian Currency)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है १९३९ के युद्ध आरम्भ होने के समय भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान की पद्धति चालू थी। जब सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, तो इसका प्रभाव मुद्रा पद्धति पर पडना अनिवार्य था और ऐसा हुआ भी—भारतीय मुद्रा के इतिहास में अनेक परिवर्तन हुए, जिनमें से मुख्य परिवर्तन ये थे :—

(अ) विदेशी विनिमय नियंत्रण

(ब) मुद्रा स्फीति (या मुद्रा प्रसार)

(स) हमारे पौण्ड-पावने

इनका विस्तारपूर्वक वर्णन नीचे किया जाता है—

(अ) विनिमय नियंत्रण

(Exchange Control)

युद्ध के प्रारम्भ होते ही भारतीय वस्तुओं की माँग बढ़ने लगी। थोड़े ही दिनों में देश के निर्यात बहुत अधिक बढ़ गए और विदेशी व्यापार का सन्तुलन हमारे पक्ष में रहने लगा। फलस्वरूप स्टर्लिंग के रूप में रुपए की विनिमय दर १ रु०=१ शि० ६ पेंस पर पूर्ण रूप से स्थिर हो गया और जनता की १ शि० ४ पेंस की माँग समाप्त हो गई। (युद्ध से पूर्व कई वर्षों तक भारतीय विनिमय दर पर बड़ा भारी बोझ रहा फलतः जनता की ओर से निरंतर इस बात की माँग थी कि रुपए की विनिमय दर १ शि० ४ पेंस कर दी जाय। परन्तु अब वर्ष प्रति वर्ष निर्यातों के विस्तार और अनुकूल व्यापार सन्तुलनों के परिणाम स्वरूप बाजार में रुपए की स्थिति १ रु०=१ शि० ६ पेंस पर सुदृढ़ हो गई और अवमूल्यन का प्रश्न ही उठ गया।) अब तो प्रश्न यह था कि निर्यात से प्राप्त होने वाले विदेशी विनिमय का अधिकाधिक उपयोग हो और जहाँ तक सम्भव हो उसका अपव्यय रोका जाय—ऐसा कुछ प्रबन्ध हो कि जिससे देश की पूँजी देश से बाहर न जाने पाए और विदेशी विनिमय केवल उन्हीं वस्तुओं को बाहर देशों से खरीदने के काम में लाया जाए जिनको भारत सरकार मँगाना चाहे और जो युद्ध में सहायक हों। इन्हीं उद्देश्यों से सन् १९४० में रिजर्व बैंक ने वैदेशिक विनिमय नियंत्रण विभाग (Exchange Control Department) का निर्माण किया और सरकार ने विनिमय नियंत्रण सम्बन्धी सारा काम उसके सुपुर्द कर दिया।

कुछ महत्वपूर्ण साधन जिनके द्वारा युद्धकाल में विनिमय नियंत्रण किया गया इस प्रकार थे —

(१) सरकार ने एक निर्यात नियंत्रण योजना (Export Control Scheme) बनाई। इस योजना के अनुसार यह निश्चय किया गया कि जो लोग भारत से बाहर माल भेजें और इस माल के बदले में जिन्हें विदेशी विनिमय (स्टर्लिंग को छोड़कर क्योंकि स्टर्लिंग क्षेत्र में यानी ब्रिटिश साम्राज्य के देशों के आपस के वैदेशिक विनिमय सम्बन्धी लेनदेन पर कोई रोक नहीं लगाई गई थी) मिले वे लोग इस विनिमय को रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना खर्च नहीं कर सकते थे।

सरकार ने माल के आयात करने पर भी एक प्रतिबंध (Restrictions on Imports) लगाया कि विदेशी विनिमय केवल उसी माल का आयात करने के लिए मिल सकता था जिस माल का आयात करनेवाले व्यापारी ने सरकार से आज्ञा लेकर मँगाया हो अर्थात् जिस माल के आयात करने का लाइसेंस मिला हो।

(२) सरकार ने भारत में रहनेवाले लोगो के पास जो अमेरिका की डालर राशि तथा डालर सिक्योरिटी थी, या जो उन्हे प्राप्त होती थी, उन्हे अपने अधिकार में लेकर साम्राज्य डालर कोष मे रख दी और उनके बदले मे उनको रुपए दे दिए।

(३) रिजर्व बैक की आज्ञा बिना किसी व्यक्ति को किसी रूप मे सोना देश के बाहर ले जाने की आज्ञा नही थी। सोने का आयात भी आज्ञापत्र द्वारा ही हो सकता था। भारत में न रहनेवाले किसी व्यक्ति से कोई व्यक्ति सिक्योरिटी नही ले सकता था और रिजर्व बैंक की आज्ञा बिना इनका विदेशो मे निर्यात भी नही हो सकता था। विदेशी सिक्योरिटी का निर्यात तभी हो सकता था जबकि उनकी राशि रिजर्व बैंक को दे दी जाय।

(४) रिजर्व बैंक के आज्ञा पत्र बिना भारत मे देश या विदेश के किसी नोट या सिक्के का निर्यात वर्जित था। इत्यादि, इत्यादि।

इन सबका उद्देश्य यही था कि विदेशी विनिमय को अन्य कामो से बचाकर लडाई के लिए माल खरीदने के काम में लाया जाय। दूसरा उद्देश्य यह भी था कि विदेशी विनिमय का ऐसा प्रबध हो कि शत्रु उससे कोई लाभ न उठा सके। विदेशी विनिमय के नियत्रण करने मे इस बात का प्रयत्न किया गया कि व्यक्तिगत व्यापार कम से कम हो जिससे माल लाने ले जानेवाले जहाज और अन्य व्यापारिक सुविधाएँ लडाई के काम में लाई जा सकें। इसलिए युद्ध समाप्त होने के बाद इन नियन्त्रणो को सरकार ने ढीला करना चाहा और इस उद्देश्य से उनमें कुछ परिवर्तन किया। किंतु थोडे ही दिनो के भीतर सरकार को पुन अपनी वैदेशिक विनिमय-नियत्रण की नीति पर लौट आना पडा। इसका कारण यह था कि युद्ध के पश्चात् देश का व्यापाराधिक्य प्रतिकूल होने लगा। इसीलिए तो सन् १९४७ में पाँच वर्ष तक वैदेशिक विनिमय पर नियत्रण रखने के लिए एक विधान स्वीकृत हुआ और इस समय भी यह नियत्रण देश मे जारी है। युद्धकाल के और अब के विनिमय नियत्रण के उद्देश्यों में अन्तर अवश्य है। युद्ध-कल मे उद्देश्य यह था कि विदेशी विनिमय केवल उन्ही वस्तुओ के खरीदने के काम मे लाया जाय, जो युद्ध में सहायक हो, और अब उद्देश्य यह है कि उन्ही वस्तुओ का आयात हो सके, जिनका आयात देश के हित मे हो—जैसे खाद्यान्न का या देश के उत्पादन को बढाने के लिए नई मशीनो का, न कि उन वस्तुओ का जिनके आने से हमारे देश के उत्पादन की प्रगति में बाधा पडने का डर हो।

(व) मुद्रा स्फीति (या मुद्रा प्रसार)

(Inflation)

भारतीय मुद्रा के इतिहास मे द्वितीय महायुद्ध की दूसरी बडी देन मुद्रा-स्फीति है जिसके अन्तर्गत देश में मुद्रा की मात्रा बढती गई परन्तु वस्तुओं का उत्पादन उतनी मात्रा में नही बढा। परिणाम यह हुआ कि मुद्रा का मूल्य गिर गया और वस्तुओं के भाव आकाश को छूने लगे। युद्धकाल में मुद्रा की सख्या शनै-शनै बढती गई जिससे वस्तुओ के भाव चढने लगे। अगस्त १९३९ में भारत में कुल १७९ करोड रुपए के नोट चालू थे; परन्तु मार्च १९४७ में नोटों की कुल सख्या १२४२ ८६ करोड़ रुपए हो ग[illegible] नोटो की वृद्धि

के साथ-साथ देश में मूल्य स्तर भी बहुत बढ गया। अगस्त १९३९ के मूल्यों की अपेक्षा जनवरी १९४५ के मूल्यों में लगभग ३०० प्रतिशत की वृद्धि हुई। मतलब यह है कि इन दोनो ही समस्याओं, उत्पादन की कमी और मुद्रा की वृद्धि, ने देश में मुद्रास्फीति का भान कराया।

इस मुद्रा-स्फीति के कारण ये थे —

(१) इस मुद्रा-स्फीति का सबसे बडा कारण तो भारत सरकार द्वारा मित्र-राष्ट्रो को युद्ध में आर्थिक सहायता देना था। भारत सरकार ने इंगलैंड और मित्र राष्ट्रो के लिए भारत के बाजारो से माल खरीदा। यह माल (कपडा, अन्न आदि) युद्ध चलाने के लिए खरीदा गया। इस माल के बदले में इंगलैंड की सरकार ने भारत सरकार को नकद रुपया नही दिया वरन् वह इंगलैंड में भारत के हिसाब में जमा कर लिया जाता था और बदले में रिज़र्व बैंक को स्टर्लिंग सिक्योरिटीज दे दी जाती थी। पर भारत सरकार को इस माल के बदले मे भारतीय व्यापारियो को, जिनसे यह माल खरीदा जाता था, रुपया देना पडता था। इतना रुपया सरकार के पास कहा से आता? अत सरकार रिजर्व बैंक में जमा की हुई स्टर्लिंग सिक्योरिटीज के आधार पर नोट छाप छापकर चलाती रही और इन नोटो से व्यापारियो को भुगतान किया जाता रहा। इस प्रकार नोटो की सख्या दिन-प्रतिदिन बढती गई।

(२) मुद्रा-स्फीति का दूसरा कारण यह था कि भारत के व्यापारी जितना माल बाहर से आयात करते थे, उससे कही अधिक निर्यात करते थे। इस प्रकार युद्ध आरम्भ होने के पश्चात् व्यापाराधिक्य भारत के पक्ष मे ही रहा। इसके बदले मे बाहर से न तो माल आ सका और न सोना आ सका। इसके बदले में तो लन्दन मे स्टर्लिंग जमा हुए जिनके आधार पर भारतीय सरकार ने नोट छापकर व्यापारियो के भुगतान चुकाए। इससे भी देश में मुद्रा की मात्रा बढी।

(३) केन्द्रीय सरकार ने युद्ध-काल में खर्चा भी खूब किया जिससे देश में मुद्रा-प्रसार बढता गया। सरकार ने रक्षा विभाग पर काफी खर्च किया। १९३९-४० से १९४६-४७ तक १९८३ ४० करोड रुपए व्यय किए गए। इसका परिणाम यह हुआ कि देश मे मुद्रा की मात्रा बढती गई। इन खर्चे के लिए सरकार ने जनता से ऋण लिए और भारी-भारी टैक्स भी लगाए। नोट भी छाप-छापकर चलाए गए। सरकार ने स्टर्लिंग सिक्योरिटीज के आधार पर तो नोट चलाए ही—ट्रेजरी बिलो के आधार पर भी नोट छापे और इससे भी देश में मुद्रा की मात्रा बढी।

मुद्रास्फीति के परिणाम बहुत भयकर हुए। मुद्रा का मूल्य गिर गया और वस्तुओ के भाव चढ गए। मध्यम श्रेणी के लोगो पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पडा। वस्तुओ के भाव तो बढ गए, परन्तु इन लोगो की आय उतनी न बढी। वस्तुओ का मूल्य बढने से लोगो का जीवन-व्यय बढ गया और उनको जीवन चलाना मुश्किल हो गया। लोगो के पास पैसा था भी तो वस्तुओ की कमी थी। इसलिए मूल्य और भी आगे बढने लगे। उत्पादन न बढने से वस्तुओ की बाजार में कमी हो गई। वस्तुओ की कमी होने से लोग वस्तुओ को

इकट्ठा करने लगे तथा चोर बाजार खुल गए, जहां चोरी से माल ऊँचे ऊँचे भावों पर खरीदा-बेचा जाता था। इस प्रकार मुद्रा-स्फीति से बेईमानी, भ्रष्टाचार, घूँस, काला-बाजार आदि बुरी-बुरी बातें देश में पैदा हो गईं।

इस समस्या को हल करने के लिए सरकार ने अनेक उपाय किए जिनमे मे मुख्य मुख्य नीचे दिए जाते हैं —

(१) सरकार ने जीवन की आवश्यक वस्तुओ जैसे अन्न, कपडा आदि के मूल्यों पर नियन्त्रण लगा दिया। इन वस्तुओ के मूल्य सरकार ने निश्चित कर दिए तथा सरकार इन्हे बेचने का प्रबन्ध करने लगी।

(२) मुद्रा की बढती हुई सख्या को वापस खीचने के लिए सरकार ने लोगो पर नए नए टैक्स लगा दिए। सरकार जनता से ऋण भी लेने लगी। कम्पनियों के द्वारा बाटे जानेवाले लाभाश सीमित कर दिए गए। नेशनल सेविंग्स और प्राविडेंण्ट फण्ड सेविंग्स आदि की योजनाएँ चलाई गईं।

(३) सरकार ने सोना बेचना भी आरम्भ किया जिससे लोग सोना खरीद कर रख लें और क्रयशक्ति को वापिस सरकार को दे दें। बैंक दर भी बढा दी गई जिससे साख का सृजन कम हो जाय।

(४) सरकार ने विदेशो से माल आयात करने की छूट दे दी जिससे लोग माल मँगाएँ और देश में माल की कमी दूर हो जाय।

(५) केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने अपने-अपने खर्च कम करने की कोशिश की। केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारो को दी जानेवाली सहायता कम कर दी। प्रान्तीय सरकारों ने भी अपने-अपने बजटों को सतुलित करने के प्रयत्न किए। किसी-किसी प्रान्त में तो कृषि-आय कर और बिक्रीकर लगा दिए गए।

(६) औद्योगिक उत्पादन बढाने के लिए नई-नई सुविधाएँ दी गईं। घोषणा की गई कि नए उद्योगो से कुछ निश्चित समय तक कोई टैक्स नही लिया जायेगा। इससे नए उद्योग खुलने में बहुत सहायता मिली और कुछ उत्पादन भी बढा।

(७) कम्युनिटी प्रोजेक्ट्स खोले गए, इन्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन की स्थापना हुई, नये नये उद्योग खोले गए, पूँजीपतियो को तरह-तरह के प्रोत्साहन दिए गए, इत्यादि, इत्यादि।

परन्तु समस्या हल नही हुई। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी मूल्य स्तर बढता ही रहा, और मुद्रा-स्फीति के दुष्परिणाम आज भी विद्यमान है। (इस सम्बन्ध में अगला शीर्षक "युद्धोत्तर-कालीन मुद्रा-स्फीति" भी पढिए।)

(स) हमारे पौण्ड-पावने

(*Our Sterling Balances*)

द्वितीय विश्वयुद्ध ने भारत को एक और देन दी कि इंगलैंड की सरकार पर भारत का करोडो रुपयो का कर्जा हो गया। युद्ध से पहले भारत इंगलैंड के ऋण से दबा हुआ

था। युद्धकाल में यह सब ऋण चुका दिया गया। इतना ही नहीं, भारत ने भूखे पेट और नगे शरीर रहकर इंगलैंड को करोड़ो रुपए का माल भेजा। इस माल के बदले में हमें जो राशि मिलनी चाहिए थी, वह हमें उस समय न मिली वरन् हमारे हिसाब में लन्दन में स्टर्लिंग रूप में जमा होती रही। इस प्रकार देनदार से हम लेनदार बन गए और इंगलैंड पर हमारा लगभग १७४० करोड़ रुपए का कर्जा हो गया, इसी ऋण को पौण्ड-पावना कहते हैं।

भारत के नाम इन पौण्ड-पावनों के जमा होने के अनेक कारण हुए —

(१) ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रिज़र्व बैंक कानून की एक व्यवस्था का उपयोग किया जिसके अनुसार रिज़र्व बैंक पौंडों को रुपयों में विनिमय करने के लिए विवश था। ब्रिटिश सरकार ने जो धनराशि अपने युद्ध के कार्य के लिए भारत में व्यय की, वह इस प्रकार कि लन्दन में पौंड भारत के हिसाब में जमा होते गए और उनके बदले भारत में रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया जनता को रुपए देती गई।

(२) भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार की ओर से जो कुछ व्यय किया वह पौंडों में चुकाया गया। यह पौंड भी भारत के पौंड-पावने के हिसाब में जमा हो गए।

(३) युद्धकाल में भारत के अनुकूल व्यापार सतुलन से और विनिमय नियत्रण से, जिसके अनुसार भारत को अपनी विदेशी मुद्रा का हिसाब रिज़र्व बैंक को सौंप देना पड़ता था भारत के पौंड-पावने के हिसाब में और भी वृद्धि हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह पौंड-पावने की राशि विवश होकर की गई बचत के समान है, क्योंकि लन्दन में पौंड पावना जमा होने और उसके पेटे भारत में नोट छाप-छापकर रुपया चलाने के परिणामस्वरूप भारत में मुद्रा स्फीति हो गई और जनता को अपने रुपयों के मूल्य के बराबर सामान मिलना बन्द हो गया और उसको तरह-तरह के कष्ट सहन करने पड़े। पौंड-पावने हमारे त्याग और बलिदानों का सग्रह हैं। यदि हमें इन पौंड-पावनों के स्थान पर पूंजीगत माल जैसे मशीनें आदि मिलती जिनके द्वारा हमारा उत्पादन बढ सकता, तो हमें कुछ सताप होता और हमें इतनी कठिनाइयाँ न उठानी पड़ती। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसके विपरीत विलायत में चर्चिल आदि ने यह कहना आरभ किया कि चूंकि इंगलैंड ने भारत को जापान के आक्रमण से बचाया है और इस सम्बन्ध में बहुत खर्च करना पड़ा है इसलिए इन पौंड-पावनों का दायित्व इंगलैंड पर नहीं रहना चाहिए और या तो इन्हें समाप्त कर देना चाहिए या कम कर देना चाहिए। इससे भारतीयों के हृदय में पौंड-पावनों के प्रति विशेष आशका होने लगी। यह आशका बहुत काल तक बनी रही। भारतीयों ने पूर्णरूप से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि इंगलैंड को इस रकम के घटाने का कोई अधिकार नहीं था क्योंकि भारत ने इंगलैंड को सभी माल नियत्रित मूल्य पर दिया था और इसके अतिरिक्त भारतीय जनता को इस रकम के सचय में बहुत त्याग करना पड़ा था और युद्धकाल में उसे स्वयं आवश्यक वस्तुओं से वंचित रहना पड़ा था। अत में ब्रिटिश सरकार की चेतना लौटी और अगस्त १९४८ में उन्होंने पौंड-पावनों का चुकाना स्वीकार कर लिया।

परन्तु तो भी इँगलैंड इस योग्य नहीं था कि तत्काल ही हमारे सब पौंड-पावने एकदम दे सके। इसलिए इँगलैंड और भारत के बीच इनके देने की विधि और मात्रा को निश्चित करने के लिए कई समझौते (१९४७ में, १९४८ में, १९४९ में और १९५२ में) हुए। हमारे पौंड-पावनो में से ४६४ करोड रुपए पहले इसलिए खर्च हो चुके थे कि भारतीय सरकार पर जो विलायत से लिया हुआ स्टर्लिंग ऋण था, वह वापस दे दिया गया था। अब इन समझौतों के परिणामस्वरूप निम्न रकमें और देनी पड़ी —

१३३ करोड रुपए उस फौजी सामान इत्यादि के लिए जो लडाई के बाद भारत में बच रहा था।

२२४ करोड रु० स्टर्लिंग पेंशन के लिए वार्षिकी खरीदने के लिए।

७२ करोड रु० युद्ध का सामान तथा यत्रों के क्रय के लिए।

२०१ करोड रु० विभाजन के समय पाकिस्तान का उसके भाग के रूप में।

इसके अतिरिक्त धीरे-धीरे करके पिछले कुछ वर्षों में कुछ करोड रुपये भारत को बाहर से अन्न इत्यादि खरीदने के लिए मिल भी चुके हैं। सारांश यह है कि भारतीय पौंड-पावने की मात्रा निरन्तर कम होती गई है। हमारी पचवर्षीय योजनाओ में खर्च करने के लिए भी कई साल से हमें स्टर्लिंग लेना पड़ा है। इस समय हमारी पौंड-पावने की मात्रा लगभग ४५० करोड रह गई है।

युद्धोत्तर कालीन मौद्रिक समस्याएँ

(*Post-War Rupee*)

द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी भारतीय मुद्रा के इतिहास में अनेक परिवर्तन हुए और नई-नई समस्याएँ उत्पन्न होती गईं जिनमें से दो बहुत महत्वपूर्ण है— एक तो मुद्रा स्फीति का और भी बढना, दूसरा हमारी मुद्रा का अवमूल्यन। इनका हम नीचे वर्णन करते हैं।

युद्धोत्तर कालीन मुद्रा-स्फीति

(*Post-War Inflation*)

पिछले शीर्षक में हमने देखा कि युद्ध समाप्त होने के बाद भी देश में मुद्रा स्फीति बनी रही और वस्तुओ के भाव भी ऊँचे चढे रहे। इसके निम्न कारण हुए —

(१) युद्ध के पश्चात् भी नोटो की सख्या बढती ही रही। ३१ दिसम्बर १९४५ को कुल ११५४ करोड रुपयों के नोट थे, परन्तु जनवरी १९४६ में इनकी सख्या १२४८ करोड रुपए हो गई (आज इनकी सख्या १६०० करोड व लगभग है।) सरकार को काश्मीर की लडाई के लिए, हैदराबाद की चढाई के लिए व बेघर लोगो को बसाने इत्यादि के लिए रुपयो की आवश्यकता हुई, इसलिए नोटो की सख्या बढानी पडी।

(२) युद्ध के पश्चात केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बजट घाटे में रहने लग थे। इस घाटे को पूरा करने के लिए पहले तो नोट छापकर चलाए गए जिससे मुद्रा-स्फीति हो गई तथा बाद में रिज़र्व बैंक की रोकड़ राशि में से खर्च किया गया। इससे भी मुद्रा की संख्या बढ़ती गई परन्तु उत्पादन बिलकुल न बढ़ा। अत मूल्य-स्तर ऊँचा होता गया। बजट में घाटा रहने के कारण थे—अन्न पर असाधारण खर्चा बेघर लोगों के बसाने का खर्चा तथा अन्य सरकारी खर्चों में वृद्धि इत्यादि इत्यादि।

(३) तीसरा कारण जिससे युद्ध के बाद वस्तुओं के मूल्य बढ़े कंट्रोल का टूटना था। कंट्रोल हटाते ही वस्तुओं के भाव आकाश को छूने लगे और जनता को बड़ी कठिनाई होने लगी, इसलिए अक्टूबर १९४८ में फिर कंट्रोल लगा दिए गए। परन्तु तब भी मूल्य ऊँचे ही बने रहे।

(४) युद्ध के बाद माल का उत्पादन भी कम होता गया। इससे भी क़ीमतें बढ़ी। औद्योगिक उत्पादन गिरने के कारण थे—सरकार द्वारा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का विचार, कच्चे माल की कमी मजदूरों की हड़तालें मशीनों की खराबी भारी भारी टैक्स तथा ऊँची-ऊँची मजदूरी का भुगतान इत्यादि इत्यादि।

(५) अन्न की कमी की विकट समस्या ने भी मूल्यों के बढ़ने में काफी सहायता की। वर्षा न होने के कारण, बाढ़ आ जाने के कारण तथा अन्य कारणों से अन्न की पैदावार कम होती गई जिससे इसके भाव चौगुने-पचगुने हो गए। देश के विभाजन के बाद तो परिस्थिति और भी गम्भीर हो गई। सरकार ने विदेशों से अन्न मँगाया परन्तु इससे परिस्थिति में कोई विशेष अन्तर न पड़ा। धीरे धीरे अन्न के भाव बढ़ते जाते थे और अन्न के भावों के बढ़ने के कारण सभी वस्तुओं के भाव बढ़ते रहे।

देश में स्फीति होने तथा मूल्य बढ़ने के कारण सरकार को बड़ी चिंता हुई और इस समस्या को हल करने के लिए उसने अक्टूबर १९४८ में एक नीति बनाई जिसके अन्तर्गत मूल्य-स्तर को नीचे लाने के उपाय किए गए। सरकारी नीति की मुख्य मुख्य बातें यह थी—अन्न पर नियन्त्रण लगाना, बजट के घाटे पूरे करके सन्तुलित बजट बनाने का प्रयत्न करना सरकारी खर्चा कम करना सरकारी आय बढ़ाना उत्पादन बढ़ाना, जनता को बचत करने की सुविधाएँ देना कम्पनियों के लाभांश सीमित करना इत्यादि इत्यादि। इन प्रयत्नों से मूल्य-स्तर कुछ नीचे आए परन्तु धीरे-धीरे फिर चढ़ने लगे। यह निश्चय है कि मूल्य-स्तर तब तक नीचे नहीं आ सकते, जब तक उत्पादन न बढ़े और वितरण की बुराइयाँ दूर न हों। उत्पादन को बढ़ाने में हमारी पचवर्षीय योजना से बड़ी आशाएँ हैं।

रुपये का अवमूल्यन

(Devaluation of the Rupee)

१८ सितम्बर १९४९ को इंगलैंड के वित्तमंत्री स्टैफर्ड क्रिप्स ने स्टर्लिंग के डालर मूल्य में ३०.५ प्रतिशत की कमी करने की घोषणा की। इस घोषणा के अनुसार इंगलैंड का स्टर्लिंग जो पहले ४.०३ डालर के बराबर था अब २.८० के बराबर रह गया। इंगलैंड

की सरकार को स्टर्लिंग का यह अवमूल्यन अपनी परिस्थिति से वाध्य होकर करना पडा। इसका सबसे बडा कारण था 'डालर की कमी'। इँगलैंड जितना माल निर्यात करता था उससे कही अधिक माल आयात करता था, जिसका उसे भुगतान करने में डालरों की आवश्यकता होती थी, इसलिए विदेशों के भुगतान में सन्तुलन प्राप्त करने के लिए उसे या तो अपने आयात कम करने थे या अपने माल का निर्यात बढाना था। आयात का अधिकाश भाग खाने-पीने की वस्तुओ और कच्चे माल का था, जिनमें कमी करने म अकाल और वेकारी फैलने की आशका हो सकती थी। फिर भी इँगलैंड की सरकार ने अमेरिका व अन्य दुर्लभ मुद्रावाले देशो से १९४८ के आयात की अपेक्षा अगले वर्ष में २५ प्रतिशत कमी करने का निश्चय किया, परन्तु इससे भी डालर की समस्या हल नही हो सकी। एक ही रास्ता रह गया—यह कि इँगलैंड अपने निर्यात बढाने का प्रयत्न करता, परन्तु जैसे जैसे इँगलैंड का उत्पादन बढता गया, विदेशा में उसके माल की माग कम होती गई। इसका कारण यह था कि इँगलैंड का माल विदेशों में अधिक महँगा पडता था। डालर क्षेत्र मे तो यह वात और भी लागू होती थी। अत मूल्य कम करना आवश्यक हो गया। मूल्य कम करने के दो ही उपाय हो सकते थे। या तो लागत व्यय और मजदूरी घटा दी जाती, जिससे माल के भाव नीचे हो जाते या डालर क्षेत्र मे इँगलैंड के माल को सस्ता करने के लिए स्टर्लिंग की डालर-दर में कमी कर दी जाती। स्थायी रूप को देखते हुए पहला उपाय अधिक उपयुक्त था, पर इसको कार्यान्वित करना बडा कठिन था। मजदूर अपनी मजदूरी कम करने के लिए तैयार न थे तथा लागत व्यय में किसी भी प्रकार की कमी करना सभव नही था। अत दूसरा उपाय ही उपयुक्त समझा गया, और इँगलैंड ने स्टर्लिंग का डालर मूल्य ३०·५ प्रतिशत कम कर दिया।

अब चूँकि भारत की मुद्रा स्टर्लिंग से गठबंधित थी, प्रश्न यह उठा कि भारत भी अपने रुपए का अवमूल्यन करे या न करे। भारत सरकार के सामने उस समय तीन उपाय थे.—

(१) रुपए का अवमूल्यन न किया जाता और स्टर्लिंग का अवमूल्यन होने पर भी रुपए का डालर मूल्य उतना ही रखा जाता जितना पहले था। ऐसा करने से देश के सामने एक कठिन परिस्थिति आ जाती। भारत का निर्यात इँगलैंड तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों में महँगा हो जाता और तब बिलकुल बद हो जाता—भारत का ६० प्रतिशत निर्यात स्टर्लिंग क्षेत्र में होता है, और यदि रुपए का अवमूल्यन न किया जाता तो ये निर्यात बद हो जाते। अमेरिका में तो हमारे माल की खपत पहले ही कम थी, स्टर्लिंग क्षेत्र में भी कच्चे माल की खपत कम हो जाती। इसका मतलब यह हुआ कि रुपए का अवमूल्यन न करने का परिणाम यह होता कि हमारे निर्यात और भी कम हो जाते या हमें विदेशों में अपने देश की वस्तुएँ लागत से कम मूल्य पर नुकसान के साथ वेचनी पडती। इससे हमारे व्यापार को बडा धक्का लगता। दूसरी ओर हमारे आयात बढ जाते, जो ठीक नही था।

(२) दूसरा उपाय यह हो सकता था कि सरकार रुपए का मूल्य घटाती तो सही, परन्तु थोडा सा ही घटाती और केवल रुपए की विनिमय दर १ शि० ४ पेंस कर देती।

इससे काम नहीं चल सकता था। हम न इधर के रहते, न उधर के। ऐसा करने का परिणाम यह होता कि देश में भाव और भी अधिक बढ जाते, स्टर्लिंग क्षेत्र से आने वाले आयात के भाव भी बढ़ जाते, और मूल्य स्तर आगे चढ जाता। इससे जनता को बडी कठिनाई भी होती और हमारे निर्यात भी न बढ पाते।

(३) तीसरा उपाय यही था कि रुपए की स्टर्लिंग दर उतनी ही रखी जाती और स्टर्लिंग के साथ साथ रुपए का अवमूल्यन उसी अनुपात में कर दिया जाता कि जिस अनुपात में स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया गया था। भारत सरकार ने तीसरा उपाय ही किया। स्टर्लिंग का अवमूल्यन होते ही भारत सरकार ने भी रुपए के डालर मूल्य में ३०.५ प्रतिशत (यानी उसी अनुपात में जिसमें स्टर्लिंग का मूल्य डालर में कम हुआ था) की कमी कर दी। पहले एक रुपया लगभग ३० सैन्ट के बराबर था परन्तु अवमूल्यन के बाद लगभग २१ सैंट के बराबर रह गया, यानी एक डालर का मूल्य ३ रु० ५ आने से बढकर लगभग ४ रु० १२ आने हो गया। जनता के कुछ वर्गों ने सरकार की इस अवमूल्यन नीति का कुछ विरोध किया और कहा कि रुपए की दर गिराने से हमारे निर्यात अवश्य बढ़ेंगे, परन्तु डालर क्षेत्र से आनेवाले आयात महँगे हो जायेंगे। इससे देश को हानि होती, जो मुद्रा-स्फीति के भँवर में पहले ही से पड चुका था। अवमूल्यन के आलोचकों ने यह भी बतलाया कि देश को पूँजीगत माल की, जैसे मशीनों की अत्यधिक आवश्यकता है और यह माल अमेरिका से मिल सकता है, अत इस माल पर रुपए का अवमूल्यन होने से अधिक मूल्य चुकाना पडेगा जो ठीक नहीं है। इसी तरह खाद्य सामग्री के दाम बढ जायँगे। इसके अतिरिक्त यह भी अनुमान लगाया गया कि इंगलैण्ड में जमा हमारी स्टर्लिंग राशि (पौंड-पावनों) को डालरों में बदलवाने में भी हमें हानि रहेगी। परन्तु वे इस बात को भूलते हैं कि अवमूल्यन न करने से हमारी समस्याएँ और भी जटिल बन जाती। हमारे निर्यात बिलकुल बद हो जाते, हमारा माल न अमेरिका को जाता और न इंगलैंड को। न डालर क्षेत्र में बिकता, न स्टर्लिंग क्षेत्र में खपता। इस प्रकार माल आयात करने के लिए हमारे पास न सोना होता और न डालर होते। हमारा वैदेशिक व्यापार ठप्प हो जाता, हमारे उद्योग धंधे बंद हो जाते बेकारी फैल जाती और व्यवसाय समाप्त हो जाता। अवमूल्यन के परिणामवश भारत के निर्यात व्यापार में जो वृद्धि हुई उसे देख कर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि सरकार की यह अवमूल्यन की नीति ठीक ही थी।

इस सम्बन्ध में यह वर्णन करना आवश्यक है कि यद्यपि भारत सरकार ने अपने रुपए का अवमूल्यन किया परन्तु पडोसी पाकिस्तान ने अपने रुपए का अवमूल्यन नहीं किया। पाकिस्तान के इस निश्चय के फलस्वरूप भारत के १०० रुपए पाकिस्तान के ७९·५० रु० के बराबर हो गए या पाकिस्तान के १०० रु० भारत के १४४ रु० के बराबर हो गए। पाकिस्तान को समझाया गया कि वह भी अपने रुपए का अवमूल्यन कर दे, परन्तु पाकिस्तान ने अपने हित में यही ठीक समझा कि वह ऐसा न करे। भारत सरकार ने पाकिस्तानी रुपए की नई विनिमय दर को नहीं माना। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत और पाकिस्तान का आपस का व्यापार बिलकुल बद हो गया। पाकिस्तान से भारत आने-

वाला माल जैसे रुई, जूट, चमड़ा, चावल आना बंद हो गया और भारत से पाकिस्तान जाने-वाला माल भी, जैसे चीनी, कोयला, कपड़ा जाना बंद हो गया। पाकिस्तान की ६० लाख जूट की गाँठो में से ५० लाख गाँठ भारत के मिलो में काम आती थी, इन सब का आना बंद हो गया जिससे कलकत्ते की जूट मिलो का उत्पादन भी बहुत कम हो गया। दूसरी ओर भारत से पाकिस्तान को कोयला जाना भी बंद हो गया। ऐसी स्थिति में भारत की सरकार ने कोशिश की कि दोनो देशो के बीच समझौता हो जाए और विनिमय दर की समस्या सुलझ जाए, परन्तु कोई समझौता न हो सका। फिर सरकार ने कोशिश की कि इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में उठाया जाय, परन्तु इसमें भी सफलता नही हुई। अत में भारत को विवश होकर सिर झुकाना पडा और पाकिस्तान रुपए की ऊँची विनिमय दर स्वीकार करनी पड़ी। यह २६ फरवरी १९५१ को हुआ।

कुछ भी सही, हम यह कह सकते है कि यद्यपि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप हमारे निर्यात बढे, आयात घटे, और अनुकूल व्यापार सतुलन की प्राप्ति के लक्ष्य में सफलता हुई, तो भी जो सफलता हुई वह नाम मात्र थी और जो लाभ इस देश को हुए, वह इँगलैंड तथा अन्य कई देशो की अपेक्षा जिन्होंने मुद्रा अवमूल्यन किया था न तो उतने महान् थे और न ही उतने स्थायी थे। हमारे उत्पादन में भी कोई ठोस वृद्धि नही हुई और सरकार ने देश की भीतर की कीमतो में उन्नति को रोकने के लिए जो उपाय किए, उनमें सफलता नही हुई, क्योकि उनके होते हुए भी कीमतें उन्नति होती गई, और अनुकूल सतुलन रखने का कार्य अधिक कठिन बन गया। फिर अवमूल्यन के परिणाम स्वरूप ही हमें अमेरिका इत्यादि से आये हुए खाद्यान्न के दाम चुकाने में अधिक रुपए देने पडे, हमारा पाकिस्तान के साथ व्यापार छिन्न-भिन्न हो गया, इत्यादि, इत्यादि।

रुपये का पुनर्मूल्यन
(Revaluation of the Rupee)

अवमूल्यन के परिणामो को देखकर प्रश्न यह उठता है कि हमारी भावी नीति क्या हो। हमारे सामने दो मार्ग हैं—(१) वर्तमान विनिमय दर बनाए रखे, (२) रुपए का पुनर्मूल्यन करे। रुपए का पुनर्मूल्यन वर्तमान स्थिति में अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। इसके पक्ष और विपक्ष दोनो ही मे महत्वपूर्ण तर्क उपस्थित किए जाते हैं। पुनर्मूल्यन से हमारे निर्यात का मूल्य बढ जाएगा और वर्तमान मात्रा के बदले हमें अधिक वस्तुएँ आयात के रूप में प्राप्त होने लगेंगी, क्योकि हमारे निर्यात की वस्तुएँ ऐसी आवश्यकता वाली हैं कि उनकी माँग कभी कम न होगी, और पुनर्मूल्यन करने से इस निर्यात पर अधिक डालर कमाए जा सकेंगे। पाकिस्तान से माल मँगाने पर भी हमें काफी बचत होगी, क्योकि वहाँ से माल आता अधिक है और वहाँ को माल जाता कम है। इसके विरोध में यह कहा जाता है कि पुनर्मूल्यन से हमारे अतर्राष्ट्रीय व्यापार और भुगतान पर बुरा प्रभाव पड़ेगा क्योकि आयात तो बढेगा किन्तु उसके भुगतान के लिए वैदेशिक विनिमय का अभाव रहेगा, क्योकि हमारे निर्यात घटेंगे। (श्री चिन्तामणि देशमुख का कहना है कि १५ प्रतिशत पुनर्मूल्यन से हमारे

देश का व्यापाराधिक्य ५० करोड़ कम हो जायेगा, और ३० प्रतिशत पुनर्मूल्यन से १३५ करोड़ कम) फिर निर्यात घटने से निर्यात कर मे प्राप्त होने वाली सरकारी आय भी घट जावेगी। इसके विरोधियो का यह भी कहना है कि इससे सम्भव है कि हमें सस्ते आयात मिलने लगें, पर यह सब थोड़ी वस्तुओ पर केवल अल्पकाल के लिए ही लागू होगा। इसलिए वैदेशिक व्यापार के एक अस्थायी लाभ पाने की भावना से प्रेरित होकर रुपये का पुनर्मूल्यन करना देश के हित में नही कहा जा सकता। हो सकता है कि पुनर्मूल्यन के परिणामस्वरूप पाकिस्तान अपने कच्चे माल की क़ीमतें बढ़ा दे और इससे भारत पुनर्मूल्यन करने के लाभ से वंचित रह जाय। ऐसी दशा में कि जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष जैसी सस्था का अस्तित्व हो, हमें उसके नियत्रण के अन्तर्गत रहकर आगे बढ़ने में ही अधिक लाभ की सम्भावना हो सकती है विनिमय दर की अनुकूलता अकेले ही बहुत महत्वपूर्ण नही कही जा सकती।

एक बात पुनर्मूल्यन के पक्ष में यह भी कही जाती है कि ऐसा करने से मुद्रा प्रसार कम हो जायेगा, परन्तु यह उद्देश्य आन्तरिक उपायों (व्यापार कंट्रोल, आयात तथा निर्यात कर तथा मुद्रा और व्यापारिक नीति में परिवर्तन) द्वारा भी पूरा हो सकता है। साराश यह है कि भारतीय आर्थिक समस्याओ को हल करने के लिए पुनर्मूल्यन की अपेक्षा आन्तरिक उपायो को प्रयोग में लाना अधिक उचित होगा, और पुनर्मूल्यन से हमारे पूँजी-माल के आयात में बाधा पड़ जाने के कारण देश की उत्पत्ति में भी ह्रास हो सकता है, जो देश के लिए अति हानिकारक सिद्ध होगा।

नोट—यहाँ पर इस बात को बता देना भी आवश्यक है कि अभी कुछ ही दिन हुए पाकिस्तान को अपनी नीति बदलनी पड़ी, और उसने स्वयं ही अपने रुपये का भारत के समान ही अवमूल्यन कर दिया है। उसके ऐसा करने से इस समय भारत में पुनर्मूल्यन की चर्चा लगभग समाप्त हो गई है।

QUESTIONS

1. Give a brief history of Indian currency since 1927 and discuss its present character (Agra 1957s., 1955s , Alld 1947)

2. Discuss the main features of the monetary system of India. (Alld. 1953, Rajputana 1955)

3. Discuss the effects of the second world war on Indian currency. What measures were adopted by the Government to control them? (Agra 1952s)

4. 'The two outstanding developments in Indian currency during the present war are the large expansion of currency and the accumulation of sterling balances'. Attempt a short essay on the magnitude, causes, and the inter-relation of the two developments. (Alld 1946)

10. Discuss the improtance of a well organised Bill Market, and account for its absence in India What steps have been taken in recent years towards having a regular bill market in India ? (Rajputana 1954)

11 Discuss the main functions performed by the Exchange Banks in India, and point out how for have their defects been remedied since Independence (Agra 1957, 1956, 1954; Rajputana 1957)

12. What are the functions of Commercial Banks in India ? Examine the case for their nationalisation ? (Rajputana 1957) Write also a note on the State Bank of India (Agra 1957s)

परिशिष्ट ३

भारत का विदेशी व्यापार

(India's Foreign Trade)

भारत के विदेशी व्यापार को युद्धकाल के पश्चात् अनेक परिवर्तनों का सामना करना पड़ा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यातायात की कमी होने से, कच्चे माल का अभाव होने से, विदेशी विनिमय मुद्रा की कठिनाई और सरकार के अनेक नियन्त्रण आदेशों से, भारत के विदेशी व्यापार में बहुत बाधा पड़ी। फिर युद्धोत्तर काल में अगस्त १९४७ को देश का विभाजन हो जाने से भारत का विदेशी व्यापार छिन्न-भिन्न हो गया। विभाजन के पूर्व भारत में कपास, जूट, तिल्हन, खाल, चमड़ा, इत्यादि कच्चे माल का काफी उत्पादन होता था और देश की आवश्यकता पूरी करने के बाद इनका निर्यात किया जाता था, परन्तु विभाजन के पश्चात भारत में इनमें से अधिकतर वस्तुओं की कमी हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इनका निर्यात घट गया, जो उद्योग इन पर निर्भर करते थे, उनका उत्पादन भी घट गया, और हमें अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिक कीमत देकर कपास और अन्य आवश्यक कच्चा माल विदेशों से आयात करना पड़ा। विभाजन से पूर्व पाकिस्तान के कुछ भागों से देश की खाद्यान्न की आवश्यकता की पूर्ति होती थी; परन्तु विभाजन के परिणामस्वरूप देश के कुछ सब से अधिक उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान के भाग में चले गए जिससे देश को खाद्यान्न की कमी का भी सामना करना पड़ा और खाद्यान्न का बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से आयात करना पड़ा। इत्यादि, इत्यादि।

इसलिए हम भारत के विदेशी व्यापार का अध्ययन तीन परिस्थितियों में करेंगे —

(अ) द्वितीय महायुद्ध से पहिले की स्थिति
(ब) " " के काल " "
(स) " " पश्चात् " "

द्वितीय महायुद्ध से पहले

(*Pre-War Period*)

(१) द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के समय तक देश का बहुत अधिक औद्योगीकरण नहीं हो पाया था और भारत में प्राय कृषि जन्य वस्तुओं का निर्यात और विदेशी पक्के माल का आयात हुआ करता था। उस समय हमारी निर्यात की वस्तुयें विशेषकर खाद्य, पेय, तम्बाकू, चाय और कच्चा माल, जैसे जूट, कपास, तिल्हन, चमड़ा थी और हमारी आयात की वस्तुएँ मशीनें, सूती कपड़ा, लोहा और इस्पात, तेल, चीनी इत्यादि थी। यद्यपि पहले महायुद्ध काल में हमारे देश में तैयार होनेवाले माल का आयात कुछ कम हो गया था, कुछ हमारे यहां

के तैयार माल का निर्यात भी होने लगा था और कुछ बाहर के कच्चे माल का आयात तो भी द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय तक साधारणतया हम यही कह सकते है कि हम मुख्यत कच्चे माल का निर्यात करते थे और पक्के माल का आयात।

(२) उस समय इँगलैंड के साथ हमारे देश के कुल आयात का ३० प्रतिशत और निर्यात का ३५ प्रतिशत व्यापार होता था, और जर्मनी, जापान तथा अमेरिका के साथ हमारे देश के कुल व्यापार का क्रमश ९ ४, ६ ६ और ८ प्रतिशत भाग हमारा व्यापार होता था। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय हमारा व्यापार मुख्यत इँगलैंड के साथ ही था।

(३) उस समय भारत सरकार की विदेशी व्यापार की नीति यह थी कि प्रत्येक वर्ष निर्यात का मूल्य आयात से अधिक रहे और इतना अधिक रहे कि उससे Home-Charges का भुगतान किया जा सके जो लगभग ४०-५० करोड रुपए तक हुआ करते थे। [इँगलैंड की बहुत सी फौज भारत में रहती थी, जिसका सारा खर्च भारत को देना पडता था। इँगलैंड के सरकारी कर्मचारियो के वेतन तथा पेंशन का भुगतान किया जाता था और देश में लगी हुई अँगरेजी पूँजी (जैसे रेलो के लिए) पर ब्याज अथवा लाभांश चुकाना पडता था। इसके अतिरिक्त इँगलैंड के बैंकों, बीमा कम्पनियो, जहाजो आदि की सेवाओ के लिए भी भुगतान करना पडता था। यह सब मिला कर लगभग ४० या ५० करोड रुपये सालाना का कुल खर्च बैठता था। इसी को Home Charges के नाम से पुकारते है।]

साधारण वर्षो मे Home Charges के भुगतान में बहुत अधिक कठिनाई नही होती थी, किन्तु सन् १९२९ के पश्चात जब देश मे मदी बहुत बडे पैमाने पर होने लगी और निर्यात वाली कृषि जन्य वस्तुओ के मूल्य आयात के विदेशी पक्के माल के मूल्य की अपेक्षा बहुत अधिक गिर गए तो हमें इन व्ययो का भुगतान देश से सोना भेज कर करना पडा और धीरे धीरे कुछ वर्षो में हमारे देश का लगभग ४०० करोड का सोना बाहर चला गया। (इसकी विशेष जानकारी के लिए Indian Currency System परिशिष्ट पढिए।)

युद्ध काल में

(*War-Period*)

(१) सितम्बर १९३९ मे द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। उसके फलस्वरूप व्यापार के साधारण स्रोतो पर बहुत नियत्रण हो गया। विनिमय पर नियत्रण होने से विदेशी व्यापार का आयतन कम हो गया। भारत के आयात बहुत कम हो गए यद्यपि निर्यात बढ गए, क्योकि भारत को युद्ध-क्षेत्रो में खाद्य आदि अनेक प्रकार की सामग्रियाँ भेजनी पडती थी और उन देशो को तैयार माल भी भेजना पडता था जो युद्ध के पहले जापान अथवा जर्मनी से माल का आयात करके अपनी आवश्यकता की पूर्ति करते थे किंतु अब युद्ध के कारण ऐसा करने में असमर्थ थे। इस प्रकार हमारे आयात घटते गए और निर्यात बढते गए, परिणाम यह हुआ कि हमारे आयात १५३ ४ करोड (१९३९ मे) से घटकर ११० ८ करोड (१९४३ मे) के रह गए, और निर्यात १६८ करोड (१९३८ म) से बढकर २३१ करोड (१९४५ में) के हो गए। ध्यान देने की बात यह है कि युद्ध-काल में हमारे देश की औद्योगिक

उन्नति इस प्रकार हुई कि जहाँ हम पहले कच्चे माल का निर्यात करते थे और पक्के माल का आयात, वहाँ अब हमारे कच्चे माल के निर्यात का अनुपात कुल निर्यात के ४४.३ प्रतिशत से घटकर ३१.७ प्रतिशत रह गया और हमारे कच्चे माल के आयात का अनुपात २३.९ प्रतिशत से बढ़कर ५४ प्रतिशत हो गया। और पक्के माल के निर्यात का अनुपात ३०.५ प्रतिशत से बढ़कर ४४ प्रतिशत हो गया जबकि पक्के माल के आयात का अनुपात ६१ प्रतिशत से घटकर ३५.६ प्रतिशत रह गया।

(२) जर्मनी और जापान से व्यापार के सम्बन्ध समाप्त हो गए, ब्रिटेन और ब्रिटिश साम्राज्य से व्यापार बढ़ गया। ब्रिटिश साम्राज्य का भाग हमारे निर्यात में ५२.७ प्रतिशत से बढ़कर ५९.७ प्रतिशत हो गया। हमारा व्यापार अमेरिका के साथ और भी अधिक बढ़ा—हमारे निर्यात ८.३ प्रतिशत से बढ़कर २३.२ प्रतिशत और हमारे आयात ७.४ से बढ़कर २१.९ प्रतिशत हो गए। हमारा व्यापार ईरान, ईराक, मिश्र आदि देशों के साथ भी बढ़ गया।

(३) इस काल में जैसा कि हमने अभी देखा हमारे निर्यात बढ़े और आयात घटे। जो व्यापाराधिक्य (favourable balance of trade) १९३८ में १५ करोड़ का था अब ९३ करोड़ का हो गया। (युद्धकाल की पौंड-पावने की वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण देश का अनुकूल व्यापाराधिक्य ही था।)

युद्ध-काल के पश्चात्

(*Post-War Period*)

(१) युद्ध के पश्चात् भारत में अनेक समस्याएं उत्पन्न हुईं। वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि और मुद्रा-स्फीति के परिणाम गम्भीर होने गए। जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक माल की आवश्यकता बढ़ गई। सरकार ने महँगाई रोकने के विचार से विदेशों से उपभोग वस्तुओं का आयात करना शुरू किया। उद्योगों में लगी हुई पुरानी मशीनें बहुत पुरानी हो गई थी और उनको नई मशीनों से बदलने की आवश्यकता हुई। औद्योगिक विकास के लिए भी नई मशीनों की बहुत आवश्यकता हुई। नदी-घाटी योजनाओं के कार्यान्वित करने के लिए और रेलों के इंजिन इत्यादि के बनाने के लिए भी तरह तरह की माँग बढ़ गई। और सबसे बड़ी बात यह हुई कि अन्न का भाव बढ़ता गया। वर्षा के आवश्यकता से कम या अधिक होने के कारण कुछ भागों में अकाल पड़ा, कुछ में फसलें नष्ट होने लगी; परन्तु जन-संख्या बढ़ती ही गई। इन सबके फलस्वरूप युद्ध के पश्चात् कई वर्षों तक हमारे आयात निर्यात की अपेक्षा अधिक होते रहे। इसमें हमें कुछ अपने पौंड-पावनों से भी सहायता मिली। इनकी सहायता से भारत ने अधिकांश होम चार्जेज का भुगतान कर दिया, सारा बाहरी ऋण चुकाकर वह देनदार से लेनदार देश बन गया, और अब विदेशों से, विशेषकर स्टर्लिंग क्षेत्र से, वह अधिक आयात करने योग्य हो गया, क्योंकि पौंड पावनों की सहायता से उसका भुगतान सरल था।

(२) व्यापार की दिशा के सम्बन्ध में भी, जो परिवर्तन युद्धकाल में शुरू हुआ था, युद्धोत्तर काल में भी जारी रहा। हमारा व्यापार अमेरिका के साथ बहुत बढ़ गया।

आस्ट्रेलिया के साथ भी व्यापार होने लगा और ईरान, ईराक इत्यादि के साथ भी व्यापार बढ़ता गया।

(३) जहाँ तक व्यापाराधिक्य का सम्बन्ध है, युद्ध के पश्चात कई वर्षों तक व्यापाराधिक्य भारत के प्रतिकूल रहा। १९५०-५१ में वह अवश्य अनुकूल हो गया, परन्तु उसके बाद से फिर प्रतिकूल होता रहा है।

देश-विभाजन का परिणाम

(*Effects of Partition*)

देश के विभाजन का प्रभाव हमारे व्यापार पर बहुत गहरा पड़ा। पाकिस्तान बनने से हमारे देश के अधिक अन्न उपजाने वाले क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए और भारत में खाद्यान्न की कमी और भी बढ़ गई। इसके अतिरिक्त इसका उत्पादन वर्षा पर अधिक निर्भर हो गया, कारण देश के जिन भागों में नहरें थी, उनका अधिकांश भाग पाकिस्तान में चला गया। इसके साथ-साथ भारत में कपास और पटसन की कमी भी पड़ गई। विदेशी द्रव्य कमाने के लिए भारत में पटसन ही मुख्य वस्तु है, परन्तु पटसन के सारे कारखाने भारत में हैं, जबकि कच्चा पटसन पाकिस्तान में ही विशेष रूप से होता है। सूती वस्त्र का उद्योग देश में सबसे बड़ा उद्योग है, यह देश की माँग पूरी करने के लिए, और निर्यात करके विदेशी द्रव्य कमाने के लिए, दोनों के लिए ही आवश्यक है, परन्तु कपास भी पाकिस्तान में ही बहुत होती है। परिणामवश भारत खाद्यान्न, कच्चे पटसन और कपास का बहुत अधिक आयात करने लगा। सन् १९४८ में खाद्यान्न, कच्चा माल तथा तैयार माल के आयात का मूल्य क्रमश १११, ११०, तथा १७१ करोड़ रुपए था, जबकि १९४६ में इनका मूल्य क्रमश ३३, ७७ तथा १४९ करोड़ रुपए था।

इस प्रकार विभाजन के फलस्वरूप निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक होता रहा और व्यापाराधिक्य प्रतिकूल दिशा में बढ़ता गया।

अवमूल्यन का प्रभाव

(*Effects of Devaluation*)

इसके पश्चात् इंगलैंड ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन अक्टूबर १९४९ में किया। उन अन्य देशों ने भी जिनका अधिकांश व्यापार इंगलैंड के साथ होता था, अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन इंगलैंड की भांति ही अमेरिका के डालर के रूप में ३०.५ प्रतिशत कर दिया। इस प्रकार भारत ने भी अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया। केवल पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा की विनिमय दर में कोई परिवर्तन नहीं किया। किन्तु जब उसने ऐसा नहीं किया तो भारत के सम्मुख अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो गईं। भारत के निर्यात और आयात के कुल व्यापार का क्रमश १७ और १६ प्रतिशत अंश पाकिस्तान के साथ होता था। इतना ही नहीं, सन् १९४८-४९ में पाकिस्तान से भारत में आनेवाली वस्तुओं का मूल्य ११७ करोड़ था और प्रमुख आयात कच्चे जूट (८० करोड़ रुपए), कपास (१७ करोड़ रुपए) तथा अन्य वस्तुएं,

जैसे चमडा, सुपारी, बिनौला, फल, तरकारियाँ, नमक, सीमेंट आदि (२० करोड रु०) होता था, और पाकिस्तान को भेजी जाने वाली वस्तुओं में सूती कपडे (७०५ करोड रु०), जूट के माल (६८ करोड रु०), कोयला (६५ करोड रु०), वनस्पति घी (६८ करोड रु०) तम्बाकू (४९ करोड रु०), रेशमी कपडे (४७ करोड रु०) तथा अन्य वस्तुएँ (३५८ करोड रु०) थी; यह सब व्यापार छिन्न-भिन्न हो गया, क्योंकि भारत सरकार पाकिस्तानी मुद्रा की विनिमय दर मानने के लिए तैयार नहीं थी। इस प्रकार भारत और पाकिस्तान का व्यापार २०० करोड रु० से घटकर ७५ करोड रु० का रह गया। व्यापार की यही दशा २१ अप्रैल सन् १९५० तक जारी रही।

अंत मे दोनो देशो की सरकारो के बीच ३१ जुलाई सन् १९५० तक के लिए एक समझौता हुआ, किंतु पाकिस्तान समझौते के अनुसार भारत को पूरा माल देने में असमर्थ रहा। सारांश यह है कि भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापार ठप्प हो गया। इसी बीच में कोरिया युद्ध प्रारम्भ हुआ, इस कारण पाकिस्तानी कपास और जूट की माँग इंगलैंड और अमरिका मे बढ़न लगी और उसे इन वस्तुओ का अधिक मूल्य मिलन लगा। मतलब यह कि भारत का पक्ष कमजोर पडता गया और विवश होकर भारत ने २५ फरवरी सन् १९५१ को फिर पाकिस्तान से व्यापारिक समझौता करते समय उसकी मुद्रा की विनिमय दर स्वीकार कर ली। रिजर्व बैंक ने घोषणा कर दी कि वह १०० भारतीय रुपयों के बदले पाकिस्तान के ६९ रु० ६ आने तथा पाकिस्तान के ६९ रु० ८ आने ३ पाई के बदले भारतीय १०० रु० देने को तैयार रहेगा। इस परिवर्तित वातावरण में जो व्यापारिक समझौता हुआ, उसकी अवधि १६ महीने अर्थात् ३० जून सन् १९५२ ई० तक थी। इस अवधि के भीतर पाकिस्तान द्वारा ३५ लाख गाँठ कच्चा जूट, और ७७ लाख टन अन्न भारत को प्रदान करना था और भारत द्वारा २१ लाख टन कोयला, ७५ हजार गाँठ सूती वस्त्र, १६ हजार गाँठ सूत तथा ६२,५०० टन तैयार जूट का माल पाकिस्तान को देना था। परन्तु मुख्य रूप से पाकिस्तान की अनिच्छा के कारण और साथ ही, समझौते के अनुसार सामान भारत को निर्यात कर सकने में और भारत से अपनी आवश्यकता का सामान आयात कर सकने में, पाकिस्तान के असमर्थ होने के कारण यह समझौता सफलता पूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सका। इसका फल यह हुआ कि १९५१ मे पाकिस्तान को भारत का निर्यात गिर गया, क्योकि पाकिस्तान ने माल खरीदना बन्द कर दिया, और भारत में पाकिस्तान से आयात बढा, क्योकि भारत कच्चा जूट और खाद्यान्न का अधिक मात्रा में आयात करता रहा। इसके बाद भारत ने पाकिस्तान से कच्चे जूट और खाद्यान्न का निर्यात कम कर दिया, किंतु पाकिस्तान ने भारत से कोयला, सूती माल, जूट, तम्बाकू का अधिक आयात किया। सारांश यह है कि व्यापार की स्थिति नहीं सुधरी और १९५३ में एक नया समझौता करना पडा जिसके अनुसार पाकिस्तान भारत को १८ लाख जूट की गाठे प्रतिवर्ष देगा (आवश्यकता पडने पर यह मात्रा २५ लाख गाँठो तक बढाई जा सकती है) और भारत पाकिस्तान को प्रतिवर्ष १० लाख टन कोयला देगा। इस समझौते मे कपास, सूती माल और अनेक वस्तुएँ सम्मिलित नहीं की गई हैं। इस समझौते में यह व्यवस्था

की गई है कि दोनो देश एक दूसरे के माल पर किसी प्रकार का विवेचनात्मक कर नही लगायेंगे। यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है कि सीमावर्ती क्षेत्र के व्यापार पर विशेष ध्यान दिया जायगा। यह आशा करना उचित ही है कि यदि व्यापार समझौते को व्यापक बनाया जाये तो भविष्य में दोनों देशो के बीच स्थायी व्यापार सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा।

(यद्यपि उपर्युक्त वर्णन से यह विदित है कि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप हमारा व्यापार पाकिस्तान के साथ घट गया, तो भी यह समझ लेना भूल होगी कि अवमूल्यन से भारत के निर्यात को प्रोत्साहन नही मिला, जो अवमूल्यन का उद्देश्य था। हमारा निर्यात अवश्य बढ़ा। यह अवमूल्यन का ही प्रभाव था कि व्यापार की बाकी जो कई वर्षों से विपक्ष हो रही थी फिर १९५१-५२ मे भारत के पक्ष में हो गई।)

विदेशी व्यापार की वर्त्तमान प्रवृत्ति

(Present Trends in India's Foreign Trade)

(१) पहिले की अपेक्षा भारत का विदेशी व्यापार (*Volume of Trade*) अब बहुत बढ गया है। सन् १९३९ से पहले भारत का विदेशी व्यापार लगभग ३०० करोड रुपए का था—लगभग १५० करोड रुपए का आयात और १६० करोड रुपए का निर्यात। परन्तु अब हमारा विदेशी व्यापार लगभग १५०० करोड रु० का है।

(२) पहले तो हमारे निर्यात हमारे आयात से अधिक रहा करते थे, परन्तु अब कुछ वर्षों से हमारे आयात हमारे निर्यात से अधिक होने लगे है। मतलब यह है कि हमारे व्यापार का अन्तर (*Balance of Trade*) प्रतिकूल रहने लगा है। इसके कई कारण हैं—पिछले दिनों मे हमें बाहर से खाद्यान्न बहुत मँगाना पड़ा है और मशीनरी भी बाहर से बहुत मँगानी पड़ी है। परिणाम यह हुआ है कि सरकार को आयात को निरुत्साहित करने और निर्यात को प्रोत्साहन देने की नीति अपनानी पडी है। तो भी हम कह सकते हैं कि हमारी विदेशी व्यापार की स्थिति असंतोषजनक नही है, क्योंकि जब तक हमारी पचवर्षीय योजनाएँ चलती रहेंगी और हमें मशीनरी, कच्चा माल इत्यादि बाहर से मँगाने की आवश्यकता रहेगी तब तक हमारे आयात का बढना स्वाभाविक है। पिछले कुछ सालो के हमारे आयात-निर्यात की स्थिति अगली तालिका से स्पष्ट हो जाती है —

(३) आयात और निर्यात की वस्तुओं (*Composition of Trade*)—(i.e. character of our exports and imports) में भी महान् परिवर्तन हो गया है। निम्न तालिकाओं पर ध्यान दीजिए —

(करोड रु० में)

	कुल आयात	कुल निर्यात	शेष
१९४८-४९	५४२ ३२	४२३ ३१	-११९ ६१
१९४९-५०	५६४ ३२	४८५ ३३	-१०८ ९९
१९५०-५१	५६५ ४६	५८६ ८८	+२१ ४२
१९५१-५२	८६२ ८४	७१५ ५६	-१४७ २८
१९५२-५३	६६० ००	५७३ ००	-८३
१९५३-५४	५६५ ००	५२२ ००	-३८
१९५४-५५	६१० ६	५७७ ७६	-३३
१९५५-५६	६८७ ९०	५९० ८५	-९७
१९५६-५७	१०७६ ५	६३७	-४३९ ५
अप्रैल १९५७ से सितम्बर १९५७ (छै मास)	६२२ २	२६७ १	-३५५ १

भारत में कुछ विशेष वस्तुओं के आयात का विवरण

(करोड रुपयों में)

मुख्य पदार्थ	१९३८-३९	१९५५-५६
कपास	—	५७ ३५
सूत और सूती कपड़ा	२२ ६२	४ ३६
मशीनें सब प्रकार की	१९ ०५	१२० २१
अनाज, दाल और आटा	१३ ७६	६२ ४७
मोटर आदि	६ ६८	५८ ००
धातु	१० ८६	९२ ४०
रासायनिक पदार्थ और दवाइयाँ	३ ०४	३७ १९
तेल (मिट्टी का तेल, डीज़ल आयल, मोबिल आयल इत्यादि)	१५ ५२	६३२ २
कागज, किताब आदि	२ २३	१६३ २
बिजली का सामान तथा अन्य औजार	५ ८४	१५ ५२
नकली रेशम का सूत	—	१७ ८०
रंग और रंगने का सामान	३ ११	१७ ६४
कच्चा जूट	—	१९ ३२
छुरी, काँटे व अन्य सामान	—	२४ २३
आयात का कुल मूल्य	१५२ ३२	६८७ ९९

भारत से निर्यात की जानेवाली मुख्य वस्तुओं का विवरण

(करोड रुपयो म)

मुख्य पदार्थ	१०३८–३०	१९५५–५६
जूट का माल	७६ २६	११८ २५
जूट कच्चा	१३ ४०	१ ६७
चाय	२३ ८२	१०० १४
सूत और सूती कपडा	७ १२	६३ ८५
रुई	२४ ६७	३९ ३८
गोंद और लाख	—	१३ ००
तेल के बीज (तिलहन)	१५ ०९	४ ०५
मसाले	—	१० ६८
तम्बाकू	—	११ ८३
कोयला	—	३ २६
धातु	—	२१ ५१
कच्ची खालें	—	६ ५९
तेल	—	३९ ३८
कच्चा ऊन और ऊना माल	२ ८५	१३ ९५
चमडा	५ २८	२२ ९९
कुल निर्यात	१६२ ९२	५९२ ८५

इन तालिकाओ म स्पष्ट है कि हमारे आयात में अब कच्चे माल का और निर्यात में पक्के माल का स्थान बढता जा रहा है। युद्धकाल से पहले देश के कुल निर्यात में लगभग ७५ प्रतिशत भाग कच्चे माल का और २५ प्रतिशत भाग पक्के माल का था। मुख्यत हम रुई, तिलहन, मैंगेनीज और माइका इत्यादि कच्चे पदार्थ विदेशो को भेजते थे। इसी प्रकार देश के कुल आयात में लगभग ७५ प्रतिशत भाग पक्केमाल का था। हम विदेशो से कपडा, चीनी, तेल, मशीन व इनके हिस्से आदि सामान मँगाते थे। परन्तु अब विदेशी व्यापार में बहुत परिवर्तन हो गया है। कुल आयात में लगभग ७५ प्रतिशत से घटकर केवल ५० प्रतिशत ही पक्का माल बाहर से आता है। रुई, कच्चा पटसन आदि कच्ची सामग्री हम पाकिस्तान तथा अन्य देशो से मँगाते है और निर्यात में २५ प्रतिशत से बढ कर अब लगभग ४५ प्रतिशत भाग पक्के माल का होता है। हम चीनी, कपडा पटसन आदि का तैयार माल विदेशो को भेजते है। यह सब हमारे देश के औद्योगीकरण का परिणाम है और जैसे जैसे औद्योगीकरण म उन्नति होगी, वैसे वैसे अधिक पक्के माल का हमारे यहाँ से निर्यात हो सकेगा।

(४) व्यापार की दिशा (*Direction of Trade*) म भी बहुत परिवर्तन हुआ है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, मिश्र और कनाडा से हमारा व्यापार अधिक होने लगा है—विशेष रूप से अमेरिका और मध्यपूर्व देशों से। हमारे निर्यात अब सभी देशों को होते हैं, जैसे इंगलैंड, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, बर्मा, अर्जेन्टाइना, पाकिस्तान, लंका, जापान,

कनाडा, पूर्वी अफ्रीका, मलाया, क्यूबा, फ्रांस और जर्मनी। इसी प्रकार हमारे आयात भी अब सभी देशों से होते है, जैसे इंगलैंड, अमेरिका, पाकिस्तान, मिश्र, ईरान, जर्मनी, जापान, पूर्वी अफ्रीका, बर्मा, कनाडा और आस्ट्रेलिया। रूस और चीन के साथ भी हमारा व्यापार बढ़ रहा है। निम्न तालिकाओं से व्यापार की दिशाएँ तथा व्यापार में भाग लेने वाले देशों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

तालिका (अ)

देश	व्यापार का मूल्य	कुल विदेशी व्यापार का प्रतिशत
१ ब्रिटेन	२५० करोड रुपया	२७ प्रतिशत
२ यू० एस० ए० (अमेरिका)	१७४ „ „	२० „
३ पाकिस्तान	६६ „ „	७ „
४ आस्ट्रेलिया	४२ „ „	५ „
५ अन्य देश	४०८ „ „	६१ „
	९४० „ „	१०० „

तालिका (ब)

देश	कुल आयात करोड रु० में	देश	कुल निर्यात करोड रु० में
१ ब्रिटेन से	१५२	१ ब्रिटेन का	९८
२ यू० एस० ए० „	१०४	२ यू० एस० ए० „	७०
३. मिश्र „	३२	३ पाकिस्तान „	६६
४ पाकिस्तान „	२२	४ आस्ट्रेलिया „	४२
५ आस्ट्रेलिया „	१४	५ लंका „	१२
६ अन्य देश „	१८९	६ अन्य „	१७५
	५१३		४६३

(यह आंकडे १९४८-४९ के बजट में लिये गये हैं)

अब कुछ दिनों से हमारी आयात की स्थिति सुधर गई है और अब भविष्य में हमें बाहरी देशों से अनाज शायद न मंगाना पडेगा, तोभी देश को औद्योगिक बनाने के लिए हमको बाहर से मशीनें मँगानी पड़ेंगी। साथ साथ हमारे पास बाहर भेजने के लिए कपास, कच्चा जूट, कच्चा ऊन, तिलहन इत्यादि की कमी रहेगी। इसलिए हमको जूट का माल, कपडा और अन्य पक्के माल का निर्यात शीघ्र ही बढाना पडेगा, नहीं तो ऐसा दिखाई पडता है कि कुछ समय तक हमारे देश का व्यापारिक सन्तुलन देश के विरुद्ध ही रहेगा।

जहाँ तक डालर के साथ व्यापार का प्रश्न है, युद्ध से पूर्व भारत के पास अपने व्यापार सन्तुलन में डालर-आधिक्य होता था। युद्ध के बाद यह बुरी तरह विपरीत हो गया और भारत को डालर की बड़ी कमी हो गई। इसके कारण डालर क्षेत्र से आयातों

पर प्रतिबन्ध लगाने आवश्यक हो गए और डालर क्षेत्र तथा अन्य कठोर मुद्रा चलन के निर्यातों में वृद्धि करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया। अब हालत बहुत कुछ सुधर चली है। १९५४–५५ में लगभग ८७ करोड का माल अमेरिका को निर्यात किया गया और लगभग ८२ करोड के माल का वहाँ से आयात हुआ।

भारत की व्यापार-नीति निर्यात को प्रोत्साहन देने की है। ध्येय यह है कि कम से कम ७५० करोड रुपये के मूल्य का निर्यात हो जाए, जिस से मशीनें आदि पचवर्षीय योजनाओं के पूरा करने के लिए मँगाई जा सकें और फिर भी व्यापार की बाकी प्रतिकूल न रहे। अपनी नई औद्योगिक नीति में भारत सरकार ने यह भी घोषित किया है कि सरकार अब विदेशी व्यापार मे अधिक भाग लेगी (State Trading)। अब तक सरकार विदेशों से केवल अन्न का आयात करके इसे जनता को कम मूल्य पर बाटती थी पर अब सरकार बहुत सी वस्तुओं का व्यापार करेगी जैसे सीमेन्ट का आयात अब सरकार द्वारा होगा, खनिज धातु के निर्यात में सरकार अधिक भाग लेगी, इत्यादि इत्यादि। भारत सरकार ने एक निर्यात प्रोत्साहन समिति (Export Promotion Committee) भी १९५७ में नियुक्त की थी जिसने डालर क्षेत्र के देशों को निर्यात बढाने के विषय में बहुत से सुझाव दिए है। इनके अतिरिक्त पिछले कुछ वर्षों में भारत सरकार ने कितनी ही वस्तुओं की निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिये प्रोत्साहन समितियाँ (Promotion Councils) नियुक्त की है और गत वर्षों में भारत सरकार ने अनेक देशो से सीधे व्यापार के समझौते भी किए है। इन सब का ध्येय निर्यात को प्रोत्साहन देना ही है।

QUESTIONS

1. Examine the changes brought about in the *nature* and *direction* of the Foreign Trade of India between 1939 50 (Agra, 1951s)

2 Describe the main trends in the foreign trade of India during the per.~d 1939-51 (Agra, 1956, 1953)

3 Bring out briefly the important changes that have taken place in India's foreign trade since 1947 (Agra 1958, Alld 1955)

4 Describe the nature and direction of the foreign trade of India in the post-war period (Second World War)

How far has it influenced the balance of payments position of India? (Alld 1954, Agra 1952s)

5 Examine critically the foreign trade of India Are you satisfied with its present trends? (Agra 1958, 1954)